कर्म-विज्ञान

सातवाँ भाग

संवर एवं निर्जरा तत्त्व का स्वरूप-विवेचन

आचार्य श्री देवेन्द्र मुनि

श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय, उदयपुर

श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय का ३४५वाँ रत्न

- कर्म-विज्ञान : सातवाँ भाग
  (संवर एवं निर्जरा तत्त्व का स्वरूप-विवेचन)
- लेखक : आचार्य श्री देवेन्द्र मुनि
- सम्पादक : विद्वद्रत्न मुनि श्री नेमिचन्द्र जी
- प्रथम आवृत्ति : वि. सं. २०५३, भाद्रपद शुक्ला १२
  आत्म जयन्ती
  सितम्बर १९९६
- प्रकाशक/प्राप्ति-स्थान : श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय
  गुरु पुष्कर मार्ग, उदयपुर-३१३ ००१
  फोन : (०२९४) ४१३५१८
- मुद्रण : श्री राजेश सुराना द्वारा,
  दिवाकर प्रकाशन
  ए-७, अवागढ़ हाउस, एम. जी. रोड
  आगरा-२८२ ००२
  फोन : (०५६२) ३५११६५
- मूल्य : एक सौ पच्चीस रुपया

प्रकाशकीय बोल

धर्म और कर्म अध्यात्म जगत् के ये दो अद्भुत शब्द हैं, जिन पर चैतन्य जगत् की समस्त क्रिया/प्रतिक्रिया आधारित है। सामान्यतः धर्म शब्द मनुष्य के मोक्ष/मुक्ति का प्रतीक है और कर्म शब्द बंधन का। बंधन और मुक्ति का ही यह समस्त खेल है। कर्मबद्ध आत्मा प्रवृत्ति करता है, कर्म में प्रवृत्त होता है, सुख-दुःख का अनुभव करता है, कर्म से मुक्त होने के लिए फिर धर्म का आचरण करता है, मुक्ति की ओर कदम बढ़ाता है।

'कर्मवाद' का विषय बहुत गहन गम्भीर है, तथापि कर्म-बंधन से मुक्त होने के लिए इसे जानना भी परम आवश्यक है। कर्म-सिद्धान्त को समझे बिना धर्म को या मुक्ति-मार्ग को नहीं समझा जा सकता।

हमें परम प्रसन्नता है कि जैन जगत् के महान् मनीषी, चिन्तक/लेखक आचार्यसम्राट् श्री देवेन्द्र मुनि जी महाराज ने 'कर्म-विज्ञान' नाम से यह विशाल ग्रन्थ लिखकर अध्यात्मवादी जनता के लिए महान् उपकार किया है। यह विराट् ग्रन्थ लगभग ४५०० पृष्ठ का होने से हमने नौ भागों में विभक्त किया है। प्रथम भाग में कर्मवाद पर दार्शनिक एवं वैज्ञानिक चर्चा है तथा दूसरे भाग में पुण्य-पाप पर विस्तृत विवेचन है। तृतीय भाग में आस्रव एवं उसके भेदोपभेद पर तर्क पुरस्सर विवेचन है। चौथे भाग में कर्म-प्रकृतियों का, पाँचवें भाग में बंध की विविध प्रकृतियों की विस्तृत चर्चा है। छठे भाग में कर्म का निरोध एवं क्षय करने के हेतु संवर तथा निर्जरा के साधन एवं स्वरूप का विवेचन किया गया है तथा सातवें भाग में संवर साधना के विविध उपायों का दिग्दर्शन करते हुए निर्जरा तत्त्व के भेद-प्रभेद पर विस्तार के साथ चिन्तन किया है।

यद्यपि कर्म-विज्ञान का यह विवेचन बहुत ही विस्तृत होता जा रहा है, प्रारम्भ में हमने तीन भाग की कल्पना की थी। फिर पाँच भाग का अनुमान लगाया, परन्तु अब यह नौ भागों में परिपूर्ण होने जा रहा है। किन्तु इतना विस्तृत विवेचन होने पर भी यह बहुत ही रोचक और जीवनोपयोगी बना है। पाठकों को इसमें ज्ञानवर्द्धक सामग्री उपलब्ध होगी साथ ही जीवन में आचरणीय भी।

इसके प्रकाशन में पूर्व भागों की भाँति दानवीर डॉ. श्री चम्पालाल जी देशरड़ा का पूर्ण सहयोग प्राप्त हुआ है। डॉ. श्री देशरड़ा साहब बहुत ही उदारमना समाजसेवी परम गुरुभक्त सज्जन हैं। पूज्य गुरुदेव उपाध्याय श्री पुष्कर मुनि जी महाराज के प्रति आपकी अपार आस्था रही है, वही जीवन्त आस्था श्रद्धेय आचार्यश्री के प्रति भी है। आपके सहयोग से इस भाग का ही नहीं अपितु कर्म-विज्ञान के आठ भागों के प्रकाशन का आर्थिक अनुदान आपश्री ने प्रदान किया है। जिसके फलस्वरूप कर्म-विज्ञान ग्रन्थ का प्रकाशन सम्भव हो सका है। ऐसे परम गुरभक्त पर हमें हार्दिक गौरव है।

चुन्नीलाल धर्मावत
श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय

पुस्तक प्रकाशन के विशिष्ट सहयोगी
डॉ. श्री चम्पालाल जी देसरड़ा

सभी प्राणी जीवन जीते हैं, परन्तु जीना उन्हीं का सार्थक है जो अपने जीवन में परोपकार, धर्माचरण करते हुए सभी के लिए सुख और मंगलकारी कर्त्तव्य करते हों। औरंगाबाद निवासी डॉ. श्री चम्पालाल जी देसरड़ा एवं सौ. प्रभादेवी का जीवन ऐसा ही सेवाभावी परोपकारी जीवन है।

श्रीयुत चम्पालाल जी के जीवन में जोश और होश दोनों ही हैं। अपने पुरुषार्थ और प्रतिभा के बल पर उन्होंने विपुल लक्ष्मी भी कमाई और उसका जन-जन के कल्याण हेतु सदुपयोग किया, व कर रहे हैं। आपमें धार्मिक एवं सांस्कृतिक अभिरुचि है। समाजहित एवं लोकहित की प्रवृत्तियों में उदारतापूर्वक दान देते हैं, स्वयं अपना समय देकर लोगों को प्रेरित करते हैं। अपने स्वार्थ व सुख-भोग में तो लाखों लोग खर्च करते हैं परन्तु धर्म एवं समाज के हित में खर्च करने वाले विरले होते हैं। आप उन्हीं विरले सत्पुरुषों में एक हैं।

आपके पूज्य पिता श्री फूलचन्द जी साहब तथा मातेश्वरी हरकूबाई के धार्मिक संस्कार आपके जीवन में पल्लवित हुए। आप प्रारम्भ से ही मेधावी छात्र रहे। प्रतिभा की तेजस्विता और दृढ़ अध्यवसाय के कारण धातुशास्त्र (Metallurgical Engineering) में पी-एच. डी. की उपाधि प्राप्त की।

आपका पाणिग्रहण पूना निवासी श्री मोतीलाल जी नाहर की सुपुत्री अ. सौ. प्रभादेवी के साथ सम्पन्न हुआ। सौ. प्रभादेवी धर्मपरायण, सेवाभावी महिला हैं। जैन आगमों में धर्मपत्नी को 'धम्मसहाया' विशेषण दिया है वह आपके जीवन में चरितार्थ होता है। आपके जीवन में सेवा, दान, स्वाध्याय एवं सामायिक की चतुर्मुखी ज्योति है।

आपके सुपुत्र हैं–श्री शेखर जी। वे भी पिता की भाँति तेजस्वी प्रतिभाशाली हैं। इंजीनियरिंग परीक्षा १९८६ में विशेष योग्यता से समुत्तीर्ण की है। आपने तभी से पिता के कारखानों के कारोबार में निष्ठा से तथा अतियोग्यता के साथ काम-काज सम्भाला है। पेपर मिलों के अन्तर्राष्ट्रीय जगत् में अपने उत्पादन को लब्धप्रतिष्ठित किया है। शेखर जी की धर्मपत्नी सौ. सुनीतादेवी तथा सुपुत्र श्री किशोर कुमार एवं मधुर हैं।

श्री शेखर जी भी धर्म एवं समाज-सेवा में भाग लेते हैं तथा उदारतापूर्वक सहयोग प्रदान करते हैं।

श्री चम्पालाल जी की दो सुपुत्रियाँ हैं–सौ. सपना दुगड़ नासिक और कुमारी शिल्पा।

आप अनेक सेवाभावी सामाजिक संस्थाओं के उच्च पदों पर आसीन हैं। दक्षिणकेसरी मुनि श्री मिश्रीलाल जी महाराज होम्योपैथिक मेडिकल कॉलेज, गुरु गणेशनगर तथा गुरु मिश्री अस्पताल, औरंगाबाद के आप सेक्रेटरी हैं। आप अभी दक्षिणकेसरी मुनि मिश्रीलाल जी महाराज ग्रामीण केन्सर अस्पताल तथा रिसर्च इन्स्टीट्यूट की विशाल महायोजना को सम्पन्न कराने में तन-मन-धन से जुटे हुए हैं।

सन् १९८८ में श्रद्धेय उपाध्याय श्री पुष्कर मुनि जी महाराज एवं आचार्य श्री देवेन्द्र मुनि जी महाराज अहमदनगर का वर्षावास सम्पन्न कर औरंगाबाद पधारे, तब आपका आचार्यश्री से सम्पर्क हुआ। आचार्यश्री के साहित्य के प्रति आपकी विशेष अभिरुचि जाग्रत हुई। कर्म-विज्ञान पुस्तक के विभिन्न भागों के प्रकाशन में आपश्री ने विशिष्ट अनुदान प्रदान किया है। अन्य अनेक प्रकाशनों में भी आपश्री ने मुक्त हृदय से अनुदान प्रदान किया है तथा स्वाध्यायोपयोगी साहित्य फ्री वितरण करने में भी बहुत रुचि रखते हैं। आपकी भावना है, घर-घर में सत्साहित्य का प्रचार हो, धर्म एवं नीति के सद्विचारों से प्रत्येक पाठक का जीवन महकता रहे।

आपकी उदारता और साहित्यिक सुरुचि प्रशंसनीय ही नहीं अनुकरणीय भी है। आपके सहयोग के प्रति हार्दिक साधुवाद !

आपके व्यावसायिक प्रतिष्ठान निम्न हैं :

- PRATISHTHAN ALLOY CASTINGS
- PRATISHTHAN ALLOYS PVT. LTD.
- PARASON MACHINERY (INDIA) PVT. LTD.
- SUNMOON SLEEVES PVT. LTD.

–चुन्नीलाल धर्मावत
कोषाध्यक्ष
श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय, उदयपुर

समस्या अनेक : समाधान एक

जैनदर्शन अनेकान्तवादी दर्शन है। सापेक्षवाद की पृष्ठभूमि पर इसका विकास हुआ है। प्रत्येक प्रश्न पर वह सापेक्षदृष्टि से विचार करता है। आत्मा के सम्बन्ध में भगवान महावीर ने कहा है–एगे आया–आत्मा एक है। यह कथन स्वभाव की दृष्टि से है। आत्मा का स्वभाव है चेतना। उपयोग। चेतना की दृष्टि से संसार की सभी आत्माएँ समान हैं। सबमें सुख-दुःख की संवेदना है। सबको सुख प्रिय है। दुःख अप्रिय है। इस दृष्टि से सब आत्माएँ समान हैं। स्वभाव, स्वरूप एवं अस्तित्व की दृष्टि से प्रत्येक आत्मा समान है।

दूसरी दृष्टि से चिन्तन करने पर हम यह देखकर विस्मय में पड़ जाते हैं कि संसार में कोई भी आत्मा समान नहीं है। कोई जीव एकेन्द्रिय वाला है, कोई दो इन्द्रिय वाला, कोई तीन तो कोई चार व पाँच इन्द्रिय वाला। किसी प्राणी की चेतना बहुत विकसित है। बुद्धि प्रखर है। शरीर व इन्द्रियाँ परिपूर्ण हैं तो किसी प्राणी की आत्म-चेतना बहुत अल्पविकसित है। मंद-बुद्धि है। शरीर से रोगी है, इन्द्रियाँ भी हीन हैं। इस प्रकार संसार में कोई भी आत्मा या जीव समान नहीं दीखता। प्रत्येक जीव के बीच इतनी असमानता व भिन्नता है कि देखकर विस्मय एवं कुतूहल होता है कि यह कौन कलाकार है जिसने इतनी कुशलता व चतुरता के साथ प्रकृति के प्रत्येक पदार्थ का निर्माण किया है कि सभी परस्पर एक-दूसरे से भिन्न और असमान दिखाई देते हैं।

संसार की विचित्र स्थितियों को देखकर मन में एक कुतूहल जगता है। संसार में इतनी विभिन्नता/इतनी विचित्रता क्यों है? प्रकृति के अन्य अंगों को छोड़ देवें, सिर्फ मनुष्य जाति पर ही विचार करें तो हम देखेंगे, भारत के ८० करोड़ मनुष्यों में कोई भी दो मनुष्य एक समान नहीं मिलते। उनकी आकृति में भेद है, प्रकृति में भेद है। कृति, मति, गति और संस्कृति में भी भेद है। विचार और भावना में भेद है। तब प्रश्न उठता है, आखिर यह भेद या अन्तर क्यों है? किसने किया है? इसका कारण क्या है?

प्रकृतिजन्य अन्तर या भेद के कारणों पर तो वैज्ञानिकों ने बड़ी सूक्ष्मता और व्यापकता से विचार किया है और उन्होंने एक कारण खोज निकाला–हेरिडिटी–*(Heredity)* वंशानुक्रम।

वैज्ञानिकों का कहना है–हमारा शरीर कोशिकाओं द्वारा निर्मित है। एक कोशिका (एक सेल) कितना छोटा होता है, इस विषय में विज्ञान की खोज है–एक

पिन की नोंक पर टिके इतने स्थान पर लाखों लाख कोशिकाएँ हैं। कोशिकाएँ इतनी सूक्ष्म हैं। उन सूक्ष्म कोशिकाओं में जीवन-रस है। उस जीवन-रस में जीवकेन्द्र–न्यूक्लीयस (Nucleus) है। जीवकेन्द्र में क्रोमोसोम (Chromosomes) गुणसूत्र विद्यमान हैं। उनमें जीन (जीन्स-Genes) हैं। जीन में संस्कारसूत्र हैं। ये जीन (Genes) ही सन्तान में माता-पिता के संस्कारों के वाहक या उत्तराधिकारी होते हैं। एक जीन जो बहुत ही सूक्ष्म होता है, उसमें छह लाख संस्कारसूत्र अंकित होते हैं। इन संस्कारसूत्रों के कारण ही मनुष्यों की आकृति, प्रकृति, भावना और व्यवहार में अन्तर आता है।

इस वंशानुक्रम विज्ञान (जीन सिस्टमोलोजी) का आज बहुत विकास हो चुका है। यद्यपि वंशानुक्रम के कारण अन्तर की बात प्राचीन आयुर्वेद एवं जैन आगमों में भी उपलब्ध है। आयुर्वेद के अनुसार पैतृक गुण अर्थात् माता-पिता के संस्कारगत गुण सन्तान में संक्रमित होते हैं। भगवान महावीर ने भी भगवती तथा स्थानांगसूत्र में जीन को मातृअंग पितृअंग के रूप में निरूपित किया है। इसलिए आधुनिक विज्ञान में वंशानुक्रम विज्ञान की खोज कोई नई बात नहीं है। मारवाड़ी भाषा का एक दोहा प्रसिद्ध है:

बाप जिसो बेटो, छाली जिसो टेटो,
घड़े जिसी ठिकरी, माँ जिसी दीकरी।

यह निश्चित है कि माता-पिता के संस्कार सन्तान में संक्रमित होते हैं और वे मानव व्यक्तित्त्व के मूल घटक होते हैं। परन्तु देखा जाता है, एक ही माता-पिता की दो सन्तान–एक समान वातावरण में, एक समान पर्यावरण में पलने पर, एक समान संस्कार और शिक्षा की व्यवस्था होने पर भी–दोनों में बहुत-सी असमानताएँ रहती हैं। एक समान जीन्स होने पर भी दोनों के विकास में, व्यवहार में, बुद्धि और आचरण में भेद मिलता है। एक अनपढ़ माता-पिता का बेटा प्रखर बुद्धिमान् और एक डरपोक कायर माता-पिता की सन्तान अत्यन्त साहसी, वीर, शक्तिशाली निकल जाती है। बुद्धिमान् माता-पिता की सन्तान मूर्ख तथा वीर कुल की सन्तान कायर निकल जाती है। सगे दो भाइयों में से एक का स्वर मधुर है, कर्णप्रिय है, तो दूसरे का कर्कश है। एक चतुर चालाक वकील है, तो दूसरा अत्यन्त शान्तिप्रिय, सत्यवादी हरिश्चन्द्र है। ऐसा क्यों है?

वंशानुक्रम विज्ञान के पास इन प्रश्नों का आज भी कोई उत्तर नहीं है। मनोविज्ञान भी यहाँ मौन है। एक सीमा तक जीन्स का अन्तर समझ में आ सकता है। परन्तु जीन्स में यह अन्तर पैदा करने वाला कौन है? विज्ञान वहाँ पर मौन रहता है, तब हम कर्म-सिद्धान्त की ओर बढ़ते हैं। कर्म जीन से भी अत्यन्त सूक्ष्म सूक्ष्मतर

है और जीन की तरह प्रत्येक प्राणधारी के साथ संपृक्त है। अतः जब हम सोचते हैं कि व्यक्ति-व्यक्ति में जो भेद है, अन्तर है, उसका मूल कारण क्या है? तो कर्म शब्द में इसका समाधान मिलता है। कर्म की विभिन्न प्रकृतियों का सूक्ष्म विवेचन समझने पर यह बात स्पष्ट होती है कि–असमानता एवं विविधता का कारण कर्म है।

गणधर गौतम ने भगवान महावीर से पूछा–इन प्राणियों में परस्पर इतना विभेद क्यों है? तो भगवान महावीर ने इतना स्पष्ट और सटीक उत्तर दिया–"गोयमा ! कम्मओ णं विभत्तीभावं जणयइ !"–हे गौतम ! कर्म के कारण यह भेद है? 'कर्म' ही प्रत्येक प्राणी के व्यक्तित्त्व का घटक है। कर्म ही संसार की विचित्रता का कारण है।

बहुत से धर्मचिन्तकों एवं दार्शनिकों को कर्म को संस्कार के रूप में प्रतिपादित किया है। जैन तत्त्वज्ञान की दृष्टि से कर्म एक विशेष शब्द है जिसमें क्रिया, प्रवृत्ति और संस्कार से भी सूक्ष्म तथा विशिष्ट अर्थ छिपा है। जैनदर्शन के अनुसार क्रिया अर्थात् प्रवृत्ति के साथ जब कषाय (राग-द्वेष) का संयोग होता है, तब आत्मा (जीव) के भीतर एक कम्पन/खिंचाव (आकर्षण) पैदा होता है इस प्रदेश-स्पन्दन द्वारा आकृष्ट विशेष प्रकार के पुद्गल स्कंध आत्मा के साथ दूध में पानी की तरह संश्लिष्ट हो जाते हैं अर्थात् आत्मा द्वारा आकृष्ट उन पुद्गल स्कंधों को कर्म कहते हैं जो स्वयं तो पुद्गल/जड़ हैं किन्तु अपने स्वभाव के द्वारा आत्मा पर आवरक बनकर छा जाते हैं जैसे सूरज पर बादल, दीपक या बल्ब पर काँच आदि का आवरण। कर्म आत्मा का स्वभाव नहीं, विभाव है, वह स्वभाव को आवृत करता है, स्वभाव में विकार, रुकावट या प्रतिरोध पैदा करता है। धर्म आत्मा का स्वभाव है। आत्मा अर्थात् परम शुद्ध चेतना। उस चेतना का स्वभाव है ज्ञानमय, सतत जागृति शक्ति-सम्पन्नता और सतत आनन्दमय। सामान्य भाषा में हम जिसे सत्-चित्-आनन्दमय स्वरूप कहते हैं वही आत्मा का स्वभाव है।

जैनदर्शन के अनुसार आत्मा के चार मुख्य गुण या स्वभाव हैं–प्रकाश अर्थात् अनन्त ज्ञानमय स्वरूप, जागृति अर्थात् अनन्त दर्शनमय स्वरूप, अर्थात् अनन्त आनन्दमय स्वरूप। अव्याबाध सुख तथा अनन्त शक्ति-सम्पन्नता। इसे अनन्त चतुष्टय कहा जाता है। यह अनन्त चतुष्टय प्रत्येक आत्मा का स्वभाव है।

उदाहरण द्वारा इस प्रकार समझें कि यह आत्मा एक केन्द्रीय शक्ति है। इस आत्मा के परिपार्श्व में कषाय, राग-द्वेष की वृत्तियाँ चारों तरफ से घेरा डाले हुए हैं और उसके बाहर है–कर्म पुद्गल का वलय अर्थात् आठ प्रकार की कर्म संरचना। इसे हम इस प्रकार भी कह सकते हैं। मध्य में आत्मा स्थित है। उसके चारों तरफ कषाय का घेरा है कषाय-रस (चिकनाई) आत्मा को सचिक्कण बनाये हुए हैं और

उसके बाहर आठ कर्म वलय हैं। जैसे कोई पहलवान अखाड़े में उतरने से पहले पूरे शरीर को तेल चुपड़ लेता है फिर वह कसरत व्यायाम करता है तो हवा में व्याप्त मिट्टी के कारण उस शरीर से चिपक जाते हैं। आत्मा की लगभग यही स्थिति है। इन कर्म कणों में कुछ कर्म आत्मा की शक्ति पर आवरण डालते हैं जैसे ज्ञानावरण, दर्शनावरण। यह आवरण आँखों पर पड़े पर्दे की तरह आत्मा की ज्ञान-दर्शन आदि शक्तियों को ढँक लेता है। कुछ कर्म विकारक होते हैं वे आत्मा में मोह, मूर्च्छा, आसक्ति पैदा करके उसे दिग्मूढ़ कर देते हैं जैसे मोहनीय कर्म। मदिरा के नशे की तरह यह ज्ञानमय आत्मा को मोह की मूर्च्छा से ग्रस कर देता है आत्मा अपनों को पहचान नहीं पाता और पर-वस्तु के प्रति आसक्ति, मोह, राग आदि करने लगता है। इसे हम विकारक शक्ति कह सकते हैं। आवरक शक्ति से विकारक शक्ति ज्यादा खतरनाक है। इसी कारण मोह कर्म को सबसे प्रबल और सबसे अधिक हानिकारक माना है। कुछ कर्म न आवरण डालते हैं और न विकार पैदा करते हैं किन्तु आत्मा की शक्ति में रुकावट या प्रतिरोध पैदा कर देते हैं। इस प्रतिरोधक शक्ति को ही अन्तराय कर्म कहते हैं।

व्यक्ति अनेक कल्पनाएँ करता है, मंसूबे बाँधता है, योजनाएँ बनाता है और प्रयत्न भी प्रारंभ करता है परन्तु कुछ न कुछ विघ्न-बाधाएँ आ जाती हैं और उसकी इच्छाएँ धरी की धरी रह जाती हैं। इस प्रकार की बाधा उत्पन्न करने वाले कर्म को अन्तराय कर्म के नाम से पहचाना गया है। अन्तराय कर्म आत्मा की स्वाभाविक शक्तियों पर आवरण डालता है, उसमें मूर्च्छा या मोह भाव जगाकर भ्रमित करता है तथा प्रबल पुरुषार्थ शक्ति में प्रतिरोध पैदा करके सहज उपलब्धियों में बाधक बनता है। आत्मा को अपने अनन्त चतुष्टय स्वरूप को प्रकट या जाग्रत करने के लिए कर्म का क्षय करना अनिवार्य है।

कर्मवाद के मुख्य चार आधार-स्तम्भ हैं–आस्रव-बंध, संवर-निर्जरा। कर्म बंध के हेतु और बंध की विभिन्न प्रक्रिया, स्थितियाँ; परिणतियाँ; आस्रव और बंध तत्त्व विवेचन में बताई गई हैं तथा कर्म प्रवाह को रोकने तथा कर्मों को क्षय करके उनसे मुक्त होने की प्रक्रिया संवर एवं निर्जरा तत्त्व में समाहित है। इस प्रकार हमने भाग १ से ४ तक में कर्म के आस्रव और बंध स्वरूप की विवेचना करने के पश्चात् कर्ममुक्ति की प्रक्रिया के प्रसंग में संवर तथा निर्जरा तत्त्वों के अगणित भेद-प्रभेद, संवर-निर्जरा के उपाय, उनकी साधना आदि पर विस्तार से चिन्तन किया है। भाग ५, ६, ७ में इन तत्त्वों पर काफी विवेचन हो गया है और मुझे विश्वास है पाठक इस गहन विषय का स्वाध्याय करने पर काफी कुछ ग्रहण कर सकेगा।

मेरी यह दृढ़ धारणा है कि कर्म-सिद्धान्त का यह विवेचन केवल सैद्धान्तिक पक्ष की प्रस्तुति नहीं है इसमें जीवन का सम्पूर्ण विज्ञान है। जीवन का विकास, विस्तार एवं परिवर्तन की समस्त संभावनाएँ कर्मवाद में छिपी हैं और यह उन संभावनाओं का द्वार उद्घाटित करता है। जीवन में जो सुख-दुःख, उतार-चढ़ाव, यश-अपमान, वेदना और विषाद, हर्ष और आनन्द की प्राप्ति होती है उन सबकी सहेतुक व्याख्या कर्मवाद करता है। उदाहरण के रूप में किसी व्यक्ति का दिन सुख व शान्ति से बीतता है परन्तु रात में बेचैनी होती है, किसी को एक प्रकार की जलवायु में दमा, श्वास आदि की बीमारी हो जाती है दूसरे प्रकार की जलवायु में वह स्वस्थ रहता है। स्थान, समय, क्षेत्र, भाव, अवस्था, सहायक आदि कारणों में परिवर्तन या बदलाव आने से सुख-दुःख की स्थितियों में बदलाव आता है। मान-सम्मान में अन्तर आ जाता है। आयु-परिवर्तन के कारण अनेक प्रकार की स्थितियाँ बदलती हैं। इन सबके पीछे कर्म-सिद्धान्त का कार्य-कारण हेतु है।

प्रज्ञापनासूत्र में आचार्य ने बताया है कर्मविपाक के विभिन्न कारण हैं, जैसे– गतिं पप्प, ठितिं पप्प, भवं पप्प, पोग्गलं पप्प गति, स्थिति, भव, पुद्गल परिणाम द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव आदि कारणों से कर्मविपाक की स्थितियों में परिवर्तन आता है। जैसे दिन में नींद कम आती है रात को नींद अधिक। कर्म शास्त्रीय दृष्टि से इसका कारण है दर्शनावरणीय कर्म का उदय। रात के समय दर्शनावरण का उदय प्रबल होता है। सामान्यतः युवा अवस्था में मोहनीय का तथा बुढ़ापे में असातावेदनीय का उदय अधिक होता है। इस प्रकार एक-एक घटना की गहराई में जाने से यह समझ में आता है कि इस स्थिति के पीछे किसी अन्य का हाथ नहीं, किन्तु हमारा अपना कृत कर्म है। कृत कर्म का विपाक-नियम समझने पर मानसिक असमाधि दूर होती है, धर्म-साधना अच्छी प्रकार होती है। दुःख में भी सुख, रोग में भी शान्ति और प्रसन्नता का अनुभव किया जा सकता है। इस कारण कर्म-सिद्धान्त केवल दार्शनिक गुत्थी या खाली मस्तिष्क का व्यायाम नहीं है, किन्तु यह जीवन व जगत् के परिवर्तनों के नियम को, सुख-दुःख के हेतु को समझने का विज्ञान है और मेरा तो यह भी विश्वास है कि कर्म-विज्ञान का सूक्ष्म अध्येता; कर्मों की विभिन्न प्रकृतियों पर चिन्तन-मनन करने वाला अपने भावी जीवन व जन्म-जन्मान्तरों की स्थिति का भी पूर्वाभास, पूर्वानुमान कर सकता है। इसलिए अध्यात्म के विषय में, आत्मा के विषय में रुचि रखने वाले पाठक को कर्म-विज्ञान का परिशीलन, स्वाध्याय और चिन्तन बहुत ही उपयोगी व लाभप्रद सिद्ध होगा।

कर्म-विज्ञान के कुछ भागों में जहाँ कर्मास्रव के कारण और उसकी बंध स्थिति आदि का विस्तारपूर्वक वर्णन हुआ है, वहाँ सातवें भाग में कर्म से मुक्त होने की

प्रक्रिया संवर और निर्जरा धर्म पर विस्तृत रूप में चिन्तन किया गया है। संवर के अन्तर्गत दस श्रमणधर्म और मैत्री आदि शुभ भावनाओं/अनुप्रेक्षाओं पर विवेचन किया है। क्योंकि जब तक कर्म प्रवाह का निरोध नहीं होगा, तब तक आत्मा कर्म-बन्धन से मुक्त नहीं हो सकेगा। कर्म-सरोवर में आता जल प्रवाह जब तक रुकेगा नहीं, तब तक उस जल को सुखाकर सरोवर को खाली करने का प्रयास सफल नहीं हो सकता। संवर धर्मकर्म प्रवाह को रोकता है। निर्जरा से संचित कर्म जल सूख जाता है। इसलिए इस भाग में संवर एवं निर्जरा के भेदोपभेदों पर, उसकी बहुमुखी बहुआयामी साधना पर विस्तारपूर्वक प्रकाश डाला गया है।

इस प्रासंगिक प्राक्कथन के साथ ही आज मैं अपने अध्यात्म नेता, श्रमणसंघ के महान् आचार्यसम्राट् श्री आत्माराम जी महाराज व आचार्यसम्राट् राष्ट्रसन्त महामहिम स्व. श्री आनन्द ऋषि जी महाराज का पुण्य स्मरण करता हूँ जिन्होंने मुझे श्रमणसंघ का दायित्त्व सौंपने के साथ ही यह आशीर्वाद दिया था कि "अपने स्वाध्याय, ध्यान और श्रुताराधना की वृद्धि के साथ ही श्रमणसंघ में आचार कुशलता, चारित्रनिष्ठा, पापभीरुता और परस्पर एकरूपता बढ़ती रहे–जनता को जीवन-शुद्धि का सन्देश मिलता रहे इस दिशा में सदा प्रयत्नशील रहना।" मैं उनके आशीर्वाद को श्रमण-जीवन का वरदान समझता हुआ उनके वचनों को सार्थक करने की अपेक्षा करता हूँ····चतुर्विध श्री संघ से।

मेरे परम उपकारी पूज्य गुरुदेव स्व. उपाध्याय श्री पुष्कर मुनि जी महाराज का पावन स्मरण करते हुए मैं अपनी श्रद्धा व विश्वास के सुमन उनके पावन चरणों में समर्पित करता हूँ कि उनकी प्रेरणा और आशीर्वाद मुझे जीवन में सदा मिलता रहा है और मिलता रहेगा।

आदरणीया पूजनीया मातेश्वरी प्रतिभामूर्ति प्रभावती जी महाराज व बहिन महासती पुष्यवती जी महाराज की सतत प्रेरणा सम्बल के रूप में रही है।

कर्म-विज्ञान जैसे विशाल ग्रन्थ के सम्पादन में हमारे श्रमणसंघीय विद्वद् मनीषी मुनि श्री नेमिचन्द्र जी महाराज का आत्मीय सहयोग प्राप्त हुआ है। मुझे विहार, प्रवचन, जनसम्पर्क व संघीय कार्यों में अत्यधिक व्यस्त रहने के कारण समयाभाव रहा है, पर मेरे स्नेह सद्भावनापूर्ण अनुग्रह से उत्प्रेरित होकर मुनिश्री ने अपना अनमोल समय निकालकर सम्पादन का कठिन कार्य सम्पन्न किया तदर्थ वे साधुवाद के पात्र हैं। उनका यह सहयोग चिरस्मरणीय रहेगा और प्रबुद्ध पाठकों के लिए भी उपयोगी होगा। मैं उनके आत्मीय भाव के प्रति हृदय से कृतज्ञ हूँ।

इस लेखन-सम्पादन में जिन ग्रन्थों का अध्ययन कर मैंने उनके विचार व भाव ग्रहण किये हैं, मैं उन सभी ग्रन्थकारों/विद्वानों का हृदय से कृतज्ञ हूँ।

पुस्तक के शुद्ध एवं सुन्दर मुद्रण के लिए श्रीयुत श्रीचन्द जी सुराना का सहयोग तथा इसके प्रकाशन कार्य में परम गुरुभक्त उदारमना दानवीर डॉ. चम्पालाल जी देसरड़ा की अनुकरणीय साहित्यिक रुचि भी अभिनन्दनीय है। जिसके कारण प्रस्तुत ग्रन्थ शीघ्र प्रकाशित हो सका है।

मैं पुनः पाठकों से अनुरोध करता हूँ कि जैनधर्म के इस विश्वविजयी कर्म-सिद्धान्त को वे समझें और जीवन की प्रत्येक समस्या का शान्तिपूर्ण समाधान प्राप्त करें। समता, सरलता, सौम्यता का जन-जन में संचार हो, यही मंगल मनीषा····।

–आचार्य देवेन्द्र मुनि

शक्तिनगर जैन स्थानक
दिल्ली

दिनांक :

कर्म-विज्ञान : भाग ७
विषय-सूची

	क्या ?	कहाँ ?
१.	अप्रमाद-संवर का सक्रिय आधार और आचार	१
२.	अकषाय-संवर : एक सम्प्रेरक चिन्तन	२५
३.	कषायों और नोकषायों का प्रभाव और निरोध	५६
४.	कामवृत्ति से विरति की मीमांसा	९२
५.	योग का मार्ग : अयोग-संवर की मंजिल	११७
६.	वचन-संवर की सक्रिय साधना	१४८
७.	योग्य क्षेत्र में पुण्य का बीजारोपण	१६७
८.	निर्जरा : अनेक रूप और स्वरूप	१९९
९.	निर्जरा के विविध स्रोत	२३५
१०.	सकामनिर्जरा का एक प्रबल कारण : सम्यक्तप	२६२
११.	प्रायश्चित्त : आत्म-शुद्धि का सर्वोत्तम उपाय	३०५
१२.	निर्जरा, मोक्ष या पुण्य-प्रकर्ष के उपाय : विनय और वैयावृत्यतप	३४४
१३.	स्वाध्याय और ध्यान द्वारा कर्मों से शीघ्र मुक्ति	३७७
१४.	व्युत्सर्गतप : देहातीत भाव का सोपान	४१८
१५.	भेदविज्ञान की विराट् साधना	४४८
१६.	शीघ्र मुक्ति का सर्वोत्तम उपाय : अविपाक निर्जरा	४७१

कर्म-विज्ञान

सातवाँ भाग

संवर एवं निर्जरा तत्त्व का स्वरूप-विवेचन

जैनदर्शन मोक्षवादी दर्शन है। वह आत्मा की परम विशुद्ध स्वभाव-दशा में विश्वास करता है। स्वभाव है सुख/आनन्द/परम निर्मलता।

आत्मा में मलिनता स्वाभाविक नहीं, कर्मों के कारण है। कर्ममुक्ति की प्रक्रिया को समझना–जैनधर्म का साधना मार्ग है।

साधना का पथ है संयम; संवर और तप अर्थात् निर्जरा। इन्हीं दो उपायों से कर्ममुक्ति की साधना सम्भव है।

संयम/संवर साधना के विषय में विस्तारपूर्वक पढ़िये प्रस्तुत भाग में।

१

अप्रमाद-संवर का सक्रिय आधार और आचार

प्रमाद से हुई ट्रेन-बस-टक्कर से मृत्यु का भंयकर ताण्डव

तूफान मेल पूरी स्पीड से अपनी पटरी पर धड़धड़ाता हुआ आ रहा है। इधर रेलवे फाटक खुला हुआ है। वहाँ से छात्रों को लेकर शहर को जाने वाली सड़क से एक बस द्रुतगति से आ रही है। बस-ड्राइवर इधर-उधर न देखकर अपनी धुन में बस को बेसब्री से दौड़ाता ला रहा है। ट्रेन जब फुल स्पीड में एकदम फाटक के नजदीक आ गई तब भी बस-ड्राइवर ने सड़क शीघ्र पार करने की धुन में बस नहीं रोकी। ट्रेन-ड्राइवर ने भी रेलवे-फाटक निकट ही है, यह जानकर भी ट्रेन को धीमी नहीं की। इसका दुष्परिणाम यह हुआ कि ट्रेन बस से टकरा गई और बस को चकनाचूर करके एक ओर फेंककर आगे बढ़ गई। ऐसी स्थिति में ट्रेन-बस की टक्कर से बस तो बुरी तरह क्षतिग्रस्त हुई सो हुई ही, बस में बैठे हुए कई छात्र तो घटनास्थल पर ही मर गए। कुछ अधमरे और घायल होकर कराहते रहे। उधर ट्रेन भी क्षतिग्रस्त हो गई। हड़बड़ी में कई डिब्बे पटरी से उतर गए। सम्भव है, उससे सैकड़ों यात्री मौत के मुँह में चले गए होंगे। अनेक यात्री घायल होकर पीड़ा के मारे सहायता के लिए चीख-पुकार कर रहे होंगे। यह मरणान्तक, दुःखद दुर्घटना किस कारण से हुई। एकमात्र बस-ड्राइवर और ट्रेन-ड्राइवर दोनों की गफलत, प्रमाद, असावधानी, उतावली और हड़बड़ी के कारण ! अगर बस-ड्राइवर प्रमाद न करके रेलवे-फाटक के पास बस के पहुँचने पर बस को थोड़ा रोक लेता, इधर-उधर देखता, ट्रेन के आने की आवाज सुनते ही सावधान हो जाता, ट्रेन को फाटक से आगे बढ़ जाने पर ही बस को विवेक से चलाता अथवा ट्रेन को रेलवे-फाटक से कुछ ही दूरी पर पहुँची देखकर बस को आगे बढ़ाने की हड़बड़ी या उतावली न करता तो ऐसी करुण दुर्घटना से उन मृत छात्रों को बचा सकता था। उधर ट्रेन-ड्राइवर भी रेलवे-फाटक के पास ट्रेन को धीमी कर देता या दूर से ही स्पीड धीमी करके रोक लेता तो ऐसी दुर्घटना और जान-माल की हानि न होती। इस दुर्घटना का मूल कारण अगर खोजा जाए तो प्रमाद है।

प्रमाद मृत्यु है, अप्रमाद अमृत्यु (जीवन) : क्यों और कैसे ?

'धम्मपद' में कहा गया है–"पमादो मच्चु, अपमादो अमच्चु।"–प्रमाद मृत्यु है और अप्रमाद अमृत्यु (जीवन) है। इन दोनों व्यक्तियों का प्रमाद ही सैकड़ों व्यक्तियों की मृत्यु का कारण बना।

इसी प्रकार यदि मनुष्य भी और उसमें भी अप्रमाद-संवर द्वारा कर्ममुक्ति की साधना करने वाला सागार या अनगार साधक भी अपनी जीवनरूपी गाड़ी को प्रमादपूर्वक चलाता है, काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य, अंहकार, राग-द्वेष, विषय-वासना और स्वार्थान्धता के नशे में धुत होकर जीवनरूपी गाड़ी को अंधाधुंध दौड़ाता है, सावधानी और विवेक विचार या यत्नाचार बिलकुल नहीं रखता; दूसरों की यानी अपने से भिन्न षड्जीवनिकाय के जीवों की जिंदगी का जरा भी विचार नहीं करता, न ही अपनी जिंदगी नष्ट-भ्रष्ट होने की चिन्ता करता है, तो कर्मविज्ञान के पुरस्कर्त्ता भगवान महावीर कहते हैं–"जो (इस प्रकार) प्रमत्त एवं विषयासक्त है, वही जीवों को दण्ड देने वाला (जीवहिंसक) होता है।"[1]

अर्थात् प्रमादी जीव के काम-क्रोधादि के या पंचेन्द्रिय-विषय-वासना के नशे में स्वयं के द्रव्यप्राणों का कदाचित् नाश न होता हो, परन्तु भावप्राणों को तो वह नष्ट कर ही देता है। इसके अतिरिक्त अन्य एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक के जीवों में से भी अनेक को अपनी असावधानी, अविवेक और प्रमाद के कारण मौत के घाट उतार सकता है। भगवान ने तो स्पष्ट कहा है–"जो इस जीवन के प्रति (विषय-कषायादिवश) प्रमत्त-आसक्त है, वह हनन, छेदन, भेदन, चोरी, ग्रामघात, उपद्रव (जीववध) और उत्तास आदि प्रवृत्तियों में लगा रहता है।"[2] कर्मविज्ञान की दृष्टि से प्रमादास्रव के कारण अप्रमत्त साधना में तत्पर साधक की एक क्षण की गफलत से तीव्र पापकर्म का बन्ध सम्भव है। साथ ही पूर्वबद्ध पापकर्म के उदय में आने पर स्वयं भी अकाममरण से युक्त मृत्यु का शिकार हो सकता है और अपनी जिंदगी के साथ-साथ अनेकों प्राणियों तथा मानवों की अमूल्य जिंदगी को भी मौत के घाट उतार दे सकता है अथवा पूर्वोक्त प्रमाद के नशे में स्व-पर को भी वैर-विरोध, संघर्ष, पीड़ा, यातना एवं वेदना से ग्रस्त कर सकता है। मानव के उस एक क्षण के प्रमाद के कारण इतना बड़ा हादसा घटित हो सकता है। इसीलिए तथागत बुद्ध ने कहा–"प्रमाद मृत्यु है और अप्रमाद जीवन है।"

---

१. जे पमत्ते गुणट्ठिए, से हु दंडेति पवुच्चति। —आचारांगसूत्र, श्रु. १, अ. १, उ. ४

२. जीविते इह जे पमत्ता से हंता छेत्ता भेत्ता लुंपिता विलुंपिता उद्दवेत्ता उत्तासयित्ता॥
—वही, श्रु. १, अ. २, उ. १

जीवन में प्रमाद साधना को दूषित कर देता है

प्रश्न होता है, एक उच्च कोटि का साधक रात-दिन साधना करते हुए भी कैसे प्रमाद के चक्कर में आ जाता है? उच्च कोटि के साधक के जीवन में भी कई ऐसे उतार-चढ़ाव आते हैं, वह कभी अपरिहार्य कारणवश और कभी विना ही किसी कारणवश प्रमाद का सेवन करके अपनी आत्मा के विकास को अवरुद्ध कर लेता है। एक घटित घटना द्वारा इस तथ्य को समझना ठीक होगा–

एक राजकुमार का बचपन का एक मित्र अचानक संन्यासी बन गया। राजकुमार को जब ये समाचार मिले तो वह आश्चर्यान्वित हो गया। सोचा–"वह तो बात-बात में ही आवेश में आ जाता था, उस बात को अपने मन पर गंभीरता से ले लेता था, वह एकाएक संन्यासी हो गया, यही आश्चर्य है।"

वर्षों बाद वह राजकुमार राजा बन गया और संन्यासी बने हुए अपने बाल-मित्र को अपने राज्य में पधारने का आमंत्रण दिया। उक्त संन्यासी ने आमंत्रण स्वीकार कर लिया। वह भी नियत समय पर आकर ग्राम के बाहर स्थित उद्यान में ठहरा। राजा ने संन्यासी का भव्य-स्वागत करने और धूमधाम से ग्राम-प्रवेश कराने हेतु सारे ग्राम को शृंगारित कराया। गली-गली में द्वार बनवाए। रास्ते पर मखमल के गलीचे बिछवाये, उन पर इत्र का छिड़काव कराया। संन्यासी को जब ये समाचार मिले तो न जाने उसे क्या सूझा कि उसने पैरों पर कीचड़ लगा लिया और उन्हीं कीचड़ से भरे पैरों से उसने ग्राम में प्रवेश किया। राजा यह देखकर विचार में पड़ गया कि गाँव में कहीं भी कीचड़ नहीं था, फिर इनके पैर कीचड़ वाले कैसे हो गए? संन्यासी के धूमधाम से प्रवेश और उसके प्रवचन के बाद जब सब लोग चले गये, तब राजा ने संन्यासी से एकान्त में सविनय पूछा–"आपके भव्य प्रवेश पर मैंने गाँव के तमाम रास्तों पर गलीचे बिछवाये, इत्र छिड़कवाया और आप कीचड़-भरे पैरों से उन गलीचों पर चले। मुझे समझ में नहीं आता कि उद्यान से गाँव में पधारते हुए आपके पैरों में किस रास्ते पर कीचड़ लगा?

संन्यासी जरा अहंकारग्रस्त होकर बोला–"रास्ते में कहीं कीचड़ नहीं था। मैंने ही उद्यान से चलते समय अपने पैर कीचड़ वाले कर लिये थे और तुम्हारे द्वारा बिछवाये हुए गलीचों पर चला।" राजा ने पूछा–"ऐसा करने का कोई कारण?" संन्यासी सगर्व बोला–"कारण यह था कि तुमने मेरे स्वागतपूर्वक नगर-प्रवेश के लिए अपने वैभव का प्रदर्शन किया। परन्तु मेरे मन में तेरे वैभव की कोई कीमत नहीं है। इसे बताने के लिए ही मैंने अपने पैर कीचड़-भरे किये और उन गलीचों

पर चला।" संन्यासी के मन में था कि यह बात सुनते ही राजा मेरी निःस्पृहता पर फिदा हो जाएगा, परन्तु हुआ बिलकुल उलटा ही। संन्यासी की बात पूरी होते ही राजा खिलखिलाकर हँस पड़ा। संन्यासी ने हँसने का कारण पूछा तो राजा ने स्पष्टीकरण किया कि मेरी जिज्ञासा शान्त हो गई। मैंने समझा था कि "आप कैसे एकाएक संन्यासी बन गए?" परन्तु आपके इस व्यवहार और बातचीत पर से मुझे स्पष्ट ज्ञात हो गया कि आपने सिर्फ कपड़े ही बदले हैं। आप संसारी (गृहस्थ) के कपड़ों में जितने अहंकारी थे, उतने ही अहंकारी आज भी हैं। मैंने वैभव के प्रदर्शन से अपना अहंकार पुष्ट किया है तो आपने त्याग के प्रदर्शन से अपना अहंकार पुष्ट किया है। इतना बदलाव जरूर हुआ है। बोतल बदली है, उसमें (मदरूपी) मद्य तो वही का वही है।"[1]

जान-बूझकर किये गए प्रमाद से साधना नष्ट

साधक के तन्दुरुस्त शरीर में पूर्वकृत कर्मोदयवश हार्टफेल द्वारा अचानक मौत आ सकती है, परन्तु जो साधक जान-बूझकर प्रमाद के उन दूतों का थाल सजाकर स्वागत करता है, बुलाता है, वह तो प्रति क्षण अपने भावप्राणों की हत्या कर डालता है। इसीलिए भगवान महावीर ने प्रत्येक छोटे-बड़े साधक को चेतावनी के स्वर में कहा–"(कर्मविज्ञान में) कुशल साधक को प्रमाद नहीं करना चाहिए।"[2] समुद्र में तैरने वाले को अथवा कार, बस या ट्रेन चलाने वाले व्यक्ति को एकाध पल के लिए भी नींद का झौंका आ जाय अथवा गप्पों में मशगूल होकर या मद्यपान के नशे में वह होश भूल जाय तो तत्काल दुर्घटना हो सकती है और वह उन्हें मौत की नींद में सुला सकती है या उन्हें घायल या पीड़ित कर सकती है। उसी प्रकार कर्ममुक्ति के साधक को भी एकाध क्षण के लिए भी अकारण आया हुआ प्रमाद उसकी साधना के भगीरथ पुरुषार्थ को चौपट कर सकता है। स्कन्दक मुनि के ४९९ शिष्यों को पालक मंत्री द्वारा घाणी में पिलाया जा रहा था, तब तक उन्हें मोहजन्य प्रमाद नहीं आया, परन्तु अन्त में जब सबसे छोटे शिष्य को घाणी में पिलाया जाने लगा, तब उन्हें मोह तथा आवेशजनित प्रमाद आ गया। उन्होंने असमाधिपूर्वक मरकर अपनी वर्षों की साधना जरा-से प्रमाद के कारण मिट्टी में मिला दी।[3]

---

१. 'दिव्यदर्शन', दि. ३-३-९० (मुनि रत्नसुन्दर विजय जी) के लेख से भाव ग्रहण, पृ. १८३-१८४

२. अलं कुसलस्स पमाएणं। –*आचारांगसूत्र, श्रु. १, अ. २, उ. ४*

३. देखें–निशीथचूर्णि एवं त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र में खंधककुमार (स्कन्दक) मुनि की कथा

भगवान महावीर का उपदेश : समयमात्र भी प्रमाद मत करो

भगवान महावीर ने गणधर गौतम स्वामी जैसे उच्च कोटि के साधक को प्रमाद-त्याग के लिए बार-बार प्रेरणा देते हुए कहा–"वृक्ष से टूटे हुए पीले पत्ते के समान मनुष्य का जीवन नश्वर रहे, वह कुश के अग्र भाग पर पड़ी हुई ओस-बिन्दु के समान अल्पकालस्थायी है, जीवन अल्पकालिक है, उसमें भी अनेक प्रकार के अपाय और विघ्न आ जाते हैं। फिर यह मनुष्य-जीवन तो चिरकाल के बाद प्राप्त होता है, अतः अतिदुर्लभ है, कर्मों के विपाक बहुत गाढ़ हैं। इसलिए हे गौतम ! समयमात्र भी प्रमाद मत कर। देख तू पृथ्वीकायादि एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रियकायिक जीवयोनि को प्राप्त हुआ, उसमें नारक, तिर्यंच, देवभवों में बहुत काल तक रहा, वहाँ किसी प्रकार ज्ञान-दर्शन-चारित्र की साधना न हो सकी। स्थावरकाय और त्रसकाय में दीर्घकाल तक संवास होने पर अतिदुर्लभ मानवभव मिला। किन्तु मनुष्यभव मिलने पर आर्यत्व, परिपूर्ण इन्द्रियाँ, दीर्घायुष्य, उत्तम धर्म का श्रवण, सुदृढ़ श्रद्धा एवं सद्धर्म का आचरण करना आदि का योग बहुत दुर्लभ है। ये सभी साधन प्राप्त होने पर भी प्रमादवश कुतीर्थिकों के चक्कर में फँसकर आडम्बरों और विषयवासनाओं में मूर्च्छित हो जाता है। इसलिए तुम्हें तो ये सब दुष्कर साधन प्राप्त हो गए हैं, अतः समयमात्र भी प्रमाद मत करो।"

फिर उन्होंने कहा–तुम्हारा शरीर जराजीर्ण तथा केश सफेद हो रहे हैं, पाँचों इन्द्रियों का बल भी क्षीण हो रहा है। हो सकता है, अन्य वृद्ध लोगों की तरह तुम्हारे शरीर को वातरोगजनित चित्रोद्वेग, फोड़ा-फुंसी, हैजा आदि शीघ्रघातक व्याधियाँ घेर लें और तुम्हारा शरीर शक्तिहीन या विनष्ट हो जाय, अतः उससे पहले ही समयमात्र भी प्रमाद करना छोड़ दो। प्रमाद-त्याग के लिए कमल जैसे जल से निर्लिप्त रहता है, वैसे तुम भी सभी प्रकार के स्नेह (रागजनित) बन्धनों को तोड़ दो। पूर्व-परिचितों और प्रव्रज्या के बाद के परिचितों से सम्बन्धों को बिलकुल भूल जाओ और क्षणमात्र भी प्रमाद किये बिना साधुत्व के विषय में सतत पुरुषार्थ करो। तुम्हें अपने में जिनत्व को जगाकर प्रमादरूप पर-भावों का अवलम्बन छोड़कर स्वाश्रय से स्वयं का मार्गदर्शन स्वयं करना है। गौतम ! अब तुम कण्टकाकीर्ण पथ को छोड़कर मोक्ष के विशाल महापथ पर आ गए हो, अतः प्रमादवश दुर्बल साधक बनकर विषम (संयमरहित) मार्ग पर पुनः मत चढ़ जाना। अप्रमत्त होकर संयम की विशुद्ध साधना करना। हे गौतम ! तू संसाररूपी महासागर का अधिकांश तो पार कर चुका है, अब इसके तट पर पहुँचकर क्यों खड़ा हो गया? इसे पूरा पार करने की शीघ्रता कर। अर्थात् द्रव्य और भाव से मुक्ति (कर्मों से सर्वथा मुक्ति) पाने के लिए द्रुतगति से पराक्रम कर, इसलिए समयमात्र भी प्रमाद करना ठीक नहीं है। अगर तुम प्रशस्त राग का भी झटपट त्याग कर दोगे तो तुम भी अशरीरी सिद्धों की तरह क्षणक श्रेणी

पर आरूढ़ होकर क्षेम, शिव और अनुत्तर सिद्धिलोक को पा लोगे। बस, समयमात्र भी प्रमाद न करके सम्बुद्ध, उपशान्त एवं संयत होकर ग्राम-नगरों में विचरण करते हुए शान्तिमार्ग (दशविध श्रमणधर्म पथ) की वृद्धि करो। इस प्रकार सर्वज्ञ वीतराग प्रभु का उपदेश सुनकर गौतम स्वामी सर्वथा अप्रमत्त बनकर राग-द्वेष का क्षय करके सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हो गए। यह है अप्रमाद-संवर में बाधक-साधक तत्त्वों का तथा उसकी उपयोगिता का चिन्तन और उसके आचरण से मोक्षपद = परमात्मपद की प्राप्ति का अनुभवसिद्ध चित्रण।[1] 'निशीथचूर्णि' में तो स्पष्ट कहा गया है कि "जितने भी शुभाशुभ कर्मबन्ध होते हैं, वे चाहे किसी भी माध्यम से हुए हों, उनके मूल में प्रमाद होता है।"[2]

सर्वसाधारण साधकों को उन्होंने निर्देश दिया–"अनन्त जीवन-प्रवाह में मानव-जीवन को बीच का एक सुअवसर जानकर धीर साधक मुहूर्त भर के लिए भी प्रमाद न करे।"[3]

अप्रमाद के लिये मोहनिद्रा में सुप्त लोगों के बीच रहते हुए भी सर्वथा जाग्रत रहो

नीतिकारों का यह कथन कितना सत्य है–"गृहीत इव केशेषु मृत्युना धर्ममाचरेत्।"[4] अर्थात् मृत्यु ने मानो केशों को पकड़ रखा है, यह सोचकर (प्रमाद का त्याग करके अप्रमत्तभाव से) शुद्ध धर्म का आचरण करो। जब साधक मौत को साक्षात् खड़ी देखता है, तब वह जरा-सा भी प्रमाद नहीं करता। भगवान महावीर की इस देशना को वह जीवन में अपना लेता है–"अपने कदमों को फूँक-फूँककर रखो; इस संसार में पद-पद पर (धन-जन आदि सजीव-निर्जीव पदार्थों के साथ) राग-द्वेषरूप बन्धन का जाल बिछा हुआ है, ऐसा मानकर परिशंकापूर्वक विचरण करो। मोहनिद्रा में सोये हुए लोगों के बीच रहते हुए भी आशुप्रज्ञ साधक (कर्ममुक्ति-साधक) सब प्रकार से जाग्रत रहकर जीए। (प्रमाद का क्षणभर भी) विश्वास न करे। काल अत्यन्त भयंकर है और शरीर निर्बल है, अतः भारण्ड पक्षी की तरह अप्रमत्त (प्रति क्षण सावधान) होकर विचरण करे।"[5]

---

१. देखें–उत्तराध्ययनसूत्र का द्रुमपत्रक नामक १०वाँ अध्ययन

२. पमायमूलो बंधो भवति। –*निशीथचूर्णि* ६६८९

३. अंतरं च खलु इमं संपेहाए, धीरे मुहुत्तमवि णो पमायए। –*आचारांग, श्रु. १, अ. २, उ. १*

४. हितोपदेश

५. चरे पयाइं परिसंकमाणो, जं किंचि पासं इह मन्नमाणो॥७॥
सुत्तेसु यावी पडिबुद्धजीवी, न वीससे पंडिय आसुपन्ने।
घोरा मुहुत्ता अबलं सरीरं, भारंडपक्खी व चरऽप्पमत्ते॥६॥ –*उत्तराध्ययन, अ. ४, गा. ७, ६*

मृत्यु को साक्षात् खड़ी देख साधक प्रमाद नहीं कर पाता है

यदि कर्ममुक्ति का साधक प्रति क्षण सावधान नहीं रहेगा तो वह शीघ्र ही भावमरण–असमाधिपूर्वकमरण को प्राप्त हो सकता है।

राजा जनक के दरबार में एक ऋषि आया। उसने कहा–"मैंने सुना है कि तुम परम ज्ञान को उपलब्ध हो गए हो, लेकिन मुझे शक है कि इस धन-वैभव में, इतनी सुख-सुविधाओं में, इन सुन्दरियों और नर्तकियों के बीच में, इन सब राजनीतिक और भौतिक पदार्थों के जाल में तुम कैसे उस परम तत्त्व का स्मरण रखते होओगे?" यह सुनकर जनक ने कहा–"इसका उत्तर आज शाम को आपको मिल जायेगा।" शाम को एक बड़ा जलसा होने वाला था, उसमें देश की प्रसिद्ध नर्तकी का नृत्य होने वाला था। जनक राजा ने उस ऋषि को बुलाया। चार नंगी तलवारें लिये हुए सिपाही उसके चारों ओर तैनात कर दिये। ऋषि जरा घबराया। उसने पूछा–"इसका क्या मतलब? ऐसा क्यों किया जा रहा है?" जनक बोले–"घबराओ मत। यह तुम्हारे प्रश्न का उत्तर है।" और तभी उसके हाथ में तेल से लबालब भरा कटोरा देते हुए कहा–"देखो, यहाँ नर्तकी का नृत्य होगा। तुम्हें इस पूरे स्थान के सात चक्कर लगाने हैं। बड़ी भीड़ होगी दर्शकों की। हजारों लोग इकट्ठे होंगे। अगर तेल की एक भी बूँद नीचे गिरी तो ये ४ सिपाही, जो चार नंगी तलवारें लिये तुम्हारे चारों तरफ हैं; फौरन तुम्हारे टुकड़े-टुकड़े कर देंगे।" ऋषि ने कहा–"बाबा ! माफ करो। हम अपना प्रश्न वापस ले लेते हैं। हम तो सत्संग करने, जिज्ञासा लेकर आए थे, अपनी जान गँवाने नहीं। तुम जानो, तुम्हारा ज्ञान जाने। तुमने परम ज्ञान को उपलब्ध कर लिया होगा, हमें संदेह नहीं है। छोड़ो हमें।" जनक ने कहा–"अब यह नहीं हो सकेगा। जब प्रश्न पूछ ही लिया तो उत्तर देना जरूरी है।" उक्त ऋषि को अब जनक राजा के पास से भागने का कोई उपाय न था। सुन्दर नर्तकी नाच रही थी। ऋषि के मन में बार-बार विकल्प उठता कि जरा नर्तकी की ओर आँख उठाकर देख लूँ। परन्तु मृत्यु का ऐसा भय था कि तेल की एक बूँद भी गिरी तो मेरी निश्चित मौत है। मानो मौत को साक्षात् देखते हुए उसने ७ चक्कर अत्यन्त सावधानी से एक-एक कदम फूँक-फूँककर रखकर लगाए; तेल की एक बूँद भी नीचे न गिरने दी। जनक राजा ने ऋषि से पूछा–"क्यों ऋषि जी ! उत्तर मिल गया?" "हाँ, महाराज ! मिल गया। ऐसा उत्तर मिला कि मेरा पूरा जीवन बदल गया। किसी आत्मिक वस्तु की स्मृति इतनी देर तक अखण्डित और सतत रहे, तभी आत्मा के निजी गुणों की एक बूँद भी स्थान भ्रष्ट होकर गिर नहीं सकती।" जनक–"तुम्हारे चारों ओर तो चार ही तलवारें थीं; मेरे आसपास तो कितनी तलवारें हैं? यह तुम्हें पता नहीं है। तुम्हारी जिंदगी थोड़े-से खतरे में थी,

मेरी जिंदगी तो चारों ओर बड़े-बड़े अनेक खतरों से घिरी हुई है। मौत की तलवार तो सबके सिर पर लटक रही है, पर भान कहाँ है, उन्हें? शुद्ध आत्मा की या परमात्मा की सतत स्मृति उसी को रहती है, जो मृत्यु की तलवार अपने सिर पर हर समय लटकती देखे। ऐसी ही स्थिति में शुद्ध आत्मा या परमात्मा से एक क्षण भी विमुखता नहीं रह सकती। हजारों प्रमत्त जनों के बीच में रहता हुआ भी वह अप्रमत्त रहता है।[1] उसके चैतन्य की धारा अविच्छिन्न रूप से उसी (शुद्ध आत्मा या परमात्मा) की ओर प्रवाहित होती है। जैसे पनिहारिनें मस्तक पर जल से भरे हुए दो-दो घड़े रखकर चलती हैं, रास्ते में अपनी सखी-सहेलियों से बातें भी करती हैं, परन्तु उनका ध्यान सतत पानी से भरे घड़े पर रहता है। इसीलिए भगवान महावीर ने साधकों से कहा था–"प्रमादरत लोगों के बीच रहते हुए भी सर्वथा जाग्रत रहकर अप्रमत्तभाव से जीए। प्रमाद का क्षणभर भी विश्वास न करे।" उन्होंने कहा कि "जितने भी कर्मबन्ध होते हैं, उनके मूल में प्रमाद रहता है।"[2] राग-द्वेषादि विकारों से सावधान रहा जाए तो मन, शरीर और इन्द्रियों के साथ रहते हुए भी व्यक्ति उनसे निर्लिप्त, राग-द्वेषादि से मुक्त या अत्यन्त मन्द रह सकता है, बशर्ते कि वह सतत जागृति एवं आत्म-स्मृति रखे, अप्रमत्त रहे।

जीव अपने ही प्रमाद से दुःख पाता है

एक बार श्रमण भगवान महावीर ने गौतम आदि श्रमण निर्ग्रन्थों को आमंत्रित किया। सभी श्रमण उत्सुकतापूर्वक भगवान के निकट बैठ गए। सबकी उत्सुकता देखकर भगवान ने एक प्रश्न प्रस्तुत किया–"किं भया पाणा समणाउसो ?" –आयुष्मान् श्रमणो ! जीव किससे भय पाते हैं? प्रश्न नया और गंभीर नहीं था, किन्तु यह प्रश्न किस सन्दर्भ में पूछा गया है? यह सोचकर सभी मौन हो गए। गौतमादि श्रमणों ने भगवान से सविनय निवेदन किया–"देवानुप्रिय ! हम इस अर्थ (बात) को नहीं जानते-देखते हैं, यदि आपश्री को इस अर्थ का स्पष्टीकरण करने में खेद न हो तो हम आपसे ही इस अर्थ को जानना चाहेंगे।" भगवान ने उनकी प्रबल जिज्ञासा देखकर कहा–"आर्यो ! ध्यान से सुनो। मैंने जिस सत्य-तथ्य को समझा है, अनुभव किया है, मैं तुम्हें बता रहा हूँ–"दुक्खभया पाणा समणाउसो !"–आयुष्मान् श्रमणो ! जीव दुःख से भय खाते हैं? साधुओं ने जिज्ञासावश फिर पूछा–"से णं भंते ! दुक्खे केण कडे ?"–भंते ! वह दुःख किसके द्वारा किया गया है? भगवान ने समाधान किया–"जीवेणं कडे पमाएणं।"–जीव

---

१. 'भक्तिसूत्र' (आचार्य रजनीश) से भाव ग्रहण, पृ. २३८

२. (क) उत्तराध्ययन, अ. ४, गा. ७

(ख) पमायमूलो बंधो भवति। –निशीथचूर्णि ६६८९

(स्वयं) ने अपने प्रमाद से दुःख का अर्जन किया है। भगवान महावीर के कथन का आशय यह है कि जीवों को जो दुःख उत्पन्न होते हैं, वे किन्हीं देवी-देवों, भगवान, अवतार या ईश्वर द्वारा नहीं दिये जाते हैं, जीव स्वयं मिथ्यात्व, अज्ञान एवं कषाय के वश होकर प्रमादग्रस्त बनकर पापकर्म का बन्ध करता है और उसके फलस्वरूप दुःख पाता है। यहाँ पापकर्मबन्ध ही दुःख का पर्याय बन गया है। साधुओं ने अपनी जिज्ञासा आगे बढ़ाई–"से णं भते ! दुक्खं कहं वेइज्जति ?"–भंते ! उस दुःख का वेदन–क्षय कैसे होता है? प्रश्न का आशय यह है कि उक्त पापकर्मबन्धजनित दुःख से छुटकारा पाने के लिए क्या करना चाहिए? भगवान महावीर ने कहा–"अप्पमाएणं।" अर्थात् अप्रमाद से–आत्म-जागृति से दुःख का क्षय सम्भव है। यदि तुम दुःख का क्षय करना चाहते हो तो अप्रमत्त यानी जाग्रत रहो। अप्रमत्त रहने से दो लाभ हैं–संचित दुःख का क्षय और भविष्य में अर्जित हो सकने वाले दुःख से छुटकारा। आशय यह है–वर्तमान का अप्रमाद (जागरूकता) ही भूतकालीन और भविष्यकालीन–दोनों प्रकार के दुःखों से छुटकारा दिलाने में सक्षम है।[1] सबकी जिज्ञासा शान्त हो गई। महावीर ने कहा–"चतुर वही है जो कभी प्रमाद नहीं करता।"[2]

प्रमाद कर्म है और अप्रमाद धर्म : क्यों और कैसे ?

एक बार भगवान महावीर ने कहा था–"प्रमाद कर्म और अप्रमाद अकर्म–यानी कर्मबन्धरहित धर्म।"[3] भगवान महावीर ने प्रमाद और अप्रमाद में रत दो व्यक्तियों द्वारा इस तथ्य को स्पष्ट किया है–"जो रात्रि बीत चुकी है, वह वापस लौटकर नहीं आती, अतः जो व्यक्ति अधर्म करता है, उसकी रात्रियाँ निष्फल जाती हैं। इसके विपरीत जो व्यक्ति धर्म करता है, उसकी रात्रियाँ सफल हो जाती हैं।" इसका आशय यही है कि जो काल बीत गया, वह कभी नहीं लौटता, किन्तु जो व्यक्ति उन क्षणों में धर्माचरण न करके अधर्माचरण करता है, उसका उतना समय व्यर्थ चला गया, उसने उत्तम क्षणों को खो दिया। परन्तु जिसने उन क्षणों में धर्माचरण किया, उसने उन क्षणों को सार्थक कर लिया।[4] कई लोग धर्माचरण करने में सक्षम हैं, शरीर स्वस्थ है, आयु भी जवानी या प्रौढ़ है, फिर भी

---

१. देखें–स्थानांगसूत्र, स्था. ३, उ. २ में भगवान महावीर और श्रमणों का यह संवाद

२. जे छेये से विप्पमायं न कुज्जा। –सूत्रकृतांग १/१४/१

३. पमायं कम्ममाहंसु अप्पमायं तहाऽवरं। –वही, श्रु. १, अ. ७, उ. १

४. जा जा वच्चइ रयणी, न सा पडिनियत्तइ।
अहमं कुणमाणस्स अफला जंति राईओ॥२४॥
जा जा वच्चइ रयणी, न सा पडिनियत्तइ।
धम्मं च कुणमाणस्स सफला जंति राईओ॥२५॥ –उत्तराध्ययन, अ. १४, गा. २४-२५

धर्माचरण करने में उनकी रुचि, जिज्ञासा, उत्साह, उमंग आदि नहीं होती। इस दृष्टि से यहाँ अप्रमाद ही धर्म है–कर्मक्षय का कारण है और प्रमाद अधर्म है–कर्मबन्ध का कारण। इसी दृष्टि से भगवान महावीर ने कहा–"धर्माचरण में अपना ही सुपुरुषार्थ अप्रमाद है और अपना ही पापाचरण में कुपुरुषार्थ अथवा धर्माचरण में अपुरुषार्थ (आलस्य, अनुत्साह आदि) प्रमाद है। मनुष्य अपनी ही भूलों (प्रमादों = असावधानियों) से संसार की विचित्र स्थितियों में फँस जाता है।"[1] जब तक व्यक्ति स्वयं प्रमाद, आलस्य आदि को हटाकर अप्रमाद की दिशा में गति-प्रगति न करे, तब तक ईश्वर या कोई भी शक्ति मन के लूले-लँगड़े उस व्यक्ति को आत्म-विकास के पथ पर नहीं ला सकती।

प्रमाद-निरोध के मुख्य दो उपाय

इसलिए भगवान महावीर ने प्रमाद को हटाने के दो मुख्य उपाय बताए–"एक ओर से–काम, क्रोध, मद, लोभ, राग, द्वेष आदि दिशाओं में जाती हुई मन-वचन-काया की प्रवृत्ति को तत्काल रोको और दूसरी ओर से–अपने मन-वचन-काया को धर्माचरण (सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र-तपरूप धर्म की = मोक्षमार्ग की साधना) में उत्साहपूर्वक लगा दो।" 'उत्तराध्ययन' के द्रुमपत्रक नामक छठे अध्ययन में भगवान महावीर द्वारा गौतम स्वामी को दी गई अप्रमाद की प्रेरणा मद, मोह, निद्रा, आलस्य, विकथा, राग, द्वेष, कलह, कषाय, विषयासक्ति आदि झंझटों में न फँसकर एकमात्र वीतरागता या कर्ममुक्ति की दिशा में पुरुषार्थ करने की थी और 'स्थानांगसूत्र' में उल्लिखित अप्रमाद की प्रेरणा प्रदान करते हुए प्रमाद को दुःखरूप, कर्मबन्धजनक एवं जन्म-मरणादि के भयोत्पादक एवं मोक्षमार्ग में विघ्नकारक जानकर उससे प्रति क्षण बचने की थी। परन्तु 'स्थानांगसूत्र' में उल्लिखित अप्रमाद-प्रेरणा से कदाचित् कोई मंद साधक सहसा उसका तात्पर्य न समझे, इसलिए उसे प्रमाद और अप्रमाद का साक्षात् नतीजा बताने हेतु वे कहते हैं–"ओ मोक्षमार्ग में अहर्निश यत्न करने वाले सतत प्रज्ञावान् और धीर साधक ! उन्हें देख, जो प्रमत्त हैं, वे धर्म (सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रयरूप धर्म या आत्म-स्वभावरूप धर्म) से बाहर हैं, इसलिए तू अप्रमत्त होकर सदा (रत्नत्रयरूप या आत्म-स्वभावरूप धर्म में) पराक्रम कर।" आगे उन्होंने कहा–"जो साधक मोक्ष-प्राप्ति (कर्ममुक्ति) की साधना के लिये कमर कसकर उठ खड़ा है, उसे अब क्षणभर भी प्रमाद नहीं करना चाहिए। यह अप्रमाद का मार्ग आर्यों (तीर्थंकरों) ने बताया है।" "सम्यग्ज्ञानी मुनि अनन्य-परम (सर्वोच्च परम सत्य या संयम) के प्रति कदापि प्रमाद (उपेक्षा,

---

१. सएण विप्पमाएण पुढो वयं पकुव्वह। —आचारांग, श्रु. १, अ. २, उ. ६

लापरवाही) न करे।" इसी प्रकार उन्होंने कहा–"प्रमत्त प्राणियों को शारीरिक, मानसिक दुःखों से आतुर देखकर साधक सतत अप्रमत्त होकर विचरण करे।"[1]

इन्द्रिय-विषयों के प्रति प्रमाद के कारण जीवों की दुर्दशा

प्रमाद से जीव को कितनी शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक हानि होती है? इसका अंदाजा लगाना मुश्किल है। हिरण वैसे तो इतना तेज दौड़ता है कि किसी के पकड़ में सहसा नहीं आता, किन्तु कोई मधुर राग-रागिनियों की तान छेड़ दे तो वे तुरन्त नजदीक आ जाते हैं, संगीत श्रवण में इतना मुग्ध और लुब्ध हो जाते हैं कि उन्हें भान ही नहीं रहता, उसी शब्द-विषयक प्रमाद के कारण वे पकड़ लिये जाते हैं, कहीं-कहीं मार भी दिये जाते हैं। हाथी बहुत ही बलिष्ठ और बुद्धिमान् प्राणी है, किन्तु उसे पकड़ने के लिए लोग बहुत गहरा गड्ढा खोदते हैं, उसमें कागज की उसी आकार की हथिनी बनाकर रखते हैं। दूर से वह हू-बहू हथिनी जैसी लगती है, हाथी स्पर्शेन्द्रिय विषयक कामवासना से लुब्ध होकर उस कागज की हथिनी की ओर दौड़ लगाता है, कामवासना के आवेश में भान भूलकर ज्यों ही वह हथिनी का स्पर्श करने जाता है, स्वयं गड्ढे में गिर पड़ता है। हाथी को पकड़ने वाले लोग उसे बन्धन में जकड़ लेते हैं। इसी प्रकार पतंगा वैसे तो उड़ने वाला स्वतंत्र जीव है, किन्तु ज्यों ही प्रकाश का रूप देखता है, प्रमादवश अंधा होकर उस पर टूट पड़ता है, फलतः अपने प्राण गँवा बैठता है और भौंरा इतना शक्तिशाली है कि काष्ठ को भेदन कर सकता है, किन्तु वही भौंरा सुगन्ध के लोभ में कमल के कोष में बंद हो जाता है और इस प्रमादवश अपने प्राण खो बैठता है। मछली पानी में रहती है, उसे पकड़ पाना मनुष्य के लिए आसान नहीं है,[2] किन्तु लोहे काँटे पर जब मच्छीमार आटे की गोली लगा देता है तो उसका स्वाद पाने और खाने के लोभ में मछली उसी पर मुँह मारती है और काँटा उसके मुँह को बींध डालता है, वह पकड़ ली जाती है और पानी से बाहर निकालते ही कुछ ही देर में मर जाती है। यों क्रमशः प्रमाद के वशीभूत होकर एक-एक इन्द्रिय के विषय में आसक्त जीव अपनी मृत्यु को निमंत्रण दे देते हैं, तो जो व्यक्ति प्रमादवश पाँचों

---

१. (क) अहो य राओ य जयमाणे धीरे सया आगत-पण्णाणे।
पमत्ते बहियापास, अपमत्ते सया परक्कमेज्जासि॥ –*आचारांग, श्रु. १, अ. ४, उ. १*
(ख) उट्ठिए णो पमायए। एस मग्गे आरिएहिं पव्वेइए। –*वही, श्रु. १, अ. ५, उ. २*
(ग) अणण्णपरमं नाणी णो पमाए कयाइ वि। –*वही, श्रु. १, अ. ३, उ. ३*
(घ) पासिअ आउरे पाणे अप्पमत्तो परिव्वए। –*वही, श्रु. १, अ. ३, उ. १*

२. कुरंग-मातंग-पतंग-भृंग-मीना हताः पंचभिरेव पंच।
एक प्रमादी स कथं न हन्यते, यः सेवते पंचभिरेव पंच॥ –*गरुड़पुराण, अ. ६/३५*

इन्द्रियों के मनोज्ञ विषयों पर राग और अमनोज्ञ विषयों पर द्वेष करता है, अच्छा-बुरा, प्रिय-अप्रिय, अनुकूल-प्रतिकूल की कामना-वासना सँजोता है, पाने-छोड़ने को आतुर होता है, वह अशुभ कर्मों का बन्ध करके अपने लिए जन्म-मरण का चक्कर बढ़ा लेता है, दुर्गतिगमन की भूमिका तैयार कर लेता है। आत्मा के स्वाभाविक गुणों का–भावप्राणों का हनन कर डालता है। प्रमाद के द्वारा बहुत बड़ी दुःख-परम्परा की सृष्टि तैयार कर लेता है। 'कामन्दकीय नीति' में कहा गया है[1]– शब्द, स्पर्श, रूप, रस और पाँचवाँ गन्ध, यह प्रत्येक विषय राग-द्वेषादिवश प्रमाद के कारण मलिन होकर विनाश का कारण बनता है।

प्रमादी को सब ओर से भय, अप्रमादी को कहीं भी भय नहीं

इसीलिए भगवान महावीर ने कहा–"प्रमादी व्यक्ति को इस लोक और परलोक में सब ओर से भय है, किन्तु अप्रमादी व्यक्ति को किसी ओर भी भय नहीं है।" 'सर्वार्थसिद्धि' के अनुसार–कषायसहित अवस्था ही प्रमाद है। इसलिए जो कषाय या राग-द्वेष-मोहजनित प्रमादावस्था में जीते हैं, उन्हें राग-द्वेष-कषायों से होने वाले कर्मबन्धों से भावतः भय है और द्रव्यतः प्रमादीजनों को प्रमाद से दुर्घटना, मृत्यु, क्षति, भयंकर दण्ड, दुर्गति आदि का भय है। इसीलिए कहा गया–प्रमत्त को इस लोक में भी भय है, परलोक में भी। इसके विपरीत जो आत्म-हित में जाग्रत है, अप्रमत्त है, उसे न तो संसार का ही भय रहता है और न कर्मों के बन्ध का।[2]

प्रमाद-सेवन के कारण और निवारणोपाय

प्रमाद-स्थान नामक अध्ययन में यही प्रतिपादन किया गया है कि अप्रमत्त साधक को पाँचों इन्द्रियों के मनोज्ञ विषयों पर न तो राग (आसक्ति, मोह) करना चाहिए और न अमनोज्ञ विषयों के प्रति द्वेष, घृणा या अरुचि करनी चाहिए तथा कषाय-नोकषायवश मनोज्ञ-अमनोज्ञ विषयों को पाने, अल्प-मात्रा में पाने, रखने, रक्षा करने और वियोग होने पर दुर्ध्यान संक्लेश आदि नहीं करना चाहिए, न ही हिंसादि पापों का आचरण करना चाहिए। रूपादि विषयों में अनुरक्त मनुष्य को समाधि और निराकुलता प्राप्त नहीं होती, सुख के बदले दुःख ही प्राप्त होता है।

---

१. (क) 'गरुड़पुराण' से भावांश ग्रहण
(ख) शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसो गन्धश्च पंचमः।
एकैकमलमेतेषां विनाश-प्रतिपत्तये॥ –कामन्दकीय नीति

२. (क) सव्वओ पमत्तस्स भयं, सव्वओ अप्पमत्तस्स नत्थि भयं।
(ख) देखें–इस सूत्र की व्याख्या, आचारांग, श्रु. १, अ. ३, उ. ४ (आ. प्र. समिति, ब्यावर), पृ. ११५
(ग) प्रमोदः सकषायत्वम्। –सर्वार्थसिद्धि ७/१३/३५१/२

उससे अशुभ कर्मों का बन्ध होकर पुनः-पुनः जन्म-मरण करना पड़ता है। मन से भी पाँचों इन्द्रियों के विषयों में राग-द्वेष, क्लेश आदि होते हैं, जिससे हिंसादि भाव एवं आर्त्त-रौद्रध्यान होता है, अशुभ लेश्याओं में, कषायों में प्रवृत्त होकर जीव पापकर्म का बन्ध करता है। इस प्रकार प्रमाद के वशीभूत होकर जीव असंख्यकाल तक पुनः-पुनः दुःख पाता रहता है।[1]

प्रश्न होता है–प्रत्येक व्यक्ति के पास प्रायः पाँचों इन्द्रियाँ होती हैं, मन होता है, इन सबके विषयों में भी सबको प्रवृत्ति करनी पड़ती है। छद्मस्थ व्यक्ति के लिए पाँचों इन्द्रियों और मन के विषयों में प्रवृत्ति करना अनिवार्य है, तब तो कोई भी साधक प्रमाद से कैसे बच सकता है? इसका समाधान यह है–इन्द्रियों को विषयों में और मन को भावों में प्रवृत्त करते समय यदि राग-द्वेष या काम, मोह, क्रोधादि कषाय नहीं होता है, तो प्रमाद नहीं कहलायेगा। इन्द्रियों के द्वारा विषयों में प्रवृत्ति होने के साथ मन को प्रियता-अप्रियता, अच्छी-बुरी आदि पंचायत मत करने दीजिए। मन को उससे मत जोड़िये। तभी अप्रमाद कहलायेगा।

अप्रमाद-संवर के लिए : इन्द्रियों के उपयोग में सावधान रहें

अर्थात् जितेन्द्रियता का अभ्यास करने से व्यक्ति इस प्रकार के प्रमाद से बच सकता है। जितेन्द्रिय का लक्षण है–"जो व्यक्ति सुनकर, स्पर्श करके, देखकर, रखकर या सूँघकर न तो हर्षित होता है और न ही ग्लान (मूर्च्छित), उसे जितेन्द्रिय जानना चाहिए।"[2] अतः प्रमाद-निरोध का सीधा-सा उपाय है–व्यक्ति इन्द्रियों से ऊपर उठकर जीए। ऐसा साधक इन्द्रियों से विभिन्न विषयों की जानकारी (ज्ञान) लेता है, पर उनसे रहता अलिप्त, अनासक्त, विरक्त या विमुख है। आँखों से देखना भी है और उन पर नियंत्रण (संयम या संवर) भी रखना है। जीभ से बोलना और भोजन करना है किन्तु दोनों अवसरों पर जिह्वा पर संयम रखना है। शब्द सुनना है, वही जो सुनने योग्य हो, अवश्य श्रवणीय हो, परन्तु उसमें प्रिय-अप्रिय नहीं जोड़ना है। दोनों बातें एक साथ करना है बड़ा कठिन काम, परन्तु यह शक्य है, अशक्य नहीं है। यही अप्रमाद-संवर की एक शीघ्र अशुभ निरोधात्मक साधना-पद्धति है। इसमें इन्द्रियों से, मन से, शरीर से काम अवश्य लेना है, परन्तु उनके प्रपंचों में नहीं फँसना है। प्रायः इन्द्रियाँ सदैव 'यह चाहिए, वह चाहिए' ऐसी चाहों से घिरी रहती हैं, साथ में मन जुड़ जाता है। तब 'जो

---

१. देखें–उत्तराध्ययनसूत्र का प्रमादस्थान नामक ३२वाँ अध्ययन

२. श्रुत्वा स्पृष्ट्वा च दृष्ट्वा च भुक्त्वा घ्रात्वा च यो नरः।
न हृष्यति न ग्लायति स विज्ञेयो जितेन्द्रियः॥

चाहिए' उसके प्रति राग और 'न चाहिए' उसके प्रति द्वेष उत्पन्न होते हैं। यही अप्रमादी साधक की कसौटी है।

शरीर, इन्द्रियाँ आदि का स्वरूप समझकर प्रमाद में न फँसो

अप्रमाद के पथ पर चलने के लिए साधक को एक सजग प्रहरी की भाँति सचेष्ट रहना पड़ता है। मनुष्य के साथ-साथ शरीर, इन्द्रियाँ, मन आदि चलते हैं, वैसे अनेक प्राणी और मनुष्यों से भी उसका सम्पर्क होता है, सम्बन्ध भी जुड़ता है, परन्तु वह यदि सावधान रहकर, शरीर, इन्द्रियाँ, मन आदि की नश्वरता, क्षण-भंगुरता, अनित्यता, अशरणता आदि का चिन्तन करके इनसे केवल कर्मक्षयार्थ तप, जप, संवर, समत्व आदि की साधना करे, इनसे काम ले, किन्तु इनके निमित्त से राग, द्वेष, क्लेश, कषाय उत्पन्न होते हों तो तुरंत हट जाए। इसी अपेक्षा से भगवान महावीर ने अप्रमाद-संवर के साधकों को शरीरादि के विषय में गहराई से चिन्तन की प्रेरणा दी है। सर्वप्रथम प्रिय मनुष्य का शरीर, मन और इन्द्रिय-समूह है। अतः भगवान ने कहा–(यह शरीर, जिसे तुम अत्यन्त प्रिय मानकर आसक्त होते हो, इसके लिए प्रमादवश हिंसादि पापकर्म करते हो) यह प्रिय लगने वाला शरीर (एक न एक दिन) पहले या पीछे अवश्य छूट जाएगा। इस रूप-सन्धि (देह के स्वरूप) को देखो। छिन्न-भिन्न एवं विध्वंस होना इसका स्वभाव है। यह अध्रुव, अनित्य और अशाश्वत है। इसमें चय-उपचय (बढ़-घट) होता रहता है, विविध परिवर्तन होते रहना इसका स्वभाव है। इसके पश्चात् इन्द्रियाँ मनुष्य को अत्यन्त प्रिय हैं, जिन्हें अज्ञानवश वह विषय-सुख की कारण मानता है, उसके लिए भगवान ने कहा–"इस संसार में अधिकांश मनुष्यों की आयु अत्यन्त अल्प है, क्योंकि श्रोत्रप्रज्ञान, चक्षुप्रज्ञान, घ्राणप्रज्ञान, रसप्रज्ञान और स्पर्शप्रज्ञान के परिहीन (अत्यन्त क्षीण) हो जाने पर वह अल्पायु में ही मृत्यु को प्राप्त हो जाता है।"[1]

शरीरादि के साथ रहते हुए भी अप्रमत्त रहकर पराक्रम करें

इन्द्रियाँ, वचन, मन, बुद्धि आदि सब शरीर से सम्बद्ध हैं। शरीर रहता है, तो ये रहते हैं, शरीर के समाप्त होते या क्षीण जराजर्जर होते ही ये भी क्षीण, समाप्त या जीर्ण हो जाते हैं। इसके लिए भगवान ने बार-बार कहा–"तुम्हारी आयु व्यतीत हो रही है, यौवन भी बीत रहा है। बुढ़ापा आने पर वह जराजीर्ण वृद्ध पुरुष न

---

१. (क) से पुव्वं पेयं भेउरधम्मं विद्धंसणधम्मं अधुवं अणितियं असासतं चयो-व-चइयं विप्परिणामधम्मं। पासह एयं रूवसंधिं। –आचारांग, श्रु. १, अ. ५, उ. २

(ख) अप्पं च खलु आउं इहमेगेसिं माणवाणं। तं जहा–सोतपण्णाणेहिं परिहायमाणेहिं, चक्खुपण्णाणेहिं परिहायमाणेहिं, घाणपण्णाणेहिं परिहायमाणेहिं, रसपण्णाणेहिं परिहायमाणेहिं, फासपण्णाणेहिं परिहायमाणेहिं। –वही, श्रु. १, अ. २, उ. १

हँसी-विनोद के योग्य रहता है, न खेलने के, न रति-सेवन के और न ही शृंगार/सज्जा के योग्य रहता है।" इसलिए जब तक बुढ़ापा पीड़ित नहीं करता, व्याधि आकर नहीं घेरती, इन्द्रियाँ क्षीण नहीं होतीं, तब तक (प्रमाद को हटाकर) धर्माचरण कर लो। "अतः अभी प्रमाद में पड़कर समय व्यर्थ न खोओ। प्रत्येक प्राणी स्वयं प्रमाद से दुःख और अप्रमाद से सुख पाता है, सबका सुख-दुःख अपना-अपना है। यह जानकर जो अवस्था (यौवन एवं शक्ति) अभी बीती नहीं है, इसे देखकर हे पण्डित ! जो क्षण (अवसर या समय) वर्तमान में उपस्थित है, वही महत्त्वपूर्ण है, उसे ही सफल बना।"[1]

अप्रमादाचारी : स्वजनों के साथ रहते हुए भी उनमें आसक्त न हो

साथ ही भगवान ने यह भी कहा–"इस प्रकार जो विषयार्थी गृहवासी प्रमत्त यह मानता है–माता, पिता, भाई, बहन, पुत्र, पुत्री, पुत्रवधू, सखा, स्वजन-सहवासी मेरे हैं, मेरे ही ये प्रचुर उपकरण (मकान, धन, अश्व, रथ, आसन आदि), परिवर्तन (लेन-देन की सामग्री या व्यवसाय), भोजन, वस्त्र आदि हैं। यों जो व्यक्ति ममत्व (मेरे मन) में आसक्त होकर स्वजनादि के साथ रहता है, वह प्रमत्त पुरुष अज्ञानवश अहर्निश चिन्तित, संतप्त, तृष्णाकुल, उद्विग्न रहता है, लोभ-लालच में पड़ा रहता है, (उनके तथा अपने लिए) हिंसादि नाना पापकर्म करता रहता है। वह जिन स्वजन-परिजनों के साथ रहता है, वे कभी (अशुभ कर्मोदयवश) उसका तिरस्कार अपमान भी कर बैठते हैं, कटु वचन कह देते हैं, वह भी स्वजनों की निन्दा करने लगता है। इस प्रकार प्रमादासक्त पुरुष के लिए वे न तो रक्षा करने में और न ही शरण देने में समर्थ होते हैं।"[2] इसलिए उनका (सभी पर-पदार्थों का) सम्बन्ध क्षणिक, अनित्य और त्याज्य समझकर पहले से ही प्रमादवश उनमें आसक्ति, ममता, मूर्च्छा न रखे।

---

१. (क) वओ अच्चेइ जोव्वणं च। —*आचारांग, श्रु. १, अ. २, उ. १*

(ख) से ण हासाए ण किड्डाए, ण रतीए, ण विभूसाए। —*वही, श्रु. १, अ. २, उ. १*

(ग) जरा जावं न पीडेइ, वाही जावं न वड्ढइ।
जाविंदिया न हायंति ताव धम्मं समायरे॥ —*दशवैकालिक*

(घ) जाणित्तु दुक्खं पत्तेयं सायं; अणभिक्कंतं च खलु वयं संपेहाए, खणं जाणाहि पंडिए !

२. (क) इति से मुणद्धी महया परितावेणं वसे पमत्ते, तं. माया मे, पिया मे ···· धूया मे, सुण्हा मे, सहिसयण-संगंथ-संथुता मे, विवित्तोवगरण-परियट्टण-भोयण-अच्छायणं मे। इच्चत्थं गड्ढिए लोए वसे पमत्ते। —*आचारांग, श्रु. १, अ. २, उ. १*

(ख) जेहिं वा सद्धिं संवसति ते व णं एगया णियगा पुव्विं परिवदंति, सो वा ते णियगे पच्छा परिवदेज्जा। णालं ते तव ताणाए वा सरणाए वा। —*वही, श्रु. १, अ. २, उ. १*

ऐसा प्रमादाचारी साधक बार-बार जन्म-मरण करता है

"ऐसा साधक जो इन्द्रियों और मन के विषयों का प्रमादपूर्वक बार-बार आस्वाद करता है, वह वक्र आचार (कपटाचार या असंयमयुक्त प्रमादाचार) वाला है। वह प्रमत्त है, यदि गृहत्यागी है तो भी वस्तुतः वह गृहवासी है।" ऐसे वक्राचारी प्रमादी व्यक्ति के लिए भगवान ने कहा–"जो मायी (कपटाचारी) और प्रमादी है, वह बार-बार गर्भ में आता है–जन्म-मरण करता है।"[1]

अप्रमाद-संवर-साधक कैसे प्रमाद से बचकर चर्या करे ?

अतः जिज्ञासु शिष्य द्वारा प्रश्न उपस्थित किया गया कि साधक (गृहस्थ हो या साधु) शरीर और इन्द्रियों से अप्रमत्त रहने और पापकर्म के बन्ध से बचने के लिए चलने, उठने, बैठने, सोने, जागने, खाने-पीने आदि सभी चर्याएँ–प्रवृत्तियाँ कैसे करे? इसका समाधान किया गया–यतना (विवेक एवं सावधानी) से चले, बोले, उठे, खाये-पीए। अर्थात् सभी प्रवृत्तियाँ यतनाचारपूर्वक करे। यतनापूर्वक प्रवृत्ति करने से पापकर्मों का बन्ध नहीं होगा।[2] अयतना प्रमाद है, यतना अप्रमाद है। अप्रमाद-संवर के साधक के लिए यतना ही समस्त प्रमादों के निवारण का उपाय है। आठवें अनर्थदण्ड-विरमणव्रत में गृहस्थ श्रावक के लिए प्रमादाचरण का सख्त निषेध किया गया है तथा उसके अन्तर्गत दुर्ध्यान, हिंसाकारी वस्तुओं का प्रदान, पापकर्मोपदेश भी एक प्रकार से निरर्थक प्रमादाचरण है; पापकर्मबन्ध का भी कारण है।

प्रमाद का मोर्चा कहाँ-कहाँ और कैसे-कैसे ?

प्रमाद के जैन जगत् प्रसिद्ध पाँच मुख्य मोर्चे हैं, अप्रमाद-संवर के साधक को इन पाँचों के आक्रमण से बचना चाहिए। वे पाँच ये हैं–(१) मद्य, (२) विषय, (३) कषाय, (४) निद्रा, और (५) विकथा।[3] जो भी द्रव्य बुद्धि को लुप्त कर देता है, वह चाहे शराब हो, भाँग हो, गाँजा हो, तम्बाकू हो, हेरोइन हो या ब्राउन सुगर

---

१. (क) पुणो पुणो गुणासाए वंकसमायारे पमत्ते गारमावसे। –*आचारांग, श्रु. १, अ. १, उ. ५*
(ख) माई पमाई पुणरेइ गब्भं। –*वही, श्रु. १, अ. ३, उ. १*

२. कहं चरे कहं चिट्ठे कहमासे कहं सए।
कहं भुंजंतो भासंतो पावकम्मं न बंधइ ?॥७॥
जयं चरे जयं चिट्ठे जयमासे जयं सए।
जयं भुंजंतो भासंतो पावकम्मं न बंधइ॥८॥ –*दशवैकालिक, अ. ४, गा. ७-८*

३. मज्जं विसय-कसाया णिहा विगहा य पंचमी भणिया।
इअ पंचविहो एसो होई पमाओ य अप्पमाओ॥ –*उत्तराध्ययन निर्युक्ति १८०*

हो, उन सभी का समावेश मद्य में होता है। दूसरा भाव–मद्य वह है जो जीव में अष्टविध मद में से किसी भी मद = अहंकार उत्पन्न करे अथवा ऋद्धि-गौरव (गर्व), रस-गौरव और साता-गौरव ये तीनों अहंकार का नशा चढ़ाते हैं, इसलिए उन्हें भी मद्य समझना चाहिए। आठ प्रकार के मद ये हैं–जातिमद, कुलमद, बलमद, तपमद, लाभमद, श्रुत (ज्ञान) मद, ऐश्वर्य (वैभव तथा प्रभुता; सत्ता या अधिकार का) मद और रूपमद। मानमोहनीय कर्म के उदय से जनित ये आठों ही मद प्रमादवर्द्धक हैं; मनुष्य आत्म-स्वरूप को और आत्मौपम्यभाव को भूल जाता है। विषय से पाँचों इन्द्रियों और मन के मनोज्ञ-अमनोज्ञ विषयों पर राग-द्वेष, प्रियता-अप्रियता का भाव आना प्रमाद है, इनके प्रति राग-द्वेष होने पर मनुष्य शुद्ध आत्मा का ज्ञाता-द्रष्टापन भूल जाता है, आत्म-विस्मृति ही प्रमाद है। कषाय चार हैं और नौ नोकषाय हैं, ये सभी मिलकर तीव्रता-मन्दता की अपेक्षा से २५ हैं, जो चारित्रमोहनीय कर्म के उदय से उत्पन्न होते हैं। कषायों के कारण निराकुलता–परम शान्तिरूप चारित्र या स्वरूपरमणतारूप निश्चय चारित्र पर आवरण आ जाता है अथवा कषायों के कारण हिंसादि में प्रवृत्त होकर चारित्र की घात कर लेता है, जो आत्म-गुणों की घात है। इसलिए कषाय भी मनुष्य को प्रमत्त बना देता है। निद्रा अप्रमाद (जागरूकता) में बाधक है। यह एक प्रकार की मूर्च्छा है। जिसको नींद ज्यादा सताती है, वह आत्म-चिन्तन, परमात्म-नामस्मरण, गुणस्तुति या भजन करने एवं स्वाध्यायादि द्वारा आत्म-जागृति में बाधक है। यह ठीक है–दर्शनावरणीय कर्म के उदय से नींद आती है, स्वास्थ्य के लिए उचित निद्रा लेना आवश्यक है, किन्तु निद्रा को ही बहुमान या अत्यधिक महत्त्व देना ठीक नहीं। निद्रा[1] दो प्रकार की है–द्रव्यनिद्रा और भावनिद्रा। भावनिद्रा में अज्ञान, संशय, मिथ्याज्ञान, राग, द्वेष, स्मृतिभ्रंश, धर्माचरण में अनादर और योग–दुष्प्रणिधान, इन आठों प्रमादोत्पादक तत्त्वों का समावेश हो जाता है।[2] नींद न ले वह जागरूक और नींद ले वह सुप्त, यह जागरूक की अधूरी परिभाषा है। कतिपय महान् आत्माएँ ऐसी भी होती हैं, जो नींद लेने पर भी जाग्रत रहती हैं, इसके विपरीत कई अज्ञ जीव जागते हुए भी सोये रहते हैं, भावनिद्रा में डूबे रहते हैं। 'आचारांग' में बताया गया है[3]–"सुत्ता अमुणी, मुणिणो सया जागरंति।" अप्रमत्त ज्ञानी मनस्वी साधक सदा जाग्रत रहते हैं, जबकि अज्ञानी और प्रमादी जीव सोये रहते हैं। ज्ञानी अप्रमत्त आत्मा जो कुछ

---

१. निद्दं च न बहु मन्निज्जा। –दशवैकालिक, अ. ८, गा. ४२
सिद्धो कहाहिं न रमे, सज्झायम्मि रओ सया। –वही ८/४२

२. देखें–प्रवचनसारोद्धार में प्रमाद के आठ अंग

३. आचारांग, श्रु. १, अ. २, उ. ६

भी प्रवृत्ति करता है, जाग्रत अवस्था में करता है। उसकी विवेक चेतना जाग्रत रहती है। उन सम्यग्दृष्टि, सत्यनिष्ठ एवं सतत जागरूक पुरुषों का पुरुषार्थ सदा कर्ममुक्ति की दिशा में होता है, किन्तु अल्प प्रमत्त या गाढ़ प्रमत्त जीवों का पुरुषार्थ प्रमाद होने पर कर्मबन्ध की ओर होता है। जागरूकता आने से साधक अप्रमादपूर्वक लक्ष्य की दिशा में गति-प्रगति करता है और पाँचवाँ मोर्चा है–विकथा का। इसमें समय और शक्ति का बहुत ही अपव्यय होता है। फालतू गप्पों में, स्त्री, भोजन, राज और देश की राग-द्वेष, कामादिवर्द्धक कथाएँ धर्माचरण में पुरुषार्थ करने के बहुत से समय को बर्बाद कर देती हैं। इस प्रमाद के कारण व्यक्ति अपने आत्म-विकास व आत्म-कल्याण के लिये किये जाने वाले पुरुषार्थ को भूल जाता है। इसलिए अप्रमाद-संवर के साधक को इन प्रमादवर्धक तत्त्वों को मनमस्तिष्क में प्रवेश ही करने न देना चाहिए, आने लगे तब तत्काल 'जगह नहीं है' (No vacancy) का बोर्ड लगाकर रोक देना चाहिए।

यतनाशील अप्रमत्त-साधक की विशेषता

इस प्रकार साधक प्रत्येक प्रवृत्ति में यतनाशील रहे तो वह अप्रमाद-संवर की साधना में उत्तरोत्तर आगे से आगे बढ़ सकता है। 'निशीथभाष्य' में कहा गया है–"यतनाशील साधक का कर्मबन्ध अल्प, अल्पतर होता जाता है और निर्जरा भी तीव्र, तीव्रतर होती जाती है। अतः वह शीघ्र ही मोक्ष प्राप्त कर लेता है।" जिसके जीवन में अप्रमत्तता परिनिष्ठित हो गई है, "जो आत्म-साधना में अप्रमत्त-साधक है, वह न तो अपनी हिंसा (आरम्भ) करता है, न दूसरों की। वह सर्वथा अनारम्भ (अहिंसक) रहते हैं।"[1] उस अप्रमत्त (जाग्रत) संयमी-साधक की विशेषता बताते हुए 'बृहत्कल्पभाष्य' में कहा गया है–"अप्रमत्त संयमी-साधक चाहे जान में (आपवादिक स्थिति में) हिंसा करनी पड़े या अनजान में करे, उस अन्तरंग (अध्यात्मभाव) विशुद्धि के कारण निर्जरा ही होती है, कर्मबन्ध नहीं।" जैसा कि पहले कहा गया था–प्रमाद ही कर्म है, अप्रमाद कर्म नहीं है, वहाँ संवर-निर्जरारूप धर्म है।[2]

---

१. जे ते अप्पमत्त संजया ते णं नो आयारंभा, नो परारंभा, जाव अणारंभा।
–भगवतीसूत्र, श्रु. १, उ. १, सू. १६

२. (क) अप्पो बंधो जयाणं, बहुणिज्जर तेण तु मोक्खो। –निशीथभाष्य ३३३५
(ख) विरतो पुण जो जाणं कुणति अजाणं व अप्पमत्तो वा।
तत्थवि अज्झत्थसमा, संजायति णिज्जरा, ण चयो॥ –बृहत्कल्पभाष्य ३९३९

अप्रमाद-संवर के साधक की भावचर्या और द्रव्यचर्या कैसी हो ?

कर्ममुक्ति का अभिलाषी साधक किस दृष्टि, बुद्धि या ध्येय के अनुसार अपनी प्रत्येक चर्या, क्रिया या प्रवृत्ति करे? इसके लिए भगवान महावीर ने कहा–"अप्रमाद-संवर का परिपक्व साधक वीतराग प्रज्ञप्त उसी (दर्शन, सिद्धान्त, आदर्श या संयम) को एकमात्र दृष्टि में रखे, उसी द्वारा प्ररूपित विषय-कषायादि से मुक्ति (वीतरागता) में मुक्ति माने, उसी को आगे (दृष्टिपथ में) रखकर विचरण करे, उसी का संज्ञान = स्मरण सभी कार्यों में सतत रखे; उसी के सेवन में तल्लीन (तन्मय) होकर रहे। वह प्रत्येक चर्या में यतनापूर्वक विहार करे, चित्त को गति में एकाग्र करके मार्ग का सतत अवलोकन करते हुए (दृष्टि टिकाकर) चले। जीव-जन्तु आदि को देखकर पैरों को आगे बढ़ने से रोके और मार्ग में आने वाले प्राणियों को देखकर गमन करे।"[1] यह निरूपण अप्रमाद-संवर की भावचर्या और द्रव्यचर्या का है। यह सिद्धान्तसूत्र प्रत्येक प्रवृत्ति के लिये है।

अप्रमाद का स्वरूप, प्रकार और प्रयोग

अप्रमाद का सामान्यतया अर्थ होता है–किसी सत्कार्य में शिथिलता, ढिलाई न करना, प्रत्येक सत्कार्यों को–निरवद्य प्रवृत्ति को उत्साह, आदर और निष्ठा–श्रद्धा के साथ करना। इसलिए इसका विधेयात्मक अर्थ होता है–जागरूकता, सावधानी, आत्म-जागृति, आत्म-स्मृति, यतना–उपयोग सहित व निष्ठा–श्रद्धापूर्वक प्रवृत्ति करना। निषेधात्मक अर्थ यों हो सकता है–किसी भी प्रवृत्ति में असावधानी, अविस्मृति, अनेकाग्रता, अजागृति, अश्रद्धा, अनुत्साह या अनादर, आलस्य, अहंकारादि कषाय, विषयासक्ति का दौर न हो, राग-द्वेष या प्रियता-अप्रियता भी न हो। कई लोग यह कहते हैं कि किसी भी प्रवृत्ति को करने से कर्मबन्ध होता है, तो प्रवृत्ति ही न की जाए, निवृत्ति लेकर बैठ जाएँ। परन्तु उनका यह कथन यथार्थ नहीं है। खाना, पीना, सोना, जागना, उठना, बैठना आदि भी तो प्रवृत्ति है, चुपचाप वह बैठ जाएगा, किन्तु उसके मन में विचारों की घुड़दौड़ तो चलेगी ही, उसे कैसे रोकेगा? अतः प्रवृत्ति के बिना अयोगी केवली के सिवाय कोई रह नहीं सकता। तब प्रश्न होगा प्रवृत्ति में क्या सावधानी रखे? इसके लिए यतना के अतिरिक्त 'उत्तराध्ययनसूत्र' के चरणविधि नामक अध्ययन में बताया गया है कि साधक (अप्रमादचारित्र का साधक) एक ओर से विरति (निवृत्ति) करे और दूसरी

---

१. तद्दिट्ठीए तम्मुत्तीए तप्पुरक्कारे तस्सण्णी तण्णिसेवणे जयं विहारी चित्तणिदाती पंथणिज्झाई पलिवाहिरे पासिय पाणे गच्छेज्जा। —आचारांग, श्रु. १, अ. ५, उ. ४

ओर से प्रवृत्ति करे। अर्थात् असंयम से निवृत्ति करे और संयम में प्रवृत्ति करे।"[1] हिंसादि पापस्थान तथा कषाय, राग-द्वेष, मोह आदि जो पापकर्मबन्धक हैं, उनसे निवृत्त हो और शुद्ध या शुभ उपयोग में प्रवृत्त हो। अकर्मण्य बनकर बैठ जाना निवृत्ति नहीं है, सावद्य योगों से विरत होना निवृत्ति है। वैसे बैठे-ठाले व्यक्ति के मन में ऊलजलूल विचार उठेंगे। कहावत है–खाली दिमाग शैतान का कारखाना है। यही कारण है कि अप्रमाद-संवर के साधक को पूर्वोक्त दृष्टि से अपनी भावचर्यापूर्वक द्रव्यचर्या (प्रवृत्ति) करनी चाहिए।

अप्रमत्तता के दृढ़ अभ्यासी आत्मवान् के लिए छह बातें

जो अप्रमत्तता का दृढ़ अभ्यासी हो जाता है, वह आत्मवान् हो जाता है। जिस व्यक्ति को आत्मा का भलीभाँति भान हो गया हो, जो प्रत्येक कार्य में शुद्ध आत्मा की दृष्टि से सोचता है, जिसका अहंत्व-ममत्व नष्ट या मन्द हो गया है, वह आत्मवान् है। इसके विपरीत जो इस लक्षण वाला नहीं है, वह अनात्मवान् है। 'स्थानांगसूत्र' में बताया गया है कि आत्मवान् के लिए निम्नोक्त छह स्थान हित, शुभ, क्षमता, निःश्रेयस् और आनुगामिकता (शुभानुबन्ध) के लिये होते हैं– (१) पर्याय (दीक्षा या अवस्था में बड़ा होना), (२) परिवार, (३) तप, (४) श्रुत, (५) लाभ, और (६) पूजा-सत्कार। अर्थात् आत्मवान् के लिये ये छहों स्थान अप्रमाद-साधना पुष्ट होने से आत्म-विकास के, क्षमता-सहिष्णुता वृद्धि के, गम्भीरता और नम्रता के कारण बनते हैं। जबकि अनात्मवान् के लिये ये छहों स्थान अहंता-ममता, अहंकार, मद तथा भावनिद्रा के कारण बनते हैं। इसलिए जो आत्मवान् होता है, वही अप्रमाद-संवर का परिपक्व साधक होता है।[2]

प्रमाद-निरोध का एक प्रेक्टिकल पाठ

प्रश्न होता है–मद आदि पाँच प्रभावों का आक्रमण रोकने के लिये यानी प्रमाद से बचने के लिये, प्रति क्षण जागरूक रहने के लिए क्या करना चाहिए? इसके लिए एक रूपक बहुत ही उपयोगी होगा। संक्षेप में, वह इस प्रकार है–एक सम्राट्

---

१. (क) एगओ विरइं कुज्जा, एगओ य पवत्तणं।
असंजमे नियत्तिं च, संजमे य पवत्तणं॥ –उत्तराध्ययन, अ. ३१, गा. २
(ख) Empty mind is devil's workshop. –एक प्रोवर्ब

२. (क) छट्ठाणा अत्तवतो हियाए सुभाए खमाए णीसेसाए आणुगामियत्ताए भवति, तं.–परियाए, परियाले, सुते, तवे, लाभे पूयासक्कारे।
(ख) छट्ठाणा अणत्तवओ अहिताए असुभाए अखमाए, अणीसेसाए अणाणुगामियत्ताए भवति, तं जहा–परियारे, परियाले, सुते, तवे लाभे, पूयासक्कारे।
–स्थानांग, स्था. ६, सू. ३३३२, विवेचन (आ. प्र. स., ब्यावर), पृ. ५४२

की तीव्र आकांक्षा थी–परमात्मा (शुद्ध आत्मा) को पाने की। वह एक फकीर के झोंपड़े पर पहुँच गया और अपनी जिज्ञासा प्रगट की। शर्त यह रखी कि "मैं जो कुछ भी तुम्हारे प्रशिक्षण के लिये करूँगा, तुम्हें चुपचाप उसे श्रद्धा से स्वीकार करना होगा, तर्क-वितर्क कुछ भी नहीं करना होगा।" सम्राट् की स्वीकृति पाने के बाद फकीर ने कहा–"इस प्रशिक्षण का पहला पाठ तीन महीने तक चलेगा। मेरा प्रशिक्षण पाठ यह होगा कि कल सुबह तू कुछ भी कर रहा होगा, मैं लकड़ी की तलवार लेकर पीछे से तुम पर हमला कर दूँगा। मैं इसकी कोई जाहिरात रेडियो, समाचार-पत्र या अन्य किसी तरीके से नहीं करूँगा।" इस प्रशिक्षण से मेरा मतलब है–"अहंकारादि प्रमाद न मालूम कब हमला कर दे, उससे जागरूक रहने की यह शिक्षा है।" सम्राट् इसके लिए अभ्यस्त नहीं था। जिंदगी में पहली दफा उसने अनुभव किया कि जागृति कैसे रखी जाती है। पहले ७ दिनों में सम्राट् की पीठ पर दिन में कभी भी लकड़ी की तलवार की चोट पड़ी तो वह जाग्रत रखने वाली बनी। उसे अब ख्याल होने लगा कि अब हमला होने वाला है। १५ दिनों में तो बूढ़े फकीर के पैर की धीमी-सी आहट होते ही उसे सुनाई पड़ जाती और वह तुरंत सँभलकर अपना बचाव कर लेता। इस प्रकार क्रमशः तीन महीने दिन में हमले के पूरे हो गए। अब हमला करना मुश्किल हो गया, किसी भी हालत में हमला किया जाता सम्राट् सावधान हो जाता और उसे रोक लेता।[1] अब गुरु ने कहा–"तेरा एक पाठ पूरा हो गया। फकीर के पूछने पर सम्राट् ने अपना अनुभव बताया कि इन तीन महीनों में मैं उत्तरोत्तर अधिकाधिक सावधान, जाग्रत और बाहोश रहने लगा। इस अप्रमाद के पाठ से मेरा मन निर्विचार–निर्विकार रहने में अभ्यस्त हो गया। मेरे अहंकारादि भी शान्त हो गए हैं। मैं एकदम जाग्रत होकर जीने लगा हूँ।"

वृद्ध फकीर ने कहा–"कल से तुम्हारा दूसरा पाठ शुरू होगा। इसमें रात में भी हमला शुरू होगा। तू सोया रहेगा, तब भी दो-चार दफा हमला करूँगा। अब रात को भी सावधान रहना।" सम्राट् ने पूछा–"गुरुजी ! नींद में कैसे सावधान रहूँगा? नींद पर मेरा क्या वश है?" गुरु ने कहा–नींद पर भी वश है। तुझे पता नहीं, नींद में भी तेरे भीतर कोई जागता रहता है और वह होश में होता है। चादर सरक जाती है तो नींद में भी किसी को पता चल जाता है कि चादर सरक गई है। जाग्रत रहने का एक ही सूत्र है–चुनौती। भीतर जितनी बड़ी चुनौती होती है, उतना ही बड़ा जागरण हो जाता है। हम चुनौती खड़ी करेंगे, भीतर जो चेतना सोई है, वह जागनी शुरू हो जाएगी।" दूसरे दिन से ही सम्राट् सोया रहता, तभी फकीर के हमले शुरू हो जाते। ८-१० दिन तक तो जरा असावधानी ही रही। लेकिन महीना

---

१. 'आत्मरश्मि', अगस्त १९९१ से संक्षिप्त

पूरा होते-होते सम्राट् फकीर की बात को समझ गया और सँभलने लगा। उसने फकीर से कहा–"गुरुजी ! अब नींद में भी मेरे हाथ सँभलने लगे हैं।" नींद में जब भी फकीर दबे पाँव आता, मगर सम्राट् जागकर बैठ जाता और कहता–गुरुजी ! माफ करिये, मैं जाग गया हूँ। अब मारने का कष्ट मत उठाइए। नींद में भी अब सम्राट् का हाथ अपनी ढाल पर पड़ा रहता था। अतः तीन महीने पूरे होते-होते नींद में भी हमला करना कठिन हो गया। अतः गुरु ने पूछा–"क्या हुआ इन तीन महीनों में ?" सम्राट्–"गुरुजी ! दूसरा पाठ पूरा हो रहा है। पहले तीन महीनों के पाठ में विचार–विकार खो गए, दूसरे तीन महीनों में सपने खो गए, नींद भी जागृतियुक्त हो गई। अब बिना सपने के नींद आती है। मेरे भीतर अब अद्भुत शान्ति है, एक अहंकारादि शून्यता, निर्विचारता, मौन और नीरव शान्ति पैदा हो गई है। मैं बड़े आनन्द में हूँ।" गुरु बोले–"अभी पूरा आनन्द नहीं मिला, यह तो उसकी एक बाहरी झलक है। कल से तेरा तीसरा पाठ शुरू होगा। अब तक मैं नकली तलवार से हमला करता था, अब असली तलवार से होगा।" सम्राट्–"तब तो मैं एक बार भी चूक गया तो मेरी जान चली जाएगी।" फकीर ने कहा–"जब यह पक्का पता हो जाएगा कि एक बार भी चूक गया तो जान चली जाएगी, तो कोई भी नहीं चूकता। ऐसी चुनौती के समय प्राण इतने ऊर्जा से चलते हैं कि फिर चूकने का मौका ही नहीं मिलता और बूढ़े फकीर ने दूसरे दिन से असली तलवार से हमला शुरू करने का कहा।" सम्राट् यह जानकर बड़ा हैरान हुआ कि लकड़ी की तलवार की तो उसके शरीर पर बहुत चोटें लगी थीं, परन्तु इन तीन महीनों में असली तलवार की एक भी चोट नहीं लगी।" सम्राट् का मन शान्ति-सरोवर हो गया। अब हृदय की झील में अहंकारादि प्रमाद की कोई भी लहर नहीं उठती। तभी उसके मन में एक विचार कौंधा–तीन महीने पूरे हो गए हैं तीसरे पाठ के। कल अन्तिम दिन है गुरुजी से विदा होने का। मुझे इन्होंने ९ महीनों तक एक दिन भी प्रमाद में नहीं जाने दिया और न ही असावधान रहने दिया, हमेशा जगाए रखा। कल तो मैं विदा हो जाऊँगा। गुरुजी भी इतने सावधान हैं या नहीं, यह भी देख लूँ। उसने तलवार उठाकर वृक्ष के नीचे बैठे हुए गुरुजी पर पीछे से हमला करने का सोचा। उसने इतना सोचा ही था, अभी कुछ किया नहीं था कि गुरुजी वहीं वृक्ष के नीचे बैठे-बैठे ही चिल्लाये–"वत्स ! ऐसा मत करना। मैं सावधान हूँ। वृद्ध होने पर भी जाग्रत हूँ।" सम्राट् ने साश्चर्य पूछा–"गुरुजी ! मैंने तो केवल सोचा ही था, अभी किया कुछ भी नहीं था, आपको मेरे मन की बात का कैसे पता चल गया ?" वृद्ध गुरु ने कहा–"जब चित्त बिलकुल शान्त, विचारशून्य, मौन और अहंकारादि प्रमाद स्थान से रहित हो जाता है, तब दूसरों के पैरों की ध्वनि ही नहीं, दूसरों के चित्त की पदध्वनियाँ भी सुनाई पड़ने लग जाती हैं। जिस दिन चित्त इतना शान्त, निर्मल,

जागरूक हो जाता है, उस दिन अव्यक्त, अदृश्य एवं दूसरे के अन्तःस्थित विचार की भी झलक साफ मिल जाती है।"[1]

निष्कर्ष यह है कि अप्रमाद-संवर की सक्रिय साधना के सन्दर्भ में अजागृति, असावधानी और प्रमाद के तत्काल निरोध के लिए अपनी शुद्ध आत्मा या वीतराग परमात्मा को गुरु बनाकर इस प्रकार का प्रेक्टिकल प्रयोग कायोत्सर्ग एवं व्युत्सर्ग के माध्यम से करे तो व्यक्ति एक दिन अप्रमाद-संवर के शिखर तक पहुँच सकता है।

भगवान महावीर की अनुभवपूत वाणी इस तथ्य की साक्षी है–"जिस व्यक्ति को इन शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्श का स्वरूप सम्यक् प्रकार से परिज्ञात हो गया है (अर्थात् जो इन पाँचों विषयों के प्रति राग-द्वेषरहित हो गया है), वह आत्मवान्, ज्ञानवान्, वेदवान् (आचारांगादि शास्त्रों का वेत्ता), धर्मवान् और ब्रह्मवान् हो जाता है। वह अपनी प्रज्ञा से लोक का परिज्ञान कर लेता है। वह सच्चा मुनि कहलाता है। वही धर्मवेत्ता और सरलात्मा होता है। वह वीर जाग्रत और वैर से उपरत होता है तथा दुःखों के कारणभूत कर्मों से मुक्त हो जाएगा।"[2]

शुभ योग-संवर के रूप में अप्रमाद-संवर की एक सरल उदात्तीकरण प्रक्रिया

यदि इतनी तैयारी न हो, मन बार-बार शंका, कांक्षा और विचिकित्सा के झूले में झूलता हो, श्रद्धा, भक्ति और सत्कार के साथ इस कठोर दीर्घकालिक अप्रमाद-साधना से मन कतराता हो, साथ ही उसका मन इस अप्रमाद-साधना की प्रतिमा (प्रतिज्ञा) की कठोरता देखकर कोई आसान नुस्खा खोजने की प्रतीक्षा कर रहा हो, तब तक भाग्य भरोसे बैठे रहना चाहता हो, किन्तु फिर भी प्रमादास्रव से होने वाले पापकर्मबन्ध से विरत होने की ललक हो, उसके लिए स्थानांगसूत्र में अप्रमाद-संवर के सन्दर्भ में प्रवृत्ति की उदात्तीकरण प्रक्रिया, शुभ योग-संवर के रूप में प्रस्तुत की गई है। उस पाठ का भावार्थ इस प्रकार है–

"आठ वस्तुओं की उपलब्धि के लिए साधक को सम्यक् चेष्टा करनी चाहिए, सम्यक् प्रयत्न करना चाहिए तथा सम्यक् पराक्रम करना चाहिए, इन आठों के विषय में जरा भी प्रमाद नहीं करना चाहिए–(१) अश्रुत धर्मों को सम्यक् प्रकार से सुनने के लिए अभ्युत्थित (जागरूक) रहे; (२) सुने हुए धर्मों को मनोयोगपूर्वक

---

१. 'आत्मरश्मि', अगस्त १९९१ में प्रकाशित सिकन्दरलाल जैन एडवोकेट के लेख से संक्षिप्त

२. जस्सिमे सद्दा य रूवा य गंधा य रसा य फासा य अभिसमण्णागया भवंति, से आतवं, णाणवं, वेदवं धम्मवं बंभवं पण्णाणेहिं परिजाणति लोगं, मुणी ति वुच्चे, धम्मविदुत्ति अंजू आवट्टसोए संगमभिजाणति।···· जागरवेरोवइए वीरे ! एवं दुक्खा पमोक्खसि।

–आचारांग, श्रु. १, अ. ३, उ. १, सू. १०७

ग्रहण करे और उनकी स्थिर स्मृति के लिए उद्यत रहे; (३) संयम के द्वारा नये कर्मों का निरोध करने के लिए जागरूक रहे; (४) तपश्चरण के द्वारा प्राचीन (पूर्वबद्ध) कर्मों को पृथक् करने और उनका विशोधन करने के लिए तत्पर रहे; (५) असंगृहीत परिजनों (धर्मसंघीय साधकों) का संग्रह करने के लिए अभ्युद्यत रहे; (६) शैक्ष (नवदीक्षित) साधु को आचार-गोचर का सम्यक् बोध कराने के लिए उद्यत रहे; (७) ग्लान (रोगी, अशक्त एवं वृद्ध अथवा उद्विग्न) साधु की अग्लानभाव से वैयावृत्य (सेवा = परिचर्या) करने के लिए तत्पर रहे; और (८) साधर्मिकों में परस्पर कलह (अधिकरण) उत्पन्न होने पर, 'ये मेरे साधर्मिक किस तरह अपशब्द, कलह और तू-तू मैं-मैं से मुक्त हों', ऐसा विचार करते हुए किसी प्रकार की लिप्सा (स्वार्थलिप्सा) और अपेक्षा (स्पृहा) से रहित होकर, किसी का पक्ष न लेकर, मध्यस्थभाव स्वीकार करके उसे उपशान्त करने के लिये तैयार रहे।"[1]

इस प्रकार इन आठ सत्कार्यों में प्रमाद न करने का निर्देश इसलिये किया गया है कि प्रत्येक साधक यदि शुद्धोपयोग में सतत न रह सके, तो कम से कम अपने मन-वचन-काय के योगों को अशुभोपयोग से हटाकर शुभोपयोग में लगा सके। निवृत्ति के नाम पर वह निठल्ला और अकर्मण्य बनकर न बैठा रहे। आलस्य, प्रमाद, शुभ कार्यों के प्रति अनादर, अरुचि और उपेक्षा या निराशा की भावना लेकर न बैठा रहे। एकान्त नियतिवाद के चक्र में न पड़कर शुभ योग-संवर में पुरुषार्थ करने का यहाँ संकेत है। अतः इन सर्वसुलभ सत्कार्यों में उपर्युक्त सम्यक् विधिवत् पुरुषार्थ करने से प्रमादास्रव दूर होने से पापकर्मों का बन्ध तो रुकेगा ही, शुभ योग से पुण्यकर्म का भी उपार्जन होगा और उत्कृष्ट आत्मौपम्यभावना या आत्म-स्वरूप में रमण करने की भावना आने पर सकामनिर्जरा का लाभ भी हो सकेगा। अतः अप्रमाद-संवर की ये साधनाएँ अवश्यमेव उपादेय हैं। कर्ममुक्ति के अभिलाषी साधकों को सब प्रकार के प्रमादों का त्याग करना ही अभीष्ट है।

● ●

---

१. अट्ठहिं ठाणेहिं सम्मं घडियव्वं जइयव्वं परक्कमियव्वं, अस्सिं च णं अट्ठे णो पमाएयव्वं भवइ- (१) असुयाणं धम्माणं सम्मं सुणणताए अब्भुट्ठेयव्वं भवति, (२) सुयाणं धम्माणं ओगिण्हणयाए उवधारणयाए अब्भुट्ठेयव्वं भवति, (३) णवाणं कम्माणं संजमेणमकरणयाए अब्भुट्ठेयव्वं भवति, (४) पोराणाणं कम्माणं तवसा विगिंचणयाए, विसोहणयाए अब्भुट्ठेयव्वं भवति, (५) असंगिहीत-परिजणस्स संगिण्हणयाए अब्भुट्ठेयव्वं भवति, (६) सेहं आयार-गोयरं गाहणयाए अब्भुट्ठेयव्वं भवति, (७) गिलाणस्स अगिलाए वेयावच्च-करणयाए अब्भुट्ठेयव्वं भवति, (८) साहम्मियाणमधिकरणंसि उप्पण्णंसि तत्थ अणिस्सितोवस्सितो अपक्खगाही मज्झत्थ-भावभूते कहं णु साहम्मिया अप्पसद्दा, अप्पझंझा, अप्पतुमंतुमा? उवसामणयाए अब्भुट्ठेयव्वं भवति।

-स्थानांगसूत्र, स्था. ८, सू. ६१९

२

अकषाय-संवर : एक सम्प्रेक्षक चिन्तन

किसी व्यक्ति को कठोर अपराध के फलस्वरूप सख्त जेल में डाल दिया जाय और उसे खाने-पीने, रहने, सोने की भी सुविधा न दी जाए एवं सख्त परिश्रम कराया जाए तो वहाँ रहना अच्छा नहीं लगता, वह जेल से जल्दी से जल्दी छूटने के लिए छटपटाता है, किन्तु उसने यदि क्रूरतम भावों से अपराध किया है तो जेल में उसको कठोर सजा मिलती है और लम्बी अवधि तक जेल में रहना पड़ता है। जब तक उसकी सजा की अवधि पूरी नहीं होती, तब तक उसे वहाँ से छुटकारा नहीं मिलता। ठीक इसी प्रकार तीव्र कषाय के फलस्वरूप जिस व्यक्ति ने घोर पापकर्म (मोहनीय कर्म) बाँधा है, साथ ही दीर्घकालिक स्थितिबन्ध किया है, उसके कारण दीर्घकाल तक संसाररूपी जेल में उसे रहना पड़ता है। उसे इस संसाररूपी जेल से छूटने की छटपटाहट बहुत होती है, किन्तु जब तक उसकी अवधि (स्थिति) पूरी नहीं होती, तब तक उसे रहना पड़ता है, अनेक दुःखों, यातनाओं और विपदाओं को भी भोगना पड़ता है, किसी-किसी पापकर्म के फल का भुगतान कई-कई जन्मों तक नहीं होता।

रसबन्ध और स्थितिबन्ध कषाय से ही होता है

कर्मविज्ञानवेत्ता महर्षियों ने बताया है कि प्रकृतिबन्ध आदि चार कोटि के बन्धों में से प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्ध योग से होता है, जबकि स्थितिबन्ध और रसबन्ध (अनुभागबन्ध) कषाय से होता है।[1] अर्थात् कर्म के स्थितिबन्ध और रसबन्ध का आधार कषाय है। किसी प्राणी के जीवन में कषायों की मात्रा कम है और कषाय भी मन्द है तो उसकी संसाररूपी जेल में रहने की अवधि भी अल्प होगी और उसे संसार में दुःख, कष्ट आदि भी कम होंगे। परन्तु यदि कषाय तीव्र, तीव्रतर, तीव्रतम है, उसके अध्यवसाय (मानसिक परिणाम) भी अशुभ, अशुभतर और अशुभतम हैं तो उसके पापकर्मों की स्थिति का बन्ध भी दीर्घ, दीर्घतर, दीर्घतम होगा और उसके अध्यवसाय के अनुसार दुःखवेदन भी अधिक, अधिकतर

---

१. जोगा पयडि-पएसा, ठिई अणुभागं कसायओ। —कर्मग्रन्थ, भा. १

और अधिकतम होगा। यदि किसी व्यक्ति के कषायों की मात्रा अत्यधिक तीव्र है, तो उसकी लेश्याएँ भी अधिक अशुभ होंगी। फलतः मोहनीय कर्मबन्ध की स्थिति भी उतनी ही अधिक लम्बी होगी। अर्थात् उसे उतने लम्बे काल तक उक्त कर्म की सजा संसाररूपी जेल में भोगनी पड़ेगी। कभी-कभी तो उक्त क्रूर मोहकर्म की स्थिति इतनी लम्बी होती है कि कई-कई जन्मों तक उसकी सजा भोगनी पड़ती है।

भगवान महावीर को भी दीर्घकाल तक वेदना भोगनी पड़ी

भगवान महावीर के जीव ने १८वें त्रिपृष्ठ वासुदेव के भव (जन्म) में शय्यापालक के कान में अत्यन्त तपाया हुआ गर्म शीशा डलवाया था, जिससे अत्यन्त तीव्र वेदनापूर्वक उसकी मृत्यु हुई। उक्त तीव्र कषायजनित घोर पापकर्म का स्थितिबन्ध और रसबन्ध अत्यन्त दीर्घकालिक हुआ। फलतः उन्हें दो बार उक्त कर्म की सजा भोगने के लिए नरक में जाना पड़ा, वहाँ की भयंकर यातनाएँ भी सहनी पड़ीं। फिर भी उक्त कर्म की अवधि (स्थिति) पूर्ण नहीं हुई और भगवान महावीर को तीर्थंकर के भव (२७वें भव) में कान में कीले ठुकने की सजा भुगतनी पड़ी। यह सब तीव्र कषाय के कारण हुए पापकर्म की सजा थी। कषाय और नोकषाय चारित्रमोहनीय कर्मबन्ध के मुख्य हेतु हैं और मोहनीय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति (कर्मफल भोगने की अवधि) ७० कोटाकोटि सागरोपम की है।[1]

कषाय की तीव्रता-मन्दता के अनुसार रसबन्ध-स्थितिबन्ध और संसार में स्थिति

कषाय की तीव्रता-मन्दता के अनुसार जैसे स्थितिबन्ध होता है, वैसे ही रसबन्ध भी होता है। तीव्र-मन्द रसबन्ध के अनुसार जीव को कर्म के उदय के समय अधिक या अल्प दुःख का अनुभव (वेदन) होता है।

इस पर से यह स्पष्ट है कि कषाय ही जीवों को जन्म-मरणरूप संसार में उनके स्थितिबन्ध-रसबन्ध के अनुसार भटकाता है।

कषाय का अर्थ ही संसार-वृद्धि है

आचार्यों ने कषाय का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ भी यही किया है–कष + आय। अर्थात् कष–यानी संसार और आय–यानी लाभ। जिससे संसार का लाभ हो। तात्पर्य यह है कि जिससे चार गति और चौरासी लाख जीव योनिरूप संसार में

---

१. (क) देखें–'कल्पसूत्र' (आनन्द महर्षि-संस्करण) में भगवान महावीर के २७ भवों का वर्णन
(ख) सप्तति मौहनीयस्य। –तत्त्वार्थसूत्र, अ. ८, सू. १६
(ग) १६ कषाय और ९ नोकषाय; यों चारित्रमोहनीय के २५ भेद हैं।

जन्म-मरण की परम्परा बढ़े, संसार वृद्धि हो, भव संख्या बढ़े, वह कषाय है। 'प्रशमरति' में भी इसी तथ्य को प्रगट किया गया है–"इस प्रकार क्रोध, मान, माया और लोभ (कषायचतुष्टय) दुःख के हेतु होने से संसारी जीवों के जन्म-मरण के चक्ररूप संसार के विषम (दुर्गम) मार्ग की ओर ले जाने वाले हैं।"[1] 'दशवैकालिकसूत्र' में भी कषायों को जन्म-मरणरूप संसार की जड़ों को सींचने वाले कहे गये हैं–

"अनिगृहीत (वश में नहीं किये हुए) क्रोध और मान, माया और लोभ बढ़ते जाते हैं। फिर ये चारों ही काले कषाय बार-बार जन्म-मरणरूप संसार की जड़ों को सींचते हैं।" दूसरे शब्दों में कहें तो भव–संसार को बढ़ाने में सबसे बड़ा कारण कोई है तो कषाय ही है। 'आचारांग निर्युक्ति' में भी कहा गया है–"संसार का मूल कर्म है और कर्म का मूल कषाय है।"[2]

अरिहन्त भी कषायरिपुओं का क्षय करके ही बनते हैं

इसीलिए जिन्हें हम 'नमो अरिहंताणं' कहकर श्रद्धा-भक्तिपूर्वक नमस्कार करते हैं, वे अरिहन्त भगवन्त भी आत्मा के अन्तरंग शत्रुओं को नष्ट करते हैं, तभी वे अरिहन्त (अरि + हन्ता) कहलाते हैं। वे आन्तरिक शत्रु और दूसरे नहीं, राग और द्वेष हैं। कषाय चार हैं। इनमें से 'प्रशमरति' के अनुसार माया और लोभ को राग के द्वन्द्व में तथा क्रोध और मान को द्वेष के द्वन्द्व में गिना जाता है। कर्म के बीज जैसे राग-द्वेष को बताया है, वहाँ कषाय उस कर्मबीज को अंकुरित करते हैं। उक्त कर्मबीज को सिंचित करते हैं–कषाय।

इससे यह स्पष्ट बोध हो जाता है कि हमारे आराध्य देव वीतराग अरिहन्तों ने जिन कषायों पर पूर्ण विजय पा ली है, उन कषायों को हम कर्मबन्ध के मूल कारण तथा संसार परिभ्रमण के हेतु जानते हुए भी अपने जीवन से चिपकाये बैठे हैं।[3] उन्हें हम हटाना चाहते हैं फिर भी वे हटते नहीं।

---

१. एवं क्रोधो मानो माया लोभश्च दुःखहेतुत्वात्, सत्वानां भव-संसारदुर्ग-मार्ग-प्रणेतारः।
–*प्रशमरति, श्लो. ३०*

२. (क) कषः संसारः, तस्य आयः लाभः = कषायः।
(ख) कोहो य माणो य अणिग्गहीया, माया य लोभो य पवड्ढमाणा।
चत्तारि एए कसिणा कसाया, सिंचंति मूलाइं पुणब्भवस्स॥ –*दशवैकालिकसूत्र*
(ग) संसारस्स उ मूलं कम्मं, तस्स वि हुंति य कसाया। –*आचारांग निर्युक्ति १८९*

३. (क) 'पाप की सजा भारी, भा. १' (मुनि श्री अरुणविजय जी) से भाव ग्रहण, पृ. ५२९
(ख) माया-लोभ-कषायश्चेत्येतद् राग-संज्ञितं द्वन्द्वम्।
क्रोधो मानश्च पुनर्द्वेषः इति समासे निर्दिष्टम्॥ –*प्रशमरति (उमास्वातिवाचक)*

अकषाय-संवर का तीव्र पराक्रम नहीं किया

परन्तु मैं समझता हूँ, कषायों को हमने हटाने का, कषायों पर विजय प्राप्त करने का, कषायों को मन्द-मन्दतर करने का तीव्र पुरुषार्थ नहीं किया। कषायों की उत्पत्ति के कारणों का भलीभाँति पता लगाकर, उनको आत्मा से पृथक् करने का, दूर करने का यानी निर्जरा करने का या कषायों के निमित्त मिलने पर उनके तीव्र वेग को या आने की सम्भावना को एकदम रोककर अकषाय-संवर करने का तीव्र पराक्रम नहीं किया।

क्या कषायों को अपनाए बिना काम नहीं चलता

आजकल कई भौतिकता में रँगे हुए लोग कह दिया करते हैं–संसार में रहना और कषायों से बचना कैसे सम्भव है? संसार-व्यवहार चलाने के लिये थोड़ा-बहुत कषाय तो करना लाजमी हो जाता है। थोड़ी आँखें लाल न करें तो पुत्र, पुत्री आदि हमारे सिर पर चढ़ जाएँ। थोड़ा गुस्सा न करें तो नौकर हमारी सुने ही नहीं। थोड़ा-सा गर्म होकर डाँट-फटकार न करें तो पत्नी भी आज्ञा की अवहेलना कर बैठती है। थोड़ा-सा मान, अभिमान न करें, जाति, कुल आदि का गर्व (गौरव) न करें तो समाज में हमें सब लोग हीन दृष्टि से देखने और अपमानित करने लग जाते हैं। थोड़ी माया (कपट) न करें तो पेट भरना भी मुश्किल हो जाए और लोभ के बिना तो हमारा व्यापार–धंधा भी चलना कठिन हो जाए। आजीविका के लिए, सामाजिक एवं पारिवारिक जीवन को ठीक ढंग से चलाने के लिए, समाज में अपना दबदबा कायम रखने के लिए अहंकार (गर्व) और लोभ को अपनाना ही पड़ता है।

कषाय आत्मा का स्व-भाव नहीं, विभाव है

मानो कषाय को आधुनिक युग के मानवों ने अपना 'स्वभाव' बना लिया है। जो कषाय आत्मा का स्व-भाव नहीं है, न कभी वह आत्मा का गुण, स्वभाव बना है, न बनेगा; उसी क्रोधादि कषाय को उन्होंने अपने स्व-भाव का अंग मान रखा है। जो कषाय आत्मा के शत्रु हैं, उन्हें अपने साथी के रूप में अपना रखा है। वस्तुतः ये क्रोध-मानादि कषाय आत्मा के स्वभाव नहीं, विभाव हैं। ये चारों कषाय कर्मजन्य अवस्थाविशेष हैं, कर्मों का स्व-भाव है, कर्मों की प्रकृति का अंग है, उसी का व्यवहार वे लोग आत्मा के स्वभाव के रूप में करने लग गए हैं। कषाय आत्मा का स्व-भाव = आत्मा का गुणधर्म होता तो आत्मा को ज्ञान, दर्शन, सुख, शक्ति और चेतना के गुणधर्म = स्व-भाव पर आवरण क्यों डालता? उन आत्म-गुणों को कुण्ठित, आवृत और सुषुप्त क्यों करता? आत्मा कषायों से होने वाले कर्मबन्ध के

कारण दुःखित, व्यथित क्यों होती और जन्म-मरणादिरूप संसार में क्यों परिभ्रमण करती ?[1]

अकषाय-संवर कैसे हो सकेगा, कैसे नहीं ?

अतः कषायों को आत्मा का स्व-भाव = निजी गुण मानने की भूल न करें, तभी वे अकषाय-संवर की साधना के सम्मुख हो सकते हैं। अन्यथा, हमें कषायों ने, कषायजनित कर्मों ने संसार में भटकाया है, दुःख दिया है, कषाय हमसे छूटते नहीं, छूट नहीं सकते; यों केवल कषायों की निन्दा करने, उनके दुर्गुणों की उद्घोषणा करने से अथवा कषायों के आगे हाथ जोड़कर प्रार्थना करने से कषाय नहीं चले जाएँगे। जागृतिपूर्वक कषायों पर संयम, संवर और ब्रेक लगाये बिना वे हटेंगे नहीं। सम्यग्दृष्टिपूर्वक कषायों का निरोध या स्वेच्छा से कषायों का शमन-दमन करने से ही कषाय छूटेंगे, अकषाय-संवर हो सकेगा अथवा पूर्वकृत कषायजनित कर्मबन्ध के फलभोग के समय समभाव और शान्ति से उनका फल भोग लेंगे तो कषायजनित कर्मों की निर्जरा भी हो सकेगी।

कषाय से आत्मा की तथा आत्म-गुणों की हानि ही हानि है

इसी दृष्टि से कर्मविज्ञान-मर्मज्ञों ने कषाय से लाभ-हानि के विषय में तथा कषाय से सुख-दुःख के सम्बन्ध में कतिपय प्रश्न उपस्थित करके तथाकथित कषाय मित्रों की आँखें खोलने का उपक्रम किया है। 'दशवैकालिकसूत्र' में प्रत्येक कषाय से आत्म-गुण की हानि का पहलू प्रस्तुत करते हुए कहा गया है–"क्रोधकषाय प्रीति (आदरभाव) का नाश करता है, मानकषाय आत्मा के विनय गुण को नष्ट कर डालता है, मायाकषाय आत्मा के सर्वभूत मैत्री गुण का नाश करता है और लोभकषाय तो सर्व-सद्गुणों का नाश कर डालता है।"[2] मतलब यह है कि ये चारों कषाय आत्मा का कोई भी हित करने वाले, आत्म-गुणों की वृद्धि करने वाले या आत्मा (जीव) का कोई भी फायदा करने वाले नहीं हैं; अपितु आत्मा की, आत्म-गुणों की हानि तथा अहित ही करते हैं।

कषाय-सेवन से इहलोक और परलोक सर्वत्र सन्ताप

इसीलिए 'अध्यात्म-कल्पद्रुम' में कहा गया है–"कषायों ने तुम्हारा क्या, कभी कोई गुण-निर्माण (फायदा) किया है कि तुम उनका सेवन नित्य ही गौरव के साथ करते हो ? कषाय इन जन्म में भी सन्ताप, पीड़ा, दारिद्र्य, रोग आदि दुःख ही देते

---

१. 'पाप की सजा भारी, भा. १' से भाव ग्रहण, पृ. ५३३, ५३०

२. कोहो पीइं पणासेइ, माणो विणय-णासणो।
माया मित्ताणि णासेइ, लोभो सव्व-विणासणो॥ –दशवैकालिकसूत्र

हैं और पर-भवों (अगले जन्मों) में भी संताप, पीड़ा और नरकगति आदि के दुःख ही देते हैं। ऐसी स्थिति में भी इन कषाय-शत्रुओं के दोषों को क्यों नहीं जानते-देखते हो?"[1] अर्थात् अहर्निश कषायों के कारण होने वाली हानि को तथा कषायों को संसारवृद्धि के दुर्गुणों के कारण तथा अनेक दुःखों के उत्पादक जानते-मानते हुए, अनुभव करते हुए भी इन्हें क्यों अपनाते हैं?

अधिक सुख किसमें है ? : कषाय-सेवन से या अकषाय से ?

आगे इसी में तुलनात्मक दृष्टि से आत्मार्थी को सोचने पर मजबूर करते हुए कहा है-"हे धीर ! कषाय के सेवन से अर्थात् कषायों के अपनाने से, क्रोधादि कषाय करने से जो सुख प्राप्त होता है, तथैव कषायों का त्याग करने-नष्ट करने से = अकषायभाव में रहने से जो सुख मिलता है अथवा कषाय करने से क्या परिणाम आता है या लाभ मिलता है और कषायों का स्वेच्छा से त्याग (निरोध) करने से क्या परिणाम आता है या लाभ मिलता है? इन दोनों की भलीभाँति तुलना करके देखो। इनमें से जो विशिष्ट लाभकारी हो, श्रेयस्कर हो, उसको अपनाओ, उसका सेवन करो।"[2]

कषाय-सेवन से सुख-शान्ति नहीं

अतः यह अनुभवसिद्ध तथ्य है कि कषाय-सेवन की अपेक्षा अकषायभाव में रहने में अधिक सुख-शान्ति, सन्तोष और आनन्द है। यदि कषाय-सेवन करने में अधिक सुख, लाभ और आनन्द होता तो कोई भी आत्मार्थी साधक कषाय-विजय या कषाय-उपशमन का प्रयत्न या साधना नहीं करता और स्वयं तीर्थंकर भगवान भी कषाय का स्वयं त्याग न करते और न ही वे दूसरों को कषाय-त्याग या कषाय-विजय का उपदेश देते। वीतराग सर्वज्ञ-सर्वदर्शी बनने के बाद कोई तीर्थंकर, अरिहन्त, केवलज्ञानी पुरुष कषाय का अंशमात्र भी सेवन नहीं करते।[3] तीर्थंकरों पर भी पूर्वबद्ध कर्मों के उदय में आने पर अनेक परीषह एवं उपसर्ग आते हैं, किन्तु परीषहों एवं उपसर्गों के निमित्तभूत व्यक्ति, वस्तु, परिस्थिति आदि पर वे जरा भी रोष, द्वेष, आक्रोश, अहंकार, छलकपट या स्वार्थसिद्धि का लोभ आदि कषाय नहीं करते। अगर कषाय करना अच्छा होता, किसी उपसर्ग-

---

१. को गुणस्तव कदा च कषायैर्निर्मिते, भजसि नित्यमभिमानेन यत्।
किं न पश्यसि दोषमभीषां, तापमत्र, नरकं च परत्र॥ —अध्यात्म-कल्पद्रुम

२. यत्कषायजनितं तव सौख्यं, यत्कषाय-परिहानि-भवं च।
तद्विशेषमथवैतदुदर्कं, संविभाव्य भज धीर ! विशिष्टम्॥ —वही

३. 'पाप की सजा भारी, भा. १' से भाव ग्रहण, पृ. ५२९

उपद्रवकर्त्ता के प्रति प्रतिक्रियावश रोष-द्वेषादि करना या शाप-वरदान देना अभीष्ट होता तो वे वीतराग नहीं कहला सकते थे, न ही अनन्त आत्म-शक्ति और अनन्त आत्मिक आनन्द (सुख) के धनी कहला सकते थे। क्योंकि कषाय तो अनन्त-ज्ञानादि आत्मिक गुणों को आवृत, कुण्ठित एवं सुषुप्त कर देता है।

कषायों के बिना भी जीवन-व्यवहार चल सकता है

इसलिए अकषाय-संवर के साधक को दीर्घदृष्टि से इन सब पहलुओं पर सोचकर निर्णय करना होगा–"आत्मा के महान् अन्तरंग शत्रुरूप क्रोधादि कषायों, आत्मा को स्वभाव से च्युत करने वाले कषाय-विभावों, आत्मा को दुर्गति में ले जाने वाले तथा अनेक प्रकार के शारीरिक-मानसिक रोग, कष्ट, सन्ताप देने वाले कषायों से वास्ता रखना है या इनसे दूर रहना है? क्या कषायों को अपनाये बिना तुम्हारा जीवन-व्यवहार नहीं चल सकता? क्या तुम कषायों के बिना संसार में जी नहीं सकते? अन्तर की गहराई में उतरकर ठंडे दिल-दिमाग से सोचेंगे तो सूर्य के प्रकाश की तरह आपको स्पष्ट ज्ञात हो जाएगा कि सर्वकर्ममुक्ति का या संवर-निर्जारूप धर्म का साधक कषाय के बिना अपना जीवन-व्यवहार अच्छी तरह चला सकता है, कषायों के बिना संसार में सम्यक्रूप से जी सकता है। इस विश्व में अनेक व्यक्ति ऐसे हो गए हैं, जिन्होंने शान्ति, सन्तोष और धैर्य के साथ कषायों के बिना अपना जीवन-व्यवहार चलाया है, चलाते हैं और चला सकते हैं। कई प्रत्येक प्रतिकूल परिस्थिति में भी शान्त, मौन और कष्ट-सहिष्णु रहकर अपना शानदार जीवन व्यतीत करते हैं। उनकी आत्मा के अणु-अणु में यह सूत्र सम्यक् रूप से प्रविष्ट हो गया है कि कर्मों से वास्तविक मुक्ति कषायों से मुक्ति होने पर ही होती है, हो सकती है।[1]

कषायों से दूर रहने का स्वभाव बनाने पर ही जीवन की सार्थकता

यदि अकषाय-संवर का आत्म-हितैषी साधक अपना स्व-भाव कषायों से रिक्त, मुक्त या दूर रहने का बना ले तो हर हालत में वह कषाय से दूर रह सकता है अथवा प्राथमिक अवस्था में मन्दकषायी बन सकता है। मनुष्य अपनी प्रकृति को जिस साँचे में ढालना चाहे, ढाल सकता है। कषायों से दूर रहने का स्वभाव बनाना चाहे तो बना सकता है और बखूबी अपना जीवन-व्यवहार चला सकता है।

---

१. (क) 'पाप की सजा भारी, भा. १' से भाव ग्रहण, पृ. ५३३
(ख) कषाय-मुक्तिः किल मुक्तिरेव।

कषायों का आश्रय लेने पर संसार बढ़ेगा ही, घटेगा नहीं

जो व्यक्ति यह कहता है कि कषायों के बिना जीवन-व्यवहार चल ही नहीं सकता, वह दीर्घदृष्टि से यह सोचे कि संसार चलाने या जीवन-व्यवहार चलाने के लिए कषायों का आश्रय लेने पर क्या होगा? उसके कारण जन्म-मरणादिरूप संसार दिनानुदिन बढ़ता जाएगा। सौ गुना, हजार गुना या लाख गुना संसार बढ़ता जाएगा। फिर उस बढ़े हुए, बिगड़े हुए, आत्मा को असंख्य कर्म-लेप से लिप्त किये हुए लाखों वर्षों, लाखों जन्मों के संसार के कितने दुःख बढ़ जाएँगे? उन्हें भोगना तो उसी को पड़ेगा, जो पापकर्मों के बन्धन में डालने वाले कषायों को हँस-हँसकर अपनाता है। यह तो वही बात हुई–"गये थे आग बुझाने, लेकिन आग से जल गए।" इसलिए कषायों के सेवन से अनन्त संसार बढ़ाने के बदले कषायों का त्याग, उपशमन, दमन या निरोध करना ही सर्वश्रेष्ठ उपाय है, इसके सिवाय मुमुक्षु साधक के लिए सर्वकर्ममुक्ति का, सर्वदुःखमुक्ति का और कोई विकल्प नहीं है। इसी में अकषाय-संवर साधक की बुद्धिमत्ता, विशेषता और दूरदर्शिता है। यही उभयलोक में लाभ का सौदा है।

कषाय के निरोध या त्याग से आवृत आत्म-गुण प्रकट होंगे

कषाय के निरोध, उपशमन, दमन या त्याग से लाभ यह है कि पूर्वोक्त जिन आत्म-गुणों को कषायों ने रोका है, दबाया है, आवृत किया है, वे गुण उन-उन कषायों के हट जाने से उसी तरह प्रकट हो जाएँगे, जिस तरह सूर्य पर छाये हुए बादलों के हट जाने से सूर्य का प्रकाश चारों ओर पूर्णतया फैल जाता है। आवरण के हट जाने पर आच्छादित वस्तु प्रगट दिखाई देने लगती है। कषाय भी स्व-जनित कर्मों के रूप में आत्मा पर आच्छादित है–आवृत है। इन कषायों को संवर-निर्जरा द्वारा हटा देने से तज्जनित कर्म हट जाएँगे, फिर आत्मा में निहित अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त यथाख्यातरूप चारित्र, अनन्त आत्मिक सुख और अनन्त आत्म-शक्ति आदि आत्मा के निजी गुण अंशतः प्रगट होने लगेंगे और जिस दिन कषायों का आवरण सर्वथा हट जाएगा, उस दिन आत्मा अपने निजी गुणों से परिपूर्ण, सर्वथा शुद्ध, बुद्ध, सर्वघातिकर्ममुक्त वीतराग सर्वज्ञ बन जाएगी। आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप में अवस्थित हो जाएगी। इस दृष्टि से कषायों का निरोध, उपशमन या त्याग करने से यहाँ भी लाभ है, आगे (परलोक में) भी लाभ है और कषायों के सर्वथा त्याग से समस्त (आत्म-गुण) घातिकर्मों का क्षय होने से वीतरागता और समस्त कर्मों के क्षय होने से मुक्ति का परम लाभ भी है।[1]

---

१. 'पाप की सजा भारी, भा. १' से भाव ग्रहण, पृ. ५३४

कषाय त्याग से परम लाभ

जैसे कि कषाय के प्रत्याख्यान (त्याग) से परम लाभ बताते हुए भगवान महावीर ने कहा–"कषाय (क्रोध-मान-माया-लोभ) के प्रत्याख्यान (त्याग) से जीव (आत्मा) वीतरागभाव को प्राप्त कर लेता है। वीतरागभाव को प्राप्त जीव सुख और दुःख में समभावी हो जाता है।"[1] कषाय त्याग से साधक को कितना महान् लाभ है !

कषायों पर विजय कैसे प्राप्त हो ?

कषायों पर विजय पाने से लिए ज्ञानी भगवंन्तों ने अनेक उपाय बताए हैं। उन उपायों को आजमाया जाए तो निःसंदेह कषायों से छुटकारा आसानी से प्राप्त हो सकता है। देखिये–'दशवैकालिकसूत्र' में कषाय-विजय का निर्देश इस प्रकार है– "उपशमभाव (शान्ति) से क्रोध को जीते, मान को मृदुता–नम्रता (विनय) से जीते, माया को ऋजुता (सरलता) से जीते और लोभ को सन्तोष से जीते।"[2] इस प्रकार चारों कषायों को उपशम आदि चार भावों से अच्छी तरह आसानी से जीता जा सकता है।

कषायों से अधोगति तथा अल्पलाभ : अनेक गुणी हानि

फिर भी आश्चर्य इस बात का है कि मनुष्य जैसा विचारशील प्राणी भी किसी भी कषाय को अपनाता है, तब लाभ देखकर ही ऐसा करता है। वह मन में सोचता है, मुझे अमुक कषाय के करने से अमुक लाभ मिलेगा। क्रोध, रोष और आवेश करने से, गुस्सा करने से मुझे अमुक वस्तु मिल जाएगी। अहंकारवश रौब जमाने से, डाँट-फटकार से अमुक व्यक्ति मेरे सामने झुक जाएगा, मेरी गुलामी, चापलूसी या खुशामद करेगा, मेरी बात मान जाएगा। माया-कपट करके अमुक व्यक्ति को ठगकर मालामाल हो जाऊँगा। लोभ और स्वार्थपूर्ति किये बिना मेरा व्यवसाय चलेगा कैसे ? लोभवश तस्करी, भ्रष्टाचार, चोरी आदि करके धन से तिजोरी भर लूँगा। इस प्रकार अदूरदर्शी व्यक्ति कषायों से तत्कालीन क्षणिक लाभ उठाने का प्लान बनाता है और फायदा उठाने का प्रयत्न करता है। लेकिन उसे पता नहीं है कि इस क्षणिक लाभ के पीछे वर्षों तक नरकादि दुर्गतियों में सड़ना पड़ेगा, सैकड़ों दुःख उठाने पड़ेंगे। जैसे कि 'उत्तराध्ययनसूत्र' में कहा है–"बार-बार क्रोध करने

---

१. कषाय-पच्चक्खाणेणं वीयरागभावं जणयइ।
वीयरागभावपडिवन्ने वि य णं जीवे सम-सुह-दुक्खे भवइ॥ –उत्तराध्ययन २९/३६

२. उवसमेण हणे कोहं, माणं मद्दवया जिणे।
मायामज्जवभावेण लोभं संतोसओ जिणे॥ –दशवैकालिक, अ. ८, गा. ३९

की आदत पड़ने से मनुष्य दिनानुदिन नीचे गिरता (पतित होता) जाता है। वह लोगों की दृष्टि में, समाज की दृष्टि में और कर्मसत्ता की दृष्टि से नीचे गिरता जाता है, अधोगमन करता जाता है। मान-अहंकार-मद या गर्व करने की आदत से भी मनुष्य अधमगति में, अधम कक्षा में अथवा अधोगति (दुर्गति) में पहुँच जाता है। पद-पद पर, चलते-फिरते बार-बार माया-कपट करने की आदत से मनुष्य की सद्गति का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है अथवा सुगति या आत्मिक प्रगति का रास्ता बंद हो जाता है और लोभ करने से इस लोक और परलोक दोनों में ही अनेक प्रकार का (नाना दुःखों का) भय खड़ा हो जाता है।" अतः कषाय चाहे जो हो, उसके सेवन से नुकसान के सिवाय लाभ तो है ही नहीं। अथवा वह कवि कालीदास के शब्दों में–"थोड़े-से लाभ के लिए बहुत-सी हानि चाहने वाला मानव मुझे विचारमूढ़ प्रतीत होता है।"[1] एक आचार्य ने तो यहाँ तक कह दिया है कि "यदि साधक का कषाय उपशान्त हो जाय और वह अनन्त पुण्यशाली हो, तो भी (उस उपशान्ति के बाद भी) फिर से प्रत्यवाय (कषायरूप विघ्न) आ सकता है। इसलिए थोड़ा-सा भी कषाय शेष रहे, तब तक तुम्हें उसका विश्वास नहीं करना चाहिए।" (न मालूम वह पुनः किसी निमित्त से आ धमके।)[2]

वातादि विकारों से उन्मत्त की अपेक्षा कषायों से अधिक उन्मत्त

अनुभवी वैद्य कहते हैं–मनुष्य उन्मत्त (पागल) होता है वात रोग से, किन्तु आध्यात्मिक दृष्टिप्रधान 'भगवती आराधना' में कहा गया है–"वात, पित्त आदि विकारों से मनुष्य वैसा उन्मत्त नहीं होता, जैसा कि कषायों से होता है। वास्तव में कषायों से उन्मत्त ही उन्मत्त है।"[3] कषायों का तीव्र प्रवाह जब अबाधगति से बहने लगता है, तब मनुष्य अपने सजातीय मानव को भी अहंकारवश ठुकरा देता है, इतना ही नहीं, अपने स्वजनों, कुटुम्बीजनों और स्नेहीजनों का भी तिरस्कार कर देता है। दूसरे प्राणियों की भी हत्या कर डालता है। छल-कपट करके स्वजनों, सजातीय मानवों को भी ठग लेता है, उनके साथ भी वंचना करता है।

---

१. (क) 'पाप की सजा भारी, भा. २' से भाव ग्रहण, पृ. ५७१
   (ख) अहे वयंति कोहेणं, माणेणं अहमा गई।
   माया गई-पडिग्घाओ, लोभाओ दुहओ भयं॥ –उत्तराध्ययन, अ. ९, गा. ५४
   (ग) अल्पस्य हेतोर्बहु हातुमिच्छन् विचारमूढः प्रतिभासि मे त्वम्। –रघुवंश-महाकाव्य, सर्ग २
२. जइ उवसंत-कसाओ लहइ अणंत-पुण्णोवि पडिवायं।
   न हु भे वीससियव्वं, थोवे वि कसाय-सेसम्मि॥
   –'जैन स्वाध्याय-सुभाषितमाला, भा. २' से भाव ग्रहण, पृ. १७
३. होदि कषाय-उम्मत्तो, तधाण पित्त-उम्मत्तो। –भगवती आराधना १३३१

लोभवश या रोषवश उन्हें भी मार डालने में संकोच नहीं करता। अपने माने हुए सम्प्रदाय, पन्थ, मत या मार्ग से भिन्न सम्प्रदाय आदि वाले साधुवर्ग या गृहस्थवर्ग के प्रति कषायोन्मत्त होकर साम्प्रदायिक तीव्ररागवश कई व्यक्ति रोष, द्वेष, वैर-विरोध, निन्दा, बदनामी, अपमान, सम्यक्त्व-परिवर्तन, अनुयायीवृद्धि के लोभ में आकर बहकाने-फुसलाने आदि कतिपय कषायों का धड़ल्ले से सेवन करते हैं।

साधकों के जीवन में कषायों का जबर्दस्त घेराव और परिणाम

और तो और, उच्च कोटि के कहलाने वाले कतिपय साधक मुनि श्रमण, साधु और आचार्य तक इन कषायों का दुष्परिणाम जानते हुए भी अपने से भिन्न सम्प्रदाय वाले साधु-श्रावकवर्ग की निन्दा, बदनामी या तीखी कटु आलोचना, दोषारोपण आदि करने से नहीं चूकते। भगवान महावीर के द्वारा 'सूत्रकृतांगसूत्र' में कथित अमृतोपम वचनों को भी वे ठुकराकर सोचते हैं, हम उनकी आज्ञा का पालन करते हैं। भगवान महावीर ने ऐसे कषायात्मा साधकों के लिए कहा है–

"जैसे साँप अपनी त्वचा (केंचुली) को छोड़ देता है, वैसे ही श्रेयस्कामी मुनि (साधु) भी आवरणरूप अष्टविध कर्म-रज-मल का त्याग करता है, ऐसा जानकर अहिंसाव्रती (माहन) संयमी मुनि कर्मबन्ध के कारणभूत जाति, कुल (सम्प्रदायादि गच्छ, गण, संघ आदि), बल, रूप, लाभ, श्रुत, तप (क्रिया आदि व बाह्याभ्यन्तर तप), ऐश्वर्य आदि का मद (अहंकार या गर्व) नहीं करते तथा वे दूसरों की निन्दा (इंखिणी) नहीं करते; क्योंकि (मानकषायवश) दूसरों की निन्दा कल्याण का नाश करती है। जो दूसरों का तिरस्कार (परिभव) करता है, वह चिरकाल तक संसार में परिभ्रमण करता है। अर्थात् वह (मानकषायी साधक) दीर्घकाल तक जन्म-मरण के चक्ररूप संसार में भटकता रहता है अथवा पर-निन्दा (इंखिणी) भी पापों (पापकर्मों) की जननी है, यह जानकर मुनिवर किसी प्रकार का अहंकार (मद) नहीं करता।"[1] इसी प्रकार "जो साधक (मानकषायवश) अपने-अपने मत या मत

---

१. (क) तवसं व जहाइ से रयं, इति संखाय मुणी ण मज्जई।
मोयव्वतरेण माहणे, अह सेयकरी अन्नेसी इंखिणी॥
(ख) जो परिभवइ परं जणं, संसारे परिवत्तई महं।
अदु इंखिणिया उ पाविया, इति संखाय मुणी ण मज्जई॥
–सूत्रकृतांग, श्रु. १, अ. २, उ. २

वालों (पन्थ, मार्ग, सम्प्रदाय) की प्रशंसा और दूसरों के वचन (मत) आदि या मत पन्थ वालों की निन्दा (गर्हा, घृणा) करनें में ही अपना पाण्डित्य देखते हैं, वे वास्तव में (एकान्तवाद के मताग्रहरूप मिथ्यात्व के कारण) जन्म-मरणरूप संसार के बन्धन में दृढ़ता से जकड़े हुए हैं।"[1]

कषाय के कुचक्र में फँसा हुआ साधक

वस्तुतः कषायभाव चारित्रमोहनीय के उदय से होता है; इसीलिए उत्कृष्ट साधु के लिए 'बृहत्कल्पभाष्य' में कहा गया है–"अकषाय (कषायरहितता = वीतरागता) ही शुद्ध चारित्र है। अतः (तीव्र) कषायभाव रखने वाला संयमी नहीं होता।" सच्चे श्रमण का लक्षण 'प्रवचनसार' में इस प्रकार किया गया है–"जो कषायरहित है, इस लोक से निरपेक्ष है, परलोक में भी अप्रतिबद्ध (अनासक्त या निदानरहित) है तथा उपयोग (विवेक) युक्त होकर आहार-विहार की चर्या करता है, वही सच्चे माने में श्रमण है।" 'बृहत्कल्पभाष्य' में कहा गया है–"ज्यों-ज्यों क्रोधादि कषायों की वृद्धि होती है, त्यों-त्यों चारित्र की हानि होती है।" क्रोधादि कषायों की तीव्र वृद्धि से कितनी आध्यात्मिक हानि होती है? इसे स्पष्ट रूप से व्यक्त करते हुए 'निशीथभाष्य' में कहा गया है–"देशोन (थोड़े-से कम) कोटिपूर्व तक की (कषायमुक्ति की) साधना के द्वारा जो चारित्र अर्जित किया है, उसे वह अन्तर्मुहूर्त भर के प्रज्वलित (उग्र) कषाय से नष्ट कर देता है या नष्ट हो जाता है।"[2] प्रारम्भ में कषायमुक्ति (सर्वकर्ममुक्ति) की साधना में प्रवृत्त, किन्तु बाद में मोहकर्म के उदयवश जो कषायवृद्धि की ओर झुक जाता है, ऐसा होने पर उसकी पूर्वकृत कषाय के क्षयोपशम या उपशम की साधना यद्यपि व्यर्थ नहीं जाती, किन्तु उसका अध्यवसाय पहले की अपेक्षा अशुभ हो जाने से शुभ कर्म का अशुभ कर्म में अपवर्तन हो जाता है, अर्थात् उसके अशुभ अध्यवसाय के कारण पूर्वबद्ध स्थितिबन्ध तथा रसबन्ध में परिवर्तन हो जाता है। अब उग्र कषाय होने के कारण पहले का मन्द कषाय नष्ट हो जाता है। किन्तु कालान्तर में यदि वह साधक

---

१. सयं सयं पसंसंता गरहंता परं वयं।
जे उ तत्थ विउस्संति, संसारं ते विउस्सिया॥ –सूत्रकृतांग, श्रु. १, अ. १, उ. २

२. (क) अकसायं खु चरित्तं; कसायसहिओ न संजओ होइ। –बृहत्कल्पभाष्य २७१२
(ख) इहलोग-निरावेक्खो, अपडिबद्धो परम्मि लोयम्मि।
जुत्ताहार-विहारो रहिद-कसाओ हवे समणो॥ –प्रवचनसार ३/२६
(ग) जह कोहाइ-विवड्ढी, तह हाणी होइ चरणे वि। –बृहत्कल्पभाष्य २७११
(घ) जं अज्जियं चरित्तं देसूणाए वि पुव्वकोडीए।
तं पि कसाइय मेत्तो, नासेइ नरो मुहुत्तेणं॥ –निशीथभाष्य २७९३

आलोचना, पश्चात्ताप, प्रायश्चित्त आदि के द्वारा अपना शुद्धीकरण करके अपना अध्यवसाय शुद्ध कर लेता है तो अशुभ कर्मों को शुभ कर्म में परिणत कर सकता है। जैसे मगध-नरेश श्रेणिक ने हिरणी का वध करके अहंकार किया था, फलतः नरक का निकाचित बन्ध कर लिया था, किन्तु बाद में अनाथी मुनि एवं भगवान महावीर की उपासना से, उसके पूर्व अध्यवसायों में भारी परिवर्तन होने के कारण अनन्तानुबन्धी कषाय का क्षय होने से क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त कर लिया था। फलतः भविष्य में नरक से आयुष्य पूर्ण होने पर वह मनुष्यलोक में आकर तीर्थंकर बनेगा।

फिर भी प्रश्न यह होता है कि कषाय-विजय की साधना में प्रवृत्त हुए, जिस साधक ने पूर्व-पूर्व तीव्र कषाय का क्षय, क्षयोपशम या उपशम किया है, उसे कालान्तर में सहसा उग्र (तीव्र) कषाय क्यों आ घेरता है? इसका कारण यह है कि जब ऐसा साधक कुछ शास्त्राभ्यास कर लेता है, प्रवचनपटु हो जाता है अथवा उत्कट बाह्य तप करने लग जाता है अथवा कोई पद, प्रतिष्ठा या प्रसिद्धि पा लेता है अथवा उसके पास अनुयायी वर्ग का जमघट होने लगता है, तब मोहकर्मवश वह अपने आप को आध्यात्मिक गुरु एवं पहुँचा हुआ साधक समझने लगता है। फिर अहंकारवश अपने गुरु की भी अविनय-आशातना, तिरस्कार, अवमानना आदि करने लगता है, अपने जाति, कुल, ज्ञान, तप आदि का मद करके उन्मत्त होकर बात-बात में दूसरों का अपमान करने लगता है, उनको नीचा, अज्ञानी या अज्ञ कहकर तिरस्कृत करता रहता है। बार-बार क्रोध करके दूसरों को डाँटता-फटकारता रहता है। अभिमानवश दूसरे धर्म-सम्प्रदाय, मत-पंथ का या उनके अनुगामी साधु-श्रावकवर्ग की निन्दा, अवगुणवाद, ईर्ष्या, द्रोह आदि करने लगता है; दूसरों के साथ माया-कपट करके या दूसरों से आगे बढ़ने की प्रतिस्पर्धा में दूसरों को नीचा दिखाकर स्वयं ऊँचा, क्रियाकाण्डी, क्रियापात्र बनने का दम्भ, दिखावा, बाह्याडम्बर करने लगता है अथवा वह अनुयायी या शिष्य-शिष्या बढ़ाने के लोभ में पूर्व में बनाये हुए गुरु को अथवा पूर्व गुरु द्वारा दिये गए सम्यक्त्व को बदलाकर अपने या अपने सम्प्रदाय-मत-पंथ की गुरु-धारणा या समकित देने का या बरगलाकर अथवा यंत्र-मंत्र-तंत्रादि के थोड़े-से चमत्कार बतलाकर लोभवश अपने शिष्य-शिष्या या अनुगामी भक्त-भक्ता बढ़ाने का उद्यम करता है। इस पुरुषार्थ में अपनी आत्म-साधना, आत्म-शुद्धि या अकषाय-संवर में विक्षेप पड़ता है, इसकी उसे तनिक भी परवाह नहीं होती। फिर उसे अपनी प्रसिद्धि, प्रशंसा एवं कीर्ति की धुन लगती है, लोभरूपी कषाय का शिकार होकर वह क्या करता है? इसे 'दशवैकालिकसूत्र' के शब्दों में देखिये–

"पूयणट्ठा जसोकामी माण-संमाण-कामए।
बहुं पसवई पावं, मायासल्लं च कुव्वइ॥"

अर्थात् जो साधक पूजा-प्रतिष्ठा के फेर में पड़ा है, यश का भूखा है, मान-सम्मान के पीछे दौड़ता है, वह अनेक प्रकार से माया-शल्य (दंभ-दिखावा) करता हुआ, अत्यधिक पापकर्म करता है।[1]

कषायों का आक्रमण दसवें गुणस्थान तक होता रहता है

वैसे सैद्धान्तिक दृष्टि से सोचा जाए तो कषाय का आक्रमण दसवें गुणस्थान तक चलता है। दसवें गुणस्थान में जाकर संज्वलन का लोभ उपशान्त अथवा क्षीण हो जाता है। यद्यपि सातवें अप्रमत्त संयत गुणस्थान से कषायों का वेग अत्यन्त कम होने लगता है। फिर भी चारित्रमोहनीय कर्म के उदय से कषाय-नोकषायों का दौर चलता रहता है। परन्तु चतुर्थ गुणस्थान में और उससे आगे के गुणस्थानों में अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ नहीं रहतीं, दर्शनमोहनीय की तीनों कर्मप्रकृतियाँ भी नहीं रहतीं। इसलिए चौथे गुणस्थान से मिथ्यात्व, अज्ञान और मूढ़ता से प्रेरित अनन्तानुबन्धी कषाय नहीं रहते, फिर भी अप्रत्याख्यानी, प्रत्याख्यानी और संज्वलन कषाय तो रहते ही हैं। अदूरदर्शिता, प्रमाद, असावधानी, अजागृति और प्रतिक्रिया की आदत, कषायवृत्ति के त्याग के प्रति अरुचि, लापरवाही या उदासीनता उस-उस छठे गुणस्थान तक के साधक के जीवन में कषाय तूफान उठाती रहती हैं। उसकी लेश्याएँ, वृत्तियाँ, संज्ञाएँ, अशुभ बनती जाती हैं और वह प्रमादवश कषाय का शिकार हो जाता है। कषायों के वशीभूत होकर वह अपनी आत्मा के प्रति तथा दूसरों के प्रति निष्ठुर, दयाहीन, घृणा-परायण, कठोर और क्षमाविहीन, मृदुता और ऋजुता से रहित बन जाता है।

वैसे एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक के प्राणियों में क्रोधादि चारों प्रकार के कषाय तीव्र, तीव्रतर, तीव्रतम या मन्द या मन्दतर रूप में पाये जाते हैं। संसारी जीव हो और कषाय न हो, यह सम्भव नहीं। हाँ, इतना अवश्य है कि किसी में क्रोध अधिक है, किसी में मान अधिक है, किसी में माया और किसी में लोभ अधिक मात्रा में है। यदि किसी में ७० प्रतिशत क्रोध है तो दूसरे तीन कषाय १०-१० प्रतिशत हैं। इसी तरह मान, माया और लोभ का हाल है। लोक-व्यवहार में जो यह कहा जाता है कि पुरुषों में क्रोध और मान की मात्रा अधिक होती है और स्त्रियों में माया और लोभ की, यह एकान्तरूप से यथार्थ कथन नहीं है। सभी

१. दशवैकालिकसूत्र, अ. ५, उ. २, गा. ३७

में थोड़े-बहुत रूप में, न्यूनाधिक मात्रा में क्रोधादि कषाय रहते हैं। इसलिए सम्यग्दृष्टि एवं जाग्रत आत्मार्थी साधक कषायों के निरोध के लिए उद्यत है, उसे अकषाय-संवर में स्थिर रहने का आदेश देते हुए भगवान महावीर कहते हैं– "(अकषाय साधना में) वीर पुरुष (तीव्र) कषाय के आदि अंग क्रोध और मान को मारे (नष्ट करे), लोभ को महान् नरक के रूप में (लोभ साक्षात् नरक है) देखे। इसलिए (कर्ममुक्ति का साधक) लघुभूत बनने का अभिलाषी वीर बनकर (सब प्रकार की) हिंसा से विरत होकर (कषाय के) स्रोतों को छिन्न-भिन्न कर डाले।"[1]

पापकर्मजनित दुःखों से बचने का उपाय

अतः क्षणिक कषाय अथवा थोड़े-से भी कषाय से कितनी हानि होती है, कितना अधःपतन होता है? इसका दीर्घ दृष्टि से विचार करें तो मनुष्य कषायों से क्षणिक लाभ के बदले भयंकर पापकर्म से होने वाले इहलौकिक-पारलौकिक दुःखों से बच सकता है, बशर्ते कि वह दीर्घदर्शी बनकर प्रत्येक कार्य के परिणाम (नतीजे) को सोचे, पापकर्म के फल का ध्यान रखे। किन्तु इसके विपरीत तीव्र कषाय करने वाले पापकर्म-परायण लोगों की दृष्टि बहुत ही निकट की होती है, वे दूर दृष्टि वाले नहीं होते। यदि वे तीव्र कषाय करते समय भावी परिणाम का, पापकर्मबन्ध का विचार करते तो इतना तीव्र कषायों का ज्वार उनके तन-मन-वचन में आता ही नहीं।

कषाय करने की आदत प्रायः बदलती नहीं

अफसोस यह है कि मानव-जाति ने कषायों को बात-बात में अपनाने की ऐसी आदत बना ली है कि वह एक प्रकार का व्यसन हो चुका है। जिस प्रकार कोई व्यक्ति प्रतिदिन थोड़ा-थोड़ा विष खाते-खाते अपना शरीर विषैला बना लेता है, उस शरीर पर फिर विष का कोई असर नहीं होता। इसी प्रकार बचपन से ही प्रायः थोड़ा-थोड़ा छोटा-बड़ा कषाय करते-करते कषाय की आदत = वृत्ति ही ऐसी बना ली है कि उस पर अकषाय के उपदेश का कोई असर नहीं होता। वह कषाय व्यसनी अपनी आदत बदलने को प्रायः तैयार नहीं होता है।[2]

---

१. (क) 'पाप की सजा भारी, भा. १' से भावांश ग्रहण, पृ. ५३१
(ख) कोहाइ-माणं हणिया य वीरे, लोभस्स पासे णिरयं महंतं।
तम्हा हि वीरे विरते वहाओ, छिंदेज्ज सोयं लहुभूयगामी॥
–*आचारांगसूत्र, श्रु. १, अ. ३, उ. २, सू. ३९१*

२. 'पाप की सजा भारी, भा. २' से भावांश ग्रहण, पृ. ५७१

कषायों के चक्कर में फँसकर स्वयं अशान्ति मोल लेना है

मनुष्य-जाति आज कषायों के अधिकाधिक चक्कर में फँसती जा रही है, उसके कारण उसकी मानसिक और आध्यात्मिक शान्ति हवा हो गई है। मनुष्य चाहता तो है मानसिक शान्ति; किन्तु क्रोध, अहंकार, माया और लोभ के कुचक्र में फँसकर वह अधिकाधिक अशान्ति को निमंत्रण दे रहा है। वह कषायों को उपशान्त, क्षीण या मन्द करने के बदले तीव्र, तीव्रतर और तीव्रतम करता जा रहा है। उसकी अशान्ति का मूल स्रोत है–कषाय, आन्तरिक आवेश और क्रोध, मान, माया और लोभ का तीव्र आवेग।

क्रोधादि कषाय क्यों उत्तेजित होते हैं ?

भौतिकविज्ञान के विभिन्न आविष्कारों से प्रेरित होकर उसने अपनी सुख-सुविधा के लिए कामनाओं के वश जितने-जितने साधन जुटाए हैं, उतना-उतना उसका असंयम बढ़ा। वह पराधीन, अशान्त और तनावों से ग्रस्त हुआ। विविध कामनाओं और इन्द्रिय-विषयों के सब कुछ साधनों को जुटाने की लालसा से मूढ़ होकर दौड़-धूप करता है। वह इनकी पूर्ति इसलिए करना चाहता है, उसे अपने और अपनों के लिए सुख-सुविधा, मान-प्रतिष्ठा और गौरव मिले। फलतः लोभवश सत्ता और सम्पत्ति पाने की होड़ में उसकी दौड़ शुरू हो जाती है। अपने मिथ्या एवं भौतिक लक्ष्य की पूर्ति के लिए वह झूठ-फरेब, छल-प्रपंच, तिकड़मबाजी, हेराफेरी, भ्रष्टाचार आदि के विभिन्न तरीकों का सहारा लेता है। जैसे-जैसे उसे इस दौड़ में सफलता मिलती है, वैसे-वैसे उसका अहं पुष्ट होता है। यदि दूसरा उस दौड़ में आगे निकल जाता है, तो उसके प्रति ईर्ष्या होती है, उसकी निन्दा और बदनामी करके उसे पछाड़कर स्वयं आगे बढ़ने की होड़ लगती है। अहं का आहनन वह सहन नहीं करता तथा हीनभावना को दबाने, स्वत्वमोह के विस्तार और संरक्षण को पुष्ट करने में जहाँ भी बाधा उपस्थित होती है, वहाँ क्रोध और मान के आवेश से भर जाता है, उत्तेजना के तीव्र पंखों के सहारे वह अधिकाधिक क्रोधादि आवेग में उड़ने लगता है। यही तीव्र कषायों का चक्र है, जो उसकी मानसिक अशान्ति को भंग कर देता है। लोभ उसका उत्पादक है; कामना एवं स्वार्थसिद्धि ही तो लोभ की पुत्री है। किन्तु क्रोध–तीव्र क्रोध, जोकि परिणाम है, वह अभिव्यक्तरूप होने के कारण मानव की अशान्ति का आदि बिन्दु बन गया। अन्तिम बिन्दु से चलने पर अशान्ति के क्रमशः उत्पादक लोभ, माया, मान और क्रोध प्रतीत होते हैं।[1]

---

१. 'जैन भारती', सितम्बर १९९१ में प्रकाशित 'जैन धर्म की आस्था : पर्युषण लेख' से भावांश ग्रहण

अतः कषायों को परिणामों के आधार पर देखा जाए तो भी व्यवहारदृष्टि से कुछ तारतम्य इनमें देखा जा सकता है। इसलिए क्रोध के बाद मान, मान के बाद माया और माया के बाद लोभ, यह क्रम शास्त्रकार महर्षियों ने इसलिए दिया है कि क्रोध से मानादि उत्तरोत्तर निकृष्ट हैं, खराब हैं। लोभ को सबसे अन्त में इसलिए दिया है कि यह सर्वविनाशक है। फिर भी उन्होंने क्रोधादि चारों कषायों की भी चार-चार डिग्रियाँ बताई हैं। वे साधक को इस प्रकार के झाँसे में डाल देती हैं कि ग्यारहवें गुणस्थान तक पहुँचा हुआ साधक वापस नीचे गिर जाता है।

मुख्य चार कषायों की चार-चार डिग्रियाँ इस प्रकार हैं–

(१) अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ।

(२) अप्रत्याख्यानी क्रोध, मान, माया और लोभ।

(३) प्रत्याख्यानी क्रोध, मान, माया और लोभ।

(४) संज्वलन क्रोध, मान, माया और लोभ।

ये सोलह ही सुप्त कषाय चारित्रमोहनीय कर्म के उदय से एकदम भड़क उठते हैं और अपना प्रभाव दिखाते हैं। अतः कर्ममुक्ति चाहने वाले मुमुक्षु साधक को इन १६ कषायों और इनके सहायक ९ नोकषायों से सावधान और जाग्रत होकर चलना चाहिए। इनके स्वरूप और लक्षण के विषय में कर्मविज्ञान के तृतीय और चतुर्थ भाग में संक्षेप में प्रकाश डाला है। फिर भी विहंगम दृष्टि से इनके विषय में समझने के लिए हम कषाय-यंत्र अगले पृष्ठ पर अंकित कर रहे हैं–

इस यंत्र को देखकर अकषाय-संवर एवं कषायमुक्ति का साधक स्वयं निर्णय कर सकता है कि कषाय किस-किस कोटि के होते हैं? उनकी पहचान तथा उत्पत्ति के क्या-क्या लक्षण हैं? किस कोटि का कषाय कितने काल तक रहता है? किन-किन गुणों की घात या हानि करता है? किस कोटि का कषाय किस गति का, किन कर्मों का चय, उपचय, बन्ध करता है। किस कोटि के कषाय को नष्ट करने के लिए क्या-क्या उपाय करना चाहिए? आदि।

कषाय के प्रत्येक पहलू को जानना और उस पर विजय पाना है

मूल बात यह है कि अकषाय-संवर के साधक को सर्वप्रथम कषायों से होने वाले आत्मा के भयंकर नुकसान, गुणों का घात, प्रीति, विनय, नम्रता, मृदुता, सहनशीलता, क्षमा, सरलता, जीवन की पवित्रता, आराधकता आदि सद्गुणों का विनाश, भविष्य में दुःख, दुर्भाग्य, दुर्गति आदि संकट को ज्ञपरिज्ञा से जान-देखकर

कषायमुक्ति : परिणाम, उपाय और कारणों का दिग्दर्शक यंत्र

चार कोटि के कषाय	अनन्तानुबंधी	अप्रत्याख्यानीय	प्रत्याख्यानीय	संज्वलन	चारों कषायों का आधार और कारण
क्रोध की उपमा	पर्वत की रेखा	जमीन की रेखा	रेत पर रेखा	पानी पर रेखा	आत्म-प्रतिष्ठित, पर-प्रतिष्ठित, उभय प्रतिष्ठित, अप्रतिष्ठित
मान की उपमा	पाषाण स्तम्भ	शरीर की हड्डी	काष्ठ स्तम्भ	बाँस की बेंत	आत्म-प्रतिष्ठित, पर-प्रतिष्ठित, उभय प्रतिष्ठित, अप्रतिष्ठित
माया की उपमा	बाँस की जड़	मेढ़े के सींग	चलते हुए बैल की मूत्र-धारा	बेंत के समान	आत्म-प्रतिष्ठित, पर-प्रतिष्ठित, उभय प्रतिष्ठित, अप्रतिष्ठित
लोभ की उपमा	किरमिची रंग	गाड़ी के पहिये की मली	काजल का दाग	हल्दी का रंग	आत्म-प्रतिष्ठित, पर-प्रतिष्ठित, उभय प्रतिष्ठित, अप्रतिष्ठित
काल मर्यादा	आजीवन	एक वर्ष तक	चार मास तक	१५ दिन तक	क्रोधादि कषायों की उत्पत्ति के चार स्थान क्षेत्र (खेत या जमीन), वास्तु (मकान, दुकान आदि गाँव, नगर, राष्ट्र), शरीर (शरीर से सम्बन्धित सजीव-निर्जीव वस्तु) एवं उपधि (उपकरण व साधन-सामग्री) के निमित्त से
गुण-घात	सम्यक्त्वगुण-घातक	देशविरतिगुण-अवरोधक	सर्वविरतिगुण-अवरोधक	वीतरागतागुण-प्रतिरोधक	
गति-बन्ध	नरकगति-बन्धक	तिर्यञ्चगति-बन्धक	मनुष्यगति-बन्धक	देवगति-बन्धक	
क्रोधादि को विफल करने के उपाय	मिथ्यात्व की गाढ़ता को मिटाने से सत्संग, श्रवण, ज्ञान, विज्ञान, अनाग्रह, प्रत्याख्यान, समभाव आदि के अभ्यास से नैतिक जीवन के आचरण से, मार्गानुसारी के गुणों को अपनाने से नवतत्त्वों पर श्रद्धान देव, गुरु, धर्म के प्रति श्रद्धा, सम्यक्त्व-प्राप्ति से।	आत्म-गुणों तथा आत्म-स्वरूप के चिन्तन, मनन, रमण से पर-पदार्थों के प्रति विरक्ति, उदासीनता के अभ्यास से, निरर्थक हिंसादि के प्रत्याख्यान से, अणु-व्रत, नियम, संयम से नव तत्त्वों पर बार-बार मनन करने से, रत्नत्रयरूप धर्म या संवर-निर्जरारूप धर्म के अभ्यास से प्रतिक्रमण से।	आत्म-समाधि में लीनता, ध्यान, मौन, जप, तप, संवर, निर्जरा, पर-भावों के प्रति विरक्ति, संयम में दृढ़ता, समतायोग, निरवद्य प्रवृत्ति प्रत्येक क्रिया में विवेक, यतना आदि महाव्रतों एवं समिति गुप्ति का निरतिचार पालन। दशविध श्रमणधर्म-पालन आदि से, शुभ ध्यान से।	कर्ममुक्ति के लिए सतत अप्रमत्त होकर विचरण, धर्म-जागरण, बाह्याभ्यन्तर तप, कषाय के कारणों से, मोह-ममता से दूर रहना। आलोचना, निन्दना, गर्हणा, प्रायश्चित्त आदि द्वारा आत्म-शुद्धिकरण से।	चारों कषायों के चार-चार प्रकार (१) आभोग-निर्वर्तित (विचारपूर्वक उत्पन्न) (२) अनाभोग-निर्वर्तित (विचारणारहित उत्पन्न) (३) उपशान्त (उदयावस्था को अप्राप्त) (४) अनुपशान्त (उदय प्राप्त)
अकषाय-संवर तथा कर्मनिर्जरा को सफल बनाने का उपाय					चारों कषायों से अष्टविध कर्मों का आस्रव चार कारणों (चार कषायों) से ज्ञानावरणीय आदि ८ कर्मों का चय (कर्मयोग्य पुद्गलों का ग्रहण), उपचय (वेदन के लिए कर्मपुद्गलों का निषेक = रचना करना), बन्ध (चार प्रकार से स्पष्टबद्ध, निधत्त, निकाचित रूप से कर्म-बँधना), उदीरणा, वेदना (भोगना) और निर्जरा त्रिकाल में की जाती है।

प्रत्याख्यान-परिज्ञा से उसका शमन, दमन, निरोध, क्षय आदि करने का पुरुषार्थ करना चाहिए। जब भी क्रोध, मद, अहंकार, माया-कपट और लोभ-स्वार्थ आदि का प्रसंग आए, इनमें से कोई भी कषाय हमला करने को उद्यत हो, मन में क्रोधादि विकार आया हो या आने का लक्षण दीखे तब तुरंत ही सँभलकर उसे शान्त कर देना चाहिए। यदि एक सेकंड भी कोई कषाय तन-मन-वचन के किसी कोने में आ गया और उसे अकषाय-संवर के साधक ने पपोल लिया या अन्तःकरण में घुसने दिया तो वह फिर बेधड़क होकर बार-बार आने और घुसने का प्रयास करेगा। तभी साधक वर्षों से अज्ञात मन में पड़े हुए क्रोधादि कषायों के संस्कारों को उखाड़ सकेगा।

अकषाय-संवर का एक उपाय : उदासीनता–अलिप्तता

अकषाय-संवर की साधना के इच्छुक व्यक्ति को सांसारिक प्रवृत्तियों के प्रति अन्तर से विरक्ति, उदासीनता या उपेक्षातुल्य वृत्ति होनी चाहिए।

पहले हम बता चुके हैं कि चारों कषाय तथा राग, द्वेष, काम, मोह आदि विकार भव (जन्म-मरणरूप संसार) वर्द्धक हैं। इसलिए सांसारिक शुभाशुभ प्रवृत्तियों के प्रति जितनी-जितनी आसक्ति-घृणा, राग-द्वेष, प्रियता-अप्रियता की वृत्ति होगी, उतना-उतना कषाय बढ़ेगा, मोहकर्म का बन्ध बढ़ता जाएगा। इसलिए अकषाय-संवर के साधक को संसार में भी रहते हुए भी पृथ्वीचन्द्र राजकुमार की तरह रागादि-कषायादि विकारों से अलिप्त या पृथक् या उदासीन (विरक्त) रहने का अभ्यास करना चाहिए।

पृथ्वीचन्द्र की सांसारिक प्रवृत्तियों के प्रति निर्लिप्तता कैसी थी ?

समरादित्य और पृथ्वीचन्द्र, ये दोनों राजकुमार थे। इनमें से पृथ्वीचन्द्र को उसके पिता उसके न चाहते हुए भी विवाह-बन्धन में बाँध देते हैं। परन्तु पृथ्वीचन्द्र भवभीरु था, कषाय-निरोध का अभ्यासी था। बाहर से तो उसने सांसारिक वैवाहिक प्रवृत्ति अपनाई, परन्तु अन्तर से वह उन सबसे विरक्त-सा रहता था। माता-पिता को दुःख न हो, इस लिहाज से उसे बहुमूल्य वस्त्राभूषण भी पहनने पड़े। गरिष्ठ-स्वादिष्ट खानपान भी करना पड़ा, पाँचों इन्द्रियों को विषयों का उपयोग भी करना पड़ा। सभा में सुन्दर-सुन्दर गीत भी उसे सुनने पड़े। उसके सामने वाद्य और नृत्य भी होते, जिसे उसे देखने पड़े। परन्तु इन सबको वह बाहर से–अनासक्तभाव से ग्रहण करता, मगर अन्दर से वह अपने आप को पवित्र–जलकमलवत् अलिप्त रखने का प्रयत्न करता था। वह कैसे अलिप्त या पवित्र रहता था, इस विषय में एक कवि कहता है–

"गीत विलाप ने सम गणे, नाटक कायक्लेश, मारा लाल।
आभूषण तनुभार छे, भोग ने रोग गणे छे, मारा लाल॥
चतुर सनेही सांभलो॥"[1]

इसका भावार्थ यह है कि वह गीत को विलाप के समान, नृत्य को काया की विडम्बना, आभूषण को शरीर पर बोझरूप तथा भोग को रोग के समान समझता था। आशय यह है कि जैसे विलाप, कायक्लेश, कायभार और रोग पर रागादि नहीं होते, उसी प्रकार उसे गीत आदि पर रागादि कषायभाव नहीं होते थे।[2]

भरत चक्रवर्ती की कषायों से निर्लिप्तता का रहस्य

तात्पर्य यह है कि बाहर से सांसारिक या पौद्गलिक भौतिक प्रवृत्ति करते हुए भी अन्तर में विरक्ति, अनासक्ति और उदासीनता की निर्मलता रहे, तभी अकषाय-संवर की साधना सार्थक हो सकती है।

भरत चक्रवर्ती को छह खण्ड की राज्यऋद्धि मिली, विशाल सेना, कोष, नौ निधान, चौदह रत्न आदि की समृद्धि मिली, ३२,००० देशों को राजाओं पर आधिपत्य मिला, फिर भी वे इन सबसे निर्लिप्त रहे। क्या उनमें सत्ता, वैभव, समृद्धि आदि का गर्व नहीं आया? क्या उनमें इन सबके होने से भोगों में लिपटने और फँसने का प्रमाद नहीं आया? तीव्र क्रोधादि कषायों से वे कैसे दूर रहे? यही तो खूबी है–सम्यग्दृष्टि आत्मा की।

सम्यग्दृष्टि के जीवन की यही विशेषता है कि वह भोगावली कर्मवश बाहर से उसके पास सत्ता, समृद्धि और भोग सामग्री की प्रचुरता या प्रवृत्ति दिखाई देती है, परन्तु अन्तर से इन सबके प्रति उसमें आसक्ति, रागभाव या अन्धता नहीं होती। इनमें फँसने पर जीव (आत्मा) की परतंत्रता बढ़ती है, यह सोचकर विवेकी सम्यग्दृष्टि इनके प्रति आकर्षित या आसक्त नहीं होता और न ही इनके होने पर गर्व या अहंकार करता है। तात्पर्य यह है कि बाहर से रागादि कषायों की सांसारिक, भौतिक प्रगति या प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होते हुए भी अन्दर से अन्तःकरण को विकृत करने की बात उनमें नहीं थी।[3]

---

१. 'दिव्यदर्शन', दि. ८-९-९० के अंक में विजयभुवनभानुसूरीश्वर जी म. के प्रवचन से भाव ग्रहण, पृ. १०
२. वही, दि. ८-९-९० के अंक से भाव ग्रहण
३. वही, दि. १-८-९० के अंक से भाव ग्रहण

भरत चक्रवर्ती का अकषाय के विषय में चिन्तन

भरत चक्रवर्ती के अन्तःकरण में यह बात भलीभाँति ठस गई थी कि क्या मेरी स्वतंत्रता इस विशाल सत्ता, समृद्धि और भोग-सामग्री पर है? अथवा शुभ (पुण्य) कर्मों के कारण प्राप्त हुई इस समस्त सामग्री को आसक्तिपूर्वक भोगने में है या टिकाने में है? उनकी अन्तर्दृष्टि ने कहा–"नहीं, इनमें से किसी पर मेरी स्वतंत्रता नहीं है, मेरी स्वतंत्रता संसारवर्द्धक रागादि या कषायादि शत्रुओं या कर्मों को दबाने में है। मैं चाहूँ तो इन्हें दबा-मिटा सकता हूँ और चाहूँ तो इन्हें बढ़ा भी सकता हूँ। किन्तु सत्ता, समृद्धि या भोग-सामग्री पाने में या स्वेच्छापूर्वक भोगने में भी मैं स्वतंत्र नहीं हूँ। कर्मों की वक्र दृष्टि हो तो क्षणभर में इन सबका विलय हो सकता है। मेरी इच्छा से न तो ये मिले हैं और न ही मेरी इच्छानुसार असंख्यकाल तक टिके रहने वाले हैं। करोड़ों, अरबों मानव इच्छा करें तो भी ऐसी सत्ता, समृद्धि या भोग-सामग्री नहीं मिलती। मुझसे पहले भी अनेक चक्रवर्ती हुए, उनकी इच्छा के विरुद्ध सारी सत्ता, समृद्धि आदि नष्ट हो गई। इसलिए इनके मिलने या टिकने में जीव की इच्छा किसी काम नहीं आती। जीव (आत्मा) का इसमें कुछ भी स्वातंत्र्य नहीं है। तब फिर इन नश्वर वस्तुओं पर क्यों आसक्ति, आकर्षण या प्रीति की जाए?

"मुझे श्रेष्ठ आत्म-स्वातंत्र्य मिला है, तो क्यों नहीं मैं कषायों तथा कर्मों के कारण चली आई हुई भव-परम्परा का अन्त करने का पुरुषार्थ करूँ? इस श्रेष्ठ स्वतंत्रता का उपभोग करके मैं मोक्ष सुख (सर्वकर्ममुक्ति से प्राप्त आत्मिक आनन्द) और आत्मिक स्वस्थता प्राप्त करूँ, इसी में मेरे जीवन की सार्थकता है। यदि सत्ता, समृद्धि या भोग-सामग्री के आधीन होकर मैं बेखटके इनका उपभोग करने लग जाऊँगा तो इनकी पराधीनता से पूर्वकृत पुण्य तो खोऊँगा ही, साथ ही संवर-निर्जरारूप धर्म से वंचित होकर कषायादि के कारण भव-परम्परा में वृद्धि भी कर लूँगा और फिर इनकी पराधीनता से अस्वस्थता, विह्वलता, संताप, दुःख, दैन्य आदि ही बढ़ेंगे, जिनसे फिर कषायवश कर्मबन्धन करके अनन्त जन्म-मरण की भव-परम्परा ही बढ़ेगी। इसलिए इतनी बड़ी सत्ता, समृद्धि आदि में मेरी (आत्मा की) स्वतंत्रता नहीं और न ही इन्हें टिकाये रखने में मेरी स्वतंत्रता है, फिर मैं क्यों इनके मोह में पड़ूँ, क्यों इनके पीछे पागल होकर अहंकार, लोभ, क्रोध, माया, द्वेष आदि करके कषायों और कर्मों की परतंत्रता स्वीकारूँ? जो आत्मिक स्वतंत्रता मुझे कषाय या रागादि एवं कर्मरूपी आन्तरिक शत्रुओं को दबाने, उखेड़ने, रोकने या नष्ट करने हेतु मिली है, उसे निष्क्रिय रखकर क्यों खोऊँ? क्यों उस श्रेष्ठ स्वातंत्र्य को इन क्षणिक वस्तुओं के प्रति अन्धराग रखकर नष्ट करूँ? अतः मैं अपनी

स्वतंत्रता का रागादि या कषायादि के त्याग तथा कर्मों के क्षय करने में उपयोग करूँ, मोक्ष-प्राप्तिकारक सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रयरूप धर्म का आचरण करने में लगाऊँ; यही मेरे लिए सर्वश्रेष्ठ पराक्रम है कार्य है। अकषाय-संवर के साधक को कर्मों के निरोध एवं क्षय के लिए इसी प्रकार का चिन्तन-मनन और पराक्रम दृढ़तापूर्वक करना चाहिए।"[1]

कषाय-विजय के लिए प्रति क्षण जागृति आवश्यक

साथ ही उसे संवर-निर्जरारूप सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रयरूप धर्म का आचरण करते हुए प्रति क्षण जाग्रत रहकर यह देखते रहना है, इससे मेरे काम, क्रोध, लोभ, अहंकार, मोह, माया, ईर्ष्या, राग-द्वेष, वैर-विरोध आदि कहीं, किसी निमित्त से, किसी भी कोने से प्रविष्ट तो नहीं हो रहे हैं? जिसमें इस प्रकार की जागृति होगी, जिसके सामने लक्ष्य प्रति क्षण चमकता रहेगा, वह मन-वचन-काया से तथा इन्द्रिय-विषयों में यथावश्यक प्रवृत्ति करता हुआ भी अन्तर से सावधान रहेगा, कषायादि को फटकने नहीं देगा।

उसका चिन्तन यह होगा कि एक ओर तो मैं संवर-निर्जरारूप धर्म करके कषायों पर विजय प्राप्त करने तथा उन्हें सर्वथा दूर करने का एवं रागादि-संस्कारों को नष्ट करने का प्रयत्न कर रहा हूँ; परन्तु दूसरी ओर अगर मैं अपनी मानसिक, वाचिक और कायिक प्रवृत्तियों में अंदर ही अंदर कषायों को पोसता रहूँगा, राग-द्वेषादि को बढ़ाता रहूँगा और उनमें सुख मानता रहूँगा, तो फिर उन्हें त्यागने और खदेड़ने का काम बढ़ जाएगा। फिर मुझे अनन्तकाल तक संसार-परिभ्रमण कराने वाले कषायों और कर्मों के इशारों पर नाचना पड़ेगा। कितना महँगा पड़ेगा, कषायों और राग-द्वेषों को पपोलने और अन्तर से उन्हें अपनाने का यह कार्य? इतनी जागृति होगी तो मन-वचन-काया पर अंकुश रहने से अकषाय-संवर के अभ्यास में उत्तरोत्तर वृद्धि होगी, सुसंस्कार दृढ़ होते जाएँगे। इस प्रकार कषायों से आत्मा हलकी और शुद्ध होकर कर्ममुक्ति की साधना में सफलता प्राप्त कर सकेगी।[2]

प्रवृत्तियों में सर्वत्र कषाय-विजय का ध्यान रहे

निष्कर्ष यह है कि मन-वचन-काया की प्रवृत्तियों में जब कषाय-त्याग का ध्यान रखा जाएगा तो कर्मक्षयकारक सद्धर्म की प्रवृत्तियों में तो (तीव्र) कषाय-त्याग तो

---

१. 'दिव्यदर्शन' (प्रवक्ता : विजयभुवनभानुसूरीश्वर जी), दि. १-९-९० के अंक से भावांश ग्रहण, पृ. ५

२. वही, दि. १-९-९० के अंक से भाव ग्रहण, पृ. ५

अनायास ही हो सकेगा। संवर-निर्जरारूप धर्माचरण करने वाले को यह तो समझ ही लेना चाहिए कि मुझे क्रोध-मान-माया-लोभादि कषायों से दूर रहकर ही धर्म करना है।

तात्पर्य यह है कि धर्माचरण कषाय-त्याग के लिए ही करना है और मन-वचन-काया की प्रवृत्तियाँ भी अन्तःकरण को कषायों-नोकषायों से यथाशक्य दूर रखते हुए करना है।

शुद्ध धर्म जब आत्मा को सुधारने = शुद्ध रखने के लिए है तो कषायों को बदस्तूर रखने या उन्हें बढ़ाने से यह नहीं हो सकेगा। धर्माचरण करने से पुण्यवृद्धि तो होती है, मगर आत्मा में पुण्यवृद्धि हो, यह आत्म-शुद्धि या आत्मा का सुधार नहीं है। आत्म-शुद्धि है—आहारादि संज्ञाओं और क्रोधादि कषायों की कलुषितता का कम होना।

शुद्ध धर्म के फल के रूप में इन्हीं से बचने का ध्यान रखना है। फिर उनका प्रभाव आत्मा पर ऐसा डालना है कि उसके द्वारा किसी भी प्रवृत्ति को करते समय अन्तर में संज्ञाओं और कषाओं का सिंचन या पोषण न हो।[1]

अकषाय-संवर की साधना के लिए दो उपाय

अकषाय-संवर के साधक को प्रत्येक कषाय के निरोध के लिए दो तरह से कार्य करना है-(१) अन्तर में उदित हुए कषाय को निष्फल करना, और (२) भविष्य में कोई कषाय उदय में न आये, ऐसा मानस बनाने का काम।

अन्तर में उदित कषाय को निष्फल करने का स्पष्टीकरण

अन्तर में उदित कषाय को निष्फल करने का आशय यह है कि यदि किसी निमित्त से अन्तर में क्रोध, अहंकार, लोभ या माया आदि कषाय भड़क उठा है, तो उससे तुरन्त सावधान होकर उसके योग्य विचार, वचन या व्यवहार की प्रवृत्ति न करना। इस प्रकार मन में उठे हुए क्रोधादि कषाय को सफल न होने देना।

क्रोध को कैसे सफल कर देता है मानव ?

मान लीजिए-किसी व्यक्ति को सकारण या अकारण किसी पर मन में क्रोध का ज्वार आया। उसके पश्चात् यदि वह उसे निष्फल न करके मन में ऐसे विचारों की तरंगें उठाता है कि "यह हरामी है, दुष्ट है, शत्रु है, मेरा कितना नुकसान कर दिया इसने? या मुझे इसने बर्बाद कर दिया है; ऐसे व्यक्ति को तो पूरा मजा चखा देना चाहिए; यह हरामखोर क्या समझता है अपने मन में ! सेर पर सवा सेर

---

१. 'दिव्यदर्शन', दि. ८-९-९० के अंक से भाव ग्रहण, पृ. १००

बनकर तुरन्त सुना दूँ कि मैं कायर नहीं हूँ। इसके दो-चार थप्पड़ लगाकर सीधा कर दूँ। इसका ऐसा अयोग्य व्यवहार कैसे सहन किया जा सकता है? ऐसे ही चुपचाप सह लेने से तो यह और उद्दण्ड बनेगा, मेरा बिगाड़ ही करता रहेगा।" ऐसी और इस प्रकार की क्रोधोत्तेजक विचारणा चलाने से तो क्रोध सफल ही होगा। इसी प्रकार के क्रोध भड़काने वाले बोल बोले जाएँ, इसके आगे बढ़कर भौंहें चढ़ाकर मुँह लाल करके उसे फटकारा जाये अथवा प्रकारान्तर से उसकी निन्दा, चुगली करके दूसरों को उसके प्रति भड़काया जाये अथवा चाहे जिस प्रकार से उसका नुकसान कराया जाये इत्यादि सब प्रकार क्रोध को वाणी और व्यवहार से सफल करने के हैं। इस प्रकार क्रोध को मन-वचन-काया से ऐसी चालना देना, क्रोध को सफल करना है, जो भयंकर दुष्परिणाम का संवाहक होता है।

क्रोध का तत्काल शमन करने के बजाय सफल करने का दुष्परिणाम

चण्डकौशिक सर्प बनने वाले साधु को अपने पैर के नीचे मेंढक के दब जाने या कुचल जाने के सम्बन्ध में प्रायश्चित्त के लिए सावधान करने वाले शिष्य पर मन ही मन क्रोध का उत्ताप बढ़ा, वचन से क्रोध भड़काने वाले वचन निकले और साथ ही साथ काया से शिष्य पर प्रहार करने की असफल चेष्टा भी हुई, इस प्रकार उन्होंने क्रोध का तुरन्त शमन करने की कोई गुंजाइश ही न रखी। इसके भयंकर दुष्परिणामवश उन्हें सर्प की योनि मिली। यह सब हुआ, मन में उठे हुए क्रोध को पूर्णतया सफल करने का भयंकर कृत्य।[1]

सामान्य क्रोध भी विचारणा की खुराक देने से प्रबलतर हो जाता है

निष्कर्ष यह है कि अन्तर में उठे हुए सामान्य क्रोध को तद्योग्य विचारणा की खुराक देने से क्रोध अधिकाधिक प्रबल और तीव्र होता है। उसमें फिर वाणी और चेष्टा मिल जाये, तो कहना ही क्या? क्रोध इस प्रकार पूर्ण सफल हो जाता है। फिर उस पर ब्रेक लगाना सम्भव नहीं होता। क्रोध की ऐसी सफलता में व्यक्ति यह नहीं देखता-सोचता है कि इसका स्थान या पद कौन-सा है, मेरा स्थान या पद कौन-सा? जिसके प्रति क्रोध तीव्ररूप से उभरता है, वह भले ही पिता हो, माता हो, गुरु हो और कोई पूज्य-स्थानीय हो, उसके खिलाफ अनिच्छनीय वर्ताव करते हुए वह जरा भी नहीं हिचकता। यहाँ तक कि जिस पर वह क्रोध करता है, उसे मार डालने तक के विचार तक पहुँच जाता है।

---

१. 'दिव्यदर्शन', दि. ८-९-९० के अंक से भाव ग्रहण, पृ. ११

क्रोध की तरह ही मन में उठे हुए लोभ, काय, भय, ईर्ष्या, माया और अहंकार आदि कषाय-नोकषायों को सफल करने की भयंकर विचारणा कषायात्मा जीव करता है। इस तरह की कुविचारणा का नतीजा यह होता है कि दूसरे ऐसे क्रोधादि कर्म को आसानी से, जरा-से सामान्य निमित्त से भी उदय में आने का अवसर मिल जाता है।

क्रोध को सफल करने से नये कर्मों के उदय को अवकाश

जीवन-व्यवहार में प्रायः ऐसा अनुभव होता है। गुमाश्ते को सेठ ने दुकान में डाँटा-फटकारा, उसका वेतन काट लिया या पाँच आदमियों के बीच में उसका अपमान कर दिया, तो उसे गुस्सा चढ़ जाता है। घर पहुँचने तक उस गुस्से की विचारणा चलती है। उस गुस्से को वह अपनी पत्नी, पुत्र-पुत्री या पुत्रवधू पर उतारता है। उनमें से किसी की सामान्य भूल पर अत्यन्त क्रोध भड़क उठता है। यह क्या हुआ? पहले के क्रोधकर्म को तद्योग्य विचारणा से सफल किया, इसलिए नये कर्म को उदय में आ धमकने को अवकाश मिल गया।

विभिन्न कषायों की गुलामी से आत्मघातक पुरुषार्थ का सिलसिला

इसी प्रकार मन में लोभ, अहंकार, माया, स्वार्थ, द्वेष आदि किसी भी कषाय-नोकषाय के उठते ही जीव इनका गुलाम बनकर इनके इशारे पर भयंकर विचारणा करता है, रौद्रध्यान के वश हो जाता है, फिर वचन और वर्ताव से भी प्रवृत्ति करने लगता है। कषाय के गुलाम बने हुए जीव के लिए कषायकर्म के नये-नये ऑर्डर छूटते हैं और कषाय-ज्वाला अधिकाधिक तीव्र होकर भड़क उठती है। जगत् में रहते हुए कषायों के निमित्त तो पद-पद पर मिल जाते हैं। कुटिल कषाय कर्म जीव के अन्दर ही अन्दर क्रोध, लोभ आदि की चिनगारियाँ भड़काता रहता है, मोहमूढ़ कषायदास जीव उस पर विचार, वाणी और वर्ताव का आत्मघातक पुरुषार्थ करता जाता है। यही कषायों की गुलामी दशा है।[1]

ऐसा आत्मघातक कुपुरुषार्थ करने के लिए जीव को क्या कोई जबरन बाध्य करता है? नहीं, जैन-कर्मविज्ञान के अनुसार किसी प्रकार का, किसी दिशा में पुरुषार्थ करने के लिए जीव स्वतन्त्र है। पहले तो कषायकर्म के कारण मन में ही उसका उभार आता है, अर्थात् मन में कषाय का भाव जागता है, इतना ही; तत्पश्चात् उस विचारणा को आगे बढ़ाना या न बढ़ाना, ऐसी वाणी बोलना या न बोलना, ऐसा निकृष्ट वर्ताव करना या न करना, यह तो जीव के अपने हाथ में है।

---

१. 'दिव्यदर्शन', दि. ८-९-९० के अंक से भाव ग्रहण, पृ. ११-१२

इस विषय में वह स्वतन्त्र है। यदि किसी कषाय के मन में उदित होते ही व्यक्ति को उसे सफल करने योग्य विचारणादि न करना हो तो उसे कोई बाध्य नहीं करता। वह उस समय तत्काल वीतराग प्रभु या किसी अकषायी महापुरुष की कषायमुक्ति की विचारणा करने लगे, परमात्मा के जीवन का विचार करने या पंच-परमेष्ठी का नामस्मरण करने लग जाये तो उसे कौन रोकता है? वह स्वतन्त्र है ऐसे सत्पुरुषार्थ द्वारा उदित कषाय का निरोध करके उसे निष्फल बनाने में।

निष्कर्ष यह है कि मन में किसी भी कषाय के उठते ही कषायवर्द्धक विचार, वाणी, वर्तन बन्द करके वीतराग प्रभु के चरित्र आदि के चिन्तन में लग जाने से वह कषाय निष्फल हो जायेगा।

अकषाय-संवर का साधक उस समय यह विचार करे कि पूर्वकर्मवश अन्तर में कषायभाव के उठने में तो मैं स्वतंत्र नहीं हूँ, किन्तु उठने के बाद शुभ या शुद्ध परिणाम (अध्यवसाय) करने में तो मैं स्वतन्त्र हूँ। इस स्वातंत्र्य के अधिकार की दृष्टि से मैं शुभ या शुद्ध वीतरागता या आत्म-स्वरूप की विचारणा करने का पुरुषार्थ करूँ ! ऐसा करने से मन में उदित क्रोधादि कषाय स्वतः ही निष्फल हो जायेंगे।[1] वे वहीं रुक जायेंगे। आगे नहीं बढ़ेंगे।

कषाय-निरोध का दूसरा उपाय

कषाय-निरोध का दूसरा उपाय है–जो कषायकर्म अभी सत्ता में पड़े हैं, उनका अबाधाकाल पूर्ण होने पर वे उदय (विपाक) में आने वाले हैं। उस विपाकोदय को (उदय में आने से पहले ही) रोक देना।

कर्मसिद्धान्त के अनुसार कषायकर्म दो प्रकार से उदय में आता है–(१) विपाकोदय से, और (२) प्रदेशोदय से। विपाकोदय में कर्म का विपाक यानी रस अनुभव (भोगने) में आता है। उदाहरणार्थ–उग्र रस वाले क्रोधमोहनीय कर्म का जब विपाकोदय होता है, तब उसके उग्र रस का अनुभव होता है, अर्थात् मन को उग्र क्रोध का अनुभव होता है, हृदय में उग्र क्रोध का भाव जागता है। इसी तरह लोभादि मोहनीय कर्म का विपाकोदय हो तो लोभ आदि भाव मन में जाग जाते हैं। प्रदेशोदय में सिर्फ कर्म के प्रदेश (कर्म-पुद्गलों का जत्था) आत्मा के साथ श्लिष्ट होकर यों ही शान्त पड़े रहते हैं। जब वे कर्म-प्रदेश उदय में आते हैं, तब रसानुभव हुए बिना भोगे जाते हैं, फिर वे आत्म-सम्बन्ध से पृथक् हो जाते हैं। इसे ही प्रदेशोदय कहते हैं। प्रदेशोदय में केवल कर्मदल का ही उदय है, उसके विपाक या रस का उदय (अनुभव) नहीं है। दिल में क्रोध, मान, लोभ आदि का भाव जाग्रत

---

१. 'दिव्यदर्शन', दि. ८-९-९० के अंक से भाव ग्रहण, पृ. ११-१२

नहीं होता। ऐसे भाव जागे बिना ही कर्मदल की निर्जरा (क्षय) हो जाती है। आत्मा से कर्मदल पृथक् हो जाते हैं।[1]

प्रदेशोदय का चमत्कार

जिन वीतराग महानुभावों के कषायों का सर्वथा क्षय हो जाता है, चार घात्यकर्म नष्ट हो जाते हैं, उनके भवोपग्राही चार अघात्यकर्म शेष रहते हैं। प्रदेशोदय जब होता है तो रसानुभव तो होता ही नहीं, दो या तीन समय में ही वे कर्मप्रदेश आत्मा से पृथक् हो जाते हैं।

छद्मस्थों के लिए कषायों का क्षय आदि का उपाय

परन्तु जो अभी छद्मस्थ हैं, उनके कषाय-नोकषाय-मोहनीय कर्म जब तक सत्ता में पड़े रहते हैं, तब तक वे छद्मस्थ भी उन कषायों को शुभ अध्यवसायों से, उपशान्त, मन्द या निरुद्ध कर सकते हैं तथा शुद्ध अध्यवसायों से, आत्म-स्वरूप में स्थिरता व रमणता से उनका आंशिक क्षय (निर्जरा) कर सकते हैं। क्षमा, मार्दव, आर्जव एवं संतोष आदि की साधना से, समभावपूर्वक उपसर्गों, परीषहों, कष्टों, दुःखों आदि को सहन करके वे कषायों पर विजय प्राप्त कर सकते हैं। उद्वर्तन, संक्रमण, रूपान्तरण, उदात्तीकरण, अल्पीकरण या क्षयीकरण आदि की प्रक्रिया द्वारा कषायों का क्षय, क्षयोपशम, उपशम एवं अशुभ का शुभ में रूपान्तरण किया जा सकता है।

विपाकोदय को रोकना कैसे हो ?

सारांश यह है कि उदय में नहीं आये हुए कषायकर्म के विपाकोदय को रोकना ताकि वह प्रदेशोदय से उदय में आये, फिर भी उसके रस का अनुभव न हो। जैसे–एक ग्लास शर्बत के मीठे पानी में एक चम्मच चिरायते का पानी मिलाकर पीया जाता है तो उसमें चिरायते के कटु रस का अनुभव नहीं होता, केवल शर्बत के मधुर रस का ही अनुभव होता है, इसी प्रकार जब किसी प्रबल शुभ कर्म रस का अनुभव चालू होता है, तब उस उदय प्राप्त कषायकर्म रस का स्वतंत्र रूप से अनुभव नहीं होता, अर्थात् वह कषायकर्म प्रदेशोदय द्वारा बिना अशुभ रसानुभव के भोगा जाता है।

कषायकर्मों के विपाकोदय को रोकना कषाय को जाग्रत होने से रोकना है

इसे व्यावहारिक दृष्टान्त द्वारा समझिये। किसी ने किसी व्यक्ति को

---

१. 'दिव्यदर्शन', दि. ८-९-९० तथा दि. १५-९-९० के अंक से भाव ग्रहण

अपमानजनक शब्द कह दिये। उससे मन में गुस्सा आ गया, परन्तु वहाँ किसी धर्मगुरु या व्रती धर्मनिष्ठ श्रावक ने उसे युक्ति से एवं तत्त्वज्ञानपूर्वक समझाया, तो उसका क्रोध दब गया या मंद हो गया। अब उसके मन में थोड़ी-सी कचकचाहट है, मगर उग्रता नहीं है। इसका अर्थ यह है कि अधिक रस वाले, क्रोध मोहनीय कर्म का विपाकोदय चला और वे मन्द रस वाले कर्म उसमें शामिल हो गये। इसलिए सिर्फ प्रदेशोदय से ही वे भोगे गये, उनका विपाकोदय स्थगित हो गया। इसी प्रकार अधिक रस वाले लोभ मोहनीय कर्मों का मन्द रस वाले में स्तिवुक-संक्रमण करने से उनका विपाकोदय दब गया, उक्त मंद रस वाले के साथ प्रदेशोदय से वह कर्म भोगा गया। उदय-अप्राप्त कर्म के विपाकोदय को रोकने का ही नाम उदय को रोकना है, अर्थात् कषाय को जाग्रत होता–उग्र रूप लेता रोकना है। फिर भले ही प्रदेशोदय के रूप में वह उदय में आये, उसमें कोई खतरा नहीं है।[1]

कुछ अनुप्रेक्षाओं, भावनाओं से कषाय कर्मों का निरोध सम्भव

निष्कर्ष यह है कि क्रोधादि कषाय, नोकषाय आदि मोहनीय कर्म के उदय को कैसे निष्फल करना, सफल न होने देना तथा उदय में नहीं आये हुए कषाय कर्मों के उदय = विपाकोदय को कैसे रोक देना? इस विषय में चाबीरूप कुछ भावनाएँ–अनुप्रेक्षाएँ हैं, जिन्हें अन्तःकरण में स्फुरायमाण रखने से प्रत्येक कषाय और नोकषाय निष्फल किये जा सकते हैं और नये आते हुए कषायों-नोकषायों के उदय (विपाकोदय) को रोका जा सकता है। मूल चिन्तन यह है कि दूसरा कोई अहंकार, क्रोध, स्वार्थ (लोभ) आदि का प्रयोग अपमान, आक्रोश, ताड़न-तर्जन, ठगी आदि के रूप में करता हो, उस समय यदि प्रतिक्रोध, प्रतिआक्रोश, प्रत्यपमान आदि किया जाये तो उसमें अपनी आत्मा का अधिक बिगड़ने वाला है, वैर-परम्परा बढ़ने का भी खतरा है, अपने धर्म से भ्रष्ट-च्युत होने की भी संभावना है।[2]

दूसरों के प्रति क्रोधादि करके अपने अन्तर को मत बिगाड़ो

क्रोधादि कषायों को रोकने का सरल उपाय यह भी है कि जब कोई तेरा अपमान करता है तो तू क्रोध करने लग जाता है अथवा जब कोई तेरे से छोटा या निर्धन व्यक्ति तेरी अवज्ञा करता है तो तेरा अहंकार भड़कने को उद्यत होता है, जब कोई तेरे साथ झूठ-फरेब या ठगी करता है तो उससे बदला लेने के लिए तू भी ठगी या झूठ-फरेब करने को उद्यत होता है अथवा तेरे किसी स्वार्थ का हनन होता है तो तू उससे स्वार्थसिद्धि का दाव खेलने को तैयार होता है, दूसरे की

---

१. 'दिव्यदर्शन', दि. ८-९-९० तथा दि. १५-९-९० के अंक से भाव ग्रहण

२. वही, दि. १५-९-९० के अंक से भाव ग्रहण

उन्नति तेरी आँखों में खटकती है और तू ईर्ष्या, द्वेष करके उसकी हानि, निन्दा या बदनामी करना चाहता है, उस समय यह चिन्तन कर कि दूसरा तेरे प्रति अमुक-अमुक दुर्व्यवहार करता है, उसमें अधिक तो दूसरे का ही बिगड़ा है, तेरी छवि जरा धुँधली पड़ी है, परन्तु उससे तेरी आत्मा का कोई नुकसान नहीं हुआ, फिर भी कषायमोहनीय कर्म के उदयवश तेरा बाह्यरूप दूसरे ने जरा-सा बिगाड़ा है, वह तेरे वश का नहीं, पूर्वकृत कर्माधीन है। यह बाहर का बिगाड़ तेरे काबू से बाहर है, जबकि क्रोध करना या न करना तथा अहंकार, छलकपट, स्वार्थसिद्धि, ठगी, ईर्ष्या, द्वेष, भय आदि करना या न करना तो तेरे वश की बात है। दूसरों के कारण तेरा बाहर का किंचित् बिगड़ा, उसमें तो तेरी विवशता है, परन्तु तू प्रतिक्रोध आदि कषाय करके स्वयं अपने हाथ से अपना बिगाड़ करता है, यह तेरी कितनी मूर्खता है। यह तो कषायों पर विजय पाने के बदले कषायों से पराजित होना है। धवल सेठ ने श्रीपालकुमार के साथ कितना दुर्व्यवहार किया, परन्तु श्रीपाल ने उसके प्रति क्रोध, अहंकार, छलकपट या ईर्ष्या-द्वेष आदि करके अपने अन्तर को नहीं बिगाड़ा, बल्कि उसके साथ सद्व्यवहार ही किया।[1]

क्रोधादि करने से सामने वाले में असद्भाव, अप्रीति, सेवाभाव हानि होती है

क्रोधादि कषाय करने से कदाचित् सामने वाला निर्बल हो तो दब जाय, वह क्रोधादि न करे, परन्तु उसके अन्तःकरण में क्रोधादि करने वाले के प्रति सद्भाव, विश्वास या श्रद्धा का भंग हो जाता है। अगर सामने वाला दबे नहीं और वह भी उफने-उछले और उसमें भी क्रोध-अहंकार आदि जाग्रत हो या बढ़े; इससे बाहर का एक बिगड़ा से बिगड़ा, क्रोध करके बाहर के दूसरे को भी बिगाड़ने का काम क्यों किया जाये? उससे फिर वैर-परम्परा बढ़ने और सामने वाले की क्रोधादि कषायकर्त्ता के प्रति असद्भाव बढ़ने तथा प्रेमभाव, सेवाभाव घटने की भी संभावना है। अतः क्रोधादि कषायों से अपनी और दूसरों की बाह्य हानि तो है ही, आन्तरिक हानि जबर्दस्त है, जोकि घोर अशुभ कर्मबन्धक है।[2]

क्षमादि की आराधना करके दुर्लभतम जिन-वचन-प्राप्ति को सफल करना चाहिए

कषाय-विजय के लिए एक विचार यह भी किया जा सकता है–जिन-वचन या जिनाज्ञा है–समय आने पर क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, उपशमभाव, समताभाव में

---

१. 'दिव्यदर्शन', दि. १५-९-९० के अंक से सार ग्रहण, पृ. २०
२. वही, दि. २७-१०-९० के अंक से भाव ग्रहण, पृ. ५०

दृढ़ रहने की। दुर्लभतम जिन-वचन मुझे अतिशय पुण्ययोग से मिला है। अब अगर मैं अतिदुर्लभ जिन-वचन को पाकर इसकी आराधना नहीं करता हूँ तो मेरा मनुष्य-जन्म सार्थक नहीं होगा, जिनेन्द्र भगवान का भक्त कहलाना भी व्यर्थ होगा। अतः क्षमा आदि जिन-वचनों का पालन करने में मेरी आत्मा स्वतन्त्र है, समर्थ है, मुझे अत्यन्त लाभ भी है, फिर क्रोधादि कषायों का निमित्त मिलने पर भी मुझे क्षमादि की आराधना करके जिन-वचन-प्राप्ति को सफल करना चाहिए, जिनेन्द्र-भक्त कहलाने का गौरव और अधिकार भी मुझे तभी प्राप्त होगा।[1]

पद-पद पर क्रोधादि कषाय करने वाले में वीतराग धर्म की समझ कहाँ ?

क्रोधादि कषायों को उपशान्त करने या रोकने का एक उपाय यह भी है कि वीतराग प्रभु के धर्म को मैंने समझा है, श्रद्धा-भक्ति, प्रतीति और रुचिपूर्वक अंगीकार किया है, वीतरागता-प्राप्ति के लिए मुझे मनुष्य-जन्म, उत्तम कुल, स्वस्थ शरीर, आर्यक्षेत्र, उत्तम धर्म आदि सभी साधन मिले हैं, इतना होने के बावजूद भी अगर मैं क्रोधादि कषाय-नोकषाय पद-पद पर करता हूँ, तो एक तो वीतरागता-प्राप्ति के प्रति लापरवाह बनता हूँ, वीतराग प्रभु के प्रति गैर-वफादार बनता हूँ, इससे मेरी जैनधर्म के प्रति श्रद्धा, समझ और भक्ति भी खण्डित होती है। अतः अगर हम वीतराग के धर्म को समझकर भी शान्त, उदार, पवित्र, सन्तोषी, सरल, मृदु (नम्र) बनने के बदले क्रोधी, कृपण, लोभी, कुटिल, अभिमानी आदि बनते हैं तो हमने धर्म को समझा ही कहाँ? तीव्र क्रोधादि करने में हमारी धर्म की समझदारी खण्डित होती है, हम उच्च-उच्चतर गुणस्थान पर आरोहण करने के बदले निम्न-निम्नतर गुणस्थान की कक्षा में उतर जाते हैं।

हमारे पूर्वज महापुरुषों ने तो समय आने पर क्षमादि धर्म का परिचय देकर धर्म की समझ बरकरार रखी है, तुच्छ अहंकार, रोष, द्वेष आदि कषायों को हृदय से निकाल फेंका है।[2]

पुण्य बेचकर कषायों को खरीदने से सावधान

अब एक मुद्दा और रह जाता है—पुण्य बेचकर कषायों को खरीदने के मूर्ख धन्धे को रोकने का। अकषाय-संवर के साधक को अपना अन्तर्निरीक्षण-परीक्षण करते रहना है कि पूर्वकृत पुण्य से अनेक प्रकार की सुख-सामग्री, समृद्धि, सुविधा, सम्मान, प्रतिष्ठा, अच्छा संस्कारी परिवार आदि मिले और मिलते हैं, किन्तु व्यक्ति

---

१. 'दिव्यदर्शन', दि. २७-१०-९० के अंक से भाव ग्रहण, पृ. ५०

२. वही, दि. २७-१०-९० के अंक से भाव ग्रहण

इन्हें पाकर एक या दूसरे प्रकार से अभिमान, क्रोध, लोभ, कपट, द्वेष, ईर्ष्या आदि कषायों का पोषण करता रहता है। यह एक तरह से पुण्य बेचकर कषायों का सौदा करने जैसा है। जैसे–किसी व्यक्ति को सम्पत्ति मिली। सम्पत्ति, जमीन-जायदाद आदि मिलने पर वह अभिमान करता है, चली जाने पर विषाद (शोक) करता है, सम्पत्ति की रक्षा के लिए रात-दिन चिन्ता या भय करता है, दूसरे से खुद को सम्पत्ति कम मिली तो उद्विग्नता-दीनता करता है, धन को ममत्वपूर्वक संग्रह करने की वृत्ति है, लोभवृद्धि करता है, सम्पत्ति को अपने ही मौज-शौक करने या विषयभोगों के सेवन में ही लगाने की स्वार्थवृत्ति या आसक्ति है। इस प्रकार पुण्य को बेचकर व्यक्ति कषायों को खरीदता है।

पास में पैसा है, सत्ता है, पद भी है, परन्तु अपने अधीनस्थ नौकर-चाकर, पत्नी, पुत्र आदि को बात-बात में दबाता, धमकाता, सताता और रौब जमाता है, दूसरों का तिरस्कार-अपमान करता है। ऐसा करके व्यक्ति अपने पुण्य को खर्च करके अभिमान, क्रोध, गाढ़ धन मूर्च्छारूपी कषाय खरीदता है।

पुण्यबल से अच्छा खानपान मिलता है, परन्तु उस पर राग, आसक्ति, रसगारव (अहंकार) आदि करता है कि हम तो ऐसा ही सरस–स्वादिष्ट खाते हैं, थर्ड क्लास नहीं, तो अभिमान को अपनाया। सुन्दर फ्लेट मिला, एयर कण्डीशन रूम मिले हैं, फर्नीचर से मकान सुसज्जित है, कार है, बंगला है, सभी प्रकार के सुख के साधन, सुविधा, अनुकूलता आदि भी पुण्यबल से मिले हैं।

पर मन में इन वस्तुओं का अभिमान है, दूसरों का तिरस्कार है, तो ऋद्धिगारव-सातागारव रूप मान और लोभकषाय खरीद लिये।

पुण्ययोग से अच्छी जाति, कुल, बल, रूप, वैभव, लाभ, ऐश्वर्य आदि मिलने पर इन पर आसक्ति हो, अहंकार हो, दूसरों के प्रति तिरस्कारभाव हो, ईर्ष्या-द्वेष हो तो क्रोधादि कषायों को खरीद लिया, समझो। अकषाय-संवर के साधक को इन और ऐसे पुण्य प्राप्त साधनों को पाकर मुफ्त में कषायों का उपार्जन नहीं करना चाहिए। प्राप्त साधनों का उपयोग समभावपूर्वक करने का प्रयत्न करना चाहिए। यदि इस प्रकार कषायों के संस्कार पुष्ट हो गये तो अशुभ कर्मबन्ध होकर भव-परम्परा ही बढ़ेगी, कुगति में भटकना पड़ेगा।[1] अतः कषाय छोड़ो।

●●

१. 'दिव्यदर्शन', दि. १५-९-९० के अंक से भाव ग्रहण, पृ. १८

३

कषायों और नोकषायों का प्रभाव और निरोध

कषाय और नोकषाय क्या हैं ? वे क्या अनिष्ट करते हैं ?

कषाय और नोकषाय ये दोनों ही जन्म-जन्मान्तर से आत्मा के साथ लगे हुए हैं, इनका मन में पूर्वकर्मवश उदय होते ही अगर अकषाय-संवर और कर्ममुक्ति की साधना करने वाला सावधान–जाग्रत न रहे तो ये कषाय और नोकषाय संसार के जन्म, जरा, मृत्यु, व्याधि-आधि-उपाधिरूप दुःखों में बार-बार भटकाते हैं।[1] उसे अगणित जन्मों तक सद्बोधिलाभ नहीं मिल पाता और न ही कषाय-नोकषायों का उपशम, क्षय या क्षयोपशम करने के लिए कोई प्रेरक निमित्त ही मिल पाता है। फलतः कषायों और नोकषायों के बार-बार आक्रमण के कारण मोहमूढ़ हिताहित विवेकशून्य बना हुआ जीव बार-बार पराजित और विराधक होकर विविध गतियों और योनियों में चक्कर खाता रहेगा। इसीलिए 'बृहत्कल्पसूत्र' में कहा गया है–"जो कषायों और नोकषायों का उपशमन कर लेता है, वही आराधक है; जो इनका उपशमन नहीं करता, वह विराधक है, क्योंकि श्रमण संस्कृति का सार उपशम है।"[2]

'दशवैकालिक निर्युक्ति' में कहा गया है–"श्रमण धर्म का अनुचरण करते हुए जिस साधक के क्रोधादि कषाय उत्कट हैं, उसका श्रमणत्व वैसा ही निरर्थक है, जैसा कि ईख का फूल। तथा जिस तपस्वी ने कषायों को निगृहीत नहीं किया, वह बाल तपस्वी है। उसके द्वारा तपरूप में किये गये सभी काय कष्ट हस्ति-स्नान की

---

१. (क) चारित्र-परिणाम-कर्षणात् = घातनात् कषायः। –*राजवार्तिक ९/७/११/६०४*

(ख) क्रोधादि-परिणामः कषति हिनस्ति आत्मानं कुगति-प्रापणादिति कषायः।

–*वही ६/४/२/५०८*

(ग) सुह-दुक्खं बहुसस्सं कम्मखित्तं कसेइ (जोतते हैं), संसारगदी-मेरं (मेंडरूप) तेण कसाओ त्ति णं विंति। –*पंचसंग्रह (प्रा.) १/१०९*

२. जो उवसमइ अत्थि तस्स आराहणा, जो न उवसमइ, नत्थि तस्स आराहणा।

–*बृहत्कल्पसूत्र तथा कल्पसूत्र, खण्ड ४*

तरह व्यर्थ हैं। अतः पूर्वबद्ध कर्मों के क्षय (निर्जरा) के लिए अकषाय-संवर (कषाय-निरोध) ही श्रेयस्कर है, आत्म-शुद्धिकारक है।"[1]

कषाय और नोकषाय के प्रकार

आगम में कषाय के मुख्यतया ४ भेद बताये हैं–क्रोध, मान, माया और लोभ। नोकषाय कषाय के ही उपजीवी या उत्तेजक हैं, उनके ९ भेद हैं–हास्य, रति-अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद-पुरुषवेद-नपुंसकवेद (कामत्रय)।

अब हम कषाय के प्रत्येक अंग से होने वाली हानियों और उसे किस-किस प्रकार से कैसे शान्त किया जा सकता है? उससे कैसे बचा जा सकता है? इस विषय में प्रकाश डालेंगे।

क्रोध : प्रत्यक्ष ही सब कुछ बदलने वाला तस्कर

कषाय का पहला अंग है–क्रोध। इसका द्वेष, घृणा, अरुचि, वैर-विरोध, ईर्ष्या, आवेश, रोष और कोप आदि से गहरा सम्बन्ध है। क्रोध को कौन नहीं पहचानता? इसे सीखने के लिए किसी पाठशाला में नहीं जाना पड़ता। क्रोध के संस्कार एक छोटे-से बच्चे में भी दिखाई देते हैं। जब भी माता-पिता ने उसके मन के प्रतिकूल बात, चाहे वह उसके हित की ही हो, कह दी कि तुरन्त बच्चा रोष में आकर पैर पछाड़ने लगेगा, माँ-बाप के चपत लगाने और कपड़े खींचने की कोशिश करेगा। जब भी किसी को क्रोध आता है, तो उसे या दूसरों को तुरन्त पता चल जाता है, हमारे होश में वह आता है, बुलाते हैं, तब आता है। क्रोध के आने के बाद भी मालूम हो जाता है कि चोर घुस गया है। क्रोधाविष्ट की आँखें लाल हो जाती हैं, होठ फड़कने लगते हैं, हृदय की धड़कन भी बढ़ जाती है, हाथ-पैर भी काँपने लग जाते हैं, शरीर गर्म होने लगता है, रक्त भी गर्म होने लगता है, शरीर का संतुलन भी बिगड़ जाता है, आवाज में तेजी और गर्मी आ जाती है, शब्दों पर नियन्त्रण नहीं रहता, आवेग और आवेश दोनों ही स्वर की गति बढ़ा देते हैं। मुख से प्रायः अपशब्दों की भरमार और बौछार शुरू हो जाती है। कभी-कभी क्रोधावेश में हाथापाई, गाली-गलौज, मारपीट आदि पर भी व्यक्ति उतर जाता है। शब्दों के तीर बिना निशाना ताके व्यक्ति चलाता रहता है। बिना निशाने के भी क्रोधावेश में

---

१. सामण्णमणुचरंतस्स कसाया जस्स उक्कडा होंति।
मन्नाणि उच्छुफुल्लं व निप्फलं तस्स सामन्नं॥३०१॥
जस्स वि अ दुप्पणिहिआ होंति कसाया।
सो बालतवस्सी वि व गय-ण्हाण-परिस्समं कुणइ॥३००॥ –*दशवैकालिक निर्युक्ति ३०१, ३००*

निकले हुए शब्द दूसरे के कलेजे के टुकड़े-टुकड़े कर देता है। शस्त्रों का घाव तो फिर भी इलाज से मिट जाता है, किन्तु शब्दों की चोट का घाव वर्षों तक, कभी-कभी जिन्दगीभर तक मिलता-भरता या मिटता नहीं, वह मर्मस्पर्शी शब्दों का प्रहार दूसरे को संतप्त, बेचैन एवं बुरी तरह से मर्माहत कर देता है। स्वयं की मानसिक स्वस्थता, शान्ति एवं गम्भीरता तो नष्ट होती ही है, तनाव, उद्विग्नता, बेचैनी, व्याकुलता आदि बढ़ जाती है। दिमाग की नसें तन जाती हैं। क्रोधावेश के कारण कई बार रक्तचाप, हृदय का दौरा बढ़ जाता है। शारीरिक क्षमता को लाँघकर जब क्रोध अतितीव्र हो जाता है तो उससे मस्तिष्क की नस भी फट जाती है, ब्रेन-हेमरेज हो जाता है। क्रोधावेश में आदमी अन्धा हो जाता है, उसे अपने हितैषी, मित्र, परिजन, स्वजन या गुरुजन का भी ध्यान नहीं रहता। शारीरिक शक्ति न होते हुए क्रोधाविष्ट मानव जो भी शस्त्र, लाठी, ढेला, पत्थर या डण्डा हाथ में आया, उठाकर सामने वाले पर फेंक देता है। एक मनोचिकित्सक का कहना है कि क्रोध में व्यक्ति की शारीरिक शक्ति दस गुनी और मानसिक शक्ति बीस गुनी अधिक नष्ट हो जाती है। क्रोधावेश में मनुष्य अपने आपे को नहीं सँभाल पाता। उसकी परिवार, समाज एवं ग्राम-नगर प्रतिष्ठा समाप्त हो जाती है। क्रोधी से बात करने या उसके साथ व्यवहार करने में लोग कतराते हैं। घण्टे-दो घण्टे बाद जब उसका क्रोध ठण्डा पड़ता है, तब बेचारा थककर लोथ-पोथ हो जाता है, वह अपने किये पर पछताता है। वह शराबी की तरह एक जगह मुर्दे की तरह पड़ जाता है। क्रोधावेश में मनुष्य भान भूल जाता है। विनय, विवेक, मर्यादा सबको वह ताक में रख देता है। 'प्रश्नव्याकरणसूत्र' के अनुसार-"क्रोधान्ध मनुष्य सत्य, शील और विनय को नष्ट कर डालता है।" 'भगवती आराधना' में कहा गया है-"क्रुद्ध मानव राक्षस की तरह मनुष्यों में भयंकर मानव बन जाता है।" क्रोध से मनुष्य का हृदय रौद्र बन जाता है। वह मनुष्य होते हुए भी नारक जैसा आचरण करने लग जाता है।

शूद्र जन्मजात चाण्डाल, पर क्रोधी कर्म से चाण्डाल

वर्ण-व्यवस्था के अनुसार चाण्डाल के घर में जन्मा हुआ तो जन्मजात चाण्डाल कहलाता है, शूद्र भी, क्योंकि वह चोरी, जुआरी, शिकार, माँसाहार, मद्यपान आदि निन्द्य कर्मों में बेखटके रत रहता है। परन्तु जो बात-बात में तीव्र क्रोध, प्रचण्ड रोष, भयंकर रौद्र तथा तुनुकमिजाजी करता है, वह कर्म से (प्रचण्ड क्रोधी होने से) चाण्डाल बन जाता है। संस्कृत भाषा में चण्ड शब्द तीव्र कोप या क्रोध का वाचक है। जो उग्र क्रोध-रोष के कारण मन-वचन-काया से दुर्विचार, दुर्वचन और

हिंसादि दुष्कर्म करता है, निन्द्य और नीच कर्म करता रहता है; वह तीव्र क्रोध कर्मजात चाण्डाल माना जाता है।[१]

अकषाय-संवर को अपनाने से क्रोध शान्त हो गया

चण्डकौशिक भयंकर सर्प इसलिए बना था कि साधु जीवन में क्रोधावेश में आकर वह अपने हितैषी शिष्य को मारने दौड़ा था, लेकिन शिष्य को तो मार न सका, स्वयं का ही मस्तक खम्भे से टकराया। सिर फट गया और वहीं उसकी मृत्यु हो गई। मरकर कौशिक नामक तापस बना। वहाँ भी पूर्व-जन्म के क्रोध के संस्कार डबल हो गये। इस जन्म में भी वह न सँभला और तीव्र क्रोधवश मरकर भयंकर दृष्टिविष विषधर बना। अनेक पशु-पक्षियों और मनुष्यों को उसने मार डाला। अन्त में, पूर्व-जन्म की साधुत्व की साधना के अवशिष्ट पुण्यवश उसे विश्ववत्सल भगवान महावीर का निमित्त मिला। करुणाकर भगवान उसकी बाँबी पर पधार गये। पहले तो उसने भगवान के अँगूठे पर दंश मारा। जब समभावी वात्सल्यमूर्ति भगवान महावीर पर उसका कुछ भी असर न हुआ तो उसने उनकी शान्तमुद्रा की ओर देखा। उनका रूप कुछ परिचित-सा लगा। ऊहापोह करते-करते उसे अपने पूर्व-जन्म का स्मरण हो आया कि मैं पूर्व-जन्म में साधु था, किन्तु तीव्र क्रोध के कारण मैंने सर्प योनि पाई। भगवान महावीर ने उपयुक्त अवसर जानकर उसे बोध दिया–"चण्डकोसिया ! बुज्झह बुज्झह !"–चण्डकौशिक, अब भी समझो, सँभलो, शान्त हो जाओ, इस जन्म को सुधार लो !" पूर्व-जन्म की स्मृति के कारण चण्डकौशिक में आत्म-जागृति आई। सोचा–"ओहो ! भयंकर क्रोध करने के कारण मैंने तीन जन्म बिगाड़े।" भगवान से पश्चात्तापपूर्वक क्षमायाचना की, सभी जीवों से क्षमा माँगी और प्रायश्चित्तस्वरूप उसने अनशन कर लिया, अपना मुख बाँबी में डाल दिया। अब वह किसी को नहीं सताता, नहीं काटता। जो भी कष्ट आये, उन्हें समभाव से सहन किये। इस अकषाय-संवर के प्रभाव से उसकी गति सुधर गई। वह वहाँ से मरकर देवलोक में गया।

वह तो ठीक था कि भगवान महावीर के सत्संग, बोध और पूर्व-जन्म-स्मरण से तीव्र क्रोधी चण्डकौशिक ने तीसरे जन्म में अकषाय-संवर की साधना स्वीकार करके जीवन सुधार लिया।

---

१. (क) 'कर्म की सजा भारी, भा. १' से भाव ग्रहण
(ख) कुद्धो ···· सच्चं सीलं विणयं हणेज्ज। –प्रश्नव्याकरण २/२
(ग) कोवेण रक्खसो वा, णराण भीमो णरो हवदि। –भगवती आराधना १३६१
(घ) रोसेण रुद्दहिदओ णारगसीलो णरो होदि। –वही १३६६

एक क्षण का तीव्र क्रोध करोड़ पूर्व में अर्जित तप और चारित्र को नष्ट कर डालता है

मगर किसी सुन्दर निमित्त के मिलने पर भी यदि उपादान शुद्ध न हो तो तीव्र क्रोध करोड़ पूर्व वर्षों में अर्जित किये हुए तप को नष्ट कर देता है। एक आचार्य ने ठीक ही कहा है–

"हरत्येक दिनेनैव तेजः षाण्मासिकं ज्वरः।
क्रोधः पुनः क्षणेनाऽपि, पूर्व-कोट्यर्जितं तपः॥"

–ज्वर (बुखार) तो एक ही दिन में छह महीने की सारी ऊर्जा-शक्ति (तेज) नष्ट करता है, किन्तु एक क्षण में किया हुआ प्रबल क्रोध पूर्व-कोटि (करोड़ पूर्व) वर्षों में अर्जित तप को नष्ट कर देता है।

कोई व्यापारी ६0-७0 वर्ष में जाकर करोड़ रुपये कमाए, किन्तु यदि किसी डाकू ने सदलबल आकर पन्द्रह मिनटों में वे सब रुपये उसकी तिजोरी में से निकालकर लूट लिये। बताइये, उस व्यक्ति को कितना मनस्ताप होता है? उसी प्रकार यदि किसी साधक ने करोड़ पूर्व वर्ष नहीं, एक जन्म के ६0-७0 वर्षों में बहुमूल्य सम्यक्चारित्र या सम्यक्तप उपार्जित किया, उसे क्रोधरूपी प्रबल चोर आत्मा में घुसकर एक क्षण में लूट ले जाये तो कैसी मनःस्थिति बनेगी उस साधक की?[1] अतः प्रबल शक्तिमान क्रोधकषाय को वीर बनकर शीघ्र ही भगाना आवश्यक है।

उत्पन्न क्रोध स्वयं का भी नाश करता है और दूसरों का भी

द्वैपायन ऋषि द्वारिका नगरी के बाहर पर्वतमाला में तपश्चर्या करते हुए ध्यानमग्न थे। किन्तु शाम्ब और प्रद्युम्न आदि यादवकुमारों ने उनकी मजाक की और सताया, जिस पर एकदम तीव्र कोपायमान होकर उस क्रोधाग्नि में स्वयं जले ही, निदाणा करके प्रजा-सहित द्वारिका नगरी को भी जलाकर भस्म कर दी। इतना ही नहीं, समूचे यादव-कुल का नाश कर दिया। इस प्रकार द्वैपायन ऋषि ने स्वयं (आत्मा) को भी तीव्र क्रोध, निदान आदि द्वारा जलाया और दूसरों को भी जलाया।[2] कहा भी है–

"उत्पद्यमानः प्रथमं दहत्येव स्वयमाश्रयम्।
क्रोधः कृशानुवत् पश्चादन्यं दहति वा न वा॥"

---

१. 'पाप की सजा भारी, भा. १' से भावांश ग्रहण, पृ. ५५३
२. देखें–अन्तकृद्दशांगसूत्र में द्वारिकादहन का प्रसंग

–छोटे-बड़े किसी भी निमित्त से उत्पन्न हुआ क्रोध पहले तो अपने ही आश्रय-स्थान (शरीर और आत्मा) को जलाता है, बाद में अग्नि के समान दूसरों को जलाए या न जलाए, खुद को तो जला ही डालता है। सामने वाला क्षमाशील हुआ तो वह क्रोधी उसे नहीं भी जला सकता।

क्रोध करके तप करना और तपस्या में भी क्रोध करना, दोनों बातें मूर्खता का प्रदर्शन है। क्रोधादि कषायों द्वारा बँधे हुए जिन अशुभ कर्मों का क्षय करने और आत्म-शुद्धि के लिए तप किया जाता है, उसी तपश्चरण में व्यक्ति, क्रोधादि करता है तो वह फिर अशुभ कर्मों को अपने आप बुलाकर कषाय नामक अशुभास्रव व अशुभ कर्मबन्ध का स्वागत करता है। इसीलिए कहा गया है कि "क्रोध बुद्धि का, कुल का, धन का और स्वयं का भी विनाश करता है। साथ ही क्रोध से स्व-धर्म का भी नाश हो जाता है। इसलिए क्रोध का परित्याग करना आवश्यक है।"[1]

तीव्र क्रोध से सारी आत्म-शक्ति और ऊर्जा-शक्ति नष्ट कर दी

भगवान महावीर का जीव १६वें जन्म में विश्वभूति राजकुमार बना, मुनि दीक्षा ली। कठोर तपश्चर्या करके आत्म-शक्ति एवं ऊर्जा-शक्ति की उपलब्धि की। अहंकारवश मासखमण (मासिक) तप करके विशाखनन्दी पर तीव्र क्रोध किया और इस प्रकार का निदान (नियाणा) किया कि "अगले जन्म में मैं इसे मारने वाला बनूँ।" वही हुआ। १८वें भव में वे त्रिपृष्ठ वासुदेव बने और विशाखनंदी सिंह बना। त्रिपृष्ठ वासुदेव ने उसका जबड़ा चीरकर मार गिराया। तीव्र क्रोधवश इस घोर पापकर्म के फलस्वरूप १९वें जन्म में वे सप्तम नरक में गये। क्रोध के कारण पहले वैर बाँधा, फिर क्रोध और हिंसाकृत्य किया।

इसलिए मनीषियों ने कहा–"क्रोधो वैरस्य कारणम्।"–क्रोध वैर-विरोध और शत्रुता पैदा करने का कारण है। ऊपर की घटना में तीव्र क्रोध भी बाद में वैर-परम्परा का कारण बना।

अग्निशर्मा क्रोधी क्षमा वीर से गुणसेन

'समराइच्चकहा' में भी अग्निशर्मा तापस और गुणसेन राजा की घटना इसी तथ्य का समर्थन करती है। अग्निशर्मा तापस को मासखमण तप के पारणे में दो बार गुणसेन राजा के यहाँ जाने पर भी कुछ न मिला। तीसरी बार के पारणे के दिन भी पारणा नहीं हुआ। फलतः दो बार में उपशान्त हुआ क्रोध तीसरी बार के

१. क्रोधो नाशयते बुद्धिमात्मानं च कुलं धनम्।
धर्मनाशोभवेत् कोपात्, तस्मात्तं परिवर्जयेत्॥

पारणे में कुछ भी न मिलने के कारण गुणसेन पर प्रचण्ड रूप से उमड़ा, जिसके कारण द्वेषवश अग्निशर्मा तपस्वी ने गुणसेन को मारने का नियाणा (दुःसंकल्प) किया और वैर-परम्परावश ९ भवों तक गुणसेन को मारने का उपक्रम किया। इसके विपरीत गुणसेन ने समभावी निर्ग्रन्थ साधु बनकर उन घोर उपसर्गों को समभाव से सहन किया। फलतः प्रत्येक भव में उनके द्वारा पूर्वबद्ध अशुभ कर्म तथा इस जन्म में अग्निशर्मा के द्वारा किये गये मरणान्तक उपसर्गों (कष्टों) को समभाव के द्वारा (कषाय-निरोधरूप) संवर एवं निर्जरा अर्जित की और अन्तिम भव में चार घातिकर्मों का सर्वथा क्षय करके वे समरादित्य केवली वीतराग बने। किन्तु अग्निशर्मा तो बेचारा अपने क्रूर कर्मों के कारण जन्म-जन्मान्तर तक संसार परिभ्रमण करेगा।

अकषाय-संवर ने स्वयं को तथा क्रोधी गुरु को केवली बनाया

चण्डरुद्राचार्य अत्यन्त क्रोधी थे। प्रचण्ड क्रोध के स्वभाव के कारण उनके सभी शिष्य उन्हें छोड़कर चले गये। एक दिन वे एक वृक्ष के नीचे बैठे थे कि कुछ बराती एक वरराज के साथ आये। मजाक में उन्होंने कहा–"महाराज ! इन्हें (वरराज को) दीक्षा लेनी है, दीक्षा दीजिये।" चण्डरुद्राचार्य ने आव देखा न ताव, झट से राख लेकर लोच कर दिया। अन्य सभी तो भाग गये। उक्त वरराज को मुण्डित करके उन्होंने कपड़े पहनाये, साधु बनाया। वरराज भी कुलीन घर का होने से शान्ति से सहन कर गया। नवदीक्षित ने अर्ज की–"गुरुदेव ! अब यहाँ से शीघ्र विहार कीजिये अन्यथा हंगामा मच सकता है।" गुरु–"रात्रि में, फिर मुझसे चला नहीं जायेगा।" शिष्य–"आप मेरे कंधे पर बैठ जाइये, मैं जल्दी-जल्दी चलूँगा। दूर चले जायें तभी ठीक रहेगा।" वैसा ही किया गया। रात्रि में ठीक न दिखने पर पैर इधर-उधर पड़ने से क्रोधी गुरु शिष्य को उपालम्भ देने तथा मुण्डित सिर पर डण्डा मारने लगे। रक्तधारा बह चली। फिर भी समभावपूर्वक वह सहन करता हुआ, आत्मा का स्वरूप-मंथन करता हुआ चिन्तन की धारा में चढ़कर तेजी से कर्मों की निर्जरा करने लगा। शुद्ध अध्यवसाय की धारा में बहते हुए शिष्य को केवलज्ञान-केवलदर्शन प्रकट हो गया। ज्ञानचक्षु से अब सब कुछ दिखने लगा। सीधा चलने लगा। गुरु ने कहा–"इण्डे पड़े तो सीधा चलने लगा न?" "गुरुजी ! अब सब स्पष्ट दिख रहा है।" गुरु–"क्या कोई ज्ञान हो गया? कैसा ज्ञान हुआ– प्रतिपाती या अप्रतिपाती?" शिष्य–"आपकी कृपा से अप्रतिपाती ज्ञान हुआ है।" आचार्य सहसा चौंके और कंधे से उतरकर शिष्य के चरणों में झुककर क्षमायाचना करने लगे। पश्चात्तापपूर्वक अश्रुपात करते हुए वे भी क्षपकश्रेणी पर आरूढ़ होकर आत्म-स्वरूप ध्यान में मग्न हुए, कर्मनिर्जरा हुई और प्रातः होते-होते चण्डरुद्राचार्य

को भी केवलज्ञान उत्पन्न हो गया। यह है–अकषाय-संवर से क्रोधादि कषायों के क्षय का अद्भुत परिणाम !

प्रचण्ड क्रोध से वैर-परम्परा और क्रूर कर्मबन्ध

यदि सामने वाला क्षमाशील न हो तो क्रोध-परम्परा का कोई अन्त नहीं आता। वह वैर-परम्पराजनक तथा दुर्गतियों में बार-बार भटकाने वाला होता है। एक आचार्य ने कहा है–

"क्रोधः परितापकरः सर्वस्योद्वेगकारकः क्रोधः।

वैरानुषंग-जनकः क्रोधः, क्रोधः सुगतिहन्ता॥"

–क्रोध परिताप, संताप, पीड़ा और दुःख देने वाला है, वह सभी को उद्विग्न कर देता है। वस्तुतः क्रोध वैर-परम्परा का जनक है और सुगति का नाशक है।"

परशुराम ने अपने प्रचण्ड कोप से सारी धरती निःक्षत्रिय बना दी थी, इसके विपरीत सुभूम चक्रवर्ती ने अतिक्रोध करके सारी ब्राह्मण-जाति को समाप्त कर दिया। इन नराधमों ने व्यक्तिगत वैमनस्य के कारण क्षत्रिय-जाति और ब्राह्मण-जाति का सफाया करके कितना क्रूर कर्म किया? इस दुष्कर्म का फल सप्तम नरक में ३३ सागरोपम काल तक दुःख भोगने के सिवाय क्या हो सकता था? सच है, क्रोधावेश में बहन, बेटी, पुत्र-पुत्री, पत्नी आदि का कुछ भी भान नहीं रहता। दिल्ली में एक मजदूर ने १० रुपये का नोट लाकर पत्नी को दिया। वह नोट वहीं रखकर किसी आवश्यक कार्य से इधर-उधर गई। बच्चे ने कागज समझकर दस रुपये का नोट उठाया और कुतूहलवश चूल्हे में अग्नि को प्रज्वलित करने के लिए डाल दिया। थोड़ी देर में मजदूर घर आया। नोट नहीं मिला। बच्चे ने कहा कि वह कागज तो मैंने जलाने के लिए आग में डाल दिया। इतना सुनते ही मजदूर का क्रोध का पारा चढ़ गया। उसने छोटे-से बच्चे को उठाया और आग में झौंक दिया। उसकी माँ आई, तब तक बच्चा मर गया। यह है–क्रोध का भयंकर नतीजा। इसी प्रकार की एक घटना दिल्ली में ही हुई। एक व्यक्ति ने अपने घर में माँ के आग्रह से बहन-बहनोई और भानजों को रहने के लिए मकान के एक हिस्से में कमरे दे दिये। बहनोई अपनी कमाई में से साले को आर्थिक रूप से सहायता भी करता रहता था। किन्तु उस पर स्वार्थ का भूत चढ़ा। बहन-बहनोई को भगाने के लिए उसने क्रोधावेश में आकर दोनों पर तथा बच्चों पर भी तेजाब छिड़क दिया और कमरे में आग लगा दी। माँ बचाने आई तो उसे भी मार डाला। यों उस क्रूर कषायात्मा ने अपनी माँ-बहन की भी कोई मर्यादा न रखी। इसीलिए 'वसुनन्दी

श्रावकाचार' में कहा है–"क्रोध में अन्धा पुरुष पास में खड़ी माँ, बहन और बच्चे को मार डालता है।"[1]

अतः किसी भी प्रकार से, किसी भी निमित्त से होने वाले उत्कट या मन्द क्रोध कषाय को शान्त, निरुद्ध एवं क्षीण करने के लिए तथा क्रोध से होने वाले अशुभ कर्मबन्ध से बचने के लिए उपशम, क्षमा, सहिष्णुता, समभाव, मौन, आत्म-स्वरूपरमण, शान्ति, धैर्य एवं प्रतिक्रिया-विरति; ये ही ठोस उपाय हैं। इन्हें अजमाने से आत्मा की किसी प्रकार की क्षति नहीं होती, आत्म-क्षमता बढ़ती है और अकषाय-संवर तथा कर्मनिर्जरा उपलब्ध हो सकती है।

अकषाय-संवर एवं समभाव से कर्मक्षय

उनका नाम तो कुछ और था, लेकिन उन्हें सभी साधु कूरगडु कहते थे। शारीरिक क्षीणता और अशक्ति के कारण वे उपवासादि बाह्य तप नहीं कर सकते थे। थोड़ा-सा भी जैसा-तैसा आहार मिला तो भी उसे संतोष और शान्ति के साथ सेवन कर लेते थे। उनके साथी मुनिगण मासखमण की तपश्चर्या करते थे, किन्तु उनकी तपस्या के साथ क्रोध और अहंकार की मात्रा अधिक थी। कूरगडु मुनि प्रतिदिन भिक्षा के लिए जाते तो उन तपस्वी मुनियों को बहुत क्रोध उमड़ता और वे उन्हें उपालम्भ देते, डाँटते-फटकारते और 'अन्न के कीड़े' कहकर चिढ़ाते थे। किन्तु शान्त, सहिष्णु कूरगडु मुनि उनके कटु वचनों को सुनकर न तो प्रतिवाद करते थे, न ही क्रुद्ध होते थे, वे शान्ति से सहते व समभाव में लीन हो जाते थे। नम्रतापूर्वक बाह्य तप की अशक्ति के लिए पश्चात्ताप प्रगट करते थे। एक दिन वे भिक्षा में प्राप्त आहार उन तपस्वी मुनियों को दिखाने गये तो उन्हें इतना क्रोध आया कि उन्होंने आहार के पात्र में थूक दिया। वे शान्तिपूर्वक उस आहार को लेकर एकान्त में भोजन करने बैठे। चिन्तन की पवित्र धारा अन्तर से फूटी कि हे जीव ! आज तू धन्य हुआ, कृतार्थ हुआ, तपस्वियों की लब्धि तुझे प्राप्त हुई है। प्रभो ! मुझमें भी उपवासादि तप करने की शक्ति प्रगटे ! यों पवित्र भावना से ज्यों ही आहार का पहला कौर लिया कि पश्चात्ताप एवं समभाव से क्षपक श्रेणी पर आरूढ़ हो गये। चार घातिकर्मों का क्षय हुआ। केवलज्ञान प्रकट हुआ। देवगणों को उनके समीप आते देख आक्रोश एवं ईर्ष्यावश उन तपस्वी मुनियों ने कहा–"तपस्वी तो हम हैं, उस प्रतिदिन भोजी के पास क्यों जाते हैं?" इस पर उन देव-देवियों ने कहा–"केवली की आशातना मत कीजिए, उनसे क्षमा माँगिये।" इन शब्दों को सुनते ही उन तपस्वी मुनियों की आत्मा जाग्रत हो गई। वे पश्चात्ताप की धारा में बहने लगे।

---

१. पासम्मि बहिणि-मायं सिसुं पि हणेइ कोहंधो। —*वसुनन्दी श्रावकाचार* ६७

केवली कूरगडुक मुनि से उन्होंने नम्र होकर क्षमा माँगी। फिर पश्चात्ताप की तीव्रता, क्षमाभाव और समभाव की तीव्रता से उन्हें भी केवलज्ञान हो गया। यह था क्रोध और मान (अहंकार) को उपशान्त करने का सुपरिणाम ![1]

मान कषाय : आत्म-गुणों के विकास में कितना बाधक ?

कषाय के चार प्रकारों में क्रोध के बाद मान कषाय का नंबर आता है। क्रोध का आत्मघाती प्रभाव अपने तन, मन, बुद्धि और आत्मा पर पड़ता है, किन्तु मान का प्रभाव अपने और दूसरे दोनों पर, यही नहीं, सारे समूह या घटक पर पड़ता है। जैसे क्रोध आत्म-समाधि का पथ प्रशस्त नहीं होने देता, वैसे मान भी नहीं होने देता। कुछ विचारकों का मत है कि क्रोध की अपेक्षा मान अधिक खतरनाक है। यही व्यक्ति, समाज और राष्ट्र की चेतना में विघटन, तनाव, भेदभाव, वैषम्य और व्यवस्था-भंग का सर्जक है। अभिमान या अहंकार जीवन में सरसता, सहानुभूति, दयालुता, परोपकारिता एवं समता को भंग करके शुष्कता और नीरसता, क्रूरता और तुच्छ स्वार्थ-परायणता, विषमता और अस्मिता लाता है। इस दृष्टि से यह आत्म-शक्ति, आत्मानन्द एवं आत्म-दृष्टि में तथा आत्मा के हित, सुख और स्वास्थ्य में बाधक है। कठोरतम साधना, विस्मयकारी तप, जप, कष्ट-सहन, परीषह-सहन, उपसर्ग-सहन आदि के साथ जब अहंकार घुस जाता है, नामना-कामना, प्रसिद्धि, प्रशंसा, लौकिक स्वार्थसिद्धि की ममता और अहंता का प्रवेश हो जाता है, तब सारी की-कराई आत्म-साधना को विफल बना देता है।

'पातंजल योगदर्शन' में अविद्या के बाद 'अस्मिता' को पाँच क्लेशों में दूसरा क्लेश माना है। अस्मिता के कारण मनुष्य अपने आप को दूसरों से बल, रूप, विद्या, वैभव, तप आदि में अधिक मानने लगता है और यहीं उसकी आत्म-रमणता की साधना या स्वभाव में स्थिति की साधना ठप्प हो जाती है।[2]

बाहुबली मुनि मान कषाय में कैसे लिप्त हुए ?

चक्रवर्ती सम्राट् भरत के साथ द्वन्द्व युद्ध में अपूर्व विजय प्राप्त करने के पश्चात् बाहुबली पूर्ण विरक्ति और दृढ़ निश्चय के साथ आत्म-साधना में जुट पड़े। शरीर-बल की अपेक्षा भी उनका आत्म-बल प्रबल था। उनकी तितिक्षा, सहिष्णुता, धीरता और दृढ़ता ने उन्हें आध्यात्मिक ऊँचाइयों तक पहुँचा दिया था। अपने

---

१. देखें–आचारांगचूर्णि में कूरगडुक मुनि का वृत्तान्त

२. (क) 'साधना के मूलमंत्र' से भावांश ग्रहण

(ख) अविद्याऽस्मिता-राग-द्वेषाभिनिवेशाः पंचक्लेशाः।

–*पातंजल योगदर्शन, साधन पाद २, सू. ३*

शरीर पर से सर्वात्मना व्युत्सर्ग करके उन्होंने तन, मन और वचन के योग को भी लगभग संवृत कर लिया था। बाहर से तन-वचन से बिलकुल निश्चेष्ट और स्थिर हो जाने के बावजूद मानसिक समाधि की पूर्णता उन्हें नहीं मिली। यों तो आत्म-साधना के प्रति सर्वथा समर्पित इस महान् साधक ने एक-एक दिन करके पूरा एक वर्ष व्यतीत कर दिया था। इस दौरान उन्होंने अपना परिवार, साम्राज्य, वैभव और अन्न-जल तक छोड़ दिया था, इसका विचार तक नहीं आया, परन्तु मन में एक अहंकार की फाँस चुभी हुई थी कि मैं अपनी आत्म-साधना में इतना आगे बढ़ गया हूँ, अतः अब मैं भगवान ऋषभदेव के पास जाऊँगा तो वहाँ मेरे से पूर्व दीक्षित ९८ छोटे भाइयों को मुझे वन्दन-नमन करना होगा। मन की गहराई में छिपा हुआ यह अहंकार नहीं छूट पाया। इस अहंभाव के चलते उन्हें साधना की मंजिल–केवलज्ञान की उपलब्धि नहीं हो रही थी। अपने से पूर्व दीक्षित अनुज मुनियों को वन्दन-नमन करके वे अपने स्वाभिमान को खोना नहीं चाहते थे। यही अहंकार का काला सर्प हृदय में फुफकारता हुआ, उनके केवलज्ञान-प्राप्ति के मार्ग में रोड़ा बनकर स्थित था। किन्तु ब्राह्मी और सुन्दरी दोनों साध्वी बहनों ने जब उन्हें अहंकार के हाथी से नीचे उतरने की प्रेरणा दी, उस प्रेरणा से प्रतिबुद्ध होकर मुनि बाहुबलि ने अपने गलत निर्णय को बदला और तुरन्त भगवान ऋषभदेव की शरण में जाने और अपने सहोदर मुनियों को वन्दन-नमन करने हेतु ज्यों ही उनके चरण बढ़े, अहंकार की मोह शृंखला टूट गई और उनके अन्तर में केवलज्ञान की ज्योति जगमगा उठी। उसके पूर्व ही ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय, इन चार घातिकर्मों का सर्वथा क्षय हो गया।[1] यह था मान कषाय का त्याग करने का सर्वतोभद्र उपाय।

मान कषाय को कौन पण्डित आश्रय देगा ?

मान कषाय कई रूपों में कर्ममुक्ति के साधक के जीवन में आता है, परन्तु अगर साधक जाग्रत और प्रबुद्ध होकर इसे तत्काल रोक दे और आत्म-स्वरूप के दर्पण में देखे तो मान कषाय से बचकर संवर और निर्जरा भी कर सकता है। मान एक रूप में नहीं, अनेक रूपों में जीवन में आता है। वह अभिमान, घमण्ड, गर्व, दर्प, अहंकार, Proud, अहंता-ममता, स्मय, अहमहमिका, प्रतिस्पर्द्धा, ईर्ष्या, मद, स्व का अधिक मूल्यांकन, धृष्टता, प्रगल्भ, चित्तोन्नति, प्रसिद्धि, प्रशंसा, कीर्ति की लिप्सा आदि अनेक रूप धारण करके चुपके से साधक के मन-मस्तिष्क में घुसता है। परन्तु जो विवेकी है, आत्मार्थी है, मुमुक्षु है, मान से होने वाली भयंकर आत्म-हानि को जानता है, वह भूल से भी इसे जरा-सी भी देर के लिए आश्रय

१. 'त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित, पर्व १' से भावांश ग्रहण

नहीं देगा। 'प्रशमरति' में कहा गया है–"श्रुत, शील और विनय के दूषण रूप तथा धर्म, अर्थ और काम के विघ्नरूप, ऐसे मान कषाय को कौन बुद्धिमान् या पण्डित (पापों से डरने वाला) एक मुहूर्त्त के लिए भी आश्रय देगा?"

मान कषाय की पहचान

जिस तरह एक चिकित्सक रोगी के लक्षण देखकर रोग का निदान करता है, उस रोग को पहचान जाता है; इसी प्रकार जब मान कषाय का भूत पूर्वोक्त रूपों में से किसी भी रूप में, किसी भी निमित्त से किसी पर सवार होता है, तब उसके चिह्न साफ-साफ नजर आ जाते हैं। अनुमान से, चाल-ढाल से, उसके मुखमण्डल से, उसकी वेशभूषा और भाषा से अभिमानी की पहचान हो जाती है। जब मनुष्य मान ज्वर से ग्रस्त होता है तो धमण्ड में चलता है, उसकी दृष्टि भी प्रायः ऊपर उठी हुई होती, उसकी चाल भी वक्र होती है, उसकी बोली में भी अहंकार का स्वर प्रस्फुटित होता है। अभिमानी व्यक्ति–"मैंने ऐसा किया है। यह तो मैं ही था कि ऐसा कर सका। मैं तो सब कुछ कर सकता हूँ। मेरे में जितनी ताकत है वह अन्य किसी में नहीं है।" इस प्रकार बात-बात में मैं-मैं करता है। दूसरों को वह अपनी तुलना में सबको तुच्छ समझता है।[1] दूसरों को हल्का–नीचा दिखाकर अपने आपको बड़ा दिखाने की उसकी वृत्ति होती है। भाषा में स्व-प्रशंसा और पर-निन्दा की गन्ध प्रायः दिखाई देती है। अभिमानी को दूसरों की प्रशंसा पसन्द नहीं होती। अहंकारी व्यक्ति में विनय, विवेक, नम्रता और मृदुता का भाव बहुत कम होता है। वह अपने से धन, विद्या, बल, रूप, तप, वैभव, पद, लाभ, जाति, कुल आदि में न्यून व्यक्तियों का तिरस्कार, अपमान, घृणा, ईर्ष्या करते हुए प्रायः नहीं चूकता। इस प्रकार मान कषाय को पहचानने के सैकड़ों चिह्न हैं।

मान कषाय से कितनी हानि, कितना पतन ?

मान कषाय चारित्रमोहनीय कर्म के अन्तर्गत है, जिसकी उत्कृष्ट स्थिति ७० क्रोड़ाक्रोड़ी सागरोपमकाल की है। मान आत्म-गुणों का घातक है, आत्मा के अव्याबाध निराकुल सुख में बाधक है। वह नम्रता, मृदुता, विनय, कृतज्ञता आदि सद्गुणों का विनाशक है। कई दफा अभिमानी जीव स्वभाव से उद्धत, उच्छृंखल, मर्यादाहीन होकर असामाजिक, अराजक एवं निरंकुश भी बन जाता है, मोहमूढ़ होकर वह अहिंसा, समता, क्षमा, सरलता, नम्रता आदि गुणों को भी तिलांजलि दे

---

१. (क) श्रुत-शील-विनय-संदूषणस्य धर्मार्थ-कामविघ्नस्य।
मानस्य कोऽवकाशं मुहूर्तमपि पण्डितो दद्यात्॥ –प्रशमरति
(ख) 'पाप की सजा भारी, भा. २' से भाव ग्रहण, पृ. ५७८-५८०

बैठता है। परिवार, समाज, राष्ट्र एवं धर्म-सम्प्रदाय में भी अभिमानी व्यक्ति अहंकार के नशे में चूर होकर स्वच्छन्द एवं उच्छृंखल होकर रहता है। अभिमान की दशा में वह हाथी की तरह मदोन्मत्त हो जाता है। इसीलिए भगवान महावीर ने कहा–मान से व्यक्ति अधम गति, अधम कक्षा एवं अधम जाति में पहुँच जाता है। कर्मसत्ता नियमानुसार मान कषाय से व्यक्ति अपन के लिए ही विनाश का गड्ढा खोदता है। एक विचारक ने कहा है–अहंकार सदैव लोगों के नाश के लिए होता है, वृद्धि के लिए नहीं। जैसे–दीपक में तेल या घी समाप्त होने को होता है, तब एक बार दीपशिखा अधिक जोर से चमकती है, यही उसके विनाश की निशानी होती है, वैसे ही तीव्र अभिमान करने वाले के विनाश का समय आता है, तब वह जोर-शोर से अभिमान की तर्ज में बोलता–लिखता है। यही उसके पतन = विनाश की निशानी है। विनाशकाल में बुद्धि विपरीत हो जाती है, यह कहावत अक्षरसः सत्य है। बाहर से स्थूलदृष्टि से अभिमानी फलाफूला दिखता हो, अन्दर से खोखला और थोथा होता है। 'थोथा चना, बाजे घना' यह कहावत उस पर ठीक लागू होती है। जो व्यक्ति जाति, कुल, बल, रूप आदि का अभिमान करता है उसे भविष्य में नीच जाति, नीच कुल, दुर्बलता, कुरूपता आदि कर्मनियमानुसार मिलते हैं। रोटी पचाना आसान है, मिष्टान्न पचाना भी कठिन नहीं है, किन्तु अभिमानी के लिए सुख-सम्पत्ति, ऐश्वर्य, रूप, बल, ज्ञान, तप आदि का पचाना बहुत ही कठिन है।[1] आत्मार्थी एवं कर्ममुक्ति का इच्छुक व्यक्ति ही धीर-गम्भीर बनकर इन चीजों को पचा सकता है और अनायास ही इनका नम्रतापूर्वक परार्थ या परमार्थ में उपयोग करके इनसे आस्रव और बन्ध के बदले संवर और निर्जरा उपार्जित कर सकता है। पुण्यानुबन्धी पुण्य भी वह इन वस्तुओं से प्राप्त कर सकता है।

धन-सम्पत्ति आदि सब पूर्वकृत पुण्य के फलस्वरूप मिलते हैं

मान कषाय-विजेता साधक सदा यह सोचता है कि मुझे यह धन-सम्पत्ति, सत्ता, पद, अधिकार, बल, वैभव, रूप, अच्छा कुल, जाति, ज्ञान आदि किस कारण से व क्यों मिले हैं? ये सब अनायास ही नहीं मिलते हैं। पूर्व-जन्म में उपार्जित प्रचुर पुण्य के फलस्वरूप ये सब शुभ संयोग से मिलते हैं। जब कोई मनुष्य पूर्व-जन्म में या इस जन्म में परोपकार करने, दूसरों के जीवन को धर्ममय-नीतिमय, पुण्यशाली बनाने हेतु यदि त्याग, तप, व्रत, संयम, नियम, प्रत्याख्यान करता है या दान, पुण्य, परमार्थ करता है, तो उस पुण्योदय के

---

१. (क) अहंकारो हि लोकानां, नाशाय, न तु वृद्धये।
यथा विनाशकाले स्यात्, प्रदीपस्य शिखोज्ज्वला॥
(ख) 'पाप की सजा भारी, भा. २' से भाव ग्रहण, पृ. ५७९-५८०

फलस्वरूप उसे सुख-शान्तिमय अनुभव (वेदन) होता है, सुख-साधन और धर्मानुलक्षी शुभ भाव प्राप्त होते हैं। गोपाल-पुत्र संगमा को मासक्षपण तपस्वी मुनिवर जैसे सुपात्र को शुभ भावपूर्वक खीर का दान उत्कट भावों से देने से उत्कट पुण्यबन्ध हुआ। उसके फलस्वरूप गोभद्र सेठ के यहाँ जन्म तथा अपार ऋद्धि के स्वामी बनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। इतना ही नहीं, उसने (शालिभद्र ने) अपार ऋद्धि समृद्धि-सम्पदा पाकर भी अभिमान नहीं किया और उसका स्वेच्छा से त्याग करके निर्जरा भी की, महान् पुण्यबन्ध भी किया। इसी प्रकार निःस्वार्थभाव से श्रद्धा-भक्तिपूर्वक साधुओं की सेवा-वैयावृत्य करने से नन्दीषेण मुनि को उत्कृष्ट पुण्यबन्ध के फलस्वरूप अपाररूप सम्पदा मिली।[1] ज्ञानोपार्जन की श्रुत-साधना के फलस्वरूप श्रुत-सम्पदा मिलती है। किसी जाति, कुल, समाज, राष्ट्र या देश की निःस्पृहभाव से सेवा करने, त्याग-तपस्या करने से उच्च जाति, उच्च कुल आदि प्राप्त होते हैं, अभिमान से नहीं। फिर ये सब उपलब्धियाँ अपनी साधना के फलस्वरूप मिलती हैं। किसी भगवान या देवी-देव के देने से नहीं मिलतीं।

मद करने वाले को हीन या विपरीत दशा प्राप्त होती है

पूर्वोक्त उत्तम जाति, कुल, बल आदि को पाकर यदि मद (अहंकार) करता है, उसके नीच गोत्र आदि पापकर्मबन्ध होने से कर्म सत्ता ऐसी भयंकर सजा देती है। वाचकवर्य उमास्वाति ने 'प्रशमरति' में स्पष्ट कहा है–

"जात्यादि-मदोन्मत्तः पिशाचवद् भवति दुःखितश्चेह।
जात्यादि-हीनतां परभवे च निःसंशयं लभते॥"

–जो व्यक्ति इस जन्म में पिशाच की तरह उन्मत्त होकर जाति, कुल, बल, रूप, ऐश्वर्य (धन-सम्पत्ति), तप, लाभ, श्रुत (शास्त्र) ज्ञान आदि का मद करता है, वह मदोन्मत्त होकर यहाँ भी दुःख पाता है और पर-भव (परलोक) में भी जाति, कुल आदि में से जिस विषय में मद किया है, निःसन्देह उस विषय में हीनता–विपरीत दशा–प्राप्त करता है। जैसे–जाति, कुल का मद (अहंकार) करने वाला हीन (हल्की, नीच) जाति, कुल पाता है। धन-सम्पत्ति का अभिमान करता है तो आगामी भव में दरिद्रता, दीन-हीन दशा प्राप्त करता है। तप का अहंकार करने वाले को तप करने की शक्ति एवं भावना प्राप्त नहीं होती। बल और रूप का अभिमान करने वाले को निर्बलता और कुरूपता प्राप्त होती है। अपनी उपलब्धियों

---

१. (क) देखें–स्थानांगसूत्र वृत्ति में अंकित शालिभद्र चरित्र
(ख) 'प्रशमरति' से भावांश ग्रहण
(ग) 'पाप की सजा भारी, भा. २' से भावांश ग्रहण, पृ. ५८५, ५८८

और सिद्धियों की अथवा किसी भी वस्तु के लोभ की प्राप्ति का अभिमान करने पर भविष्य में हजार बार किसी से माँगने या कितना ही परिश्रम करने पर उस वस्तु का लाभ नहीं मिलता। इस प्रकार पूर्व पुण्योदय के फलस्वरूप प्राप्त किसी भी वस्तु का मद करने पर वह वस्तु भविष्य में (भावी जन्म में) नहीं मिलती, बल्कि उससे विपरीत, हीन वस्तु मिलती है। यह मान कषाय के पापकर्म की भयंकर सजा है।[1]

मान कषाय की उत्पत्ति में निमित्त कारण

मान कषाय की उत्पत्ति में निमित्त कारण मुख्यतया ये ८ मद बताये हैं– (१) जातिमद, (२) कुलमद, (३) बलमद, (४) रूपमद, (५) तपमद, (६) लाभमद, (७) श्रुत (ज्ञान) मद, और (८) ऐश्वर्यमद (धन, सत्ता, वैभव, पद, अधिकार आदि का अहंकार)।[2]

जात्यभिमान से नीच गोत्र का बन्ध

शास्त्र-प्रसिद्ध हरिकेशबल नामक तपस्वी मुनिराज पूर्व-जन्म में मथुरा निवासी सोमदेव नामक राजपुरोहित थे। राजर्षि शंखमुनिराज से उन्होंने वैराग्य का उपदेश पाकर मुनि दीक्षा अंगीकार की। परन्तु साधु बनने के बाद स्वभावतः उच्चगोत्रीय बन जाता है, इसीलिए भारतीय संस्कृति में साधु-सन्तों की जाति-पाँति नहीं पूछी जाती। कहा भी है–

"जाति न पूछो साधु की, पूछ लीजिये ज्ञान।
मोल करो तलवार का, पड़ी रहन दो म्यान॥"

परन्तु इसके विपरीत सोमदेव मुनि बात-बात में अपनी भूतपूर्व ब्राह्मण जाति का अभिमान और बखान किया करते थे। फलतः उन्होंने नीच गोत्रकर्म का बन्ध कर लिया। जिसके फलस्वरूप स्वर्ग से च्युत होकर उन्होंने गंगा नदी के किनारे बलकोट नामक चाण्डाल की पत्नी गौरी की कुक्षि से जन्म लिया। वहाँ संस्कार और वातावरण सभी निम्न स्तर के मिले।

किन्तु पूर्व (मुनि) जीवन में की हुई तप-संयम की साधना के फलस्वरूप उन्हें किसी उत्तम संयमी साधु का सुयोग मिला। उनके प्रतिबोध से दीक्षित होकर आत्म-ज्ञान, संयम, तपश्चर्या में पुरुषार्थ किया और समस्त कर्मों का सर्वथा क्षय करके वे (हरिकेशबल मुनि) सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हुए।[3]

---

१. 'पाप की सजा भारी, भा. २' से भावांश ग्रहण
२. स्थानांगसूत्र, स्था. ८
३. देखें–उत्तराध्ययनसूत्र, अ. १२ वृत्ति में

जातिमद के कारण मेतार्य चाण्डाल जाति में उत्पन्न हुए

इसी प्रकार उज्जयिनी नगरी के राजपुत्र और पुरोहित-पुत्र दोनों गाढ़ मित्रों ने सागरचन्द्र मुनि से दीक्षा ग्रहण की। संयम-पालन करते हुए भी पुरोहित-पुत्र अपने स्वभावानुसार ब्राह्मणत्व का गुणगान करते और जात्यभिमान करते रहते थे। इसके कारण उन्होंने नीच गोत्रकर्म बाँध लिया। यद्यपि चारित्र-पालन के कारण दोनों मित्र मुनि देवलोक में गये। पुरोहित-पुत्र (भू. पू. मुनि) नीच गोत्रकर्म के उदयवश राजगृह में मेहर चाण्डाल की पत्नी मेती चाण्डाली की कुक्षि से उत्पन्न हुआ। नाम रखा गया मेतार्य। मेतार्य को जाति के मद (अहंकार) ने नीच जातीय चाण्डाल जाति में लाकर पटक दिया, जहाँ पर पद पर तिरस्कार, अपमान, भर्त्सना एवं तिरस्कार होता था। किन्तु पूर्व पुण्य प्रबलता के फलस्वरूप पूर्व मित्रदेव द्वारा वैराग्य का उपदेश पाकर भगवान महावीर से मुनि दीक्षा ग्रहण की। मासक्षपण की तपस्या करने लगे। संयम ग्रहण करने के बाद जाति-कुल का कोई प्रश्न नहीं रहता। अब तो समस्त कर्मों से मुक्ति पाने की धुन लगी थी। समभाव उनके रोम-रोम में रम गया था। पारणे के दिन एक स्वर्णकार के यहाँ भिक्षा के लिए गये। सुनार सोने के जौ मेज पर रखकर मुनि को भिक्षा देने गया। पीछे से एक क्रौंच पक्षी चावल के दाने समझकर उन्हें खा गया। सुनार को वे सोने के जौ नहीं मिले तो मुनिवर पर शंका हुई। दौड़कर वह मुनि मेतार्य को वापस लेकर आया। उन्हें धूप में खड़े रखकर उनके सिर पर गीले चमड़े का पट्टा बाँधा। फिर मुनि से सख्ती से पूछताछ करने लगा। मुनि ने वहाँ क्रौंच पक्षी को देखा था, पर उन्होंने इसलिए न बताया कि यदि बताऊँगा तो अभी उसे मार डालेगा। अतः मौन रहकर समभाव से उक्त घोर उपसर्ग सहन किया। फलतः क्षपक श्रेणी पर आरूढ़ होकर समस्त कर्मों का क्षय करके वे सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हुए।[1] अतः जाति-कुल आदि के अभिमान से जन्य कर्मों से बचने का उपाय यह है कि व्यक्ति समभाव में स्थिर रहे, तप, संयम, त्याग आदि द्वारा पूर्वकृत कर्मों का क्षय करे।

कुलाभिमान के कारण भगवान महावीर को देवानन्दा ब्राह्मणी की कुक्षि में रहना पड़ा

भगवान महावीर ने मरीचि के भव में अपने कुल का अभिमान किया था और नाचकर सिंहनाद किया–"मैं प्रथम वासुदेव बनूँगा, मेरे पिता प्रथम चक्रवर्ती हैं और मेरे पितामह प्रथम तीर्थंकर हैं। मैं भी वासुदेव, चक्रवर्ती और तीर्थंकर बनूँगा।" इस प्रकार कुलमद के नशे में उन्मत्त होकर नीच गोत्रकर्म बाँधा, जिसका

१. 'उपदेशमाला' (धर्मदासगणि), पृ. २६७ से संक्षिप्त

फल २७वें भव (तीर्थंकर भव) में प्राप्त हुआ महारानी त्रिशला क्षत्रियाणी की कुक्षि में जन्म लेने से पूर्व ८२ दिन तक देवानन्दा ब्राह्मणी की कुक्षि में रहना पड़ा।[1] यह था कुलमद करने का कर्मसत्ता द्वारा दण्ड।

बलमद के कारण शक्ति का दुरुपयोग करने वाले नरकगामी होते हैं

बलमद भी मनुष्य को अधमगति में पहुँचा देता है। शक्ति के अभिमान, उसमें भी इस भौतिक मिट्टी के पिण्ड (शरीर) की शक्ति को गर्व से उन्मत्त होकर मनुष्य स्वयं को सर्वशक्तिमान, अजर-अमर समझने लगता है। राजा श्रेणिक ने शक्ति का अभिमान करके एक तीर के निशाने से एक गर्भवती हरिणी का वध किया, फिर अपनी शक्ति का अभिमान किया। फलतः राजा श्रेणिक को नरक का मेहमान बनना पड़ा। इतना जरूर हुआ कि उसे भगवान महावीर की भक्ति के निमित्त से क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त हुआ।

बाहुबली ने अपनी शक्ति का आत्म-हित में सदुपयोग किया

अतः जैसे बाहुबली ने अपने मुष्टिबल का भरत चक्री पर प्रहार न करके उसने अपने ही अहंकार को मुण्डित करने हेतु पंचमुष्टिक केश लोच कर लिया। इसी प्रकार शक्ति का मद करके दुरुपयोग न करके आत्म-हित में सदुपयोग करना ही श्रेयस्कर है।[2]

रूपमद का दण्ड : सनत्कुमार चक्री

रूपमद भी घोर कर्मबन्ध का कारण है। सनत्कुमार चक्रवर्ती को अपने रूप-सौन्दर्य का अभिमान था। उसी मान कषाय के उदय में आने के कारण उनके शरीर में सोलह भयंकर रोग प्रकट हुए। मल, मूत्र, दुर्गन्ध एवं रोग से भरे इस शरीर के रूप-सौन्दर्य पर गर्व करना उन्हें घोर अनर्थकर लगा। फलतः संसारविरक्त हो वे मुनि बन गये। घोर तपश्चर्या के प्रभाव से उन्हें कुछ लब्धियाँ भी प्राप्त हुईं। परन्तु उन्होंने उनका प्रयोग न करके कुष्टादि व्याधि के साथ मैत्री करके समभावपूर्वक कष्ट सहन किया। उन्होंने समस्त कर्मरोगों को नष्ट कर दिया। वे सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हुए। रूपमद से बचने का अनूठा उपाय था यह।[3]

---

१. आद्योऽहं वासुदेवानां, पिता मे चक्रवर्तिनाम्।
पितामहस्तीर्थकृतामहो ! मे कुलमुत्तमम्॥

२. (क) 'ठाणांग वृत्ति ४/३' से भाव ग्रहण
(ख) 'त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित, पर्व १' से भाव ग्रहण

३. 'उत्तराध्ययनसूत्र वृत्ति, अ. १८' से भाव ग्रहण

तपोमद भी कितना अनिष्टकारक ?

तपस्या का मद एक प्रकार से तपस्या का अजीर्ण है। कई दफा बड़ी-बड़ी तपश्चर्या करने वाले अथवा लोगों को प्रबल प्रेरणा करके बाह्य दीर्घ तप कराने वाले साधकों को इस पर अभिमान हो जाता है। जैसे क्रोध करने से तपस्या विफल हो जाती है, वैसे ही बाह्य तप करके जरा-सा भी अभिमान करके, दूसरों की परिस्थिति का विचार किये बिना उनके समक्ष अपनी तपस्या की डींग हाँककर जबरन बाह्य तपस्या करने की प्रेरणा करने वाले सारे तप पर पानी फिरा देते हैं। कूरगडुक मुनि का उपहास करने वाले साथी उत्कट तपस्या करते थे, किन्तु क्रोध और अहंकारवश वे तप करके भी घातिकर्मों का क्षय न कर सके और कूरगडुक मुनि बाह्य तप न करके भी समभाव, परीषह-सहन और विनय तप के कारण बाजी जीत गये, केवलज्ञान प्राप्त कर चुके। अतः बाह्य तप हो या आभ्यन्तर तप, उसके साथ क्रोध, अभिमान, माया, लोभ आदि का त्याग करने से तथा क्षमा, विनय, सरलता, समता और मृदुता से तपोमद से होने वाले अनिष्टों से बचा जा सकता है। संभूति मुनि को अपने तप का गर्व हुआ और हस्तिनापुर में नमुचि मंत्री द्वारा अपना अपमान हुआ देख उसने तेजोलेश्या छोड़ी, जिससे सारी नगरी में धुँआ छा गया। चक्रवर्ती सनत्कुमार को पता लगा तो सपरिवार मुनि के पास आकर अपने अकृत्यों के लिए क्षमा माँगी। चक्रवर्ती की रानी के कोमल केशपाश के स्पर्श से संभूति मुनि ने नियाणा कर लिया–मेरी तपस्या का कुछ फल हो तो ऐसा स्त्रीरत्न और वैभव मिले। बस तपःसाधना को मटियामेट कर बैठे–संभूति मुनि।[1]

लाभमद : जीवन को दुर्गति और आर्त्तध्यान में डालने वाला

किसी असाधारण वस्तु का लाभ प्राप्त होने का मद भी भयंकर पतन का कारण है। सुभूम चक्रवर्ती षट्खण्ड पर विजय प्राप्त करके चक्रवर्ती बना। परन्तु चक्रवर्ती पद का लाभ होने पर उसके मन में गर्व हो गया कि मुझे अब सदैव सर्वत्र लाभ ही लाभ है। अतः षट्खण्ड विजय के पश्चात् सातवाँ खण्ड साधने की उसकी तीव्र इच्छा हुई। लवणसमुद्र के किनारे ससैन्य आया। सामने धातकीखण्ड क्षेत्र था, जिसे जीतना चाहता था। आकाशवाणी ने तथा हितैषियों ने उसे मना किया। परन्तु लाभमदग्रस्त सुभूम ने एक न सुनी। तीव्र मदाक्रान्त होकर युद्ध करने गया, लेकिन लवणसमुद्र में गिरकर मरण-शरण हो गया, सप्तम नरक में गया। अतः लाभमद से साधक को सदा बचना चाहिए।[2]

---

१. 'उत्तराध्ययनसूत्र वृत्ति, अ. १३' से भाव ग्रहण

२. 'त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र ६/४' से भाव ग्रहण

ज्ञान का मद भी मनुष्य को ज्ञानवृद्धि से वंचित कर देता है

श्रुत (ज्ञान) का मद भी महान् अनर्थकर है। ज्ञान का मद करके व्यक्ति बाजी हार जाता है, नयी ज्ञान-प्राप्ति से वंचित स्थूलिभद्र जैसे ज्ञानी महात्मा को सेणा, वेणा, रयणा आदि साध्वी बहनें वन्दना करने गईं तो उन्हें ज्ञान का ऐसा मद चढ़ा कि मैं अपनी बहनों को अपने ज्ञान का चमत्कार बताऊँ कि मैं भी कुछ हूँ। अतः उन्होंने गुफा में सिंह का रूप धारण कर लिया। साध्वी बहनें तो डरकर भाग गईं। परन्तु उनके गुरु भद्रबाहु स्वामी ने देखा कि इसे ज्ञान पचा नहीं है। अतः उन्होंने आगे के ४ पूर्वों का पाठ अर्थ सहित नहीं पढ़ाया। थोड़े-से अभिमान के कारण कितनी हानि हुई? एक आचार्य को बहुत शास्त्रज्ञान था। कई शिष्य उनसे बार-बार प्रश्न पूछकर सन्तुष्ट थे। किन्तु आचार्य को ज्ञान का अभिमान हो गया। उक्त मान कषाय के कारण ऐसे कर्म बाँधे कि आगामी जन्म में 'मा रुष मा तुष' ये दो वाक्य भी याद करना कठिन हो गया। वर्षों तक पाठ करते रहने पर भी यह पाठ याद न हुआ। अन्त में साढ़े बारह वर्ष तक[1] आयम्बिल तप करने पर उसे केवलज्ञान प्राप्त हुआ। अतः ज्ञान के साथ विनय हो तभी ज्ञान फलता-फूलता है, बढ़ता है।

ऐश्वर्यमद का त्याग करना ही श्रेयस्कर है

ऐश्वर्य या वैभव, सत्ता, पद या अधिकार का मद भी मनुष्य का होश भुला देता है। 'प्रभुता पाय काई मद नांही' यह कहावत प्रसिद्ध है। धन का नशा बड़ों-बड़ों को नम्रता एवं विरभिमानता से दूर फेंक देता है। दशार्णभद्र राजा को भगवान महावीर को वन्दन करने जाने से पहले विचार उठा–"आज तक कोई न गया हो, ऐसी ऋद्धि-सिद्धि का प्रदर्शन करते हुए जाऊँ।" इस विचार के अनुसार वह बड़ी विशाल चतुरंगिणी सेना सजाकर राजशाही ठाट-बाट के साथ भगवान के दर्शनार्थ उसने प्रस्थान किया। परन्तु सौधर्मेन्द्र ने वैभव के अभिमान का यह ताना-बाना देखकर उसके अभियान को चूर-चूर करने हेतु उससे दुगुनी ऋद्धि-सिद्धि के साथ स्वर्गलोक से उतर आया। परन्तु दशार्णभद्र राजा भौतिक वैभव-प्रदर्शन की इस प्रतिस्पर्द्धा में हारने लगा। अन्त में दशार्णभद्र राजा के मन में अन्तःस्फुरणा हुई–"सब कुछ त्यागकर प्रभु के पास भागवती दीक्षा ग्रहण कर लूँ तो इस आध्यात्मिक वैभव की प्रतिस्पर्धा में इन्द्र नहीं टिक सकेगा।" वही हुआ। इन्द्र दशार्णभद्र राजा के चरणों में नमन करके कहने लगा–"आपके इस आध्यात्मिक वैभव की बराबरी मैं नहीं कर सकता। धन्य हैं आप !" अतः

---

१. (क) 'परिशिष्ट पर्व, सर्ग ८-९' से भाव ग्रहण
(ख) 'माषतुस की कथा' से भाव ग्रहण

धन-वैभव का अभिमान या प्रदर्शन करने से कर्मबन्ध के सिवाय और कोई लाभ होने वाला नहीं है। अत्यधिक परिग्रह का अभिमान मनुष्य को गिरा देता है।[1]

मान विजय से संवर और निर्जरा का लाभ

मान कषाय पर विजय प्राप्त करने से जीव को क्या लाभ होता है? इस पर भगवान ने फरमाया–मान विजय से मृदुता (कोमलता-नम्रता) प्राप्त होती है तथा फिर वह मान वेदनीय कर्म का बन्ध नहीं करता तथा जो पूर्वबद्ध कर्म है, उसकी निर्जरा कर डालता है।" अतः मान कषाय पर विजय पाने के लिए मुमुक्षु साधक को बार-बार अभ्यास करना चाहिए।[2]

माया कषाय के अनेक रूप और स्वरूप

तीसरा माया कषाय है। कुटिलता, वक्रता, वंचना, ठगी, कपट, छल, दम्भ, कैतव, बहाना, निकृति, शठता, धूर्त्तता आदि माया के ही अनेक रूप हैं। माया का लक्षण है–बोलना कुछ और करना कुछ। मीठी बात कहकर विश्वास में ले लेना और फिर ठगना माया है। अथवा दम्भ, दिखावा करना, असत्य को सत्य का रूप दे देना भी माया ही है। माया को एक आचार्य ने "असत्य की जननी, शीलवृक्ष को काटने वाली कुल्हाड़ी और अविद्याओं की जन्मभूमि तथा दुर्गति का कारण बताया है।"

माया से घोर पापकर्मबन्ध तथा दुर्गति-प्राप्ति

मनुष्य अपना तुच्छ स्वार्थसिद्ध करने के लिए माया कपट करता है। मायावी मनुष्य कई दफा अपना पाप, दोष छिपाने के लिए मायाजाल बिछाता है। मायावी का हृदय अत्यन्त गूढ़ होता है। वह दाँव-पेच करने में बड़ा ही कुशल होता है। माया के फलस्वरूप मनुष्य बहुधा तिर्यंचगति प्राप्त करता है[3] अथवा नरकगामी होता है।

मनुष्यगति नामकर्म का उपार्जन कर लेने के पश्चात् माया-कपट करने के कारण, मनुष्यगति प्राप्त करने के बावजूद स्त्रीत्व-स्त्रीयोनि मिलती है। जैसे–

---

१. 'स्थानांगसूत्र वृत्ति, ठा. १०' से भावांश ग्रहण

२. माणविजएणं मद्दवं जणयइ, माणवेयणिज्जं कम्मं न बंधइ; पुव्वबद्धं च निज्जरेइ।
–उत्तराध्ययन २९/६८

३. (क) असूनृतस्य जननी, परशुः शील-शाखिनः।
जन्मभूमिरविद्यानां–माया दुर्गति-कारणम्॥
–तत्त्वार्थसूत्र ६/१७

(ख) माया तैर्यग्योनस्य।
–योगशास्त्र

(ग) मायादुर्गतिकारणम्।

मल्लिनाथ भगवान को सर्वश्रेष्ठ पुण्यबन्ध के फलस्वरूप तीर्थंकरत्व तो प्राप्त हुआ, परन्तु माया नामक पापकर्म के कारण स्त्रीत्व प्राप्त हुआ। माया के कारण अशुभ घातिकर्म का बन्ध होता है, साथ ही माया कषाय अशुभ अघातिकर्मबन्ध का भी कारण है। मल्लीकुमारी तीर्थंकर भी बनीं, मोक्ष भी पाया, परन्तु माया कषाय ने अपना फल चखाया ही।

बहुधा स्त्रियाँ माया-कपट करने में चतुर

बहुधा स्त्रियाँ माया-कपट करने में बहुत चतुर होती हैं। चूलनी और सूरिकान्ता के उदाहरण प्रसिद्ध हैं। नास्तिक प्रदेशी राजा जब केशीश्रमण का सत्संग पाकर आस्तिक सम्यग्दृष्टि तथा व्रतधारी श्रावक बनकर धर्मध्यान में रत रहने लगा, तो उसकी रानी सूर्यकान्ता को यह अच्छा नहीं लगा। देह सुख-भोग-लालसा तृप्त न होते देख रानी ने प्रदेशी राजा को भोजन में जहर देकर मारने का षड्यंत्र रचा। राजा भोजन का कौर लेते ही समझ गया, परन्तु रानी पर क्रोध न करके अपने ही क्रूर कर्मों का फल समझ समभाव से सहकर उन्होंने प्राण त्याग दिये। रानी को विश्वास न हुआ, उसने राजा का गला मसोस दिया। सच है, मायावी मनुष्य कौन-सा पाप नहीं कर बैठता? उसके लिए कुछ भी अशक्य नहीं है।[1] परन्तु दूसरों को ठगने वाला स्वयं अपने आप को ठगता है।

माया कषाय से आत्म-गुणों की कितनी हानि ?

माया से क्षणिक लाभ तो यह है कि इससे थोड़ी-सी स्वार्थसिद्धि हो जाती है, परन्तु नुकसान कितना है? 'दशवैकालिकसूत्र' में कहा गया है–"माया मित्ताणि नासेइ।"–माया मित्रता को नष्ट कर देती है। एक बार मन फटने पर दुबारा जुड़ना बहुत ही कठिन होता है। माया परस्पर अविश्वास, अश्रद्धा और निन्दाकाण्ड को उत्पन्न कर देती है। दम्भ माया का गूढ़ रूप है। एक विचारक ने कहा–"दम्भ (कर्म) मुक्तिरूपी लता को जलाने में आग का काम करता है। फिर माया का सेवन करने वाला मोक्ष (सर्वकर्मक्षयरूप मुक्ति) से हजारों योजन दूर रह जाता है। शुभ धर्मक्रिया-विधि में माया राहू की तरह बाधक है। दम्भ दुर्भाग्य का सबसे बड़ा कारण है। वह अध्यात्म सुखानुभूति में अर्गला के समान बाधक है।" अध्यात्म-साधना में जरा-सी भी माया नौका में छोटे-से छिद्र की तरह साधक को डुबा देती है। मायावी पुरुष बाहर से बगुले के समान ध्यानयोगी दिखते हुए भी

---

१. (क) देखें–ज्ञाताधर्मकथा में मल्लिनाथ भगवती का वृत्तान्त, श्रु. १, अ. ८
(ख) रायप्पसेणी सुत्तं से।
(ग) मुद्धमं वंचयमाना वंचयन्ते स्वयमेव हि।

अन्दर में दूसरे की घात, हानि या वंचना का प्लान बनाता रहता है। मायी को शास्त्रकारों ने मिथ्यादृष्टि कहा है, अमायी सम्यग्दृष्टि होता है।[1]

सरल आत्मा शुद्ध होती है, उसी में धर्म टिकता है

जो सरल होता है, उसी के मन-बुद्धि-हृदय शुद्ध होते हैं और धर्म टिकता है शुद्ध हृदय में। जहाँ वक्रता है, वंचना है, माया है, वहाँ शुद्ध धर्म नहीं टिकता।[2]

माया कषाय से बचने के उपाय और लाभ

यदि माया कषाय से बचना है तो जीवन में, मन-वचन-काया में, हृदय और बुद्धि में सरलता, सत्यता, उदारता, अतुच्छता, मृदुता, आत्मौपम्यभावना, कोमलता, दया, सहानुभूति आदि सद्गुणों को अपनाना जरूरी है। 'दशवैकालिकसूत्र' में कहा गया–"आर्जव (सरलता के) भाव से माया को नष्ट करो।" 'उत्तराध्ययनसूत्र' में कहा गया है–"माया पर विजय प्राप्त करने से साधक ऋजुता (सरलता) को अर्जित कर लेता है। माया वेदनीय कर्म नहीं बाँधता। पहले बँधा हुआ हो तो उसकी निर्जरा कर लेता है। औषधियों से जैसे रोग मिटाते हैं, वैसे ही जगत् के साथ द्रोह करने वाली सर्पिणी की तरह मायारूपी व्याधि को मिटाना हो तो जगत् को आनन्द देने वाले आर्जवभाव से मिटाओ। माया सहित आलोचना करने वाला साधक भले ही बड़ा तपस्वी हो, उच्च पदवीधर हो, आराधक अभीष्ट नहीं हो सकता। वह विराधक होकर अपना संसार बढ़ाता रहता है। अतः माया का त्याग ही साधक के लिए अभीष्ट है।

लोभ कषाय : समस्त दुर्गुणों और दोषों की खान

चौथा लोभ कषाय है। यह चारों कषायों में सर्वाधिक प्रबल है। शास्त्र में बताया–"लोभ सर्वविनाशक है।"[3] अर्थात् लोभ अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, क्षमा, दया, शील, सन्तोष आदि सभी गुणों की हत्या कर देता है। लोभी मनुष्य धर्म, कर्म, पुण्य, पाप, हित-अहित, कल्याण-अकल्याण, कार्य-अकार्य का कोई विचार नहीं करता। इसीलिए कहा है–"समस्त पापों का निमित्त लोभ ही है, जो चातुर्गतिक संसार में बार-बार परिभ्रमण का कारण है।" "लोभ सब दोषों की खान है। समस्त गुणों को ग्रसित करने में राक्षस के समान है।" वह समस्त

---

१. (क) दम्भो मुक्तिलतावह्निर्दम्भी राहुः क्रियाविधौ।
दौर्भाग्यकारणं दम्भो, दम्भोऽध्यात्मसुखार्गला॥ –भगवतीसूत्र
(ख) माई मिच्छादिट्ठी, अमाई सम्मदिट्ठी। –उत्तराध्ययन, अ. ३, गा. १२

२. सोही उज्जुय भूयस्स धम्मो सुद्धस्स चिट्ठइ।

३. लोभो सव्व विणासणो।

व्यसनरूपी लताओं का कन्द है। वास्तव में लोभ, धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष, चारों पुरुषार्थों में बाधक है।[1] 'उत्तराध्ययन' में कहा है–"लोभाविष्ट मानव अदत्त ग्रहण (चोरी) करता है।"[2]

पाप का बाप लोभ : एक ज्वलन्त दृष्टान्त

एक ब्राह्मण पण्डित १२ वर्ष तक काशी में पढ़कर घर लौटा। उसकी धर्मपत्नी ने पूछा–"आपने तो बहुत शास्त्र पढ़ लिए हैं, तो बताइए पाप का बाप कौन है?" पण्डित जी का माथा ठनका। शास्त्रों के पारायण करने पर भी उन्हें उत्तर नहीं मिला। अतः इस प्रश्न के उत्तर के लिए पुनः काशी जाने के लिए पण्डित जी ने प्रस्थान किया। रास्ते में एक गाँव में एक बड़ा-सा मकान देखकर पण्डित जी ने सोचा–"यहाँ ठहरकर विश्राम एवं भोजन कर लें।" पण्डित जी को बाहर खड़े देख घर की मालकिन वेश्या बाहर आई और कहा–"पधारिये, स्वागत है।" घर में प्रवेश करते ही पण्डित जी को पता लगा कि यह वेश्या का घर है, अतः वापस लौटने लगे। वेश्या ने कहा–"पण्डित जी ! आप कहाँ जा रहे हैं? क्यों जा रहे हैं?" पण्डित जी ने कहा–" 'पाप का बाप कौन है?' इसके उत्तर के लिए मैं काशी जा रहा हूँ।" वेश्या रहस्य समझ गई। बोली–"एक दिन ठहरिये, मुझे भी आपका आतिथ्य करने का लाभ दीजिये।" पण्डित ना-नुकुर करने लगे तो वेश्या ने स्वर्ण-मुद्राएँ दिखाईं। अतः वेश्या भोजन बनाकर थाली में परोसकर लाई। मिष्टान्न देखकर पण्डित जी का मन ललचाया। फिर वेश्या जब अपने हाथ से कौर देने लगी तो पण्डित जी ने मुँह फेर लिया। वेश्या ने फिर कई मुहरें और उन्हें दीं। पण्डित जी को वेश्या के हाथ का यह सोचकर खाने का मन हुआ कि काशी में गंगास्नान करके पवित्र हो जाऊँगा। पण्डित जी ने खाने के लिए ज्यों ही मुँह खोला वेश्या ने एक चपत उनके मुँह पर जड़ दी। फिर कहा–"अब उत्तर मिल गया न आपको कि पाप का बाप कौन है?" पण्डित जी मान गये और शर्मिंदा होकर चुपचाप घर चले गये। लोभ पाप का बाप क्यों है? इसकी यह मुँह बोलती कहानी है।[3]

---

१. (क) सर्वेषामेव पापानां निमित्तं लोभ एव हि।
चातुर्गतिक संसारे, भूयो भ्रम निबन्धनम्॥
(ख) आकरः सर्वदोषाणां, गुणग्रसनराक्षसः।
कन्दो व्यसनवल्लीनां, लोभः सर्वार्थ-बाधकः॥

२. लोभाविले आययइ अदत्तं। –उत्तराध्ययन ३२/९४
मायामुसं वड्ढइ लोभदोसा। –वही ३२/९५

३. 'पाप की सजा भारी, भा. २' से संक्षिप्त, पृ. ७०२-७०३

लोभ का साम्राज्य आज जीवन के सभी क्षेत्रों में स्थापित हो चुका है। धार्मिक क्षेत्र भी इससे अछूता नहीं रह गया है। जहाँ सन्तोष, शान्ति और त्याग की महिमा थी, वहाँ भी धन, पद, प्रतिष्ठा, पूजा, प्रशंसा और प्रसिद्धि से लोभ का बाजार गर्म है। कर्मबन्ध और भविष्य में नरक और तिर्यञ्चगति के मेहमान बनने की बात को आज के तथाकथित धर्मनेता एवं भगवान का लेबल लगाये हुए लोभी व्यक्ति भूलते जा रहे हैं।

जिसके पास ज्यादा है अथवा जहाँ धन का लाभ ज्यादा होता है, वहाँ उसको उतना ही लोभ अधिक होता है, यह तथ्य भी एकांगी है। जिसके पास नहीं है अथवा कम है, उसे भी आशा, तृष्णा, लालसा और स्वार्थसिद्धि का लोभ लगा हुआ है। त्यागभावना, संतोषवृत्ति तथा स्वेच्छा से संवर-निर्जरा-धर्म को अपनाने की बात आज लोगों के दिलों में से प्रायः हटती जा रही है। परन्तु ऐसे लोगों को अभीष्ट वस्तुओं की प्राप्ति न होने पर अतृप्ति रहती है, फिर पाने के लिए लालसा जगती है, संतोष और शान्ति प्राप्त नहीं होती।

लोभ विजय के अनूठे उपाय

भगवान महावीर ने लोभ पर विजय प्राप्त करने के लिए छोटा-सा सूत्र दिया– "लोभं संतोसओ जिणे।" अर्थात् लोभ को संतोष से, त्याग से, व्युत्सर्ग से जीते। उन्होंने 'आचारांगसूत्र' में–"जो विषयभोगों की प्राप्ति की लालसा के दलदल से पारगामी हो जाते हैं, वे ही वास्तव में कर्मों से विमुक्त हों। अलोभ (सन्तोष) से लोभ को पराजित करता हुआ साधक कामभोग प्राप्त होने पर भी उनकी आकांक्षा नहीं करता, न ही ग्रहण करता है। अतः लोभ पर विजय प्राप्त करने, उसे वश में करने के लिए संतोष, त्याग, व्युत्सर्ग, सादगी और निर्लोभता का जीवन व्यतीत करना ही अभीष्ट है। ऐसे साधक के लिए कहा गया है कि जीवनयापन के योग्य वस्तुओं का प्रचुर लाभ होने पर मद न करे और लाभ न हो तो शोक (चिन्ता) न करे, अधिक मात्रा में प्राप्त होने पर न तो आसक्त हो, न संग्रह करे।"[1]

कपिल ने लोभ पर विजय प्राप्त करके केवलज्ञान पाया

कपिल विप्र दो माशा सोने की प्राप्ति के लोभ में राजा से माँगने गया। राजा ने उसकी असलियत पहचानकर उसे मुँहमाँगी सम्पत्ति एवं वस्तु देने का आश्वासन

---

१. (क) दशवैकालिक, अ. ८, गा. ३९

(ख) विमुक्का हु ते जणा, जे जणा पारगामिणो।
लोभमलोभेण दुगुंछमाणे लद्धे कामेणाभिगाहति॥ –आचारांग १/२/२/७१

(ग) लाभो त्ति ण मज्जेज्जा, अलाभो त्ति ण सोएज्जा; बहुं पि लद्धुं ण णिहे।
–वही १/२/५/८९

दिया। बगीचे में शान्ति से बैठकर कपिल सोचते-सोचते इस परिणाम पर पहुँचा कि ये सभी वस्तुएँ नश्वर हैं, टिकने वाली नहीं हैं, परलोक में भी साथ जाने वाली नहीं हैं, आत्मा के पास अनन्त ज्ञानादि धन है; वही स्थायी है, शाश्वत है। उसे छोड़कर अस्थायी एवं नश्वर वस्तु को क्यों माँगा जाए? उसने अपनी भूल के लिए पश्चात्ताप किया–दो माशा सोने का कार्य करोड़ तोले सोने से भी पूरा नहीं हुआ। धिक्कार है मेरी लोभ दशा को ! क्यों मैं इस पाप में फँसा? मैंने बहुत बड़ा अपराध किया है? इस प्रकार पश्चात्ताप की धारा में बहते-बहते आत्म-धन को पाने की तीव्रतम ध्यानाग्नि ने घातिकर्मों को नष्ट कर दिया, घातिकर्मबन्धन टूटते ही केवलज्ञान प्रगट हो गया। 'आचारांगसूत्र' इस तथ्य का साक्षी है–जो उच्च कोटि का साधक लोभ कषाय से विरत होकर प्रव्रजित हो जाता है, वह अकर्म (कर्मावरण से मुक्त) होकर (केवलज्ञान प्राप्त करके) सब कुछ जानता-देखता है।[1]

लाभ विजय से आत्म-शान्ति, सन्तोष

अतः लोभ की वृत्ति एक जन्म में एक बार भी जोर पकड़ती है और उसे विवेकपूर्वक रोका नहीं जाता है तो वह जन्म-जन्मान्तर तक पीछा नहीं छोड़ती है। जन्म-जन्मान्तर में ही लोभ के संस्कार उसके जीवन में उमड़-घुमड़कर आते हैं, फिर वह अनेक पापकर्मों को बाँधकर दुर्गति में जाता है। इस प्रकार लोभ के चक्कर में पड़कर बार-बार संसार-वृद्धि करने की अपेक्षा त्याग और सन्तोष के द्वारा लोभ पर विजय पाकर संसारवृद्धि की परम्परा को तोड़ देना और आत्म-शान्ति प्राप्त करना क्या बुरा है? जिन-जिन लोगों ने लोभ के चक्कर में पड़कर लोगों को लूट-खसोटकर धन इकट्ठा किया, भ्रष्टाचार, अनाचार, अत्याचार और अन्याय-अनीति से धन कमाकर उससे आनन्द और शान्ति पाने की आशा रखी, जिन्होंने बड़े-बड़े साम्राज्य स्थापित किये, वे अन्तिम समय में घोर पश्चात्तापपूर्वक दुर्गति में गए, उनका नामोनिशान भी नहीं रहा। अतः लोभ के दुर्लंघ्य महासागर को पार करने के लिए त्याग और संतोष का सेतु बनाना ही हितावह है। पूणिया श्रावक कितना संतोषी और सुखी था? उसे अभाव ने कभी पीड़ित नहीं किया। लोभ विजय का उत्तम परिणाम बताते हुए भगवान ने कहा–"लोभ विजय से जीव सन्तोष को प्राप्त करता है। लोभ वेदनीय कर्म का बन्ध नहीं करता, पूर्व में बद्ध कर्म की निर्जरा कर देता है।"[2]

---

१. (क) देखें–उत्तराध्ययनसूत्र, अ. ८ में कपिलकेवली का वृत्तान्त
(ख) विणा वि लोभं निक्खम्म एस अकम्मे जाणति पासति। –आचारांग १/२/२/७१

२. (क) देखें–आवश्यकनिर्युक्ति में पूणिया श्रावक का वृत्तान्त
(ख) लोभविजएणं सन्तोसं जणयइ। लोभवेयणिज्जं कम्मं न बंधइ। पुव्वबद्धं च निज्जरेइ।
–उत्तरा., अ. २९, सू. ७०

इस प्रकार चारों कषायों पर विजय प्राप्त करने तथा उनका निग्रह करने से आत्मा शुद्ध होती जाती है, संसार परिभ्रमण को घटाती जाती है और संवर-निर्जरा के द्वारा क्रमशः सर्वकर्मों से मुक्त हो जाती है।

नोकषाय : स्वरूप और अर्थ

इसके बाद कर्ममुक्ति के मुमुक्षु साधक को कषायों के उपजीवी नोकषायों पर विजय प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए। नोकषाय का अर्थ होता है–ईषत् = अल्प, कषाय। नोकषाय कषायों को उत्तेजित करने वाले हैं।

हास्य नोकषाय : स्वरूप और कटु फल

इन नौ प्रकार के नोकषायों में सबसे प्रथम नोकषाय है–हास्य। यह मोहनीय कर्म का ही प्रकार है। हास्य का अर्थ है–हँसी-मजाक करना, किसी की मश्करी करना, किसी की बिगड़ती बाजी, गिरती दशा अथवा रोग, व्याधि या चिन्ता की दशा पर हँसना, व्यंग्य करना, ताने मारना अथवा किसी के दुःख या विपत्ति को हँसकर टाल देना; ये सब हास्य नोकषाय के प्रकार हैं। इसी प्रकार सर्वकर्ममुक्त सिद्ध-बुद्ध परमात्माओं की अथवा जीवन्मुक्त अरिहन्त परमात्मा की, धर्म-धुरन्धर साधु-साध्वियों की, धर्म-परायण श्रावक-श्राविकाओं की, धर्म-परायण संघ, गण और कुल की हँसी उड़ाना, उनके प्रति अवर्णवाद, परिवाद कहकर उनका मखौल उड़ाना आदि भी हास्य मोहनीय कर्मबन्ध के कारण हैं। 'स्थानांगसूत्र' में स्पष्ट कहा है–"पाँच कारणों से जीव दुर्लभ बोधि बनाने वाले मोहनीय आदि कर्मों का उपार्जन करते हैं–(१) अर्हतों का अवर्णवाद (निन्दा, हँसी या असद्दोषोद्भावन) करते हुए, (२) अर्हत्प्रज्ञप्त धर्म का अवर्णवाद करते हुए, (३) आचार्य-उपाध्याय का अवर्णवाद करते हुए, (४) चातुर्वर्ण्य (चतुर्विध) धर्मसंघ का अवर्णवाद करते हुए, (५) तप और ब्रह्मचर्य के परिपाक (फलस्वरूप) दिव्यगति को प्राप्त देवों का अवर्णवाद करते हुए।"[1] आशातना भी एक प्रकार से हँसी उड़ाना है। जैसे–कूरगडुक मुनि की दूसरे तपस्वी साधु हँसी उड़ाते थे अथवा माष-तुष मुनि को भी शास्त्रीय गाथा याद न होने से अन्य साधु आदि उसका मजाक करते थे। इसी प्रकार साधक परस्पर हँसी-मजाक के सिवाय, "अत्यन्त (मर्यादा से अधिक) हास्य (खिलखिलाकर या ठहाका मारकर हँसने) से भी बचे।"[2] जहाँ किसी

---

१. पंचहिं ठाणेहिं जीवा दुल्लभ–बोधियत्ताए कम्मं पकरेंति, तं.–अरहंताणं अवण्णं वदमाणे, अरहंत-पण्णत्तस्स धम्मस्स अवण्णं वदमाणे, आयरिय-उवज्झायाणं अवण्णं वदमाणे, चाउवण्णस्स संघस्स अवण्णं वदमाणे, विवक्क-तव-बंभचेराणं देवाणं अवण्णं वदमाणे।

–ठाणांग, ठा. ५, उ. २

२. णातिवेलं हसे मुणी। –सूत्रकृतांग, श्रु. १, अ. ९, गा. २९

पंचेन्द्रिय-विषय की प्राप्ति की लालसा होती है और अनायास या थोड़े से आभास से मिल जाता है या किसी स्वार्थ की पूर्ति या धन-प्राप्ति हो जाती है तो मनुष्य को अत्यन्त हर्ष होता है, हर्ष के मारे वह नाच उठता है, यह अतिहास्य भी कभी-कभी हार्ट फेल का कारण बन जाता है, हास्य मोहनीय कर्म बँधता है सो अलग। एक गरीब धोबी को सूचना मिली कि तुम्हारे नाम से एक लाख रुपयों की लाटरी खुली है, वह हर्ष के मारे नाच उठा। इसी अतिहर्ष-अतिहास्य के कारण उसका वहीं हार्ट फेल हो गया। 'तत्त्वार्थ राजवार्तिक' में कहा गया है-"उत्प्रहास, दीनतापूर्वक हँसी, कामविकारपूर्वक हँसी, विदूषक बनकर भाण्ड कुचेष्टा से लोगों को हँसाना, प्रत्येक व्यक्ति की हँसी उड़ाना आदि हास्य वेदनीय (नोकषाय) आस्रव (बन्ध) के कारण हैं।"[1] इसीलिए 'आचारांगसूत्र' में कर्ममुक्ति साधक के लिए कहा गया है कि "साधक सभी प्रकार के हास्यों का परित्याग करके इन्द्रिय-निग्रह तथा मन-वचन-काया को तीव्र गुप्तियों से गुप्त (नियंत्रित) करके विचरण करे।"[2]

संसार में कई कामभोगों में आसक्त मनुष्य अपने मनोविनोद के लिए प्राणिवध करता है, वह भी हास्य मोहनीय तीव्र कर्मबन्ध का कारण है। 'आचारांगसूत्र' में कहा गया है-"वह हास्य-विनोद में आकर या हास्य-विनोद के लिए प्राणियों का वध करके खुशी मनाता है। बाल = अज्ञानी को इस प्रकार के हास्य आदि विनोद से क्या लाभ है? ऐसा करके तो वह (उन जीवों के साथ) अपना वैर ही बढ़ाता है।"[3] अतः हास्य नोकषाय से बचने के लिए मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति मौन, यत्नाचार, भाषासमिति आदि का आलम्बन लेना चाहिए।

रति-अरति नोकषाय : क्या और कैसे ?

हास्य के बाद रति और अरति ये दो नोकषाय हैं। इनकी गणना अष्टादश पापस्थानों में भी की गई है। रति और अरति का सामान्यतया अर्थ होता है-पंचेन्द्रिय विषय-सुखों में प्रीति रति है और इनके संयम में अप्रीति अरति है। 'अठारह पापस्थानों में प्रवृत्ति से पतन, निवृत्ति से उत्थान' शीर्षक निबन्ध में इन दोनों के विषय में पर्याप्त प्रकाश डाला है। रति-अरति वेदनीय (नोकषाय मोहनीय) के कारणों के विषय में 'राजवार्तिक' में कहा गया है-"विचित्र क्रीड़ा, दूसरे के चित्त को आकर्षित करना, बहुपीड़ा, देशादि के प्रति अनुत्सुकता, प्रीति (आसक्ति)

---

१. उत्प्रहासादीनाभिहासित्व-कन्दर्पोपहसन-बहुप्रलापोपहास-शीलताहास्यवेदनीयस्य।
-तत्त्वार्थ राजवार्तिक ६/१४/३/५२५/८

२. सव्वं हासं परिचज्ज अल्लीणगुत्तो परिव्वए। *-आचारांग, श्रु. १, अ. ३, उ. ३*

३. अवि से हासमासज्ज, हंताणंदीति मण्णति।
अलं बालस्स संगेण, वेरं वड्ढेति अप्पणो॥ *-वही, श्रु. १, अ. ३, उ. २*

उत्पन्न करना रति वेदनीय आस्रव के कारण हैं तथा रति विनाश, पापशील व्यक्तियों की कुसंगति, अकुशल क्रिया को प्रोत्साहन देना अरति वेदनीय आस्रव के कारण हैं।[1] रति-अरति से बचने के लिए संयम-असंयम का विवेक, अप्रमाद और यत्नाचार करना आवश्यक है।

शोक नोकषाय : स्वरूप और हानि

चौथा नोकषाय है–शोक। शारीरिक, मानसिक, पारिवारिक चिन्ता, उद्विग्नता, रुदन, संताप, आर्त्तध्यान, विलाप, तनाव आदि सब शोक के ही रूप हैं। किसी उपकारी या हितैषी अथवा स्वार्थसाधक से सम्बन्ध टूट जाने या इष्ट के वियोग–अनिष्ट संयोग हो जाने से अथवा किसी प्रिय वस्तु के नष्ट हो जाने, चुराये जाने या किसी प्रकार से वियोग हो जाने पर जो व्याकुलता-उद्विग्नता, चिन्ता-फिक्र होती है, उसे शोक कहते हैं। जिसके उदय से शोक होता है, वह शोक नोकषायरूप चारित्रमोहनीय कर्म है। शोक करने से मोहनीयरूप पापकर्म का बन्ध होता है। शोक वेदनीय (नोकषाय मोहनीय) आस्रव के कारण ये हैं–स्वशोक, प्रीति के लिए पर का शोक करना, दूसरों के मन में दुःख उत्पन्न करना, शोक से व्याप्त का अभिनन्दन करना आदि।[2] शोक करने से मनुष्य आर्त्तध्यानवश स्वयं भी दुःखी होता है और दूसरों को भी दुःखी करता है। वाल्मीकि ऋषि का कथन है–"शोक धैर्य को नष्ट कर देता है, शास्त्रज्ञान को भुला देता है। इतना ही नहीं, शोक समस्त गुणों को नष्ट कर देता है। इसलिए शोक जैसा दूसरा कोई शत्रु नहीं है।" शोक के वशीभूत मनुष्य में जप, तप, सुख, शान्ति, संयम, इन्द्रिय-निग्रह और समाधि कहाँ रहती है? और कहाँ टिकता है उसके पास धन, बल, घर और गुण? चक्रवर्ती की रानी श्रीदेवी ६ महीने तक शोक करके छठी नरक में उत्पन्न होती है। शोक के समय मनुष्य के सभी सुख चले जाते हैं, धृति-मति आदि गुण भी पलायित हो जाते हैं। अतः बुद्धिमान् मनुष्य को स्वयं के तथा दूसरों के शोक को नष्ट करने या कम करने के लिए धर्मध्यान में चित्त लगाना चाहिए। पर-वस्तु नाशवान् है, क्षणिक है, ऐसा वस्तुस्वरूप समझकर शाश्वत आत्मा में, आत्म-भावों या आत्म-गुणों में रमण

---

१. (क) विचित्र-परक्रीड़न-परसौचित्यावर्जन-बहुविधपीड़ाभाव-देशाद्यनौत्सुक्य-प्रीति-संजननादि-रतिवेदनीयस्य।
(ख) पररति-प्रादुर्भावन-रतिविनाशन-पापशील-संसर्गता-कुशलक्रिया-प्रोत्साहनादिः अरतिवेदनीयस्य॥ –राजवार्तिक ६/१४/३/५२५/८

२. (क) अनुग्राहक-सम्बन्ध-विच्छेदैवैक्लव्य-विशेषः शोकः। –सर्वार्थसिद्धि ६/११/३२८/१२
(ख) स्वशोकामोद-शोचन-परदुःखाविष्करण-शोकप्लुताऽभिनन्दनादिः शोकवेदनीयस्य। –राजवार्तिक ६/१४/३/५२५/८

करना चाहिए। वियोग होना प्रत्येक सजीव-निर्जीव पदार्थ का स्वभाव है। उसके वियोग में मोहवश शोक करके कर्मबन्ध करने की अपेक्षा पंच-परमेष्ठी का स्मरण, नाम जप, कषाय-उपशमन आदि का प्रयत्न करना चाहिए। तभी कर्ममुक्ति के मार्ग में आगे बढ़ा जा सकता है। वस्तुतः वे ही महापुरुष हैं, जो संसार के परमार्थ को जानकर अनार्य शोक प्रसार के कदापि वशीभूत नहीं हुए।[1]

भय नोकषाय : क्या, कितने प्रकार एवं बचने का उपाय ?

पाँचवाँ नोकषाय भय है। जिस कर्म के उदय से सात प्रकार का भय या उद्वेग उत्पन्न होता है, वह भय है।[2]

भय मोहनीय कर्म : संवर और निर्जरा में बाधक

योगीश्वर आनन्दघन जी ने कहा–"भय चंचलता जे परिणामनी रे।"–जिन कर्मस्कन्धों के उदय के कारण जीव के परिणामों में भयजनित चंचलता आ जाती है, वही भय है।[3]

भय जीवन में तथा साधना के विषय में शंका, कांक्षा, विचिकित्सा पैदा करता है, साथ ही कितने ही भय अविश्वास, प्रेम-भंग, द्वेष, वैर-विरोध, शत्रुता आदि भी पैदा कर देते हैं। भय जीवन-व्यवहार के किसी सत्कार्य में भी पुरुषार्थ करने में बाधक बनता है। जीवन की अटपटी घाटियों में यदि मानव डर-डरकर चलता है, तो किसी भी सत्कार्य में, कर्त्तव्य-पालन में उसको सफलता प्रायः नहीं मिलती। दूसरों को भय उत्पन्न करने, आतंक पैदा करने या डराने-धमकाने से भय नोकषाय कर्म बँधता है। इसलिए कर्ममुक्ति के साधक को निर्भयतापूर्वक अहिंसा, सत्य आदि की साधना करनी चाहिए। साधना के साथ भय हो तो साधना से जितना कर्मक्षय होना चाहिए, उतना नहीं हो पाता, सकामनिर्जरा तथा संवर का लाभ नहीं मिल पाता।

---

१. (क) शोको नाशयते धैर्यं, शोको नाशयते श्रुतम्।
शोको नाशयते सर्वं, नास्ति शोकसमो रिपुः॥ –*वाल्मीकि रामायण* २/६२/१५

(ख) क्व जपः क्व तपः क्व सुखं क्व शमः, क्व यमः क्व दमः क्व समाधि-विधिः।
क्व धनं क्व बलं क्व गृहं क्व गुणो, बत शोकवशस्य नरस्य भवेत्॥
–*सुभाषितमाला, भा. २ (आ. हस्तिमल्ल जी)*

(ग) ते णवरं महापुरिसा जे य अणज्जेण सोय-पसरेण।
णं वसीकया कयाइ वि, जाणिय संसार-परमत्था॥ –*वही, भा. २*

२. जस्स कम्मस्स उदएणं जीवस्स सत्त भयाणि समुपज्जंति तं कम्मं भयं णाम।
–*धवला १३/५, ५/९६/३६१*

३. 'आनन्दघन चौबीसी' में संभवनाथ भगवान की स्तुति से भाव ग्रहण।

भय से साधना में कितनी हानि, कितनी क्षति ?

अपने लक्ष्य की ओर बढ़ते हुए साधक का कदम जब आगे बढ़ने से रुक जाता है, शंका, अविश्वास, सन्देह और आकांक्षाओं के घेरों से घिरकर मनुष्य अपने लक्ष्य की ओर बढ़ता हुआ ठिठक जाता है, उसी का नाम भय है। 'स्थानांगसूत्र' में भय उत्पन्न होने के ४ कारण बताये हैं–(१) शक्तिहीन होने से या हीनभाव आने से, (२) भय वेदनीय कर्म के उदय से, (३) भय की बात सुनने या भयानक दृश्य देखने से, और (४) इहलोक आदि भय के कारणों को याद करने से।[1] साधक की यही कमी उसका विकास रोक देती है। अगर मन में किसी प्रकार का भय न हो तो वह शीघ्र ही आगे बढ़ जाता। 'प्रश्नव्याकरणसूत्र' में सत्य-संवर के सन्दर्भ में कहा गया है–"जिसकी सत्य के प्रति वफादारी है, निष्ठा है, धृति है, वह मनुष्य किसी भी भय से आक्रान्त नहीं हो सकता। सत्य की आज्ञा में उपस्थित मेधावी मृत्यु को भी पार कर जाता है, वह अमर हो जाता है। इसके विपरीत जो भयभीत होता है, वह तप और संयम को भी छोड़ बैठता है। भयभीत मानव किसी भी गुरुतर दायित्व को नहीं निभा सकता और न ही भयभीत मानव किसी का सहायक हो सकता है। जो स्वयं भी डरता है वह दूसरों को भी डरायेगा। भयभीत मनुष्य के पास भय शीघ्र आते हैं। संसार में भयाकुल व्यक्ति ही भूतों के शिकार होते हैं। भूतकाल की डरावनी स्मृतियाँ, अतीत की विपत्तियों के स्मरण तथा अन्य भयानक दृश्यों की यादें उन्हें और भयभीत कर देती हैं। अतः न तो स्वयं किसी बात से डरना चाहिए और न ही किसी को डराना चाहिए। भय मनुष्य के साहस को तोड़ देता है।" वह जब भी अहिंसादि की साधना के मार्ग में आगे बढ़ने लगता है, तब भय शैतान की तरह उसके मानस में आकर कहता है–यदि तू असफल हो गया तो क्या करेगा? यदि तू संकट में पड़ गया तो तेरी क्या दशा होगी? यदि निर्भयता आ जाये तो मनुष्य आत्म-विश्वास और साहस के साथ आगे से आगे बढ़कर समता, क्षमा, मृदुता, ऋजुता, पवित्रता, सत्य, संयम आदि धर्मों का पालन करके साधना के शिखर तक पहुँच सकता है, कर्मों के जाल तथा कषायों के दाँव-पेच का अतिक्रमण करके वह समस्त कर्मों से मुक्त होकर अनन्त आत्मिक ऐश्वर्य प्राप्त कर सकता है।[2]

---

१. स्थानांगसूत्र ४/४/३५६

२. (क) सच्चस्स आणाए उवट्ठिओ मेहावी मारं तरइ। –आचारांग १/३/३
(ख) सच्चम्मि धिई कुव्वहा। –वही १/३/२
(ग) भीतो तव-संजमं पि हु मुएज्जा। भीतो य भरं नेत्थरेज्जा। भीतो अबितिज्जओ मणुस्सो। भीतं खु भया अहेंति लहुयं। भीतो भूतेहिं घिप्पइ। भीतो अत्रं पि हु भेसेज्जा। ण भाइयव्वं। –प्रश्नव्याकरण २/२
(घ) 'अमर आलोक' (उपाध्याय अमर मुनि) से भावांश ग्रहण, पृ. ११४

भय के मुख्य सात निमित्त कारण

जैनागमों में भय के सात प्रमुख कारण (स्थान) बताये गये हैं–(१) इहलोकभय, (२) परलोकभय, (३) आदान (अत्राण) भय, (४) अकस्मात्भय, (५) वेदनाभय या आजीविकाभय, (६) अश्लोकभय या अपयशभय, और (७) मरणभय। दिगम्बर परम्परा में आदानभय के बदले अत्राणभय, अश्लोकभय के बदले अगुप्तिभय शब्द मिलता है।[1] इहलोकभय-परलोकभय–आजीविकाभय इहलोकभय में गतार्थ हो जाता है। इस लोक में मनुष्य, तिर्यञ्च या देव आदि किसी प्राणी का भय अथवा किसी जबर्दस्त व्यक्ति का भय इहलोकभय है। इसके अतिरिक्त किसी को धन, पद, अधिकार अथवा किसी व्यक्ति या वस्तु के खाने, छूट जाने या वियोग होने का भय लगा रहता है, वह भी इहलोकभय है। परन्तु यह भय वृथा है। अगर व्यक्ति सत्य, अहिंसा और ईमानदारी आदि के मार्ग पर चल रहा है, तो उसे किसी भी व्यक्ति या विपत्ति से घबराने की आवश्यकता नहीं। वृक्ष की जड़ मजबूत हो तो उसे पतझड़ की ऋतु आने पर सारे पत्ते-फल-फूल झड़ जाने पर भी कोई चिन्ता नहीं होती, क्योंकि वसन्त का आगमन होते ही वह पुनः पल्लवित-पुष्पित-फलित हो जाता है, इसी प्रकार जिस साधक में सत्यनिष्ठा, धर्मनिष्ठा, प्रामाणिकता या समता विद्यमान है, उसे सब कुछ बाह्य साधनों के चले जाने पर भी घबराहट नहीं होती। सम्यग्दृष्टि आत्मा वही है, जिसे इहलोक-परलोक का भय नहीं होता। आत्मा की अमरता-नित्यता पर जिसे विश्वास है, उसे किसी भी प्राणी से भय नहीं होता।

परलोक का भय भी उसे सताता है जो यह सोचता रहता है कि परलोक में मेरा क्या होगा? मुझे नरक मिला तो कितनी यातनाएँ सहनी पड़ेंगी? मुझे स्वर्ग न मिला तो ये सारे सुख, जो इस जीवन में मिले हैं, सब छूट जायेंगे। इस प्रकार का भय उसी को होता है, जो धर्ममार्ग को छोड़कर अन्याय, अनीति, हिंसा आदि पापकर्म के पथ पर चलता है। जो सद्धर्म का आचरण करता है, सम्यग्दृष्टि है, उसे परलोक का भय भी नहीं होता। परलोक को मानने में कोई दोष नहीं, परन्तु उससे डरना ठीक नहीं। आदानभय का अर्थ है–वस्तुओं के छिन जाने, अपहरण किये जाने या चुराये जाने का भय। और अत्राणभय का अर्थ है–अपनी या अपनों की सुरक्षा का अथवा धनादि के संरक्षण का भय। इन भयों से भी सम्यग्दृष्टि साधक आक्रान्त होता है, मोहनीय कर्म बाँध लेता है, परन्तु सुरक्षा के कारणभूत

---

१. (क) सत्त भयट्ठाणा पण्णता तं.–इहलोगभए परलोगभए आदाणभए अकम्हाभए वेयणभए मरणभए असिलोगभए। –स्थानांगसूत्र, स्था. ७, उ. १

(ख) इह-परलोयताणं अगुत्ति-मरणं च वेयणाकस्सि भया। –मूलाचार ५३

संवर-निर्जरारूप धर्म का आचरण करने वाले को इन पर-पदार्थों के चले जाने का भय प्रायः नहीं होता। भय उसी को होता है, जैसा कि कहा है–"सामाइयमाहु तस्स जं जो अप्पाणं भयं न दंसए।"–सामायिक (समभाव) उसी आत्मा के होता है जिसके मन में भय का दंश नहीं होता। उसे अकस्मात् (आकस्मिक) भय भी नहीं होता; क्योंकि आयुष्यकर्म प्रबल है तो किसी प्रकार की दुर्घटना नहीं होगी, दुर्घटना होगी भी या दुःसाध्य रोग उत्पन्न होगा, तो भी उससे वह उबर जायेगा। वह समभावपूर्वक, निर्भयतापूर्वक सहन करके कर्मनिर्जरा कर लेगा।[1]

वेदनाभय भी रोगादि के पूर्व भी पीछे भी होता है, किन्तु असातावेदनीय कर्म के उदय के कारण रोगादि पीड़ा उत्पन्न होने पर भी सम्यग्दृष्टि उपचार करता है, दुःख का वेदन या आर्त्तध्यान नहीं करता, फलतः समभावपूर्वक सहन करके कर्मक्षय कर लेता है। अपयशभय भी सचाई पर चलने वाले साधक को नहीं होता। मान लो, पूर्वबद्ध अशुभ कर्म के उदय के कारण उस पर कोई कलंक या अपयश लग गया, तो भी सम्यग्दृष्टि घबराता नहीं है। फलतः शीघ्र ही वह झूठा कलंक धुल जाता है। परन्तु अपकीर्ति के भय से आत्महत्या करना तो भयंकर पापकर्मबन्ध करना है। आजीविकाभय भी उसे सताता है, जिसे आत्म-विश्वास नहीं है, अपने पुण्यों पर भरोसा नहीं है, अपनी शक्ति, मनोबल या पराक्रम पर विश्वास नहीं है। क्या पूणिया श्रावक को अपनी थोड़ी-सी आजीविका पर विश्वास नहीं था? बुढ़ापे में मेरा क्या होगा? मेरी प्रतिष्ठा समाप्त न हो जाय ! ये सब भय उसी को सताते हैं, जिसे आत्मा पर या आत्मा के सद्धर्म, सत्कर्म पर विश्वास नहीं होता।

मरणभय : किसको होता है, किसको नहीं ?

मरणभय सबसे प्रबल है। 'उत्तराध्ययन' में कहा गया है–"मच्चुणा अब्भाहओ लोओ।"–समग्र लोक मृत्यु से अभ्याहत = आक्रान्त है। शरीरनाश के विषय में चिन्ता होना मृत्युभय है। मौत का भय बड़े-बड़े योद्धाओं, शासकों, धनिकों, साधकों को सताता है। मृत्यु का काल्पनिक भय भी उसी को सताता है, जिसकी दृष्टि सम्यक् न हो, जिसे तत्त्व का ज्ञान न हो, जो तत्त्वज्ञ है, सम्यग्दृष्टि है, उसे मृत्यु का भय नहीं सताता। वह सोचता है कि जो जन्मा है, उसकी मृत्यु तो एक न एक दिन होने ही वाली है। 'आतुरप्रत्याख्यान' के अनुसार–"मैंने सुगति का या मोक्षगति का मार्ग अच्छी तरह ग्रहण किया है, इसलिए मैं मृत्यु से क्यों डरूँ? उसे जब भी आना हो आये !" "धीर पुरुष को भी एक दिन अवश्य मरना है और

---

१. (क) 'साधना के मूल मंत्र' से भावांश ग्रहण, पृ. २५५, २५७
(ख) 'पंचाध्यायी' (उत्तरार्द्ध), श्लो. ५०६, ५१६-५४४ का भाव ग्रहण

कायर को भी; यानी दोनों को जब एक दिन मरना ही है, तब धीर पुरुष की तरह समाधिपूर्वक मरना ही श्रेष्ठ है।"[1]

सत्यनिष्ठ साधक मरणभय से नहीं डरता

आचार्य हेमचन्द्र के पाट पर आचार्य रामचन्द्र बैठे, उधर कुमारपाल के सिंहासन पर जयपाल बैठा। परन्तु वह भोगी, विलासी, सुरा-सुन्दरी में आसक्त और अत्याचारी था। फिर भी प्रजा पर अपनी धाक जमाने के लिए आचार्य रामचन्द्र से कहा–"आप मेरी प्रशस्ति लिखिये, मैं आपको सब तरह से सम्मान दूँगा।" किन्तु स्वातंत्र्यप्रिय निर्भीक आचार्य ने उससे कहा–"मैं झूठा यशोगान कदापि नहीं करूँगा। अगर तुम अपना जीवन न्यायनीति, ईमानदारी एवं सदाचार से युक्त बनाओ, तो कर सकता हूँ।" इस पर क्रुद्ध होकर जयपाल ने आचार्य को बंदी बना लिया और अमानुषिक यातनाएँ देकर मरवा डाला व सत्यनिष्ठ आचार्य अन्तिम समय तक सत्यपथ से विचलित न हुए, न ही उनके मन में भय, उद्वेग एवं खेद का संचार हुआ। मरणभय या अन्य सभी भय उसी को पीड़ित करते हैं, जिसके मन में किसी प्रकार की आशंसा या भोगों आदि की आकांक्षा है।[2]

भय आत्मा की दुर्बलता है। स्वयं के पराक्रम की कमजोरी है, इसके रहते साधना में तेजस्विता नहीं आती। जहाँ भी धन, पदार्थ, पद या किसी पदार्थ की आशंसा होगी, चाहे वह जीने की हो, चाहे इहलोक-परलोक में सुखभोग की हो या अन्य वस्तुओं की, वहाँ भय अवश्यम्भावी है। धन की आशंसा होगी तो चोर-डाकुओं का भय बना रहेगा, जीने की आशंसा होगी तो मृत्यु का भय बना रहेगा।

अनाशंसा या अनाकांक्षा के बिना अभय नहीं आ सकता। आनन्द, कामदेव, अर्हन्नक आदि गृहस्थ श्रावकों के जीवन में धर्म और मोक्ष से बढ़कर कोई आशंसा

---

१. (क) 'साधना के मूल मंत्र' से भावांश ग्रहण, पृ. २५४-२५५
(ख) 'पंचाध्यायी' (उ.), श्लो. ५२५-५४४
(ग) उत्तराध्ययन, अ. १४, गा. २२
(घ) न भाइयव्वं भयस्स वा, वाहिस्स वा, रोगस्स वा, जराए वा, मच्चुस्स वा।
–प्रश्नव्याकरण २/२
(ङ) गहिओ सुगईमग्गो नाहं मरणस्स बीहेमि। *–आतुरप्रत्याख्यान ६३*
(च) धीरेणावि मरियव्वं कापुरिसेणा वि अवस्सं, मरियव्वं।
दुण्हं पि हु मरियव्वं, वरं खु धीरत्तणे मरिउं॥ *–वही ६४*

२. 'साधना के मूल मंत्र' से संक्षिप्त, पृ. २५९

नहीं थी, इसीलिए वे उपसर्गों के दौरान अथवा मृत्यु की घड़ियों के समय बिलकुल निर्भय, निर्द्वन्द्व एवं निरुद्विग्न रहे।[1]

भयवेदनीय आस्रव के कारणों का उल्लेख 'राजवार्तिक' में किया गया है–"स्वयं भयभीत रहना और दूसरों को भयभीत करना।" इसलिए कर्ममुक्ति के साधक को भय के जितने भी कारण हैं, उनसे तत्त्वज्ञान-सम्यग्ज्ञानपूर्वक बचना चाहिए।[2]

जुगुप्सा : अर्थ, स्वरूप एवं कारण

इसके बाद छठा नोकषाय है–जुगुप्सा। जुगुप्सा का अर्थ होता है–घृणा, नफरत या अरुचि। यह द्वेष का उपजीवी या उत्तेजक दुर्गुण है। जुगुप्सा हृदय का पागलपन है, घृणा शैतान का कार्य है। किसी के प्रति लम्बे अर्से तक गुप्त घृणा रखने से एग्जिमा, दमा, हाई ब्लड प्रेशर अथवा दृष्टिदोष आदि रोग उत्पन्न हो जाते हैं। घृणा मनुष्य का मौलिक पाप है। 'राजवार्तिक' में जुगुप्सा का अर्थ किया है–कुत्सा या ग्लानि। जिस (मोहकर्म) के उदय से अपने दोषों का ढाँकना और दूसरे के कुल, शील, गुण आदि में दोषों का प्रगट करना, कलंक लगाना, आक्षेप करना या भर्त्सना करना आदि हो, उसकी जुगुप्सा संज्ञा है। धर्मात्मा साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविकारूप चतुर्विध धर्मप्रधान संघ, धर्मात्मा वर्ग, कुल आदि से तथा उनके आचार-विचार और धर्मक्रिया आदि से घृणा = ग्लानि करना तथा अपने माने हुए सम्प्रदाय, पंथ, जाति, कौम, प्रान्त, राष्ट्र आदि से भिन्न सम्प्रदाय आदि के प्रति घृणा, द्वेष, ईर्ष्या, निन्दा, अश्रद्धा करना-कराना अथवा दूसरे की बदनामी करना आदि जुगुप्सा (नोकषाय) वेदनीय आस्रव (बन्ध) के कारण हैं। किसी व्यक्ति को बेडौल, बौना, अपंग, गंदा, पापी, फटेहाल, निर्धन, उन्मत्त, विभ्रान्त, विक्षिप्त आदि देखकर उससे घृणा करने से जुगुप्सा मोहनीय कर्म का बन्ध होता है। महात्मा गांधी जी का कहना था–स्नेह, प्रेम अथवा वात्सल्य या आत्मीयभाव के द्वारा घृणा (जुगुप्सा) पर विजय प्राप्त की जा सकती है, घृणा द्वारा नहीं। वस्तुतः पाप से घृणा करो, दुर्गुणों से नफरत करो, पापी या दुर्गुणी से नहीं। किसी से घृणा-द्वेष करने से हम उसे सुधार नहीं सकते।[3]

---

१. (क) देखें–आनन्द, कामदेव आदि का उपसर्गों के समय निर्भयतापूर्वक धर्म पर स्थिर रहने का वृत्तान्त उपासकदशांग में
(ख) 'महावीर की साधना का रहस्य' (आचार्य महाप्रज्ञ) से भाव ग्रहण, पृ. २९१, २९५

२. स्वयं भय-परिणाम-परभयोत्पादन-निर्दयत्व-त्रासनादिभिर्भयवेदनीयस्य।
–राजवार्तिक ६/१४/३/५२५/८

३. (क) 'जैनेन्द्रसिद्धान्तकोश, भा. २' में कषाय शब्द में चौथा पैरा

वेदत्रय नोकषाय : क्या और कैसे ?

इसके पश्चात् सातवें, आठवें और नौवें नोकषाय हैं–स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद। स्त्रीवेद–जैसे पित्त के उदय से मीठा खाने की इच्छा होती है, उसी प्रकार जिस (मोहनीय) कर्म के उदय से स्त्री को पुरुष की अभिलाषा होती है, उसका नाम स्त्रीवेद है। स्त्रीवेद का स्पष्टार्थ है–स्त्री की काम-सम्बन्धी वासना या विकारवृत्ति। स्त्री की काम-वासना छाणों की आग के समान अन्दर ही अन्दर भभकती रहती है। चाणक्य ने स्त्रियों का काम-विकार पुरुषों से आठ गुणा माना है। पुरुषवेद–जैसे कफ के प्रकोप से खट्टी चीज खाने की इच्छा होती है, उसी प्रकार जिस (मोह) कर्म के उदय से पुरुष को स्त्री की इच्छा होती है, उसका नाम पुरुषवेद है। पुरुष की काम-वासना दावानल (घास की आग) के समान एकदम भड़क उठती है, किन्तु फिर शान्त हो जाती है। नपुंसकवेद–जैसे पित्त और कफ के प्रकोप से अत्यधिक दाह उत्पन्न होता है, फिर उसे शान्त करने की तीव्र इच्छा उत्पन्न होती है, उसी प्रकार जिस (मोह) कर्म के उदय से स्त्री और पुरुष दोनों के साथ भोग करने की इच्छा हो, उसे नपुंसकवेद कहते हैं। नपुंसक की काम-वासना अत्यधिक तीव्र और महानगर के दाह के समान तेज और चिरस्थायी होती है।

स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद में काम-वेदन उत्तरोत्तर अधिकाधिक रहता है। यहाँ काम-वासना को अग्नि की उपमा दी गई है। जैसे–आग में घी डालने से वह बढ़ती जाती है, कम नहीं होती; उसी प्रकार काम-सेवन से कामपिपासा शान्त नहीं होती, बल्कि अधिकाधिक बढ़ती जाती है।

जैसे किम्पाकफल रंगरूप में अच्छे तथा खाने में मधुर एवं स्वादिष्ट लगते हैं, किन्तु सेवन करते ही वे सेवन करने वाले को मार डालते हैं वैसे ही कामभोग-

---

पिछले पृष्ठ का शेष–

(ख) बायरन की उक्ति

(ग) भर्तृहरि

(घ) जर्मन लोकोक्ति

(ङ) अमेरिका की 'रीड' मेगजीन के अगस्त १९४५ के अंक से भाव ग्रहण

(च) 'Thus Spake Gandhi ji' से भाव ग्रहण

(छ) कुत्सा प्रकारो जुगुप्सा। आत्मीयदोष-संवरणं जुगुप्सा, परकीयकुलशीलादि-दोषाविष्करणाद्य क्षेपण-भर्त्सन प्रवणा कुत्सा।

–राजवार्तिक ८/९/४/५७४/१८, सर्वार्थसिद्धि ८/९/३८६/१

(ज) सद्धर्मापन्न-चतुर्वर्णविशिष्ट-वर्ग-कुलक्रियाचार-प्रवणजुगुप्सा-परिवाद-शीलत्वादिर्जुगुप्सा-वेदनीयस्य। *–रा. वा. ६/१४/३/५२५*

(झ) 'मोक्ष-प्रकाश' (मुनि श्री धनराज जी) से भाव ग्रहण, पृ. ४७-४८

सेवन करते समय सुखकारक, आपातरमणीय और बड़े मीठे लगते हैं, किन्तु इनका परिणाम बहुत ही कटु होता है। ये आत्मा के गुणों का सर्वनाश करके प्राणी को संसार में भटकाते रहते हैं।[1]

वेदत्रय-नोकषाय बन्ध (आस्रव) के कारण

अब हमें यह सोचना है कि ये तीनों वेद (काम) कैसे-कैसे, किन-किन कारणों से बँधते हैं? 'राजवार्तिक' में बताया है कि अत्यन्त क्रोध के परिणाम, अतिमान, अत्यन्त ईर्ष्या, मिथ्या भाषण, छल-कपट, तीव्रराग (आसक्ति या मूर्च्छा), परांगनागमन, स्त्रीभावों में रुचि आदि स्त्रीवेद-आस्रव (बन्ध) के कारण हैं। मन्दक्रोध, कुटिलता का न होना, अभिमान न होना, निर्लोभभाव, अल्परागभाव, स्वदार-सन्तोष, ईर्ष्यारहितभाव, स्नान (सौन्दर्यप्रसाधन–साज-सज्जा) गन्ध, माला आदि सुगन्धित पदार्थों के प्रति आदर न होना इत्यादि पुरुषवेद के आस्रव (बन्ध) के कारण हैं। प्रचुर क्रोध, मान, माया, लोभ, गुप्त इन्द्रियों का विनाश, स्त्री-पुरुषों में अनंगक्रीड़ा का व्यसन, शीलव्रत-गुणधारी और दीक्षाधारी पुरुषों को बहकाना, पर-स्त्री पर आक्रमण–बलात्कार, तीव्र राग, लम्पटता, अनाचार आदि नपुंसकवेद आस्रव (बंध) के कारण हैं।[2]

वेद नोकषाय से बचने के उपाय : संवर-निर्जरा का लाभ

वेद नोकषाय कर्मबन्ध से बचने के लिए पंचेन्द्रिय-संवर का अभ्यास करना आवश्यक है। इसी प्रकार संसारानुप्रेक्षा, आस्रव-संवर-निर्जरानुप्रेक्षा आदि का एकाग्रतापूर्वक चिन्तन करना भी जरूरी है। विशेष रूप से उत्तराध्ययनसूत्र के ब्रह्मचर्य समाधि नामक अध्ययन में उक्त १० प्रकार की ब्रह्मचर्य गुप्तियों का सतत चिन्तन-मनन-अभ्यास करना आवश्यक है। इसके अतिरिक्त कर्मविज्ञान के इसी भाग में **'कामवृत्ति से विरति की मीमांसा'** शीर्षक निबन्ध में इस पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। उसे पढ़कर इस नोकषाय से विरत होने से तथा आत्म-भावों में रमण करने से इस पर विजय प्राप्त की जा सकती है और कर्ममुक्ति की दिशा में आगे बढ़ा जा सकता है।[3]

●●

---

१. (क) 'मोक्ष-प्रकाश' से भाव ग्रहण
(ख) उत्तराध्ययनसूत्र, अ. १४, गा. १३
(ग) सव्वे कामा दुहावहा। –*वही* १३/१६-१७

२. राजवार्तिक ६/१४/३/५२५/८

३. देखें–उत्तराध्ययन, अ. १६, 'ब्रह्मचर्य विज्ञान' (स्व. उपाध्याय श्री पुष्कर मुनि जी म.), सूत्रकृतांगसूत्र का स्त्रीपरिज्ञा अध्ययन आदि।

४

संवर और निर्जरा के परिप्रेक्ष्य में–

कामवृत्ति से विरति की मीमांसा

क्या कामवृत्ति मौलिक मनोवृत्ति है ?

कामशक्ति मनुष्य-जीवन को प्राप्त हुई अनेक शक्तियों में से एक है। काम एक वृत्ति है। मनोविज्ञानशास्त्री फ्रायड ने कामवृत्ति को मौलिक मनोवृत्ति माना है, किन्तु उसके पश्चाद्वर्ती मनोविज्ञानविशारद जुंग आदि ने इसे मौलिक मनोवृत्ति मानने से इन्कार किया है।

जैन दृष्टि से काम के दो रूप

जैनदर्शन में 'काम' को दो अर्थों में माना है–इच्छाकाम और मदनकाम। दूसरे शब्दों में हम इन्हें कामना और वासना कह सकते हैं। ये दोनों ही काम के दो रूप हैं। कामनात्मक काम को पाँचों इन्द्रियों के विषयों के प्रति राग-द्वेषात्मक या आसक्ति-घृणात्मक या कामभोगात्मक कहा है तथा वासनात्मक काम को स्त्रीवेद, पुरुषवेद एवं नपुंसकवेद इन तीन भागों में विभक्त किया है।

कामवासना से जीवन का सर्वनाश सम्भव

यद्यपि काम एक शक्ति है, परन्तु उसका उपयोग अच्छे रूप में किया जाए तो उससे लाभ है और बुरे रूप में किया जाए तो उससे हानि है। अग्नि का सदुपयोग करने से सद्गृहस्थ लाभ उठाता है और उसी का दुरुपयोग जीवन को खतरे में डाल देता है। उसी प्रकार कामशक्ति का सदुपयोग अथवा वीर्य की सुरक्षा से मनुष्य को विविध लाभ हैं और उसी का दुरुपयोग या अत्यन्त उत्तेजित करके वीर्यनाश करने से जीवन का सर्वनाश भी सम्भव है।

उच्छृंखल कामभोगों पर नियंत्रण अत्यावश्यक

यह निर्विवाद सत्य है कि कामभोगों की अधिकता मनुष्य की शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक और आत्मिक सभी प्रकार की शक्तियों का ह्रास कर देती है। कामवासना के सेवन में कई मनुष्य भ्रमवश आनन्द और मौज की कल्पना करते हैं। परन्तु यह तो अनुभवसिद्ध बात है कि पिछले चार-पाँच दशकों में उन्मुक्त भोग,

उन्मुक्त यौनाचार, मुक्त कामक्रीड़ा, समलैंगिक व्यभिचार, बलात्कार आदि कामभोग-सेवन की विविध विधियाँ धड़ल्ले से चल पड़ी हैं। सेक्स को उत्तेजित करने वाली अश्लील पुस्तकों, उपन्यास आदि कामोत्तेजक घासलेटी साहित्य, पापकर्म के प्रति निःशंकता, सिनेमा, टी. वी. आदि दृश्यविधाओं के कारण होने वाले व्यभिचार के आधिक्य, वेश्यागमन-परस्त्रीगमन का निःशंक प्रचार आदि कामसेवन के विविध प्रचारों ने समग्र विश्व को आतंकित एवं रोगादि से आक्रान्त कर रखा है। सारा विश्व आज इस प्रकार के मुक्त व्यभिचार से आक्रान्त है। नवयुवकों और नवयुवतियों में कामुकता का यह रोग तेजी से फैलता जा रहा है। गर्भनिरोधक दवाइयों और साधनों के प्रचार ने मर्यादाहीन, उन्मुक्त व्यभिचार को और बढ़ावा दिया है। एड्स एवं कैंसर, टी. बी. (तपेदिक) आदि भयंकर बीमारियाँ इन्हीं का परिणाम हैं। कामवृत्ति की उच्छृंखलता एवं मर्यादाहीनता के परिणामस्वरूप सारे राष्ट्र एड्स के इस भयंकर रोग से घबरा गए हैं। अणुबम के आतंक से भी भयंकर आतंक है एड्स रोग का। इस दानवीय रोग की रोकथाम के लिए सघन प्रयत्न सभी राष्ट्रों द्वारा किये जा रहे हैं फिर भी यह रोग अधिकाधिक फैलता जा रहा है। इसका एकमात्र कारण है–कामुकता की वृत्ति की निरंकुशता। अतः पारिवारिक, सामाजिक, राष्ट्रीय और जागतिक दृष्टि से विचार करें तो कामवृत्ति पर नियंत्रण करना अत्यन्त आवश्यक है।

कामवृत्ति के प्रमुख उत्पादक

काम-संवर (वेदत्रय-संवर) या कामवृत्ति पर नियंत्रण या निरोध से पूर्व कामवासना के उत्पादकों पर विचार करना अनिवार्य है। कामवासना पैदा होने के मुख्यतया दो कारण हैं–उपादान कारण और निमित्त कारण। इन्हें हम युग की भाषा में आन्तरिक कारण और बाह्य कारण भी कह सकते हैं। आन्तरिक कारण कार्मिक है–कर्मशरीरजन्य है, कर्मसंस्कार हैं। कर्मशास्त्र की भाषा में नोकषाय-मोहनीय के अन्तर्गत वेदमोहनीय के कर्मपरमाणु हैं। ये ही कामवृत्ति के मूल हेतु या मूल उत्पादक हैं।

कामवृत्ति को जगाने में मूल कारण : आन्तरिक

यों तो कामवृत्ति के जागने में शारीरिक और नैमित्तिक कारण भी होते हैं, परन्तु अगर आन्तरिक या मूल कारण न हो तो बाह्य कारण या बाह्य वातावरण कितने ही प्रबल और उत्तेजक हों, कामवृत्ति या कामवासना को नहीं जगा सकते, उद्दीप्त नहीं कर सकते। कामवृत्ति वास्तव में परिस्थितिजनित नहीं होती। परिस्थिति या वयस्कता उसके उद्दीपन में सहयोगी होती है, हो सकती है, परन्तु आन्तरिक परिस्थित या मनोदशा वेद (कामवृत्ति) मोहनीय से उत्तेजित या स्पन्दित न हो, तो

कामवासना भड़क सकती है। मूल में, आन्तरिक परिस्थिति ही कामवृत्ति की उत्पादक है। अन्तरंग में जब कामवासना की तरंग उठती है, तब अगर बाह्य परिस्थिति अनुकूल होती है तो कामोत्तेजना बढ़ती है और व्यक्ति कामोन्मादवश कामक्रीड़ा करने में प्रवृत्त हो जाता है।

कामवासना के भड़काने में कारण : अशुभ संस्कार और निमित्त

जैनागमों में बताया है कि जीव अनादिकाल से शुभाशुभ कर्मवश चतुर्गतिक संसार में परिभ्रमण करता आया है। इस जन्म-मरणादिरूप परिभ्रमण में उसने अनन्त बार कामवासनाओं का सेवन किया है, कभी मन्दरूप में, कभी तीव्ररूप में। वे कामवासना के संस्कार उसमें सुषुप्तरूप से पड़े हैं। जब भी कोई बाह्य निमित्त मिलता है, वे संस्कार जाग्रत हो जाते हैं। यद्यपि उक्त अनादिकालीन भ्रमणकाल में उस जीव ने सिर्फ वासना का सेवन नहीं किया, उपासना (आत्मिक साधना-आराधना) भी की है। इसलिए उपासना के संस्कार भी उसमें पड़े हैं। परन्तु जब मानव संवर और निर्जरा के क्षणों की उपेक्षा करके प्रमादवश बाह्य अशुभ निमित्तों के प्रवाह में बहकर उपासना के बदले कामवासना का सेवन करने लग जाता है, तब उसका बहुत शीघ्र अधःपतन हो जाता है।

कामवासना के अशुभ संस्कार बारूद की तरह हैं, निमित्त उनमें चिनगारी का काम करते हैं और कामोत्तेजना आग का विस्फोट है, वह कामवासना को एकदम भड़काती है।

अगर संस्काररूपी बारूद में निमित्तरूप चिनगारी न पड़े तो कामोत्तेजना की आग भड़क नहीं सकती अथवा यदि बारूद के समान कुसंस्कार (कर्म-संस्कार) ही खत्म कर दिये जाएँ तो उसमें निमित्तरूप चिनगारी के गिरने से भी कामोत्तेजना की आग भड़क नहीं सकती। कामोत्तेजना की आग भड़काने में उक्त दोनों का संयोग काम करता है। यदि काम-संवर-साधक व्यक्ति दोनों में से एक को भी दूर कर सके तो, शेष रहे एक की कामोत्तेजना की आग भड़काने की सामर्थ्य नहीं है। स्पष्ट शब्दों में कहें तो या तो वह काम-संवर-निर्जरा-साधक आत्मा में पड़े हुए खराब संस्कारों का उन्मूलन कर दे या फिर वह अशुभ निमित्तों से बहुत दूर रहे तो वह संस्काररूपी बारूद पड़ा-पड़ा ठंडा होकर अपने आप खत्म हो जाएगा।[1]

निमित्त मिलते ही कामवासना के संस्कार भड़कते हैं

कामवासना के कुसंस्कार वेदनोकषाय मोहनीय के परमाणु रूप में अन्तर में अव्यक्त रूप से पड़े रहते हैं। कच्चा काम-संवर-साधक यों समझता है कि मेरी

१. 'जो जे अमृतकुम्भ ढोलाय ना !' (मुनि श्री चन्द्रशेखरविजय जी म.) से भावांश ग्रहण

साधना इतने वर्षों की हो गई, मैं इतनी तप, जप, भगवद्भक्ति या ज्ञानादि की साधना कर रहा हूँ, उच्च शिक्षित, शासक, श्रावक, भक्त या धनिक मेरी प्रशंसा कर रहे हैं, मेरी यशकीर्ति एवं प्रसिद्धि दूर-दूर तक फैली हुई है। क्या मैं इन बाह्य अशुभ निमित्तों से अपनी संवर-निर्जरा की साधना से फिसल सकता हूँ? ये अशुभ निमित्त मेरा क्या बिगाड़ सकते हैं? इस प्रकार के अहंकार से प्रेरित होकर कई संवर-निर्जरा-साधक अशुभ निमित्तों से दूर रहने में गफलत कर जाते हैं और वैसे निमित्त मिलते ही अन्तर्मन में पड़े हुए वे कामवासना (वेदमोहनीय कर्म) के कुसंस्कार बड़े-बड़े ज्ञानी, ध्यानी, साधक-साधिकाओं को क्षणभर में पछाड़ डालते हैं।

जैमिनी ऋषि को निमित्त ने पछाड़ दिया

व्यास जी ने एक श्लोक की रचना की, वह श्लोक इस प्रकार था–

"मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा, नो विविक्तासनो भवेत्।
बलवानिन्द्रिय-ग्रामो, विद्वांसमपि कर्षति॥"

–माता, बहन या पुत्री के साथ भी एकान्त में नहीं रहना, क्योंकि इन्द्रियाँ बड़ी प्रबल हैं, ये बड़े से बड़े विद्वानों को भी अपनी विषयवासना की ओर खींच लेती हैं।

व्यास जी के शिष्य जैमिनी ऋषि को यह श्लोक तो बहुत रुचिकर लगा, परन्तु उन्होंने गुरुजी से निवेदन किया–"गुरुदेव ! इसमें से 'विद्वान्' शब्द निकाल देना चाहिए; क्योंकि विद्वान् का कदापि पतन नहीं हो सकता।"

व्यास जी ने कहा–"वत्स ! यह शब्द ठीक है, तुझे अभी इसका अनुभव नहीं है। अभी पाँच-छह दिन इस शब्द पर गहराई से मनन कर। इसके पश्चात् भी तेरा आग्रह टिका रहेगा तो मैं विद्वान् शब्द को इस श्लोक में से निकाल दूँगा। किन्तु मेरी समझ से तो यह शब्द बिलकुल ठीक है।"

व्यास जी ने जैमिनी को इस तथ्य का यथार्थ बोधपाठ देने का निश्चय किया। दूसरे ही दिन आकाश में अचानक मेघ छा गए। घोर अंधकार व्याप्त हो गया। बिजलियाँ चमकने लगीं और मूसलाधार वर्षा होने लगी।

जैमिनी अचानक हुई वृष्टि की लीला देखने हेतु अपनी कुटिया से बाहर निकले। इतने में एक तरुण युवती वर्षा से भीगती हुई वहीं आ गई। उसका मोहक रूप और भीगे हुए वस्त्रों से उसके मादक कोमलांगों को देखकर जैमिनी ने उसे कुटिया में प्रवेश करने को कहा। उसे भीगे हुए कपड़े उतारकर नये वल्कल वस्त्र पहनने को कहा। वस्त्र-परिधान करते समय जैमिनी का मन कामविकार से पूर्णतया व्याप्त हो गया। उस युवती ने ज्यों ही घूँघट खोला त्यों ही जैमिनी ने मंद-मंद

मुस्काती हुई व्यास जी की मुखाकृति देखी। व्यास जी ने अपनी माया समेट ली। जैमिनी लज्जा के मारे नीचा मुँह किये खड़े थे।

व्यास जी ने कहा–"वत्स ! उस श्लोक में 'विद्वान्' शब्द ठीक है न?" जैमिनी ने गुरुदेव के चरणों में पड़कर अपनी भूल के लिए क्षमा माँगी।

सिंहगुफावासी मुनि को रूप का निमित्त ले डूबा था

जिस जैन-मुनि ने सिंहगुफा में निवास करके पूरा चातुर्मास उपवासपूर्वक बिताया था। उसने ईर्ष्यावश अपने गुरुभ्राता स्थूलिभद्र मुनि का अनुकरण करने की ठानी। अतः रूपकोशा गणिका के यहाँ चातुर्मास करने गया। परन्तु रूपकोशा को देखते ही उसका चित्त चलायमान हो गया और उसने कामसुख की प्रार्थना की। किन्तु रूपकोशा तो मुनि स्थूलिभद्र के उपदेश से श्राविका बन चुकी थी, उसने उक्त मुनि को कायिक पतन से बचा लिया।

ये दोनों उदाहरण निमित्तरूपी चिनगारी की प्रबलता सूचित करते हैं।

कोमल केश-स्पर्श अधःपतन का कारण बना

ध्यानमग्न एवं आजीवन अनशन-प्रतिज्ञाबद्ध सम्भूति मुनि को चक्रवर्ती की रानी के बालों के कोमल स्पर्श ने उनके मन को कामभोगों के सुखों की कल्पना ने विचलित कर दिया। अपने तप को दाँव पर रखकर सम्भूति मुनि ने आगामी भव में वैसे उत्तम स्त्रीरत्न मिलने का निदान (कामसुखरूप फलाकांक्षा) कर लिया। यद्यपि उसके पार्श्ववर्ती चित्त मुनि ने उन्हें ऐसा करने से बहुत रोका, परन्तु वे इस कोमल स्पर्श से काममूढ़ बन गए। फलतः कोमल केश-स्पर्श के निमित्त ने एक क्षण में उनके तप-संयम से ओतप्रोत जीवन का सर्वनाश कर दिया।

अन्तर्मन में निहित काम-संस्कार निमित्त मिलते ही महक उठे

और भगवान अरिष्टनेमि के सहोदर रथनेमि मुनि को भी कामवृत्ति (वेदमोह कर्म) के अन्तर्मन में निहित संस्कारों ने पछाड़ दिया। वस्त्र भीग जाने के कारण अनायास ही सती राजीमती ने अपने वस्त्र सुखाने के लिए जिस गुफा में प्रवेश किया, वहाँ पहले से ही मुनि रथनेमि ध्यानस्थ थे। गुफा के अन्धकार में सती राजीमती को पता नहीं लगा कि यहाँ रथनेमि मुनि ध्यानस्थ हैं। परन्तु ज्यों ही सती वस्त्र फैलाकर सुखाने के पश्चात् निर्वस्त्र हुई, त्यों ही मुनि रथनेमि का मन कामार्त्त होकर अधःपतन की ओर मुड़ने लगा। राजीमती को उन्होंने काम-सुख के लिए आमंत्रित भी किया। मगर राजीमती साध्वी के जोशीले प्रेरणाप्रद वचनों ने उन्हें कामवृत्ति से विरत और संयम में स्थिर किया।

किन्तु एक बार तो महासाधक को मोहकर्म ने पराजित कर दिया। काम-संवर की साधना के लिए दीर्घकाल अपेक्षित है, किन्तु कामोत्तेजनावश पतन के लिए एक क्षण भी काफी है। कितनी है निमित्त की चिनगारी की शक्ति !

अज्ञात मन में निहित कुसंस्कारों ने कामोत्तेजित किया

लक्ष्मणा साध्वी महाशीलवती थी। उन्होंने कभी कामवासना के वशवर्ती होकर अघटित विचार नहीं किया था। किन्तु वेदमोहनीय कर्म के कुसंस्कार उनके अज्ञात मन में सोये पड़े थे। एक दिन चिड़िया-चिड़ी का मैथुन सम्बन्ध देखकर उनके मन में कामवासना की आग भड़क उठी। अतः मोक्ष द्वार के निकट पहुँची हुई उनकी आत्मा को इस मोहकर्मवश सुदीर्घ-संसार-परिभ्रमण करना पड़ा।

निमित्त ने सुकुमालिका साध्वी की कामाग्नि प्रज्वलित की

सुकुमालिका साध्वी जी ने गृहस्थाश्रम छोड़ने के साथ-साथ सांसारिक कामभोगों का भी त्याग कर दिया था। किन्तु उनके अद्‌भुत रूप को देखकर अनेक युवक उनके आसपास मँडराने लगे। अतः उन्होंने बन्धु मुनियों की सम्मति से आजीवन अनशनपूर्वक देह त्याग का निश्चय किया।

अनशन के दौरान बेहोश हो जाने से उन्हें मृत समझकर उस युग की प्रथा के अनुसार उनके शरीर को उठाकर लोग जंगल में एक जगह रख आए। किन्तु वन के शीतल पवन आदि के कारण साध्वी जी के शरीर में प्राणसंचार हुआ। संयोगवश एक सार्थवाह वहाँ आ पहुँचा। वह उन्हें उठाकर अपने घर ले गया। उसने उनका साध्वी वेष उतारकर गृहस्थ वेष पहनने को दिया और भाई बनकर उनके दुर्बल शारीरिक स्वास्थ्य को सुधारने का प्रयत्न करने लगा।

परन्तु अशुभ कर्म के उदय से परस्पर का वह अनुराग घातक सिद्ध हुआ। एकान्त, अनुराग, आकर्षण, अतिपरिचय और अनुकूल संयोग इन कामदेव के पंच बाणों से भाई-बहन का पवित्र सम्बन्ध छिन्न-भिन्न होकर पति-पत्नी के सम्बन्ध के रूप में परिणत हो गया।[१]

इस पर से समझा जा सकता है कि निमित्तों की चिनगारियाँ कितने अल्प समय में प्रचण्ड कामाग्नि को प्रज्वलित कर सकती हैं !

अतः काम-संवर के ब्रह्मचर्य-प्रेमी साधकवर्ग निमित्त को लेशमात्र भी पास में न फटकने दे।

---

१. 'जो जे कामकुम्भ ढोलाय ना !' (मुनि श्री चन्द्रशेखरविजय जी म.) से भावांश ग्रहण, पृ. २९-३३

ब्रह्मचर्य-सिद्धि के लिए नौ गुप्तियाँ दसवाँ कोट

यही कारण है कि स्थानांग, समवायांग एवं उत्तराध्ययन आदि आगमों में कामविकारों के निमित्तों से बचने के लिए ब्रह्मचर्य की नौ वाड या गुप्तियाँ अथवा दस ब्रह्मचर्य समाधि स्थान इस प्रकार बताये गये हैं[1]–

(१) ब्रह्मचारी स्त्री, पशु और नपुंसकों का जहाँ वास हो, वहाँ नहीं रहे।

(२) स्त्रियों के रूप, हावभाव, अंगोपांग, सौन्दर्य आदि की विकथा न करे।

(३) स्त्री के साथ एक आसन पर न बैठे, स्त्री जहाँ बैठी हो, उस आसन या स्थान पर भी एक मुहूर्त्त तक न बैठे। स्त्रियों से अधिक सम्पर्क न रखे, एकान्त में अकेली स्त्री से वार्तालाप न करे।

(४) स्त्रियों के मनोहर अंगोपांगों को टकटकी लगाकर न देखे।

(५) स्निग्ध, सरस या गरिष्ठ भोजन प्रतिदिन न करे, मादक आहार न करे।

(६) रूखा-सूखा भोजन भी ठूँस-ठूँसकर न करे, अधिक भोजन न करे।

(७) पूर्वभुक्त कामभोगों-विलासों का स्मरण न करे।

(८) महिलाओं के शब्द, रूप या ख्याति (वर्णन) आदि पर ध्यान न दे, तुरन्त भूल जाए।

(९) पुण्योदय के कारण प्राप्त अनुकूल (मनोज्ञ) वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श आदि के विषयसुखों में आसक्त न हो, कामासक्त तो बिलकुल न हो।

(१०) अपने शरीर की साजसज्जा तथा मंडन-विभूषा न करे।

इन निमित्तों से न बचने का दुष्परिणाम

इन १० निमित्तों से काम-संवर के साधकवर्ग को बचना आवश्यक है। इन १० निमित्तों से न बचने पर काम-संवर-साधक ब्रह्मचारी के हृदय में शंका, कांक्षा और विचिकित्सा आदि दोष उत्पन्न होते हैं। इनमें से किसी भी निमित्त के मिलने पर काम-संवर-साधक को भ्रष्ट होते देर नहीं लगती। फिर वह श्रुत-चारित्ररूप धर्म से भ्रष्ट हो जाता है, कामोन्माद, दाह-ज्वर, मस्तिष्क-विक्षिप्तता आदि भयंकर आधि-व्याधियों से घिर जाता है। मोहनीय कर्म के उदय से वह सम्यग्ज्ञानादि रत्नत्रयरूप धर्म को ही छोड़ देता है। शास्त्र में तो यहाँ तक कहा गया है–जिस कक्ष में दीवारों पर या फ्रेम में जटित अलंकारित शृंगारित स्त्रियों के चित्र हों, वहाँ ब्रह्मचारी-साधक को उस ओर टकटकी लगाकर नहीं देखना चाहिए, न ही मन में उनका चिन्तन करना चाहिए। कदाचित् उस तरफ साधक की दृष्टि पड़ जाय तो

---

१. देखें–स्थानांगसूत्र, स्था. ९; समवायांगसूत्र, समवाय ९; उत्तराध्ययनसूत्र, अ. १६

मध्याह्न के सूर्य पर दृष्टि पड़ते ही तुरन्त हटा ली जाती है, वैसे ही उस तरफ से अपनी दृष्टि झटपट हटा लेनी चाहिए।[1]

इतना ही नहीं, ब्रह्मचारी एवं काम-संवर के साधक को ऐसे मोहल्ले, गली या स्थान से होकर नहीं जाना चाहिए, जहाँ व्यभिचारिणी, कुलटा एवं स्वेच्छाचारिणी, वेश्याओं का निवास हो। क्योंकि ऐसे अशुभ निमित्तों के मिलने पर ब्रह्मचर्य भंग होने या कामोत्तेजना होने की संभावना रहती है।[2]

कामोत्तेजक के दृश्य निमित्तों से बचना आवश्यक

अतः निमित्तों से बचने के लिए अनेक उपाय महापुरुषों ने बताए हैं। भींत पर, कागज पर चित्रित नवयुवती का चित्र जड़ होते हुए भी कच्चे साधक के मन में क्षणभर में कामोत्तेजना जगा सकता है। इसीलिए श्रमद् रायचन्द जी ने कहा है–

"निरखीने नवयौवना, लेश न विषय-निदान।
गणे काष्ठनी पूतली, ते भगवान-समान॥"

अतः कामवृत्ति पर अंकुश लाने के लिए अश्लील चलचित्र, टी. वी., वीडियो केसेट, नाटक, अश्लील गायन-वादन तथा नृत्य एवं गंदे उपन्यासों आदि से बचना आवश्यक है।

काम-संवर-साधक इन निमित्तों से बचे

ब्रह्मचर्य-रक्षा के लिए निम्नोक्त श्लोक भी निमित्तों से बचने की प्रेरणा देता है–

"स्मरणं कीर्तनं केलिः, प्रेक्षणं गुह्य भाषणम्।
संकल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिष्पत्तिरेव च।
एतन्मैथुनमष्टांगं प्रवदन्ति मनीषिणः।"

ब्रह्मचारी को निम्नोक्त अष्ट मैथुनांगों से बचने का प्रयत्न करना चाहिए– स्त्रियों के रूप आदि या पूर्वभुक्त भोगों का स्मरण, बार-बार उनके सौन्दर्य, रूप, अभिनय, चेष्टा आदि का बखान (कीर्तन) करना, स्त्रियों के साथ क्रीड़ा, सह-शिक्षण आदि करना, उनकी ओर टकटकी लगाकर विकारी दृष्टि से देखना, स्त्रियों के साथ एकान्त में संभाषण करना, किसी सुन्दरी स्त्री को पाने का संकल्प करना, मन में बार-बार इसी प्रकार के कामुकता के विचार करना तथा

---

१. चित्तभित्तिं न निज्झाए, नारिं वा सुअलंकियं।
भक्खरं पिव दट्ठुणं, दिट्ठिं पडिसमाहरे॥ –दशवैकालिक, अ. ८/३३

२. न चरेज्ज वेयसामंते, बंभचेरवसाणुए।
बंभचारिस्स दंतस्स होज्जा तत्थ विसोत्तिया॥ –वही, अ. ५, उ. १/८

कामवासना सेवन करना; ये आठ प्रकार के निमित्त कामवासना को उत्तेजित करने वाले हैं, जिनके परिणामस्वरूप शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक, आध्यात्मिक, नैतिक एवं आर्थिक आदि सभी दृष्टियों से मनुष्य बर्बाद हो जाता है।

अपरिपक्व-साधक के लिए अशुभ निमित्तों से बचना आवश्यक

कई लोग साधक की भूमिका का विचार किये बिना ही कह देते हैं–"निमित्तों से डर-डरकर चलने से कामविकार जीत लिया या उस पर नियंत्रण हो गया, यह कैसे कहा जा सकता है? इसलिए स्त्री-पुरुष साथ में रहें, एक ही आसन पर बैठें-उठें, साथ-साथ भ्रमण करें, तभी साधक के ब्रह्मचर्य की परीक्षा हो सकती है कि उसने कामवृत्ति पर विजय पा ली है, काम-संवर की साधना में परिपक्व हो गया है।"

यह एकान्त बात है। जिसकी ब्रह्मचर्य-साधना स्थूलिभद्र के समान सर्वथा परिपक्व हो गई हो, उसके मन में निमित्त मिलने पर भी स्खलना नहीं हो सकती। स्थूलिभद्र गुरु-आज्ञा लेकर अपनी गृहस्थाश्रम की प्रेमिका रूपकोशा के यहाँ चातुर्मास व्यतीत करने गए थे। रूपकोशा ने उन्हें आकर्षित करने के सभी उपाय कर लिये। अंगस्पर्श को छोड़कर षट्रसयुक्त भोजन, मोहक नृत्य-गीत-वाद्य तथा शृंगारयुक्त मोहकरूप आदि सभी उनके समक्ष प्रस्तुत किये। परन्तु स्थूलिभद्र का उपादान इतना परिशुद्ध था कि उनके मन के किसी भी कोने में कामवासना स्फुरित न हो सकी। इतना ही नहीं, स्थूलिभद्र मुनि के सम्पर्क ने रूपकोशा के जीवन को बदल दिया। वह सात्त्विक एवं व्रतबद्ध श्राविका बन गई।

उपादान शुद्ध व दृढ़ हुए बिना निमित्तों की उपेक्षा करना ठीक नहीं

इसीलिए निमित्तों के उपस्थित होने पर प्रत्येक व्यक्ति के लिए कामोत्तेजना से बचना मुश्किल है, क्योंकि उसका उपादान इतना शुद्ध एवं सुदृढ़ नहीं बना है। इसीलिए मनीषियों ने कहा है–"जहर की परीक्षा नहीं की जाती। काजल की कोठरी में घुसने पर काला दाग लगना सम्भव है। आग का स्पर्श पाकर जले बिना रहना कठिन है।" आग और घी के स्पर्श की तरह स्त्री-पुरुष का एकान्त में और अत्यधिक संयोग कामाग्नि को भड़काता है।

उपादान शुद्ध व सुदृढ़ हुए बिना कामवृत्ति पर विजय पाना कठिन

यहाँ उपादान आत्मा है, मन, इन्द्रियाँ, शरीर आदि उसके शुद्धता-अशुद्धता, सुदृढ़ता-असुदृढ़ता के चिह्न बताने के लिए व्यक्त उपकरण हैं। जब तक उपादान शुद्ध, निर्मल और सुदृढ़ नहीं होता, वहाँ तक कामवृत्ति पर विजय पाना बहुत कठिन है।

उपादान शुद्ध एवं सुदृढ़ होने पर अशुभ निमित्तों का संग मिलने पर भी कामविकार से दूर रहना शक्य है। परन्तु उपादान वैसा शुद्ध और सुदृढ़ बनाने हेतु दीर्घकालिक ब्रह्मचर्य-साधना के अतिरिक्त परमात्म-भक्ति एवं सद्गुरु-कृपा अपेक्षित है।

कामवृत्ति पर विजय पाने के मुख्य दो उपाय

इसीलिए कामवृत्ति पर विजय-प्राप्ति के इच्छुक व्यक्ति के लिए दो उपाय हैं– (१) कुसंस्कारों को खत्म करो। अर्थात् उपादान को इतना शुद्ध और सुदृढ़ बना लो कि वासना की आग स्वतः ठंडी हो जाए, निमित्तों के मिलने पर भी भड़के नहीं। (२) अथवा निमित्तों से दूर रहो, कामोत्तेजक दृश्य, श्रव्य, खाद्य, स्पृश्य, प्रेक्ष्य सजीव-निर्जीव पदार्थों के पास फटकने पर अपने आपको सावधान रखकर उनसे बचो अथवा उनका मार्गान्तरीकरण, उदात्तीकरण या दमन-शमन कर दो।[1]

साधनाकाल में भ्रान्तिवश निमित्ताधीन न हो

कई साधक अहंकारवश भ्रान्ति से यह समझ बैठते हैं कि अब मेरा उपादान शुद्ध हो गया है, अतः अशुभ निमित्तों का संग होने पर भी कोई हर्ज नहीं। काम-संवर का सही रास्ता यह नहीं है। साधनाकाल में यथासम्भव निमित्तों से दूर रहना चाहिए, मन से उन-उन निमित्तों की इच्छा नहीं करनी चाहिए। 'सूत्रकृतांगसूत्र' में 'स्त्रीपरिज्ञा' नामक अध्ययन में निमित्तों से संग से साधक की शिथिलता का सांगोपांग वर्णन किया गया है।

कामविकार के निमित्त कहीं भी मिल सकते हैं

यह तो प्रायः अशक्य है कि काम-संवर के साधक को निमित्त मिले ही नहीं या काम-संवर का साधक निमित्तों के संग से भागकर जंगल में एकान्त में चला जाए। व्याख्यान, दर्शन, स्वाध्याय, गोचरी, प्रत्याख्यान, विहार आदि प्रसंगों में साधुओं को महिलाओं का और साध्वियों को पुरुषों से वास्ता पड़ता है; गृहस्थ साधक-साधिकाओं को भी यात्रा, तीर्थयात्रा, विवाह, उत्सव, पर्व, घर में युवक-युवती, बहन-भाई, भाई-भाभी आदि के साथ रहने का तथा विद्यालयों-कार्यालयों आदि में, सभा-सोसाइटियों में भी मिलने-जुलने का अवसर आता है। ऐसी स्थिति में काम-संवर के साधक को एक ओर से, जितना भी हो सके, अशुभ निमित्तों का संग टालना और दूसरी ओर से उपादान को निर्मल बनाने या शुद्ध व सुदृढ़ रखने का उपाय आजमाना चाहिए। ताकि अनिवार्य रूप से आ पड़ने वाले अशुभ निमित्तों से कामोत्तेजना न भड़क सके।

---

१. 'जो जे कामकुम्भ ढोलाय ना !' (मुनि श्री चन्द्रशेखरविजय जी म.) से भावांश ग्रहण, पृ. २७

उपादान को शुद्ध एवं सुदृढ़ बनाने के उपाय

उपादान को शुद्ध बनाने और सुदृढ़ रखने के लिए शास्त्रकारों ने तथा मनीषियों ने कतिपय उपाय बताये हैं, जिनको जीवन में आचरित करने से व्यक्ति काम-संवर की साधना में सुदृढ़ हो सकता है।

साध्य पर दृढ़ रहें : मोक्षलक्ष, धर्मपक्ष

सर्वप्रथम काम-संवर के साधक-साधिका को अपना लक्ष्य-साध्य निर्धारित करके उस पर प्रति क्षण दृढ़ रहना चाहिए। सर्वकर्मों से सर्वथा मुक्त होना-छुटकारा पाना, यानी मोक्ष पाना, साधक का सर्वांगीण लक्ष्य है। कामवासना से सर्वथा सर्वदा छुटकारा पाना-अर्थात् वेदमोहनीय कर्म से मुक्त होना सर्वप्रथम लक्ष्य है, ऐसी भावना, श्रद्धा एवं निष्ठा आवश्यक है। संसार में फँसाने वाले बंधनों-मोहकर्मबन्धों से मोक्ष पाने की तड़फन सतत रहनी चाहिए। प्रत्येक शुभ प्रवृत्ति करते समय या धर्मक्रियाएँ करते समय भी मोक्ष का ही रटना, मोक्ष का अन्तर्मन में जप होना चाहिए।

साथ ही मोक्ष के साधनरूप सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र-तपरूप धर्म के कट्टर पक्षपाती एवं निष्ठावान रहना आवश्यक है। आत्म-धर्म में श्रद्धा-निष्ठा रखने वाला साधक स्वयं तदनुकूल धर्मक्रिया एवं प्रवृत्ति करेगा, धर्माराधक भाई-बहनों, साधर्मिकों के साथ वात्सल्यभाव रखेगा, साधु-साध्वियों के प्रति भी श्रद्धाभक्ति रखेगा, परन्तु उसमें सावधानी अवश्य रखेगा। कामविकार के निमित्तों से दूर रहने का प्रयत्न करेगा। ऐसा करने से वह साधनाशील व्यक्ति मोक्षलक्ष्य और शुद्ध धर्म का पक्ष लेकर आत्मवान् बनकर मोहनीय कर्म का उत्पादन भी रोकेगा और उसका क्षय भी करेगा। उसका उपादान भी निर्मल और सबल होकर कामवासना को आने से पहले ही या आते ही मार भगायेगा।

पहली बात यह ध्यान रखनी है, उपादान शुद्धि के लिए लक्ष्य विराट् होना चाहिए। लक्ष्य जितना विराट् होगा, उतनी ही सात्त्विकता और शान्ति अधिक होगी। शारीरिक आरोग्य, परलोक या राष्ट्र की दृष्टि से कामनिवृत्ति (ब्रह्मचर्य-साधना) की जाएगी तो कामवासना थोड़े समय के लिए तो रुक जा सकती है, परन्तु आरोग्य ठीक होते ही या राष्ट्र व्यवस्था ठीक होते ही वासना पुनः भड़क सकती है। अतः उपादान शुद्धि पूर्ण रूप से करनी हो तो पूर्णतया कर्ममुक्ति (मोक्ष) का लक्ष्य ही प्रति क्षण दृष्टिगत रहना चाहिए, साथ ही मानसिक तीव्रतापूर्वक संवर-निर्जारारूप सद्धर्म का पक्ष भी दृष्टिसमक्ष रखना अपेक्षित है।

संवर और निर्जरा दोनों उपादान शुद्धि के लिए अपेक्षित हैं

चूँकि कामवृत्ति तथा अन्य सभी वृत्तियों का उत्पत्तिस्रोत है–मोहनीय कर्म। मोहकर्म को शान्त और अनुशासित करने के लिए दोनों ओर से काम होना चाहिए।

कामवृत्ति पर विजय के लिए निरोध और शोधन दोनों जरूरी

जैसे युद्ध के समय योद्धा को दो तरह से शत्रु का सामना करना होता है–शत्रु को अपनी सीमा में न घुसने देना–आगे न बढ़ने देना और जो शत्रु घुस चुके हैं, उन्हे खदेड़ देना या समाप्त कर देना। इसी प्रकार मोहकर्मरूपी शत्रु को परास्त करने के लिए एक ओर से नई कामवासना को पैदा न होने देना, कामवासना का निमित्त से दूर रहना, परन्तु अकस्मात् निमित्त मिल जाए तो तुरन्त उस कामास्रव का निरोध (संवर) करना। दूसरी ओर से कामवासना का जो जत्था अन्तर्मन में पड़ा है, वेदमोहनीय कर्म के संस्कार (परमाणु) जो पहले से ही घुसे हुए हैं, उनकी क्षय या विलय (निर्जरा) करना।

यह कार्य कोई एक-दो दिन या महीने-दो महीने में नहीं हो पाता। इसके लिए दीर्घकाल तक, निरन्तर, दृढ़ता और निष्ठापूर्वक तथा सत्कार एवं विनय के साथ अभ्यास करना आवश्यक है। कामवसना का निमित्त मिलते ही ज्ञाता-द्रष्टाभाव रखना संवर है। इससे नई कामवृत्ति उत्पन्न नहीं हो सकती, घुस नहीं सकती। परन्तु जो अन्तर्मन (अज्ञातमन) में पुराना संचय पड़ा है, उसके क्षयीकरण के लिए तप, कषाय-विजय, प्रायश्चित्त, कायोत्सर्ग, परीषह-विजय, समभाव आदि का सतत अभ्यास अपेक्षित है।

संवर और निर्जरा–निरोध और शोधन–ये दो प्रणालियाँ कामवासना पर विजय प्राप्त करने के अनूठे उपाय हैं। इन्हीं दोनों के द्वारा उपादान को–आत्मा को शुद्ध बनाया जा सकता है; वेदमोहनीय कर्मों से रिक्त या मुक्त बनाया जा सकता है।

शुद्ध उपादान वाला व्यक्ति कामवृत्ति का तुरन्त संवर कर लेता है

एक बात निश्चित है कि जिसका उपादान वास्तव में शुद्ध हो गया है, वह व्यक्ति कामवासना के अशुभ या अनुकूल निमित्त मिलते ही झटपट सावधान होकर प्रबल संवेगपूर्वक उसे वहीं रोक देता है, मन में भी घुसने नहीं देता।

रामकृष्ण परमहंस की कामवृत्तिनिरोध की परीक्षा

रामकृष्ण परमहंस का शारदामणिदेवी के साथ विवाह होते हुए भी वे आजीवन ब्रह्मचारी रहे। एक बार उनके ब्रह्मचर्य की कसौटी करने का माथुर बाबू

को विचार आया। रामकृष्ण एक दिन एकान्त में बैठे थे। दोपहर का समय ! माथुर बाबू ने इसी मौके पर कुछ रूपवती वारांगनाएँ रामकृष्ण के पास भेजीं। वे एकदम बेधड़क होकर उनके कक्ष में प्रविष्ट हो गईं और दरवाजा बंद कर लिया। फिर वे अपनी कामवर्धक लीलाएँ करने लगीं। रामकृष्ण ने देखा–उन्हें यह सब बातें अरुचिकर एवं वीभत्स लगीं। वे झटपट सँभल गए। उन्हें उन सब में माँ (काली माता) के ही दर्शन हुए और वे भावावेश में आकर जोर-जोर से बोलने लगे–माँ, ओ ब्रह्ममयी माँ ! आनन्दमयी माँ ! साथ ही मातृस्मरण एवं मातृवात्सल्य के कारण रामकृष्ण की आँखों से अश्रुधारा बह चली। गहरे अन्तर से, सहजरूप से उठने वाले मातृत्व के निर्दोष वात्सल्यपूर्ण शब्दों से उन सुन्दरियों का हृदय कम्पायमान हो गया। वे सब भयविह्वल होकर उन्हें नमस्कार करके क्षमा माँगकर विदा हो गईं।

विभूतानन्द जी ने तुरन्त काम-संवर कर लिया

स्वामी विवेकानन्द के एक शिष्य का नाम था विभूतानन्द जी। उन्होंने एक ग्राम में चातुर्मास किया। चातुर्मास के बाद जब वहाँ से प्रस्थान किया तो छह मील दूर दूसरे गाँव तक अनेक नर-नारी उन्हें पहुँचाने गए और नमस्कार करके वापस लौट गए। एक महिला, जिसके मन में चातुर्मासकाल में उनके प्रति कामवासना जाग उठी थी, वह वापस नहीं लौटी। स्वामी जी जब अपने निवास-स्थान के कमरे में अंदर प्रवेश करने लगे, तो वह भी तुरन्त उनके पीछे ही प्रविष्ट हो गई और भीतर से द्वार बंद कर लिया। फिर वह विकृत चेष्टा करने लगी। विभूतानन्द जी यह माजरा देखकर तुरन्त सँभल गए। अगर उनका उपादान शुद्ध एवं सुदृढ़ निर्विकार न होता तो स्खलन होते देर न लगती। परन्तु उन्होंने निष्ठापूर्वक ब्रह्मचर्य-साधना की हुई थी। विभूतानन्द जी उस महिला के समक्ष मातृभाव से वेधक दृष्टि से देखने लगे। उनके नेत्रों से निःसृत तेजस्वितापूर्ण वात्सल्य धारा से वह महिला काँप उठी। उसी समय उन्होंने उससे कहा–"माँ ! तुमको कुछ लेकर ही जाना पड़ेगा।" इन शब्दों में ऐसी प्रचण्ड शक्ति थी कि उक्त स्त्री का कामविकार एकदम शान्त हो गया।

कामविजेता स्थूलिभद्र उत्तेजक निमित्तों के मिलने पर भी न डिगे

कामविजेता मुनिवर स्थूलिभद्र जी का उपादान इतना शुद्ध, सुदृढ़ और निर्विकार था कि काम के घर में चार-चार मास रहने पर भी तथा रूपकोशा द्वारा कामोत्तेजक दृश्य, खाद्य, श्रव्य विषयों का वातावरण उपस्थित करने पर भी उनके किसी रोम में भी कामविकार नहीं जागा। वारांगना रूपकोशा को भी उन्होंने वीरांगना बना दिया।

विजय सेठ-विजया सेठानी ब्रह्मचर्य में दृढ़ रहे

देशविरति गृहस्थ श्रावकों में विजय सेठ और विजया सेठानी के कामवृत्ति पर पूर्ण विजय पूर्ण ब्रह्मचर्य की सिद्धि की पुण्य कथा प्रसिद्ध है। एक ही शयनकक्ष में एकान्तवास करना और दाम्पत्य जीवन में एकनिष्ठापूर्वक ब्रह्मचर्य पालना सामान्य बात नहीं है। परन्तु उन दोनों पुण्यात्माओं का उपादान शुद्ध था।

सुदर्शन सेठ कामोत्तेजक निमित्त मिलने पर तुरन्त सँभल गए

सबसे आश्चर्यजनक वृत्तान्त तो सुदर्शन सेठ का है जिन्होंने कामवासना से प्रेरित होकर अभया रानी ने एकान्त में भोग सुख की याचना की थी। सेठ सुदर्शन तुरंत सँभल गए। उन्होंने छूटते ही कहा–मैं नपुंसक हूँ (पर-स्त्री के लिये)। किन्तु रानी को जब बाद में पता लगा कि सुदर्शन के कई संतान भी हैं, वह नपुंसक कैसे? अतः उसने पौषधलीन सुदर्शन को पकड़कर मँगवाया और फिर एकान्त में बहुत प्रार्थना की। मगर सुदर्शन का एक रोम भी कामविकार से विकृत न हुआ।

इन आदर्श साधकों का अनुकरण नहीं करना है

परन्तु ये दृष्टान्त आदर्श कामविजयी मानवों के हैं, इनका अनुसरण करने का साहस सामान्य सर्वविरति या देशविरति साधक-साधिका वर्ग को नहीं करना है, क्योंकि कामवासना के अनादिकालीन संस्कार जो अवचेतन मन में छिपे पड़े हैं, वे कब और किस निमित्त से उभर उठेंगे, कहा नहीं जा सकता। फिर भी काम-संवर और कामवासना (वेदमोहनीय कर्म) की निर्जरा का अभ्यास तो विविध उपायों से करते ही रहना चाहिए।

काम-संवर का तृतीय उपाय : परलोकदृष्टि एवं पापभीरुता

काम-संवर के जो दो उपाय बताये थे, उनके सिवाय कुछ उपाय और भी हैं। तीसरा उपाय है–**परलोकदृष्टि और पापभीरुता**। मोक्ष-प्राप्ति बहुत ही कठिन है और अनेक वर्षों की, कदाचित् अनेक जन्मों की साधना के बाद कर्मों से सर्वथा मुक्ति मिलती है। उस दौरान मध्यावधि दीर्घकाल की साधना के समय काम-संवर कैसे हो? इसके लिए उपर्युक्त उपाय बताया गया है। कामवासना के मन-वचन-काया से सेवन के परिणाम सतत कितने लम्बे काल तक दुर्गति में भोगने पड़ते हैं? इस प्रकार का विस्तृत निरूपण सूत्रकृतांगसूत्र में बताया गया है। दुर्गतियों में मिलने वाले दुःखद एवं भयंकर दण्ड का वर्णन पढ़ने से रोंगटे खड़े हो जाते हैं। कामवासना में फँसी हुई आत्मा नरकगति में चली जाए तो वहाँ धधकती पुतलियों एवं पुतलों से जबरन आलिंगन कराया जाता है। उस असह्य वेदना को समझकर

कामवासना के निमित्तों से दूर रहो, फिर भी वैसे निमित्त मिलते ही फौरन उससे दूर हट जाओ। मातृचिन्तन, शरीर की अशुचिता एवं अनित्यता का गहराई से चिन्तन करो। स्वयं को मृतक समझकर अब्रह्मचर्य-सेवन को रोक दो।

काम-संवर का चौथा उपाय : परमेष्ठीशरण

चौथा उपाय है–परमेष्ठीशरण–कदाचित् कामवासना का शमन और दमन मोहनीय कर्मोदयवश नहीं होता हो तो पूर्ण शुद्ध आत्मा अथवा पूर्ण शुद्धि की साधना करने वाले आत्माओं का शरण स्वीकार करके उनसे अनन्य श्रद्धाभक्तिपूर्वक प्रार्थना करो–भगवन् ! मैं आपकी शरण में आया हूँ। बार-बार सताती हुई कामवासनाओं से मुझे बचाइए। आपकी कृपा के बिना मुझे कामवासना से छुटकारा नहीं हो सकता। कारुण्यभाव से मेरी इससे रक्षा करो। ये उद्‌गार हृदय से, अन्तर के रोम-रोम से, साश्रुनयनपूर्वक आतुरतापूर्वक प्रकट होने चाहिए। ऐसी प्रार्थना कामवासना के बल को एकदम तोड़ डालती है।

काम-संवर का पंचम उपाय : दुष्कृतगर्हा, आलोचना, निन्दना

पाँचवाँ उपाय है–दुष्कृतगर्हा–मान लो, किसी व्यक्ति से अज्ञानता, मोह या प्रमादवश पूर्व-जन्मों में या इस जन्म में कामवासना-सेवन का दोष एक या अनेक बार हो गया हो और अब वह संवर और निर्जरा के सहारे उससे मुक्त होकर आत्म-शुद्धि करना चाहता हो, तो उसका भी उपाय है–दुष्कृतगर्हा।

इनसे वेदमोहनीय कर्म की निर्जरा होने से आत्म-शुद्धि का मार्ग प्रशस्त

गर्हा के साथ आलोचना, आत्म-निन्दना (पश्चात्ताप) भी सम्मिलित है। गम्भीर एवं वात्सल्य मूर्ति सद्‌गुरु के समक्ष अपना दिल खोलकर जैसा भी, जो भी, जिस प्रकार कामदोष हुआ हो, उसे प्रगट करना आलोचना है। गर्हा है–गुरुजनों की साक्षी से समाज के समक्ष जाहिर में अपने दोषों को पश्चात्तापपूर्वक प्रगट करना। तथा निन्दना है–कई छोटे-छोटे कामदोषों का आत्म-निन्दापूर्वक पश्चात्ताप करना तथा भविष्य में न करने का संकल्प करना। आलोचना या गर्हा केवल शाब्दिक निवेदनरूप नहीं होनी चाहिए, प्रत्युत अन्तर के तार-तार रुदनपूर्वक झनझना उठें, ऐसे अपार पश्चात्तापपूर्वक होनी चाहिए। ऐसी आलोचना और गर्हा से व्यक्ति आराधक हो सकता है, कामवासनाजनक पापकर्म भी शीघ्र नष्ट हो जाते हैं। आत्म-शुद्धि भी शीघ्र हो जाती है। कई लोग ऐसे पापकृत्यों की आलोचना-गर्हा करने के बाद उनका त्याग करने के लिए प्रतिज्ञाबद्ध या संकल्पबद्ध होकर भी तथा गुरु से प्रायश्चित्त ग्रहण करके भी पुनः उस प्रतिज्ञा या संकल्प को तोड़ देते हैं। ऐसा नहीं होना चाहिए। जाहिर में आलोचना एवं गर्हा के बाद तथा प्रायश्चित्त

ग्रहण कर लेने के बाद भी कई बार लोग उन्हें हिकारत भरी दृष्टि से देखते हैं। उस पर विचलित न होकर समभाव से निन्दा, बदनामी या अपकीर्ति या फटकार के विष को पी जाना चाहिए। उससे पापकर्मों की शीघ्र निर्जरा हो जाती है।

आत्म-निन्दना एवं गर्हा के सुपरिणाम

एक नगर में सगी माँ के साथ पुत्र का अनाचार-सेवन हो गया। बाद में दोनों को अत्यन्त पश्चात्ताप हुआ। दोनों ने जाहिर में गुरुदेव के समक्ष अपने दुष्कृत्य को प्रगट करके, प्रायश्चित्त लेकर शुद्धि की। लोगों ने उन्हें फटकारा, निन्दा-घृणा बरसाई। उन दोनों ने भी अपने को धिक्कारा। समभावपूर्वक सहने के कारण दोनों के सिर्फ दो भव ही बाकी रह गए।

उत्कृष्ट पश्चात्ताप और प्रायश्चित्त से आत्मा शुद्ध हो गई

रोते हुए संत की एक हृदयद्रावक कथा इस विषय में बहुत ही प्रेरणादायी है। किशोरवय में अज्ञानतावश इसने अपनी सहोदर बहन के साथ अनाचार-सेवन किया। परन्तु बाद में इस पापकृत्य से बड़ा भारी आघात पहुँचा। वह अपने घर से निकल पड़ा और अकेला चल पड़ा अज्ञात दिशा की ओर। प्रभु से हाथ जोड़कर क्षमा माँगने के अतिरिक्त जो भी मनुष्य, पशु, वृक्ष, नदी, तालाब मिलता सबको रोते-रोते कहता–"मेरी भूल हो गई ! मुझे माफ करो। हे प्रकृति ! मैंने तेरे अनुशासन-विरुद्ध काम किया है, भयंकर पाप किया है।"

कहते हैं–यों रोता-रोता वह एक टेकरी पर पहुँच गया। वहाँ भी हर समय रुदन करता रहता। बारह वर्ष हो गए वहाँ रहते-रहते। उसकी आत्मा पवित्र हो चुकी थी। पास के गाँव के एक कुष्ट रोगी ने उसे संत समझकर उसके चरण स्पर्श किये। दूसरे ही क्षण उसका कुष्ट रोग नष्ट हो गया। यह है सच्चे मन से की गई गर्हा का चमत्कार !

काम-संवर का छठा उपाय–सुकृतानुमोदना

छठा उपाय है–सुकृतानुमोदना। जो आत्मा जम्बूस्वामी, चन्दनबाला, स्थूलिभद्र, विजय-विजया दम्पति आदि उत्तम, मध्यम एवं जघन्य कोटि के कामविजयी हुए हैं या काम-संवर-निर्जरा की साधना करते हैं, उनके उन सुकृतों का अनुमोदन, समर्थन और प्रशंसन करना चाहिए और मन में उत्साहपूर्वक, निराशा त्याग करके दृढ़ निश्चय करना चाहिए कि वेदमोहनीय (कामवृत्ति) कर्म का संवर या निर्जरण (आंशिक कर्मक्षय) करना अशक्य नहीं है, मैं भी इस मार्ग पर दृढ़तापूर्वक आगे बढ़ सकता हूँ।

उपादान शुद्ध होने पर भी निमित्त मिले तो प्रायश्चित्त से शुद्ध हो

ये सब उपाय आजमाते हुए और नवविध ब्रह्मचर्य-गुप्तियों द्वारा ब्रह्मचर्य-सुरक्षा करते हुए भी कदाचित् कोई निमित्त अचानक उपस्थित हो जाए तो तुरन्त प्रायश्चित्त ग्रहण करके आत्म-शुद्धि कर लेनी चाहिए।

स्वामी दयानन्द सरस्वती गंगा के तट पर ध्यानस्थ बैठे थे। अकस्मात् एक महिला ने भक्तिभाव से प्रेरित होकर उनका चरण स्पर्श कर लिया। यह जानते ही वे एकदम पीछे हटे, उस महिला को समझाया। उनकी आँखों में आँसू उमड़ पड़े। वे वहाँ से उठकर पहाड़ पर चले गए, वहाँ प्रायश्चित्तस्वरूप तीन दिन तक निर्जल उपवास करके ईश्वर-चिन्तन में लीन रहे।

निमित्तों से बचने के लिए निम्नोक्त नियमों का पालन करे

इसके अतिरिक्त कामविकार के निमित्तों से बचने के लिए निम्नोक्त नियमों का पालन अवश्य करना चाहिए–(१) विजातीय या उसके चित्र की ओर विकारी दृष्टि का त्याग, (२) सजातीय स्पर्श-त्याग, (३) एकान्त, अन्धकार तथा व्यभिचार-स्थलों का त्याग, (४) सिनेमा, टी. वी. आदि पर कामोत्तेजक दृश्यों को देखने तथा कामोत्तेजक साहित्य पढ़ने-सुनने का त्याग, (५) साजसज्जा, शृंगार प्रसाधन एवं भड़कीले वस्त्रों का त्याग, (६) कामवासनावर्द्धक तामसी, राजसी तथा मादक एवं गरिष्ठ दुष्पाच्य खान-पान का सर्वथा त्याग, (७) कामविकार बढ़ाने वाली विकृतियों (विगइयों–अभक्ष्य आहार आदि) का भी सेवन त्याज्य समझना चाहिए।

इन नियमों तथा प्रत्याख्यानों से काम का पूर्ण संवर नहीं तो आंशिक संवर होता ही है, शास्त्र में श्रमणोपासकों के लिए देशपौषध तथा परिपूर्णपौषधव्रत का विधान है, वे भी वेदमोहनीय के संवर तथा निर्जरा के हेतु हैं।

विजातीय के विकारी दर्शन से ब्रह्मचर्य-भंग होना सम्भव

विजातीय स्पर्श से या विजातीय के दर्शनमात्र से कैसे वेदमोहनीय (काम) कर्म बँध जाता है, इसके लिए आगम में एक उदाहरण प्रसिद्ध है–भगवान महावीर के समवसरण में मगध नरेश श्रेणिक और रानी चेलना के आने पर वहाँ उपस्थित साधु-साध्वियों ने उनके रूप को देखकर नियाणा कर लिया था, परन्तु भगवान महावीर की केवलज्ञान की पारदर्शी दृष्टि से ज्ञात होते ही उन्होंने तुरन्त इस दुष्कृत्य का व्युत्सर्ग करवाया और आत्म-शुद्धिकरण करवाया। एक भूतकालीन सत्य घटना भी इस तथ्य को उजागर करती है–

ब्रह्मचर्यनिष्ठ संन्यासी त्रिलोकनाथ जी का निमित्त मिलते ही पतन

एक हिमालयवासी संन्यासी थे। नाम था त्रिलोकनाथ जी। उनकी आयु तो सौ वर्ष की थी, परन्तु ब्रह्मचर्य की अप्रतिम शक्ति के कारण वे बिलकुल जवान प्रतीत

होते थे। बंगनरेश उनका शिष्य था। बंगनरेश अपना जन्म-दिन इन संन्यासी के सान्निध्य में मनाता था। इसलिए वे ब्रह्मचर्य से प्राप्त आकाश में उड्डयन शक्ति के बल पर वहाँ से एक ही दिवस में ढाका पहुँच जाते, दूसरे दिन वहाँ रहते और तीसरे दिन वापस उसी प्रकार उड़कर हिमालय पहुँच जाते।

एक बार की बात है। त्रिलोकनाथ संन्यासी बंगनरेश के यहाँ थे। उस समय नरेश की अधेड़ वय की पत्नी के बदले उनकी राजकुमारी संन्यासी को भोजन परोसने के लिये आई। इससे पहले कभी नहीं, मगर आज ही राजकुमारी के रूप-लावण्य पर दृष्टिपात करते ही संन्यासी जी के मन में एक क्षण के लिए कामविकार पैदा हुआ, किन्तु तुरंत चेतते ही वह चला गया। संन्यासी के मन में इसका बहुत पश्चात्ताप हुआ। आज ही जब हिमालय वापस लौटने का समय हुआ और वे ज्यों ही उड़ने का प्रयत्न करने लगे, परन्तु आज उड़ा नहीं जा रहा था। वे इसका कारण समझ गए। स्वयं को कोसते हुए बोले–"आज मेरा भाग्य फूट गया। मेरी शक्ति स्थानभ्रष्ट हो गई।" फलतः उन्हें पैदल चलकर कई दिनों में हिमालय पहुँचना पड़ा।

कामराग से सर्वथा निवृत्ति के लिए आध्यात्मिक उपायों का आलम्बन

अतः कामराग से सर्वथा निवृत्ति के लिए आध्यात्मिक उपायों का अवलम्बन लेना बहुत जरूरी है। कामवासना से मुक्ति पाने का सर्वप्रथम उपाय परमात्म-भक्ति है। कामवासना से अथवा पंचेन्द्रिय विषयभोगों से वासित मन को परमात्म-भक्ति में जोड़ने, नामस्मरण, कीर्तन, स्तुति, स्तवन, गुणगान, उपासना, ध्यान आदि के रूप में परमात्म-भक्ति करने से कामवासना का ऊर्ध्वीकरण करने से काम-संवर (शुभ योग-संवर) हो सकता है। किसी प्रकार के सांसारिक स्वार्थ, मोह, लोभ या कामना से रहित होकर वीतराग भगवान के ध्यान में वीतराग बनने की अथवा आंशिक रूप से अशुभ राग दूर करने की क्षमता है।

परमात्म-भक्ति से अकामसिद्धि और कषाय-नोकषाय नाश

रामदुलारी परमात्म-भक्ति से पवित्र बनी

रामदुलारी वेश्या थी, उसकी पुत्री को जन्मते ही मारकर अक्का ने उकरड़ी पर फेंक दी। इससे उसे बहुत ही आघात लगा। मानसिक रूप से संत्रस्त हो गई। एक दिन एक संन्यासी के प्रवचन में उक्त परमात्म-भक्ति के मधुर शब्द कानों में पड़े। उसे प्रभु-भक्ति का सुन्दर मार्ग मिल गया, जिससे दुःख, दैन्य, संक्लेश और कामवासना के सभी संस्कार लुप्त हो गए।

नरसी मेहता को पत्नी-वियोग का दुःख परमात्म-भक्ति से मिटा

नरसी मेहता प्रायः परमात्म-भक्ति, नामजप, भजन आदि में लीन रहते थे। उनकी पत्नी का एकाएक देहान्त हो जाने से उनको वियोग का तनिक भी दुःख न हुआ। उन्होंने इसे कामवृत्ति से विरक्ति का निमित्त मानकर ये उद्‌गार निकाले–

"भलुं थयुं भांगी जंजाल, सुखे भजशुं श्रीगोपाल।"

यह काम-विरति का मार्गान्तरीकरण अथवा उदात्तीकरण है।

त्रिविध सत्संग से कामवासना से विरति

कामवासना से विरति के लिए दूसरा उपाय है–सत्संग। पहले हम उपादान को सुदृढ़ एवं परिपक्व बनाने के उपायों पर प्रकाश डाल चुके हैं। अब परमात्म-भक्ति के बाद सत्संग नामक उपाय भी उपादान को तैयार करने का प्रबल साधन है। कामराग के निमित्त आ पड़ने पर भी इन उपायों के आजमाने पर प्रायः पतन की संभावना नहीं रहती। सत्संग की त्रिवेणी में अध्यात्म-स्नान करने से आत्मा पवित्र भावों में रहती है, कामवासना की ओर मन नहीं जाता। त्रिविध सत्संग इस प्रकार हैं– (१) पवित्र साधु-संतों का सत्संग, (२) आत्म-हितैषी पवित्र मित्रों का संग, (३) आत्म-शुद्धि के मार्ग की ओर ले जाने वाले पवित्र ग्रन्थों या पुस्तकों व शास्त्रों का स्वाध्याय। सर्वप्रथम पवित्र निःस्पृह साधु-सन्तों का समागम कामवासनाओं की जड़ उखाड़ने का अमोघ साधन है। साधु-सन्त स्वयं परमात्म-भक्ति एवं आत्म-साधना में लीन रहते हैं। उनके समागम में आने से वे सत् (अविनाशी आत्मा व परमात्मा) के साथ उसका सम्बन्ध स्थापित कर देते हैं। कदाचित् साधु-सन्तों का समागम शक्य न हो तो उन्हें खूब परीक्षा करके सन्मित्रों का समागम करना चाहिए, जो अपने साथी को पाप से निवृत्त करके हितकारी मार्ग में सत् के साथ जोड़ते हैं। सन्मित्र वही होता हो, जो स्वयं पाप से निवृत्त हो, सत् और शुभ में प्रवृत्त हो, आत्म-शुद्धि के लिए सतत प्रयत्नशील हो। अगर ऐसा सन्मित्र ढूँढ़ने पर भी न मिले तो सत्साहित्य का समागम करना चाहिए, जिनसे साधक का महापुरुषों, सद्‌गुरुओं और सन्मित्रों के साथ परोक्ष सम्पर्क हो जाता है और सत् के मार्ग की प्रेरणा मिलती है।

कामवृत्ति-निरोध का अमोघ उपाय : भावनाओं से आत्मा को भावित करना

कामवृत्ति से विरति के लिए एक और आध्यात्मिक उपाय है–तीनों काल की विविध भावनाएँ या अनुप्रेक्षाएँ। ये भावनाएँ, अनुप्रेक्षाएँ तीनों काल की इसलिए बताई गई हैं कि पापक्रिया में प्रवृत्ति होने से पहले व्यक्ति विचार कर ले कि भूतकाल में किये हुए पापकर्मों का ही फल है कि मैं वर्तमान में वेदमोहनीय कर्म के वशीभूत

होकर अभी तक पूर्ण रूप से ब्रह्मचर्य-साधना नहीं कर सका तथा अब भी अगर नहीं सँभला तो भविष्य में नरकादि दुर्गतियों में अनेक प्रकार की शारीरिक, मानसिक वेदनाएँ जबरन सहनी पड़ेंगी, वहाँ किसी प्रकार का सद्बोध या सम्यग्दर्शन या सम्यक् उपदेश (ज्ञान) भी मिलना कठिन है। वर्तमान में भी कामवासना के पाप में पड़ूँगा तो उससे मेरी आत्मा का पतन, अशुभ बन्ध, आरोग्य नाश, मानसिक तनाव, विकृति आदि तो होंगे ही, वर्तमान और भविष्य में भी इनका फल अशुभ ही मिलेगा। इसलिए भूतकाल से बोधपाठ लेकर कामवृत्ति से विरत होने का मार्ग है–परलोकभावना (परभव अनुप्रेक्षा)। विपाकविचय नामक धर्मध्यान का एक पाद भी इसी का द्योतक है। अतः क्षणिक् कामसुख के लिए टनबन्ध कर्मविपाकजनित दुःख भोगना पड़े, यह अपने हाथ से अपने विनाश को न्यौता देना है।

इसके पश्चात् वर्तमानकाल में काम-सुख से विरत होने के लिए अनित्यभावना, अशुचित्वभावना, भावीविपाकभावना एवं इस जन्म की शारीरिक-मानसिक आरोग्यभावना का सतत अभ्यास करना चाहिए। ये सब भावनाएँ या अनुप्रेक्षाएँ कामवासना के आक्रमण को पहले से हटाने के लिए रक्षणात्मक ढाल हैं अथवा सुरक्षात्मक कवच हैं।

अकामसिद्धि के कतिपय प्रयोग

भविष्यकाल में कामवृत्ति उत्पन्न न हो, ब्रह्मचर्यसिद्धि या अकामसिद्धि आसानी से हो सके, इसके लिए 'आचारांगसूत्र' में कामवासना से बाधित-पीड़ित साधकों के लिए कुछ प्रयोग प्रस्तुत किये गए हैं–(१) निर्बल (रसरहित) आहार करे, (२) अवमौदर्य तप करे, (३) खड़े-खड़े कायोत्सर्ग करे, (४) ग्रामानुग्राम विहरण करे, (५) आहार को बिलकुल छोड़ दे, बाह्याभ्यन्तर तप करे, और (६) अब्रह्मचर्य या कामवृत्ति से मन को मोड़कर शुद्ध, निष्काम विश्व-वात्सल्यवृत्ति में जोड़ दे।

इतने पर भी कामवासना से छुटकारा न मिलता हो, कामवासना का बार-बार हमला होता हो तो 'दशवैकालिकसूत्र' में बताये अनुसार–शरीर को इतना पराक्रमी बनाओ कि उसकी सुकुमारता और सुख-सुविधा छोड़कर आतापना ले सको। इस प्रकार कामवृत्ति का अतिक्रमण करके उस पर पूर्ण नियंत्रण करो, हठ प्रयोग करो, क्योंकि काम सदैव दुःखरूप है। सुकुमारता आती है, वहाँ कामवृत्ति झट आक्रमण कर देती है। सौकुमार्य में डूबे हुए साधक का मन न तो ज्ञान-ध्यान में लगेगा, न ही स्वाध्याय में। बहुत ही सावधानी और जागरूक रहना होगा साधक को। ये सभी सूत्र कामवृत्ति को रोकने और उपादान को प्रबल बनाने के लिए हैं। काम संकल्प से पैदा होता है, अगर संकल्प को शुभ दिशा की ओर मोड़ा जाए, उसे मजबूत बनाया जाए तो कामबाधाएँ टिक नहीं सकेंगी।

कामवृत्ति-नियंत्रण : इन्द्रिय और मन के विषयों के प्रति राग-द्वेष न करने से

पाँचों इन्द्रियों और मन की चंचलता इन सबका विषय काम के साथ जुड़ा हुआ है। जब तक पूर्ण वीतराग न हो जाए तब तक काम की तरंग बिलकुल न उठे, यह अत्यन्त कठिन है। आत्मा के साथ जुड़ा हुआ कामतत्त्व वेदमोहनीय कर्म के कारण रहा हुआ है। उस पर नियंत्रण करना या उसका निग्रह करना साधारण बात नहीं है। परन्तु पंचेन्द्रिय-विषय, शरीर आदि के प्रति अनुकूल-प्रतिकूल मिलने पर राग और द्वेष न किया जाए, समत्व में स्थित रहा जाए तो कामवृत्ति-नियंत्रण कोई कठिन भी नहीं है।

ध्यानयोग द्वारा कामवृत्ति पर नियंत्रण

एक महान् चिन्तक ने कामवृत्ति पर नियंत्रण पाने के लिए तीन उपाय बताए हैं। पहला है–समवृत्ति-श्वासप्रेक्षा, अर्थात् अनुलोम-विलोम प्राणायाम का प्रयोग। दूसरा है–आनन्दकेन्द्र पर ध्यान करना। तीसरा है–अन्तर्यात्रा, अर्थात् चेतना को रीढ़ की हड्डी के निचले सिरे से लेकर ज्ञानकेन्द्र (मस्तिष्क) में ले जाना।

समवृत्ति-श्वासप्रेक्षा से मस्तिष्क का दाहिना पटल (सृजनात्मक बौद्धिक शक्तियों का केन्द्र) और बायाँ पटल (भावनात्मक क्षमताओं का केन्द्र) दोनों की क्षमताएँ विकसित हो जाती हैं और पूर्ण व्यक्तित्व का विकास हो सकता है। आनन्दकेन्द्र पर ध्यान करने से कामवृति पर नियंत्रण पाने का मेरुदण्ड में जो स्थान है, जिसे 'लंबर रीजन' कहते हैं, उस पर नियंत्रण हो जाने से कामोत्तेजना पर नियंत्रण हो जाता है। अन्तर्यात्रा से समूचे मेरुदण्ड की प्रणाली पर नियंत्रण हो जाता है। मेरुदण्ड के पास अनेक स्वचालित वृत्ति-प्रवृत्तियों का नियंत्रण है। यद्यपि वृत्तियाँ बहुत जिद्दी होती हैं, वे बार-बार उठती रहती हैं, तथापि उन पर बार-बार चोट करने से वे नियंत्रित हो सकती हैं। इन तीनों उपायों को बार-बार दोहराने से साधक कामवृत्ति पर नियंत्रण करने में अन्त में सफलता मिलती है।

योग-साधना की दृष्टि से कामवृत्ति-नियंत्रण : एक अनुचिन्तन

योग-साधना की दृष्टि से भी कामवृत्ति पर नियंत्रण का विचार करना आवश्यक है। ब्रह्मचर्य को परिपुष्ट करने, वीर्य को ऊर्ध्वरेता बनाने तथा वीर्य-रक्षा करके आत्मा को बलवान् बनाने पर ही वह परमात्म-तत्त्व (शुद्धात्म-तत्त्व) में रमण कर सकता है। योग का अर्थ ही है–जीवात्मा और परमात्मा का ऐक्य या आत्मा का परमात्म-तत्त्व से जुड़ना। इसके लिए दो प्रकार के योगों को विशेष प्रकार से जैनाचार्यों ने उपयोगी बताया है–(१) हठयोग, और (२) राजयोग। हठयोग शरीर और प्राण पर नियमन करने का साधन है। इसके अभ्यास से स्वास्थ्य और दीर्घायुष्य

प्राप्त होता है। यह हृदय, फेफड़े और मस्तिष्क की क्रियाएँ नियमित करता है। विषम बने हुए वात, पित्त और कफ को सम करता है, सभी अवयव इससे ठीक काम करने लगते हैं। चित्त स्वस्थ रखने से वह वासनायुक्त बन सकता है और चित्त की स्वस्थता के लिए वातादि त्रिदोषों पर नियंत्रण रखना जरूरी है। अतः हठयोग कामवासना नष्ट करके परम्परा से आत्म-शुद्धि प्राप्त करता है। किन्तु पूर्व-जन्म की आराधना-साधना से जिसको चित्त-शुद्धि सहज रूप से प्राप्त हो, वे मुमुक्षु सीधे राजयोग में प्रवेश कर सकते हैं। उनके लिए सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय, सम्यक् बाह्याभ्यन्तर तप, समितिगुप्ति, व्रताचरण, परीषहजय, समत्व-साधना, कषाय-विजय, वीतरागता आदि की साधना उपादेय है। राजयोग की प्रक्रिया से व्यक्ति सफलतापूर्वक समस्त कर्मक्षयरूप मोक्षमार्ग में आसानी से प्रयाण कर सकता है।

वीर्य का अधोगमन ही कामवासना है, जबकि वीर्य का ऊर्ध्वगमन निर्विकारिता है। अतः वीर्य के ऊर्ध्वीकरण के उपायों में योगासन, प्राणायाम आदि उपयोगी साधन हैं। वीर्य के ऊर्ध्वीकरण होने पर कामवृत्ति पर स्वतः नियंत्रण हो जाता है।

वीर्य का ऊर्ध्वीकरण हो जाने पर साधक के समक्ष चाहे जितने कामोत्तेजना के निमित्त आयें, तो भी वह स्खलित या उत्तेजित नहीं होगा। क्योंकि वीर्य के ऊर्ध्वगमन से वह ओज और तेजरूप में परिणत हो जाता है। ऊर्ध्वगमन की सिद्धि मिलने पर चाहे जितनी अप्सराएँ भी आयें तो भी वे चलायमान नहीं कर सकेंगी।

वीर्य के ऊर्ध्वीकरण में योगाचार्य शीर्षासन और सिद्धासन सहायकरूप हो सकते हैं।

शरीर की आन्तरिक मल-शुद्धि के लिए नेति, धोती आदि हठयोग के प्रयोग उपयोगी हो सकते हैं। शरीर में मल जमा होने पर वीर्यस्खलन अर्थात् वीर्य का अधोगमन हो जाता है। अतः ये प्रयोग भी वर्तमान युग में वीर्य के ऊर्ध्वीकरण में मददगार हैं।

ये निर्दोष चिकित्साएँ : काम-नियंत्रण में सहायक

कदाचित् शरीर रोगिष्ठ हो जाये तो निसर्गोपचार, उपवासचिकित्सा, एक्युप्रेसरचिकित्सा, एक्युपंचरचिकित्सा, रंगचिकित्सा, यौगिकचिकित्सा, जल-चिकित्सा, सूर्यचिकित्सा, चुम्बकीयचिकित्सा आदि निर्दोष एवं अहिंसकचिकित्सा पद्धतियों से रोग-मुक्ति और स्वास्थ्यता, बलवृद्धि आदि अनायास प्राप्त हो सकते हैं और ब्रह्मचर्य की सुरक्षा तथा काम-नियंत्रण सहज में हो सकता है।

तन और मन स्वस्थ होने से ज्ञानादि रत्नत्रयरूप धर्म की आराधना करके व्यक्ति संवर-निर्जरा और अन्त में मोक्ष प्राप्त कर सकता है।

बाह्य-आभ्यन्तर तप भी कामवृत्ति पर नियंत्रण में सहायक

जैन-शास्त्रों में बाह्य और आभ्यन्तर दोनों प्रकार के तप का अत्यन्त महत्त्व बताया है। बाह्य तप से इन्द्रिय और मन पर निग्रह करने में सरलता होती है। आध्यात्मिक क्षेत्र में कामवृत्ति पर नियंत्रण करना हो, चित्त-शुद्धि करनी हो, आध्यात्मिक विकास करना हो तो दोनों प्रकार का तप अनिवार्य है। पाँचों इन्द्रियों में सबसे अधिक खतरनाक रसनेन्द्रिय है। शेष इन्द्रियों में विकारों को प्रादुर्भूत करने में रसनेन्द्रिय प्रबल है। अतः कामवृत्ति पर नियंत्रण करने हेतु सर्वप्रथम रसना पर कन्ट्रोल करना चाहिए। तभी मोहनीय कर्म का क्षयोपशम हो सकेगा।

तप और आहार-शुद्धि से कामोत्तेजना पर नियंत्रण

'उपनिषद्' में बताया गया है–"आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः।" भावार्थ यह है कि यदि तुम अपनी प्रज्ञा या स्मृति शुद्ध करना चाहते हो, अपना सत्त्व (अन्तःकरण) शुद्ध करो, सत्त्व-शुद्धि करनी हो तो आहार-शुद्धि करो। उचित मात्रा में सात्त्विक आहार ही सत्त्व-शुद्धि में सहायक हो सकता है। तामसिक और राजसी आहार तो सत्त्व को अशुद्ध बनाकर कामवासना भड़कायेगा ही। और भी हिंसादि अनर्थ पैदा करेगा। तन-मन का स्वास्थ्य बिगाड़ेगा। किसी भी इहलौकिक-पारलौकिक कामना से रहित होकर तप करने से वह आत्म-शुद्धि भी करेगा, कर्मक्षय भी करने में सहायक होगा। बाह्य तप में एकाशन, आयम्बिल, निविगई, नौकारसी, पौरसी, ऊनोदरी, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, कायक्लेश, प्रतिसंलीनता आदि का समावेश है। आभ्यन्तर तप में प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्त्य (सेवा), स्वाध्याय, ध्यान एवं कायोत्सर्ग (व्युत्सर्ग), ये लगते तो बाह्य तप ही हैं, परन्तु इनका सम्बन्ध मुख्यतया आत्म-शुद्धिकारक भावों से है। इच्छा-निरोध, वासना-नियंत्रण, कामना-नियमन, संयम, व्रताचरण, त्याग, प्रत्याख्यान आदि का इनसे सीधा सम्बन्ध है। साधु-साध्वियों द्वारा विहार (पैदल भ्रमण) भी कायक्लेश तप है, जिससे कष्ट-सहिष्णुता, तितिक्षा आदि की शक्ति बढ़ती है।

कामवृत्ति का दमन या शमन करने में उपयोगी सूत्र

कामवृत्ति का दमन या शमन करने के लिए कुछ उपयोगी सूत्र भी ध्यान देने योग्य हैं–(१) लज्जालु बनो, (२) कुतूहलवृत्ति से दूर रहो, (३) सत्कार्य में तन-मन को ओतप्रोत कर दो, (४) निकम्मे न रहकर कुछ न कुछ सत्प्रवृत्ति करते रहो, (५) भूतकाल में कृत पापों को याद न करो, (६) पापकृत्य से तन-मन को तुरन्त रोक लो, (७) प्रतिदिन दिवस-रात्रि के आचरण का प्रतिक्रमण करो।

लज्जा से भी कामवासना पर नियन्त्रण सम्भव

कुलीन व्यक्ति गुरु, गुरुजन या समाज की लज्जा से कामवासना पर संयम रखता है, मर्यादा-पालन करता है, ब्रह्मचर्य व्रत की प्रतिज्ञा से बद्ध होता है। प्रारम्भ में भले ही लज्जालु नर-नारी या साधक-साधिका कामवासना का दमन या शमन करते हों, किन्तु बाद में दीर्घकालिक अभ्यास होने पर कामवासना शान्त हो जाती है, वह समाधिस्थ भी हो जाता है। जैसे भवदेव ने ज्येष्ठबन्धु (भावदेव मुनि) की लज्जा से १२ वर्ष तक संयम पालन किया, किन्तु उनके दिवंगत होने पर भवदेव तुरन्त नागिला को पाने चल पड़े। परन्तु नागिला ने उन्हें युक्तिपूर्वक बोध देकर पुनः संयम में स्थिर किया। इसी प्रकार बाल्यावस्था में दीक्षित क्षुल्लक मुनि के परिणाम संयम से चलायमान होने पर उनके माता, भगिनी आदि व्यक्तियों ने प्रत्येक ने १२-१२ वर्ष उन्हें संयम में स्थिर रखे, यों कुल ६० वर्ष तक मुनिवेश में वे रहे। अन्त में राजदरबार के एक प्रसंग में उन्हें सच्चा बोध मिल गया और उन्होंने तहदिल से आत्म-कल्याण का पथ पकड़ लिया। शास्त्रों में दृष्टान्त आता है कि लज्जावश एक विधवा हुई कन्या ने ब्रह्मचर्य-पालन किया, फलतः उसे ८४ हजार वर्ष के आयुष्य वाला देवलोक मिला। यद्यपि ये मोक्ष (कर्ममुक्ति) के मार्ग नहीं हैं, फिर भी इन्हें शुभ योग-संवर या सराग संयम कहा जा सकता है।

कुतूहलवृत्ति : काम की जननी

कुतूहलवृत्ति भी काम की जननी है। पुरुष हो या स्त्री, दोनों को एक-दूसरे की ओर कुतूहलवृत्ति से देखना, इशारे करना, अश्लील शब्द बोलना आदि सब कामवासना से स्वयं का अधःपतन करना है।

मनोनीत सत्कार्य में मन लगाने से कामवासना शान्त होती है

मनुष्य यदि किसी सेवा-कार्य या परोपकार के किसी भी कार्य में अथवा वैज्ञानिकों या कलाकारों की तरह शोध कार्य में लगा रहता है, तो कामवासना से बच सकता है। 'खाली दिमाग शैतान का कारखाना है', यह वाक्य निरर्थक नहीं है।

एक सेठ की पुत्रवधू परदेश गये हुए अपने पति के विरह में कामवासना पीड़ित हो रही थी। कामतृप्ति के लिए पर-पुरुष की इच्छा करके उसने दासी को अपना मनोरथ बताया। समझदार दासी ने उसके ससुर से यह बात कही तो अनुभवी ससुर ने अपने गृह कार्य के लिए रखे हुए नौकर-चाकर, रसोइया आदि सबको छुट्टी देकर घर के सारे काम अपनी पुत्रवधू को वात्सल्यपूर्वक सौंप दिये। घर की सारी जिम्मेवारी, चाबियाँ भी उसे सौंप दीं। फलतः पुत्रवधू पर समग्र गृह-व्यवस्था का भार पड़ने से उसकी कामवासना समाप्त हो गई।

परन्तु ध्यान रहे, परिश्रम करने और काम में जुटने से तभी कामवासना नहीं जागेगी, जबकि उसे उस कार्य से मन में तृप्ति, आनन्द, सन्तोष और प्रसन्नता मिले। शरीर भले ही काम करने से थक जाये, मन न थके।

विवाहित वाचस्पति मिश्र ब्रह्मसूत्र पर टीका लिखने में इतने ओतप्रोत हो गये थे कि उन्हें अपनी जीवनसंगिनी भामती का जरा भी ध्यान नहीं रहा और न ही कामवासना का विचार आया।

अब्रह्म सम्बन्धी कृत पापों का पुनः-पुनः स्मरण उचित नहीं

इसी प्रकार एक बार गुरुदेव के समक्ष अपने कृत पापों का प्रायश्चित्त करने के लिए याद करो, बाद में बार-बार कामवासना के पापों को याद न करो। ब्रह्मचर्य की नौ बाड़ों में एक बाड़ है—पूर्वकृत कामवासना के पापों का स्मरण करने का निषेध। अतः अब्रह्मचर्य सम्बन्धी पापों का पुनः-पुनः स्मरण उचित नहीं है।

सामायिक नामक मुनि का एक दृष्टान्त प्रसिद्ध है। उन्होंने पत्नी सहित मुनि दीक्षा ली थी। एक बार उन्हें अपनी साध्वी बनी हुई गृहस्थपक्षीया पत्नी को देखकर कामविकार जागा। पूर्वभुक्त अब्रह्मचर्य-सेवन याद आया। सामायिक मुनि के कामोद्भवरूप दुर्भाव का पता लगते ही साध्वी जी तो अनशन करके समाधिमरण-पूर्वक सुगति में गईं। परन्तु सामायिक मुनि ने मानसिक कामविकार के दोष का प्रायश्चित्त न करके अनार्यदेश में आर्द्रकुमार के रूप में जन्म लिया। यह अल्प-विराधना का ही फल था।

कामवासना दुष्कृत्य का तुरन्त या उसी दिन प्रतिक्रमण करो

पापकृत्य का तुरन्त या उसी दिन आलोचन-प्रतिक्रमण कर लेने से पापकर्मों का बोझ नहीं बढ़ता। इसलिए अव्वल तो कामवासना उद्दीप्त हो तो तुरन्त मन से रोको, उसका दमन या शमन स्वयं कर लो और फिर प्रतिक्रमण करके शुद्ध हो जाओ।

गुरु-कृपा भी काम-शमन में सहायक

अन्त में कामविजयी बनने का एक मूल मंत्र है—सद्गुरु-कृपा। सद्गुरु-कृपा से कामवासना पर विजय आसान हो जाती है। बप्पभट्टसूरि एवं अभयदेवसूरि जी इसके प्रत्यक्ष उदाहरण हैं। परन्तु गुरु-कृपा के अभाव में किया तप, त्याग सफल न होकर कभी-कभी कामवासना के कारण अधःपतन का निमित्त बन जाता है। तपस्वी कुलबालुक गुरु-कृपाविहीन होकर घोर तप करता था, परन्तु मागधिका वेश्या के जाल में फँसने से उसका अधःपतन हो गया। अतः कामविजयी बनने के लिए सद्गुरु-कृपा भी एक उपाय है।[1] ● ●

---

१. 'जो जे अमृतकुम्भ ढोलाय ना !' (मुनि श्री चन्द्रशेखरविजय जी म.) से भाव ग्रहण, पृ. १२४, ८९

५

योग का मार्ग : अयोग-संवर की मंजिल

त्रिविध योग से जीवन नैया को खेने वाला नाविक

जीव एक नाविक है। उसे संसार-समुद्र के उस पार जाना है। संसार-समुद्र पार करने के लिये उसे जीवनरूपी नौका मिली है। जीवन-नैया को चलाने और संसार-समुद्र में गति-प्रगति एवं प्रवृत्ति करने के लिये उसे मन, वचन और काया, ये तीन योगरूपी तीन उपकरण (साधन) मिले हैं। मनरूपी दिशादर्शक यंत्र है, जिसके सहारे से वह पता लगता रहता है कि जीवन-नैया कहीं गन्तव्य (लक्ष्य) से उलटी दिशा में, विपरीत मार्ग से तो नहीं गति कर रही है? जीवन-नैया को काम, क्रोध, लोभ, मोह, राग, द्वेष आदि तूफानी हवाओं से सुरक्षित रखने के लिये अथवा तूफानी हवाओं को रोकने के लिये वचनरूपी पाल मिला है। उसका उपयोग वह (नाविक) जीवन-नैया की सुरक्षा के लिये करता है ताकि नैया कहीं डगमगा न जाए अथवा उथला न खा जाए या किसी चट्टान आदि से टकरा न जाए, जिससे नौका में छिद्र होने से पानी न भर जाए। इसी प्रकार कायारूपी डांड मिला है, जिससे जीवन-नौका को चलाकर आगे से आगे बढ़ता जाता है–मंजिल की ओर। जीवरूपी नाविक का लक्ष्य नौका में बैठकर सैरसपाटा करने का या निश्चिन्तता की नींद लेने अथवा ठंडी-ठंडी अनुकूल हवाएँ पाकर सो जाने का नहीं है। उसे नौका से संसार-समुद्र में ही बार-बार भटकते रहना भी नहीं है, अपितु सहीसलामत अंतिम मंजिल तक संसार-समुद्र के उस पार पहुँचकर ही विश्राम लेना है।

योग से अयोग की मंजिल तक पहुँचने योग्य संसार-यात्रा

आशय यह है कि जीव (आत्मा) को संसार-समुद्र पार करके मुक्ति (सर्वकर्म-क्षयरूप मोक्ष) की मंजिल प्राप्त करने के लिए पूर्वोक्त त्रिविध योगों (मन-वचन-काया) द्वारा प्रवृत्ति करते हुए, बीच-बीच में जहाँ-जहाँ अनुपयुक्त रूप से अनुचित प्रवृत्ति (गति) हो रही है, वहाँ उसे तत्काल रोकते हुए तथा मन-वचन-काया से अनावश्यक हो रही हो, वहाँ प्रवृत्ति पर तुरंत अंकुश लगाते हुए, कभी-कभी उन्हें लक्ष्य से भटकते हुए देख लक्ष्य की ओर मोड़ते हुए कभी

तीनों को एकाग्र एवं निश्चेष्ट-से करते हुए पूर्ण अयोग-संवर की ओर प्रयाण करना है। तभी कर्ममुक्ति के साधक की संसार-यात्रा सुखद, सहीसलामत मोक्ष की मंजिल तक पहुँच सकेगी, अर्थात् योग से अयोग की मंजिल प्राप्त कर सकेगी।

सत्यद्रष्टा महर्षि ही संसार-समुद्र को पार कर सकते हैं

शरीररूपी नौका के योग से अयोग-संवर की मंजिल अथवा अयोग-संवर की साधना में सफलता वे ही प्राप्त कर सकते हैं, जो सत्यद्रष्टा महान् ऋषि हों, जीवन में सर्वकर्म-क्षयरूप मोक्ष का साक्षात्कार करने के लिए अहर्निश पराक्रम करते हों, जो शुभ और अशुभ दोनों योगों को पार करने यानी दोनों प्रकार के योगों को निरोध करने के लिए अप्रमत्त होकर पुरुषार्थ करते हैं। वे ही संसार-समुद्र को पार कर सकते हैं।[1]

उपयोग लक्षण जीव योग द्वारा क्यों और कब प्रवृत्त होता है ?

यह सत्य है कि जीव का लक्षण उपयोग है, ज्ञानमय और चेतनामय है। उसका स्व-भाव ज्ञान, दर्शन, आत्मिक-सुख (आनन्द) और आत्मिक-शक्ति है। परन्तु विभावों से युक्त कर्मोपाधिक जीव के काया, वचन और मन का कर्म (प्रवृत्ति, क्रिया, चंचलता, स्पन्दन आदि) योग ही आस्रव (कर्मों का आगमन, आकर्षण) है। वह योग दो प्रकार का है–शुभ योग और अशुभ योग।

संसारी जीव की प्रत्येक प्रवृत्ति त्रिविध योगों के संयोग से

संसार में कोई भी जीव प्रवृत्ति के बिना रह नहीं सकता। गीता में उस प्रवृत्ति को 'कर्म' कहा गया है और जैनदर्शन में उसे क्रिया अथवा योग कहा गया है। जैनागमों में योग शब्द प्रायः मन, वचन और काया की प्रवृत्ति के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। यह तो अनुभवसिद्ध बात है कि मानव की प्रत्येक प्रवृत्ति मानसिक, वाचिक और कायिक क्रिया के रूप में होती रहती है। मन एक योग है, जो शरीर में रासायनिक रूप में उत्पन्न होता है और व्यक्त या अव्यक्त वाणी के रूप में अभिव्यक्त होता है। मन और वाणी का माध्यम है–शरीर, जो क्रियमाणरूप में प्रवृत्त होता रहता है। इस प्रकार देखा जाय तो मन-वचन-काया का त्रिसंयोगात्मक रूप ही 'योग' कहलाता है।

योग का सामान्यतया अर्थ होता है–जोड़ना। प्रस्तुत में मन-वचन-काया के क्रियारूप योग से आत्मा और शरीर का संयोग होता है। अकेली आत्मा कोई भी

---

१. सरीरमाहु नावत्ति जीवो वुच्चइ नाविओ।
संसारो अण्णवो वुत्तो, जं तरंति महेसिणो॥ –उत्तराध्ययन, अ. २३, गा. ७३

क्रिया या प्रवृत्ति नहीं कर सकती और न ही आत्मविहीन अकेला शरीर कुछ भी प्रवृत्ति या क्रिया कर सकता है। जब आत्मा और शरीर दोनों का संयोग होता है, तभी योग (प्रवृत्ति या क्रिया) होता है। इसी योग से कर्मों का आस्रव होता है, वही चतुर्गतिकरूप संसार का कारण है।[1]

शरीर संयोगवश क्रिया, कर्म और लोक, तीनों का भोक्ता आत्मा

यही कारण है कि भगवान महावीर ने 'आचारांगसूत्र' में योग से अयोग तक पहुँचने का संकेत किया है। यह संसरण करने वाला जीव (आत्मा) मन-वचन-कायरूप योग से क्रिया (प्रवृत्ति) करता है, फिर प्रवृत्ति (क्रिया) से जुड़ता (बँधता) है, तब कर्म का संयोग आत्मा के साथ होता है। कर्म के साथ संयोग के कारण आत्मा विविध लोक (संसार) का संयोग (भ्रमण) करता है। परन्तु क्रिया, कर्म और लोक इन तीनों को भोगने–अनुभव करने वाला विविध गतियों–योनियों में सुख-दुःखादि का अनुभव करने वाला (संसारी) आत्मा है।[2]

योग द्वारा बाह्य स्थिति और उपयोग द्वारा आध्यात्मिक स्थिति

इस सूत्र के साथ ही यह संकेत है कि जब संसारी आत्मा मन-वचन-कायरूप से बाह्य वस्तुओं के साथ जुड़ती है, 'पर' से सम्बन्ध स्थापित करती है, 'पर' में 'स्व' का दर्शन करती है, तब वह उपर्युक्त बाह्य स्थिति से जुड़ती है और जब वह उपयोगपूर्वक केवल आत्मा के साथ, स्व-स्वरूप के साथ स्वभाव के दर्शन करती है, तब वह आध्यात्मिक स्थिति के साथ जुड़ती है। इसलिए योग से अयोग-संवर तक पहुँचने का अव्यक्त निर्देश भी इसी सूत्र में दिया गया है। केवल आत्मा हो या केवल शरीर हो तो आस्रव, बन्ध या संसार-परिभ्रमण का प्रश्न नहीं उठता। दोनों हों, किन्तु दोनों में कोई सम्बन्ध नहीं हो, तो भी आस्रव, बंध या परिभ्रमण का प्रश्न नहीं है। मगर आत्मा का जब मन-वचन-काया के साथ योग होता (प्रवृत्त होने के लिए जुड़ता) है, तब आस्रव और फिर बन्ध और तदनन्तर संसार-परिभ्रमण का प्रश्न उठता है।[3]

---

१. (क) काय-वाङ्मनः कर्मयोगः, स आस्रवः, शुभः पुण्यस्य अशुभः पापस्य।
–तत्त्वार्थसूत्र, अ. ६, सू. १-४

(ख) तिविहे जोए पण्णत्ते, तं जहा–मणजोए वइजोए कायजोए।
–भगवतीसूत्र, श. १६, उ. १, सू. ५६४; स्थानांग, ठा. ३

२. (क) से आयावाई लोयावाई कम्मावाई किरियावाई।
–आचारांग, श्रु. १, अ. १, उ. १, सू. ३

(ख) 'योग, प्रयोग, अयोग' (डॉ. साध्वी मुक्तिप्रभा जी) से भावांश ग्रहण, पृ. ४

३. 'योग, प्रयोग, अयोग' (डॉ. साध्वीमुक्ति प्रभा जी) से भावांश ग्रहण, पृ. ५

संसारी आत्मा को प्रवृत्ति के लिए त्रियोग की आवश्यकता

आशय यह है कि अकेली आत्मा संसार में कुछ नहीं कर सकती। आत्मा को संसार में प्रवृत्ति करने के लिए मन, वचन और काया की आवश्यकता पड़ती है। जीव (आत्मा) कायिक प्रवृत्ति शरीर (काययोग) से करता है, वाचिक प्रवृत्ति (वाग्व्यवहार) वचनयोग से और मानसिक प्रवृत्ति (विचार) के लिये मनोयोग अपनाता है। मन, वचन और काया, ये तीन प्रमुख साधन आत्मा को प्रवृत्ति करने के लिए मिलते हैं। समस्त प्रवृत्तियों के स्रोत या प्रबल कारण, ये तीनों योग हैं। मन, वचन और काया, ये तीनों (आत्मा के) करण कहलाते हैं। ये तीनों ही जड़ हैं–पुद्गलरूप हैं। अतः ये तीनों अपने आप में न तो अच्छे हैं और न खराब हैं। पुद्गल पुद्गल हैं, इनका क्या अच्छा, क्या बुरा? आत्मा इनका उपयोग कैसा करती है? इस पर सारा दारोमदार है। तलवार अच्छी है या खराब? यह तो उसके उपयोग करने वाले पर निर्भर है। वह अपनी रक्षा के लिए भी उसका उपयोग कर सकता है और अपनी हत्या के लिए भी। तलवार का अपने आप में कोई दोष नहीं है, क्योंकि उस (जड़) के सदुपयोग-दुरुपयोग का आधार चेतन (आत्मा) पर है। इसी प्रकार तीनों जड़-पुद्गलरूप मन-वचन-काया के योगों का सदुपयोग-दुरुपयोग भी चेतन (आत्मा) पर निर्भर है।

तीनों योग विवेकी के लिए कर्ममुक्ति में सहायक

वस्तुतः इन तीनों योगों (करणों) का अपना-अपना कार्य है। ये तीनों कर्मबन्ध कराने में भी कारण हैं और कर्मक्षय कराने तथा कर्मनिरोध कराने में भी। 'बृहत्कल्पभाष्य' में ठीक ही कहा है–"मन, वचन और काया, ये तीनों योग अयुक्त (अनुपयोगी = अविवेकी) के लिए दोष के हेतु हैं और युक्त (विवेकी) के लिए गुण के हेतु।"[1]

यह एक सुनिश्चित तथ्य है कि पूर्वबद्ध कर्म के उदय से जीव को मन, वचन और शरीर, ये तीनों करण मिलते हैं, किन्तु अविवेकी जीव उनसे शुभ या शुद्ध के बदले अशुभ प्रवृत्ति करता है, उस प्रवृत्ति से फिर नये कर्म उपार्जन करता है, बाँधता है, फिर वही-वैसी ही प्रवृत्ति करता है, फिर नये कर्म (आस्रव) उपार्जन करता है, फिर उसी प्रकार बाँधता है। इस प्रकार कर्म से प्रवृत्ति और प्रवृत्ति से कर्म; यों संसारचक्र चलता रहता है। यह चक्र जन्म-जन्मान्तर से चलता आ रहा है। यदि कोई विवेकी या सम्यग्दृष्टि पुरुष प्रबल पुरुषार्थ करके अपनी

---

१. (क) 'पाप की सजा भारी, भा. २' (मुनि श्री अरुणविजय जी) से भावांश ग्रहण, पृ. ९३४
(ख) मणो य वाया काओऽ, तिविहो जोगसंगहो।
ते अजुत्तस्स दोसाय, जुत्तस्स उ गुणावहा॥ –बृहत्कल्पभाष्य ४४४९

वृत्ति-प्रवृत्ति या भावधारा तो शुभ की ओर मोड़ दे, तो वह कर्मजन्य होते हुए भी[1] शुभ योग हो जाता है।

जहाँ योग है, वहाँ आस्रव है; अयोग है, वहीं संवर

सैद्धान्तिक दृष्टि से विचार करें तो 'समवायांगसूत्र' में योग को आस्रव और अयोग को संवर कहा है, इस दृष्टि से तेरहवें गुणस्थान तक इरियावही क्रिया रहती है, अतः जहाँ तक इरियावही अथवा साम्परायिक क्रिया है, वहाँ तक तीनों योग उस व्यक्ति में होते हैं। योग हैं, वहाँ तक आस्रव है और आस्रव से कर्म का बन्ध है। यही कारण है कि तेरहवें सयोगी केवली गुणस्थानवर्ती वीतराग प्रभु में तीनों योग होने से आस्रव है, किन्तु कषाय न होने से स्थिति-अनुभागबन्ध नहीं है, केवल प्रदेशबन्ध है, वह भी सिर्फ दो समय का मात्र सातावेदनीय का नाममात्र का बन्ध है[2] और चौदहवाँ अयोगी केवली गुणस्थान है, वहाँ पूर्वोक्त दोनों क्रियाओं में से कोई भी क्रिया नहीं है, इसलिए तीनों योग भी नहीं हैं, अयोग की स्थिति होने से न तो आस्रव है और न बन्ध। अतः चौदहवें गुणस्थान में तथा मोक्ष में क्रिया, योग, आस्रव और बन्ध, इनमें से एक भी नहीं है। अतः वहाँ एकान्त, पूर्ण संवर है।[3]

चौथे से तेरहवें गुणस्थान तक शुभ योग-संवर

परन्तु जीव जब तक १४वें गुणस्थान तक नहीं पहुँच जाता, तब तक योग तो रहेगा। इसलिए वीतराग आप्त पुरुषों ने अपेक्षा से योग के दो भेद किये—अशुभ योग और शुभ योग। शुभ योग को शुभ आस्रव (पुण्य) और अशुभ योग को अशुभ आस्रव (पाप) कहा गया। शुभ योग से शुभ (पुण्य) बन्ध होता है और अशुभ योग से अशुभ (पाप) बन्ध। यों तो मिथ्यादृष्टि के मन-वचन-काया (योग) की प्रवृत्ति-वृत्ति शुभ हो तो उसके भी शुभ योग के कारण शुभास्रवरूप पुण्यबन्ध होता है। किन्तु उत्तराध्ययन, भगवतीसूत्र एवं स्थानांगसूत्र आदि आगमों में सम्यग्दृष्टि के शुभ योग को प्रशस्त (उत्तम) एवं अशुभ योग से निवृत्त होने के कारण संवर भी कहा गया है। जैसे 'स्थानांगसूत्र' के पंचम स्थान में प्रशस्त योग (उत्तम शुभ योग) को संवर कहा गया है।[4] इसी प्रकार 'भगवतीसूत्र' में प्रमत्त

---

१. 'पाप की सजा भारी, भा. २' (मुनि श्री अरुणविजय जी) से भाव ग्रहण, पृ. ९३४-९३५

२. इसके प्रमाण के लिए देखें—उत्तरा. २९, बोल ७१

३. 'प्रश्नोत्तर मोहनमाला, भा. ३, प्रश्न ८४-८५' से भाव ग्रहण, पृ. १९५-१९६

४. पंच संवरदारा पं. तं.—सम्मत्तं विरई अपमाओ अकसाइत्तं पसत्थजोगित्तं।

—*स्थानांग, स्था. ५, उ. २*

संयत को शुभ योग की अपेक्षा अनारम्भी कहा गया है। अनारम्भ संवर है,[1] इसलिए शुभ योग-संवर सिद्ध होता है। 'उत्तराध्ययनसूत्र' के २९वें अध्ययन के ७वें बोल में भगवान से आत्म-गर्हा के फल के विषय में पूछने पर उन्होंने फरमाया–"आत्म-गर्हा से जीव अपुरस्कार (आत्म-नम्रता) को प्राप्त करता है, आत्म-नम्रता को (अर्थात् आत्म-गर्व का परित्याग करके आत्म-लघुता को) प्राप्त हुआ जीव अप्रशस्त (अशुभ) योगों से निवृत्त हो जाता है और फिर वह प्रशस्त (शुभ) योगों को प्राप्त करता है। प्रशस्त योगों से युक्त अनगार अनन्त ज्ञान-दर्शन आदि के घातक घातिकर्म के पर्यायों का क्षय कर देता है।"[2] प्रस्तुत सूत्र में शुभ योग से अनन्त घातिकर्मों के क्षय होने का कथन, उत्कृष्ट संवर होने की बात सूचित करता है। यह उत्कृष्ट शुभ योग-संवर ही है। इसी सूत्र के अध्ययन २९ के ५२वें बोल में कहा गया है–"योग-सत्य से अर्थात् मन-वचन-काया को सत्य योग के (शुभ योग के) रूप में प्रवर्तित करता हुआ जीव मन-वचन-काया के योगों (व्यापारों) को विशुद्ध कर लेता है।[3] योगों की विशुद्धि (दोषरहितता) का कारण यहाँ सत्य योग = शुभ योग को बताकर प्रकारान्तर से शुभ योग-संवर को परिलक्षित किया है। इसी अध्ययन के ५५वें बोल में कहा गया है–"कायगुप्ति से अर्थात् (नीचे की भूमिका में) अशुभ योग के निरोध से संवर (शुभ योग-संवर) को प्राप्त करता है और फिर उक्त संवर के द्वारा कायगुप्तियुक्त जीव सब प्रकार के पापास्रवों का निरोध कर लेता है।" यहाँ भी आंशिक या पारिस्थितिक कायगुप्ति से शुभ योग-संवर सूचित किया गया है। २९वें अध्ययन के ५६वें बोल में बताया गया है–"मनः समाधारणा (अर्थात् मन को समाधि में स्थापित करने) से (शुद्ध धर्म में) एकाग्रता की प्राप्ति होती है। एकाग्रता-प्राप्त जीव ज्ञान के पर्यायों को उपार्जित करता है, ज्ञानपर्याय प्राप्त करके जीव सम्यक्त्व को विशुद्ध कर लेता है और मिथ्यात्व की निर्जरा कर लेता है। ५७वें बोल में बताया है कि वचन समाधारणा (सदैव स्वाध्याय में वचनयोग को स्थापित करने) से अथवा वचनयोग की सम्यक्

---

१. तत्थ णं जे ते संजया, ते दुविहा पन्नत्ता, तं.–पमत्त-संजया य अप्पमत्त-संजया य। तत्थ णं जे ते अप्पमत्त-संजया, ते णं नो आयारंभा, नो परारंभा, जाव अणारंभा। तत्थ णं जे ते पमत्त-संजया ते सुहं जोगं पडुच्च नो आयारंभा, नो परारंभा, जाव अणारंभा।
–भगवतीसूत्र, श. १, उ. १, सू. १६

२. (प्र.) गरहणयाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ?
(उ.) गरहणयाए अपुरक्कारं जणयइ। अपुरक्कारगए णं जीवे अप्पसत्थेहिंतो जोगेहिंतो नियत्तेइ, पसत्थेय पडिवज्जइ। पसत्थ-जोग-पडिवन्ने य णं अणगारे अणंत-घाइ-पज्जवे खवेइ।
–उत्तराध्ययन, अ. २९, बोल ७ विवेचन, पृ. १०५

३. जोग सच्चेणं जीवे जोगं विसोहेइ।
–वही, अ. २९, सू. ५२

(शुभ) प्रवृत्ति करने से दर्शन के पर्यायों की विशुद्धि करता है। वचन-साधारण दर्शनपर्यायों को विशुद्ध करके जीव सुलभबोधिभाव को निष्पन्न करता है, दुर्लभबोधिभाव की निर्जरा (विनाश) कर लेता है। ५८वें बोल में कहा गया है–काय-समाधारणा (संयमयोग में शरीर को स्थापित करने) से जीव (उत्तरोत्तर) चारित्रपर्यायों को विशुद्ध करता है, (उन्मार्ग-प्रवृत्ति के निरोध होने से उसके क्षयोपशमरूप चारित्रपर्याय शुद्ध होते जाते हैं। चारित्रपर्यायों को विशुद्ध करके वह यथाख्यातचारित्र की विशुद्धि करता है। यथाख्यातचारित्र के विशोधन से चारों अघातिकर्मों का क्षय कर देता है। तदनन्तर सिद्ध, बुद्ध, मुक्त और परम शान्ति (निर्वाण) को प्राप्त होता हुआ वह सर्व प्रकार के दुःखों का सर्वथा अन्त (नाश) कर देता है।[1] यहाँ विचारणीय है कि प्रस्तुत तीन सूत्रों में उक्त मन, वचन, काय के शुभ योग से कितने गुण निष्पन्न हुए? अतः शुभ योग को कथंचित् संवररूप मानने में कोई आपत्ति नहीं है। आशय यह है कि अशुभ योग को एकान्तरूप से आस्रव मानने में कोई हर्ज नहीं, किन्तु शुभ योग को, विशेषतः सम्यग्दृष्टि के तथा इससे ऊपर के गुणस्थान वालों के शुभ योग को, एकान्त आस्रव मानना ठीक नहीं। 'दशवैकालिकसूत्र' के १०वें अध्ययन में कहा गया है–"जो साधक सम्यग्दृष्टि है, सदा अमूढ़ (समस्त मूढ़ताओं से रहित) है, तपश्चर्या से पुराने पापकर्मों को धुनता (नष्ट करता) है तथा ज्ञान, तप और संयम में जिसके मन-वचन-काया सुसंव्रत (शुभ योग-संवर में प्रवृत्त) हैं; वह भिक्षु है।"[2] अतः ज्ञान, तप और संयम में जिस साधक के तीनों योग प्रवृत्त रहते हैं, उसके शुभ योग को सुसंवर से युक्त मानना भगवद्वचन-सम्मत है। यद्यपि 'उत्तराध्ययन' के अनुसार–योग-प्रत्याख्यान से अयोगित्व को प्राप्त करके अयोगी जीव नये कर्म नहीं बाँधता, पूर्वबद्ध कर्म की निर्जरा कर लेता है। परन्तु सहाय-प्रत्याख्यान से जीव संयमबहुल, संवरबहुल एवं

---

१. (क) कायगुत्तयाए णं संवरं जणयइ।
संवरेणं कायगुत्ते पुणो पावासव-निरोहं करेइ। –*उत्तराध्ययन, अ. २९, सू. ५५*

(ख) मणसमाहारणयाए एगग्गं जणयइ। एगग्गं जणइत्ता नाणपज्जवे जणयइ। नाणपज्जवे जणइत्ता सम्मत्तं विसोहेइ मिच्छत्तं च निज्जरेइ। –*वही, अ. २९, सू. ५६*

(ग) वयसमाहारणयाए दंसणपज्जवे विसोहेइ। वय-साहारण-दंसण-पज्जवे विसोहित्ता सुलहबोहियत्तं निव्वत्तेइ। दुल्लह-बोहियत्तं निज्जरेइ। –*वही, अ. २९, सू. ५७*

(घ) कायसमाहारणयाए चरित्त-पज्जवे विसोहेइ। चरित्त-पज्जवे विसोहित्ता अहक्खायचरित्तं विसोहेत्ता चत्तारि केवलिकम्मंसे खवइ। तओ पच्छा सिज्झइ, बुज्झइ, मुच्चइ परिनिव्वायइ सव्वदुक्खाणमंतं करेइ। –*वही, अ. २९, सू. ५८*

२. सम्मदिट्ठी सया अमूढे, अत्थि हु नाणे तवे संजमे य।
तवसा धुणइ पुराण-पावगं, मण-वय-काय-सुसंवुडे जे स भिक्खु॥
–*दशवैकालिक, अ. १०, गा. ७*

समाहित हो जाता है। शास्त्र में अनुत्तरविमान में उत्पन्न होने योग्य करणी सरागसंयम की कही है। मनुष्यभव में संयम का आराधक ही वहाँ तक जाता है। वहाँ से मनुष्यभव प्राप्त करके तप-संयम की करणी से मोक्ष जाता है। अतः ऐसे आराधक संयमी के प्रशस्तरागभाव के कारण उत्कृष्ट शुभास्रव (शुभ योग = पुण्य) के साथ-साथ संवर और निर्जरा की साधना रहती है। इसलिए शुभ योग को संवररूप मानने में कोई भी हिचकिचाहट नहीं होनी चाहिए।[1]

सर्वप्रथम प्रवृत्ति का विचार प्रायः मन में प्रादुर्भूत होता है

साधना की दृष्टि से विचार करें तो मन, वचन और काया, ये क्रिया या प्रवृत्ति के तीन स्रोत (योग) होते हुए भी सर्वप्रथम किसी भी प्रवृत्ति या क्रिया का विचार प्रायः मन में होता है, जिन असंज्ञी जीवों के द्रव्यमन नहीं है, उनके भावमन तो है, सुख-दुःख का संवेदन भी उन्हें होता है, किन्तु होता है बहुत ही सूक्ष्म, अव्यक्त एवं सुषुप्त-से रूप में। वैसे सैद्धान्तिक दृष्टि से उपयोग के पाँच ज्ञान, तीन अज्ञान और चार दर्शन ये १२ प्रकार होने से ज्ञान की ज्योति एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक में न्यूनाधिक रूप में रहती ही है। भले ही अज्ञान (कुज्ञान) के रूप में हो।

मन में प्रादुर्भूत अन्तरंग भावधाराएँ–अशुभ, शुभ, शुद्ध

इसलिए मन के द्वारा सर्वप्रथम होने वाली अन्तरंग भावधाराओं (चिन्तन प्रवृत्तियों) को हम तीन भागों में विभक्त कर सकते हैं–अशुभ, शुभ और शुद्ध।

अशुभ भावधाराओं से अशुभास्रव पापकर्मबन्ध और कटुफल

जब व्यक्ति में क्रोध, अहंकार, मोह, माया, लोभ, घृणा, द्वेष, हिंसादि क्लिष्ट एवं निकृष्ट तीव्र भावधाराएँ बहती हैं, तब अशुभ भावों से अशुभ आस्रव का ही ग्रहण-उपार्जन करता है। वह अपनी क्रूर, क्लिष्ट, परदुःखकारिणी अशुभ भावनाओं के प्रवाह में बहकर वचन से पर-निन्दा, गाली, अपशब्द, दूसरों की भर्त्सना आदि का प्रयोग करने में रत रहता है और काया से भी वह मारकाट, हत्या, लूटपाट, आतंक, उपद्रव आदि कुप्रवृत्तियाँ करता है।[2] उसकी अशुभ और मिथ्यात्व पोषक दृष्टि अपने ही घोर तुच्छ स्वार्थ तक ही सीमित रहती है। वह

---

१. (क) जोग-पच्चक्खाणेणं अजोगत्तं जणयइ। अजोगी णं जीवे नव कम्मं न बंधइ। पुव्वबद्धं च णिज्जरेइ।

(ख) सहायपच्चक्खाणेणं ···· संजमबहुले संवरबहुले, समाहिए यावि भवइ।

–उत्तराध्ययन, अ. २९, सू. ३७, ३९

२. यन्मनसा ध्यायति तद् वाचा वदति, यद् वाचा वदति, तत्कर्मणा करोति। यत्कर्मणा करोति, तत् फलमुपपद्यते। –उपनिषद्

अपनी ही उन निरंकुश इच्छाओं और वासनाओं का गुलाम रहता है। वह अपने जाति, कुल, बल, रूप आदि के मद में छका हुआ और विलासिता में डूबा हुआ व्यक्ति दूसरों को केवल बिम्बभूत ही समझता है। उसकी दृष्टि में अपने से भिन्न व्यक्ति तुच्छ कीड़े-मकोड़े से ज्यादा महत्त्व नहीं रखता। ऐसे लोगों के काले कारनामे इतिहास में स्पष्ट रूप से अंकित हैं। रावण, जरासन्ध, दुर्योधन, नन्द सम्राट्, मुहम्मद गजनी, हिटलर, नादिरशाह, ये सब आखिर क्या थे? अशुभ योगों की धारा में स्वयं बहते गए और दूसरों को भी बहाते रहे। 'भगवद्गीता' में प्रतिपादित आसुरी प्रकृति के तथा तमोगुण-प्रधान व्यक्ति इसी अशुभ योगरत व्यक्ति की कोटि में आते हैं।[1]

परन्तु अन्त में, उनके इन अशुभ योगों के कारण आकर्षित हुए अशुभास्रव और पापकर्मबन्ध के फल उन्हें उसी रूप में मिले। उनके जीवन यहाँ भी पापकर्मों से कलंकित हुए और परलोक का जीवन भी उन्हें अत्यन्त दुःखों और यातनाओं से भरा मिला होगा।[2]

शुभ भावधारा से शुभास्रव, पुण्यकर्मबन्ध और शुभ योग-संवर

इन अशुभ भावधाराओं से निष्पन्न अशुभ योगों से ऊपर जो भावधारा है, वह है शुभ भावधारा। शुभ भावधारा जब पनपती है, तब व्यक्ति के मन में करुणा, दया, सहानुभूति, परोपकार, सहिष्णुता, उदारता, क्षमा, मृदुता, अहिंसा आदि की लहरें उठती हैं और क्रमशः विस्तृत होती जाती हैं। ऐसी स्थिति में व्यक्ति का मन केवल अपने ही सुख या अपने ही तुच्छ स्वार्थ के लिए नहीं सोचता, वह दूसरों के सुख, स्वार्थ और उपकार की बात सोचता है। दूसरों की पीड़ा, दुःख, कष्टों को दूर करने-कम करने में निमित्त बनते हैं। भावों की धाराएँ जब शुभ होती हैं, तो उस व्यक्ति की वाणी में भी शुभ वाग्धारा बहती है, उसके शरीर से भी सेवा, दया, दान, अतिथि-सत्कार, बहुमान, विनय, भक्ति आदि की प्रवृत्तियाँ चलती हैं। वैसे तो शुभ योगों की धारा विविध रूप में असंख्य प्रकार की हो सकती है। एक ही व्यक्ति की दिनभर की वृत्ति-प्रवृत्तियों को टटोला जाए तो उसमें शुभ, अशुभ योग के कई रंग मिलेंगे। इसलिए शुभ योगों की धारा में पूर्ण निर्मलता नहीं आ पाती, उसमें शुभ-अशुभ योगों का उतार-चढ़ाव चलता रहता है। आखिर

---

१. दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ ! सम्पदमासुरीम्॥४॥ —*भगवद्गीता, अ. १६*
देखें–भगवद्गीता में आसुरी सम्पदा वाले लोगों के लक्षण, अ. १६, श्लो. ७-२०

२. 'श्री अमर भारती', फरवरी १९९५ के अंक में प्रकाशित 'चैतन्य की तीन धाराएँ' लेख से भावांश ग्रहण, पृ. ३

तो शुभ योग में भी विकल्प होता है, विकल्प जहाँ होता है, वहाँ शुभाशुभ कर्मों का आस्रव (आगमन) और उत्तरकाल में रागादि विभावों के जुड़ जाने से शुभाशुभ कर्मों का बन्ध होता रहता है।[1]

शुभ योग के दो प्रकार : प्रशस्त और अप्रशस्त : स्वरूप और अन्तर

शुभ योग में प्रशस्त और अप्रशस्त दो प्रकार हैं जैसे किसी व्यक्ति की दृष्टि सम्यक् नहीं है अथवा वह पंथवादी सम्यक्त्वधारक है, उसकी दृष्टि लक्ष्य, साध्य या मोक्ष की ओर नहीं है और न ही आत्मा-परमात्मा के प्रति ज्ञानयुक्त श्रद्धा-भक्ति है, उसमें देवमूढ़ता, गुरुमूढ़ता और धर्ममूढ़ता व्याप्त है, वह व्यक्ति ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप तथा समत्व, दान, शील आदि का आचरण करता है, किन्तु इसके पीछे अन्तर्मन में इहलौकिक-पारलौकिक कामना-वासना-तृष्णा-स्वार्थलालसा छिपी है, प्रशंसा, प्रसिद्धि, कीर्ति आदि की लिप्सा है, अविवेक, स्वार्थ, गर्व, मद, भय, निदान, संशय, रोष या अविनय, अबहुमान आदि दोष उक्त चारों की साधना में लिपटे हुए हैं तो शुभ योग होते हुए भी वह प्रशस्त शुभ योग नहीं तथा वह उस शुभ योग के साथ शंका (संशय), कांक्षा (फलाकांक्षा), विचिकित्सा (फल में सन्देह या उसके प्रति अरुचि या घृणा), मिथ्यादृष्टि-परायण लोगों के आडम्बर, प्रदर्शन एवं धुआँधार प्रचार देखकर उस ओर लुढ़क जाता है अथवा एकान्तवादी या मिथ्यादृष्टि-परायण लोगों से अत्यधिक संसर्ग करके उनमें ही घुल-मिल जाता है। अत्यधिक चंचलता, मलिनता तथा अगाढ़ता आदि दोषों से ग्रस्त हो जाता है। अतः कथंचित् शुभ योग होते हुए भी वह प्रशस्त और निर्दोष शुभ योग नहीं है। ऐसा शुभ योग मिथ्यात्वी में भी हो सकता है, किन्तु वह सम्यग्दृष्टियुक्त न होने से अशुभ योगास्रव निरोध का कारणरूप शुभ योग-संवर नहीं हो सकता, किन्तु उससे पुण्यबन्ध हो सकता है।[2]

अप्रशस्त शुभ योग और अशुभ योग में अन्तर

इस अप्रशस्त शुभ योग और अशुभ योग में अन्तर यह है कि अशुभ योगी के विचार, वाणी और कार्य तीनों ही अशुभ भावों से ग्रस्त होते हैं तथा घोर मिथ्यात्व दशा से युक्त होते हैं, जबकि अप्रशस्त शुभ योगी के विचार, वाणी और व्यवहार या कार्य तीनों ही शुभ भावों से युक्त होते हैं, वह मन्द-मिथ्यादृष्टि होने से कदाचित् सुलभबोधि और शुक्लपक्षी भी हो सकता है। इन्द्रभूति गौतम आदि गणधर भगवान

---

१. 'श्री अमर भारती', फरवरी १९९५ के अंक में प्रकाशित 'चैतन्य की तीन धाराएँ' लेख से यत्किंचित् भाव ग्रहण

२. शुभः पुण्यस्य, अशुभः पापस्य। —तत्त्वार्थसूत्र, अ. ६, सू. ३-४

महावीर के सम्पर्क में आने से पहले शुभ योगी होते हुए भी प्रशस्त शुभ योगी नहीं थे। किन्तु जब ग्यारह ही गणधरों के संशयों का अपने शिष्यों सहित भगवान महावीर के सम्पर्क में आने पर पूर्ण मनःसमाधान हो गया, तब वे भगवान के चरणों में समर्पित तथा श्रमण दीक्षा से दीक्षित हो गये, उनके पूर्व प्रशिक्षित वेदादि के ज्ञान को नई सम्यग्दृष्टि, सम्यक्ज्योति एवं सैद्धान्तिक पुष्टि मिल गई तो उनका वह अप्रशस्त शुभ योग प्रशस्त शुभ योग में परिणत हो गया और आगे चलकर वे शुद्धोपयोग की भूमिका पर आरूढ़ होकर अयोग-संवर की भूमिका पर पहुँच गए।

प्रशस्त शुभ योग-संवर से अयोग-संवर की भूमिका

इसी प्रकार वैसे तथारूप देव-गुरु-धर्म का उत्तम निमित्त मिलने पर एक समय का अशुभ योगी भी सहसा अध्यवसायों और भावों में शुभ योग की लहर आने पर तथा सम्यग्दृष्टि, सम्यक्समाधान एवं सम्यग्ज्ञान के मिलने से प्रशस्त शुभ योग-संवर की भूमिका पर आरूढ़ होकर शुद्धोपयोग के मार्ग पर बढ़ता-बढ़ता एक दिन पूर्ण अयोग-संवर की भूमिका को प्राप्त कर लेता है। अर्जुन मुनि, चिलातीपुत्र मुनि, प्रभव आदि ५०० चोर, रोहिणेय चोर आदि इस तथ्य के ज्वलन्त उदाहरण हैं।

प्रशस्त शुभ योग-संवर की धारा का प्रतिफल

वस्तुतः यह प्रशस्त शुभ योग की धारा देव, गुरु और धर्म के प्रति मूढ़तारहित सम्यग्दृष्टियुक्त असीम श्रद्धा, भक्ति, बहुमान तथा पर्युपासनायुक्त समर्पणवृत्ति से ओतप्रोत होती है। यद्यपि यह प्रशस्त शुभ योग की धारा भी रागात्मक होती है, परन्तु इसमें प्रशस्त राग होता है, जो अल्पतर और शुभ कर्मबन्ध का कारण है, इसमें उत्कृष्ट भाव रसायन आने पर तीर्थंकर नामकर्म का उपार्जन भी हो सकता है।[1]

गीतादर्शन और जैनदर्शन का योग के सम्बन्ध में मन्तव्य

अब हमें यह देखना है कि द्रव्य और भाव दोनों से प्रशस्त शुभ योग के विषय में गीता आदि अन्य दर्शन व जैनदर्शन का क्या मन्तव्य है? जिस प्रवृत्ति या क्रिया को जैनदर्शन ने योग कहा है, उसे भगवद्गीता ने कर्म कहा है। गीता में यह भी कहा

---

१. अरहंत-सिद्ध-पवयण-गुरु-थेर-बहुस्सुए-तवस्सीसुं।
वच्छलया य तेसिं अभिक्खणाणोवओगे ॥१॥
दंसण-विणए-आवस्सए य सीलव्वए निरइयारं।
खण-लव-तव-च्चियाए वेयावच्चे समाही य ॥२॥
अपुव्वणाण-गहणे सुयभत्ती पवयणो पभावणया।
एएहिं कारणेहिं तित्थयरत्तं लहइ जीवो ॥३॥ —ज्ञाताधर्मकथा, अ. ८, सू. ६४

है कि तेरी शरीर-यात्रा भी अकर्म (प्रवृत्ति न करने) से नहीं चल सकती। अगर कोई प्रवृत्ति (कर्म) को दोषयुक्त समझकर अकर्मण्य बनकर बैठ जाता है, उससे भी उसका प्रवृत्तिमुक्त (अकर्म) बनना संभव नहीं। क्योंकि जब तक चेतनासम्बद्ध शरीर है, तब तक उसे तन, मन, वचन और इन्द्रियों के द्वारा कोई न कोई कर्म करना ही पड़ेगा।[1] बेहोशी की अवस्था में भी भावमन काम करता रहता है। भगवान महावीर ने भी उच्च साधकों तथा गृहस्थ उपासकों को चलने-फिरने, उठने-बैठने, खाने-पीने, सोने-जागने, बोलने-देखने-सुनने, सोचने-विचारने आदि प्रवृत्तियाँ (क्रियाएँ या कर्म) करने की बिलकुल मनाही नहीं की, बल्कि उन्होंने कहा कि प्रत्येक शारीरिक-मानसिक-वाचिक प्रवृत्ति यतनापूर्वक करने से पापकर्म का बंध नहीं होता।" यतनापूर्वक पराक्रम करे। सर्वेन्द्रियों से समाहित होकर अप्रमत्तभाव से सदा प्रयत्न करे।"[2] भगवान महावीर का यह भी मन्तव्य है कि जो सर्वभूतात्मभूत बनकर सभी प्राणियों पर समभाव रखता है। आस्रवों का निरोध करता है, वह पापकर्म का बन्ध नहीं करता, शुभ योग-संवर का उपार्जन कर लेता है।[3]

कर्मयोगी को अन्तिम समय तक कर्म न छोड़ने का निर्देश

भगवद्गीता में अन्त तक कर्म (प्रवृत्ति) न छोड़ने की बात कही है, साथ ही यह भी कहा है कि विद्वान् कर्मयोगी को युक्त होकर कर्म (प्रवृत्ति) करना चाहिए, कर्म के साथ आसक्ति, फलाकांक्षा आदि दोषों का त्याग करके कर्तृत्व के अहंकार से मुक्त होकर भगवदर्पणबुद्धि से सत्कर्म करना चाहिए।

भगवान महावीर ने योग को मार्ग और अयोग को मंजिल कहा

सारांश यह है कि अन्य दर्शन ने जहाँ कर्म (प्रवृत्ति या योग) से सर्वथारहित होने की बात नहीं कही, वहाँ भगवान महावीर आदि वीतराग तीर्थंकरों ने कर्म को अन्तिम मंजिल न कहकर, प्रशस्त शुभ योगरूप या शुद्धोपयोगरूप योग (कर्म) को मार्ग कहा है। महावीर की दृष्टि में कर्मों से सर्वथा मुक्तिरूप लक्ष्य है, इसलिए उनकी दृष्टि में अन्तिम मंजिल अकर्म है—अयोग (सर्वथा योगों से रहित होना) है।

---

१. (क) शरीरयात्राऽपि च ते न प्रसिद्धयेदकर्मणः। —गीता, अ. ३, श्लो. ८
(ख) देखें—भगवद्गीता के कर्मयोग विषयक श्लोक, अ. ३/१९-२६

२. जयमाणो परक्कमे। अप्पमत्तो जए निच्चं। —दशवै., अ. ८, गा. १६

३. जयं चरे जयं चिट्ठे जयमासे जयं सए।
जयं भुंजतो भासंतो, पावकम्मं न बंधइ॥
सव्वभूयप्प भूयस्स समं भूयाइं पासओ।
पिहिआसवस्स दंतस्स पावकम्मं न बंधइ॥ —दशवै. ४/८-९

अन्य दर्शनों और जैनदर्शन की दृष्टि में अन्तर

अन्य दर्शनों की दृष्टि में और जैनदर्शन की दृष्टि में यही अन्तर है। दर्शनों का चिन्तन यह है कि कर्म (प्रवृत्ति या क्रिया) बिलकुल समाप्त हो गया तो संसार कैसे चलेगा? शरीर-यात्रा कैसे चलेगी? परन्तु भगवान महावीर संसार-यात्रा में कर्मासक्त जीवों की प्रवृत्ति और परिणाम भी बताते हैं और जिसका लक्ष्य कर्मों से मुक्ति पाना है, जिसे अकर्म-अवस्था या अयोग अवस्था प्राप्त करनी है, उसके लिये वे पापकर्मबन्ध से मुक्त रहने की, लक्ष्ययुक्त दृष्टि रखकर यतनापूर्वक शुभ योग में प्रवृत्ति करते हुए शुद्धोपयोग से युक्त होने तथा बीच-बीच में अयोग-संवर की स्थिति प्राप्त करने की और अन्त में पूर्ण अयोग-संवर की स्थिति प्राप्त करने की। आत्मार्थी और मुमुक्षु जीवों को प्रेरणा करते हैं। वे सर्वकर्ममुक्ति के लिए संसार की ओर पीठ देकर चलने का निर्देश करते हैं। केवलज्ञान-प्राप्ति के अनन्तर भगवान महावीर का मुँह संसार की ओर रहा ही नहीं, उनका मुख मुक्ति की ओर रहा है।[1] 'उत्तराध्ययन चूर्णि' में भगवान महावीर के इसी दृष्टिकोण को स्पष्ट किया गया है–"जब आत्मा मन, वचन और काया की चंचलता (प्रवृत्ति या क्रिया) रूप योगास्रव का पूर्ण निरोध कर लेता है, तभी सदा के लिए आत्मा और कर्म पृथक् हो जाते हैं।"[2] अर्थात् आत्मा को पूर्णतया कर्मों से पृथक् (रहित) करने के लिए पूर्ण अयोग-संवर (अकर्म) की मंजिल तक पहुँचना अनिवार्य है। महावीर ने गति (प्रवृत्ति) को स्थिति की राह दिखाने के लिए संवर शब्द का प्रयोग किया है। उनके द्वारा परिभाषित योग में अयोग की, कर्म (गति-प्रवृत्ति) में अकर्म की प्रेरणा है।

इसका यह अर्थ नहीं है कि प्रवृत्ति = क्रियारूप कर्म का भगवान महावीर सर्वथा विरोध करते हैं। यदि ऐसा होता तो वे संवर का ही उपयोग करते या संवर का उपयोग करने की ही प्रेरणा करते, निर्जरा शब्द का कतई उपयोग ही नहीं

---

१. 'योग से अयोग की ओर' (ले.–पं. मुनि सुखलाल जी) से भाव ग्रहण, पृ. १३४-१३५

२. (क) यदा निरुद्ध-योगास्रवो भवति।
तदा जीव-कर्मणोः पृथक्त्वं भवति॥ –*उत्तराध्ययन चूर्णि. १*

(ख) जया संवर मुक्किट्ठं धम्मं फासे अणुत्तरं।
तया धुणइ कम्मरयं अबोहिकलुसं कडं॥२०॥
जया धुणइ कम्मरयं अबोहिकलुसं कडं।
तया सव्वत्तगं नाणं दंसणं चाभिगच्छइ॥२१॥
जया सव्वत्तगं नाणं दंसणं चाभिगच्छइ।
तया लोगमलोगं च जिणो जाणइ केवली॥२२॥
जया लोगमलोगं च जिणो जाणइ केवली।
तया जोगे निरुंभित्ता सेलेसिं पडिवज्जइ॥२३॥ –*दशवै., अ. ४*

करते। संवर गति, चंचलता या प्रवृत्तिरूप कर्मास्रव का निरोध है, पर निर्जरा में तो गति-प्रवृत्ति या क्रिया का निरोध नहीं है, वहाँ तो प्रवृत्ति का विधान है। समिति और गुप्ति में प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों हैं।

ज्ञानादि पंच आचार प्रवृत्ति-निवृत्तिरूप है। चारित्र और तप ये दोनों एकान्त निवृत्तिरूप नहीं हैं। चारित्रविधि के विषय में 'उत्तराध्ययन' में कहा गया है–एक ओर से विरति (निवृत्ति) करे और एक ओर से प्रवृत्ति। अर्थात् असंयम से निवृत्ति और संयम में प्रवृत्ति करे। बल्कि 'मूलाचार' में कहा गया है–"अशुभ से निवृत्ति और शुभ में प्रवृत्ति को (व्यवहार) चारित्र जानो।"[1]

निर्जरा के लिए तप का आचरण करे। वीतरागता-प्राप्ति, अर्हत् आदि की भक्ति, वैयावृत्त्य (सेवा) आदि सब निर्जरामूलक साधनाएँ प्रवृत्तियाँ हैं। 'ओघनिर्युक्ति' में कहा गया है–"जो यतनावान् साधक अध्यात्म-विशुद्धि से युक्त है और आगमविधि के अनुसार आचरण करता है, उसके द्वारा होने वाली विराधना (भावहिंसा न होने से) कर्मनिर्जरा की कारण है।"[2]

प्रशस्त शुभ योग के साथ-साथ शुद्धोपयोग निर्जरा और अयोग-संवर की स्थिति

भगवान महावीर की दृष्टि में–चौदहवें गुणस्थान से पूर्व तक योग (प्रवृत्ति या क्रिया) से सर्वथारहित होना दुष्कर है, क्योंकि योग प्रथम गुणस्थान से लेकर १४वें गुणस्थान से पूर्व तक संसारस्थ जीव के साथ-साथ रहता है। आस्रव के शेष कारण–मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद और कषाय तो १०वें गुणस्थान तक क्रमशः समाप्त हो जाते हैं। भगवान महावीर केवलज्ञान होने के पश्चात् भी अनार्य देश आदि में पादविहार, धर्मोपदेश, ध्यान, कायोत्सर्ग, परीषह-सहन, आहार आदि प्रवृत्तियाँ करते रहे। जैन-सिद्धान्तानुसार चतुर्थ गुणस्थान से अशुभ योगास्रव की प्रवृत्ति बंद हो जाती है। फलतः उसमें अनन्तानुबन्धी कषायों तथा दर्शनमोहनीय की तीन कर्मप्रकृतियों का क्षय हो जाने से उतना योगास्रव (मन-वचन-काया की प्रवृत्ति

---

१ (क) एगओ विरइं कुज्जा, एगओ य पवत्तणं।
असंजमे निवत्तिं च, संजमे य पवत्तणं॥ –उत्तरा., अ. ३१, गा. २
(ख) असुहादो विणि वित्ति, सुहे पवित्ति य जाण चारित्तं॥ –मूलाचार

२. (क) जा जयमाणस्स भवे विराहणा, सुत्तविहि समग्गस्स।
सा होइ निज्जरफला अज्झत्थविसोही जुत्तस्स॥ –ओघनिर्युक्ति, गा. ७५९
(ख) नन्नत्थ आरहंतेहिं हेऊहिं आयारमहिट्ठिज्जा। –दशवैकालिकसूत्र, अ. ९, उ. ४, सू. ४
(ग) नन्नत्थ निज्जरट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा। –वही, अ. ९, उ. ४, सू. ५

से होने वाले अशुभ कर्मों का आगमन) कम हो जाता है और कषायों की तथा मोहकर्म की उतनी अल्पता हो जाने से शुद्धोपयोग में उतना उपयोग होने से असंख्यातगुणी निर्जरा हो जाती है। उसके आगे अणुव्रती (देशविरति) श्रावक, सर्वविरति साधु, अनन्तानुबन्धी कषाय के विसंयोजक, दर्शनमोह-क्षपक, उपशमक, उपशान्तमोह, क्षीणमोह तथा वीतराग जिन सयोगी केवली के उत्तरोत्तर क्रमशः कषायों की उपशान्तता तथा क्षीणता बढ़ जाने से शुद्धोपयोग में तीव्रता आने से असंख्यात-असंख्यातगुणी निर्जरा बढ़ती जाती है और योग (मन-वचन-कायप्रवृत्ति = क्रिया) भी उत्तरोत्तर अल्पतर-अल्पतम होते जाते हैं और अन्त में चौदहवें गुणस्थान में जाकर योगों का सर्वथा निरोध होने से पूर्ण अयोग-संवर हो जाता है।[1] निष्कर्ष यह है कि भगवान महावीर की दृष्टि में उत्कृष्ट शुभ योग गीता की दृष्टि से उत्कृष्ट कर्मयोग (प्रशस्त शुभ योग या शुभ योग-संवर) तक पहुँचकर ही नहीं रुक जाता है। वह मार्ग है, उसके अवलम्बन से उत्तरोत्तर योगों (क्रियाओं = कर्मों) को कम करते-करते पूर्ण अयोग-संवर तक पहुँचना ही अभीष्ट है। 'बृहत्कल्पभाष्य' में इसी तथ्य को स्पष्ट किया गया है–"जैसे-जैसे मन-वचन-काया के योग (प्रवृत्तियाँ = क्रियाएँ) अल्पतर होते जाते हैं, वैसे-वैसे (आस्रवोत्तरकालिक) बन्ध भी अल्पतर होता है। १४वें गुणस्थान में पहुँचकर योगों का पूर्णतः निरोध हो जाने से (पूर्ण अयोग-संवर या उत्तरोत्तर असंख्यात-असंख्यातगुणी निर्जरा = कर्मक्षय हो जाने से) आत्मा में बन्ध (आस्रवों) का सर्वथा अभाव हो जाता है, जैसे कि समुद्र में रहे हुए निश्छिद्र जलयान में जलागमन का सर्वथा अभाव हो जाता है।"[2] 'निशीथभाष्य' में भी इसी तथ्य का समर्थन किया गया है–"(प्रत्येक प्रवृत्ति = योग में) यतनाशील साधक का कर्मबन्ध अल्प-अल्पतर होता जाता है और निर्जरा तीव्र-तीव्रतर। अतः वह शीघ्र ही सर्वकर्ममुक्तिरूप मोक्ष को प्राप्त कर लेता है।"[3]

प्रशस्त शुभ योगी त्रियोग को प्रशस्त शुभ योग में स्थिर रखने के लिए क्या करे ?

अब हमें यह देखना है कि प्रशस्त शुभ योग कैसे और कब कितना प्रयोग करने से टिका रह सकता है?

---

१. सम्यग्दृष्टि-श्रावक-विरतानन्त-वियोजक-दर्शनमोह-क्षपकोपशमकोपशान्तमोह-क्षपक-क्षीणमोह-जिनाः क्रमशोऽसंख्येय-गुणनिर्जराः। —*तत्त्वार्थसूत्र, अ. ९, सू. ४७*

२. जहा जहा अप्पतरो से जोगो, तहा तहा अप्पतरो से बंधो।
निरुद्धजोगिस्स व से ण होति, अछिद्दपोतस्स व अंबुणा य॥ —*बृहत्कल्पभाष्य, गा. ३९२६*

३. अप्पो बंधोजयाणं, बहुणिज्जरत्तेण मोक्खो तु। —*निशीथभाष्य ३३३५*

सर्वप्रथम तो प्रशस्त शुभ योगी को मन, वचन और काया इन तीनों का वास्तविक यथार्थ मूल्यांकन निश्चय और व्यवहारदृष्टि से करना आना चाहिए।

शरीर का मूल्यांकन और प्रयोग : सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि द्वारा

सम्यग्दृष्टि प्रशस्त शुभ योगी भी शरीर का मूल्यांकन और प्रयोग करता है और मिथ्यादृष्टि अविवेकी भी। मिथ्यादृष्टि अविवेकी जहाँ शरीर को रूप, रंग, चमड़ी, बाहरी स्थूलता-सुडौलपन, बाहरी बनावट, अंगोपांगों की रचना आदि स्थूल बाह्यदृष्टि से देखता-जानता और तोलता है, वह आसक्तिपूर्वक, सांसारिक विषयभोगों में, अच्छा और प्रभावशाली दिखने में तथा अहंकार-ममकारपूर्वक व्यवहार करने में शरीर का प्रायः उपयोग करता है। ऐसा अविवेकी असम्यग्दृष्टि शरीर से निर्बल, कालाकलूटा, दुबला-पतला एवं अप्रभावशाली होने पर अपने आप को दीन-हीन, निर्बल, सत्त्वहीन समझता है और शरीर से बलिष्ठ, लंबा-चौड़ा, तगड़ा, गोरा, बाह्यदृष्टि से प्रभावशाली समझकर गर्व स्फीत होकर स्वयं गौरवग्रन्थी एवं अहंकार-ममकार से युक्त हो जाता है। दुर्बल मानने वाला दूसरों के प्रति ईर्ष्या, द्वेष आदि से अभिभूत हो जाता है और बलिष्ठ मानने वाला, क्रोधादि एवं आसिक्त आदि से अभिभूत होता है।

शरीर का मूल्यांकन : विभिन्न दृष्टि वाले व्यक्तियों द्वारा

इसके विपरीत सम्यग्दृष्टि-सम्यग्ज्ञान से युक्त मानव बाह्यदृष्टि से शरीर को रक्त, माँस, मज्जा, अस्थि, वीर्य आदि सप्त धातुओं से तथा अनेक रसायनों के योग से निर्मित हाथ, पैर, मस्तक, हृदय, फेफड़ा, नस-नाड़ियाँ, नेत्र आदि पाँचों इन्द्रियों, मन आदि अवयवों से युक्त मानता है, किन्तु बलिष्ठ या दुर्बल आदि होने पर अपने आप को गुरुता या लघुता की दृष्टि से नहीं आँकता। किन्तु वह यह भी जानता है कि आत्मा को धर्म-पालन करने के लिए इसे सशक्त और सुदृढ़ रखकर आध्यात्मिक विकास करने के लिए तथा हाथ, पैर, इन्द्रियाँ, मन, वचन आदि को संयम में रखकर इनसे ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप का आचरण करके कर्मों से मुक्त होने के लिए तथा नये आते हुए कर्मों को रोकने के लिए शरीर की सबसे अधिक आवश्यकता है। शरीर है तो मन, बुद्धि, हृदय, अंगोपांग, इन्द्रियाँ आदि मिलते हैं और अपना-अपना कार्य करते हैं। शरीर नष्ट हो जाता है तो ये सब भी निश्चेष्ट हो जाते हैं, कुछ भी नहीं कर सकते। सम्यग्दृष्टि प्रशस्त शुभ योगी समझता है कि इस जगत् में कोई भी पदार्थ शरीर से बढ़कर मूल्यवान नहीं है। शरीर ही (शरीरान्तर्गत मन-बुद्धि ही) संसार के सभी मूल्यवान समझे जाने वाले पदार्थों का मूल्यांकन करता है, उनके उपयोग, प्रयोग और सदुपयोग-दुरुपयोग-

अनुपयोग का तथा उनसे होने वाले आस्रव और संवर का, बन्ध, निर्जरा का तथा मोक्ष का भी मूल्यांकन यही करता है। साथ ही शरीर (मन-बुद्धि द्वारा) स्वयं अनित्य है, नाशवान् है, मल-मूत्रादि का पिण्ड है, हड्डियों का ढाँचा है; इसमें वात, पित्त, कफ, नाड़ी संस्थान, नसें आदि हैं। फिर भी इस शरीर-यंत्र से ही शारीरिक, वाचिक, मानसिक आदि तमाम प्रवृत्तियाँ होती हैं, हो सकती हैं। अगर एक शरीर न हो तो हम न तो जीवन के साथ लगे हुए कर्मबन्धनों को तोड़ने का मन से विचार कर सकते हैं और न ही उत्कृष्ट तप, त्याग, परीषह और उपसर्ग को समभावपूर्वक सहन, चारित्र-पालन, प्राणिमात्र पर समभाव, प्रत्येक परिस्थिति में सम रहने की दृढ़ता कर सकते हैं, न ही बुद्धि से आत्म-भाव में स्थिर रहने का, अनावृत आत्म-गुणों को, आत्म-शक्तियों को आवृत करने का पराक्रम कर सकते हैं, न ही ज्ञाता-द्रष्टा रहकर आने वाले कर्मों के आकर्षण (आस्रवों) के कारणभूत राग-द्वेषादि को वहीं रोककर संवर धर्म अर्जित कर सकते हैं। शरीर में ही वह शक्ति है कि व्यक्ति एक ही स्थान पर तीन-चार घंटे ही नहीं, तीन-चार मास तक स्थिर होकर बैठ सकता है, शरीर रहते हुए भी वह देहातीत, देहाध्यास से मुक्त अवस्था प्राप्त कर सकता है। अतः सम्यग्दृष्टि प्रशस्त शुभ योगी शरीर की तमाम शक्तियों का आध्यात्मिक मूल्यांकन करता है और उनका दोहन करके उन शक्तियों का शुद्धोपयोग के रूप में उपयोग करके अयोग की स्थिति प्राप्त कर लेता है। इसी मानव-शरीर के द्वारा संयम और तप के द्वारा आत्मा को भावित करके सर्वकर्ममुक्ति (मोक्ष) प्राप्त कर लेता है।[1]

विवेकी सम्यग्दृष्टि और अविवेकी असम्यग्दृष्टि संसार परिशोषित और परिपोषित

मानव-शरीर में असीम शक्तियाँ हैं। अविवेकी और असम्यग्दृष्टि उन शक्तियों को पतन के विपरीत मार्ग में बहाकर घोर कर्मों का आस्रव और बन्ध कर लेता है, जबकि विवेकी सम्यग्दृष्टि उन्हीं शक्तियों को उत्थान के शुद्ध मार्ग की ओर मोड़कर उनसे कर्मों का निरोध (संवर) और क्षय (निर्जरा) कर लेता है। 'अध्यात्मसार' में ठीक ही कहा है–"जिस शरीर से अविवेकी पुरुष संसार-मार्ग को परिपुष्ट कर लेता है, उसी शरीर से विवेकी पुरुष संसार के मार्ग का परिशोषण (ह्रास) कर लेता है।"[2]

---

१. 'मैं हूँ अपने भाग्य का निर्माता' (आचार्य महाप्रज्ञ) से भावांश ग्रहण, पृ. २०

२. येनैव देहेन विवेकहीनाः संसारमार्गं परिपोषयन्ति।
तेनैव देहेन विवेकभाजः संसारमार्गं परिशोषयन्ति॥ —अध्यात्मसार

मानव-शरीर में शक्ति के तीन स्थान

मानव-शरीर में शक्ति के तीन स्थान हैं, जिन्हें हम ऊर्ध्वलोक, मध्यलोक और अधोलोक कह सकते हैं। ऊर्ध्वलोक का केन्द्र मस्तिष्क है, मध्यलोक का है–हृदय और अधोलोक का केन्द्र है–नाभि। ये तीन मानव-शक्ति के स्रोत हैं। अविवेकी तथा असम्यग्दृष्टि व्यक्ति अपनी इन शक्तियों को ऊपर से नीचे की ओर प्रवाहित कर रहा है, जबकि विवेकी शुभ योगी सम्यग्दृष्टि अपनी इन शक्तियों को नीचे से ऊपर की ओर प्रवाहित करता है। अर्थात् वह मानव-शरीर की महाशक्तियों को बहुत ही मूल्यवान समझकर नीचे की शक्ति = काम-शक्ति को मध्यम शक्ति = श्रद्धा-उत्साह भक्ति आदि की शक्ति के साथ मिलाकर ऊपर की सर्वोपरि सम्यग्ज्ञान शक्ति के साथ एकात्मभूत कर देता है। आशय यह है कि नीचे की शक्ति सर्वोपरि शक्ति के साथ मिलाने से वह महती बन जाती है।[1] सम्यग्दृष्टि प्रशस्त शुभ योगी ऐसा करके अयोग-संवर की स्थिति भी यदा-कदा प्राप्त कर लेता है।

ऊपर का लोक मस्तिष्क से लेकर कण्ठ तक है, जिसमें शुद्ध चेतना–ज्ञान व बुद्धि का विकास होता है। जिससे परमार्थ, तत्त्वज्ञान, आनन्द आदि की क्षमताएँ उत्पन्न होती हैं। यह सर्वोपरि केन्द्र है। मध्यलोक हृदय से लेकर नाभि तक है, जिसमें श्रद्धा, भक्ति, उत्साह, मानसिक एवं भावात्मक संस्थान, दृढ़ता, वैराग्य, तप, त्याग, संयम की शक्ति निहित है। तीसरा अधोलोक नाभि से लेकर गुदा तक है। इस नीचे के स्रोत में काम-शक्ति का निवास है, इस केन्द्र में कामना, नामना, वासना, स्पृहा, आकांक्षा तथा हिंसा, असत्याचरण, चौर्य आदि की भावना तथा आर्त्तध्यान, रौद्रध्यान आदि की शक्ति है।

तीन कोटि के व्यक्ति

मानव-जन्म या मनुष्य-शरीर एक बहुमूल्य हीरा है। अज्ञानी, मिथ्यात्वी अशुभ योगी तो इसका यथार्थ मूल्यांकन ही नहीं कर पाता। इसलिए गतानुगतिक अन्धविश्वासी, अन्धपरम्परानुगामी मिथ्यात्वी एवं अशुभ योगी इस शरीर का यथार्थ मूल्य न समझकर विलासिता में ऐश-आराम में सैर-सपाटों में पर-निन्दा-चुगली में, हिंसा, झूठ, चोरी, बेईमानी, ठगी, धूर्तता, छलकपट, अति लोभ, तुच्छ और तीव्र स्वार्थपूर्ति में, आर्त्त-रौद्रध्यान में, दूसरों में लड़ने-भिड़ने में, युद्ध, कलह, आतंक, वैर-विरोध, संघर्ष आदि में अपनी काययोग शक्तियों का दुर्व्यय कर डालता है। सघन-मोहबुद्धि के अनुसार वह अशुभ योग में प्रवृत्त होकर अशुभ कर्मबन्ध कर लेता है।

---

१. 'मैं हूँ अपने भाग्य का निर्माता' से यत्किंचिद् भाव ग्रहण, पृ. २१-२२

इससे कुछ आगे बढ़कर शुभ योगी शरीर की शक्ति का किंचित् मूल्यांकन कर लेता है, परन्तु उसकी दृष्टि सम्यक् नहीं है। वह या तो सिर्फ ज्ञान बघारता है, आचरण में बिलकुल नहीं उतारता। इतना ही नहीं, कतिपय व्यक्ति आत्म-दृष्टि से आत्म-स्वरूप रमणता या भेदविज्ञान की दृष्टि से कोई विचार न करके जप, तप, धर्मक्रिया, दान, शील, व्रत, नियम, प्रत्याख्यान, त्याग, कष्ट-सहन आदि इहलौकिक-पारलौकिक वांछा पूर्ति या प्रशंसा-कीर्ति-प्रसिद्धि-प्रतिष्ठा, नामबरी आदि की दृष्टि से ही करते हैं। ऐसे लोग भी शरीररूपी बहुमूल्य हीरे का सही मूल्यांकन न करके थोड़ी-सी स्वार्थलिप्सा के कारण बहुत-सा आध्यात्मिक लाभ खो बैठते हैं।

तीसरा सम्यग्दृष्टि प्रशस्त शुभ योगी सम्यग्ज्ञान के प्रकाश में मनुष्य शरीररूपी बहुमूल्य हीरे का यथार्थ मूल्यांकन करता है। स्व-पर-कल्याण की दृष्टि से तप, त्याग, व्रत, नियम, संयम, वैराग्य, श्रमप्रभक्ति, रत्नत्रय के आचरण आदि में उसका पूर्ण यतनापूर्वक उपयोग करता है।

प्रशस्त शुभ योगी तन-मन का आध्यात्मिक मूल्यांकन करके शुभ योग-संवर से शुद्धोपयोग में प्रवृत्त होकर यदा-कदा अयोग-संवर भी कर लेता है, निर्जरा भी।

शरीर का आध्यात्मिक मूल्यांकन

इस प्रकार सम्यग्दृष्टि शुभ योग-संवर-साधक शरीर का आध्यात्मिक दृष्टि से मूल्यांकन करता है। वह जानता है, शरीर के माध्यम से विश्व में बड़े से बड़ा पराक्रम किया जा सकता है, वह अतीव उपयोगी और सशक्त माध्यम है। अतः वह शरीर की शक्तियों को जानता है, शक्ति-स्रोतों को भी पहचानता है और उसको आध्यात्मिक दिशा में मोड़ने के लिए शरीर की संचित शक्तिशाली प्राण ऊर्जा को नीचे के रास्ते से न बहाकर उसको संरक्षित करके नीचे से ऊपर की ओर ले जाता है। यही शुभ योग-संवर में स्थिर होकर अयोग-संवर की दिशा में गति-प्रगति करने का एक अचूक मार्ग है।

सम्यक्त्वयुक्त शुभ योग-संवर की स्थिरता के लिए

इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि-सम्पन्न शुभ योग-संवर में स्थिर रहने का सर्वोत्तम उपाय भगवान महावीर ने यह बताया कि प्रत्येक प्रवृत्ति यतनापूर्वक करो, चाहे वह प्रवृत्ति मन की हो, चाहे वचन की हो, चाहे काया की। यतना का अभ्यास करने वाला या यतनाचार में अभ्यस्त साधक गृहस्थ हो या साधु दोनों ही अवस्थाओं में मन, वचन और काया के योग (प्रवृत्ति) को न तो अतियोग होने देता है, न ही बिलकुल ही इनकी प्रवृत्तियों को निश्चेष्ट बनाकर मन ही मन संकल्प-विकल्प करता है और न संयम से विपरीत मार्ग में अथवा आत्म-हित के विरुद्ध कार्य में

अपने मन-वचन-काया को जाने देता है। 'भगवद्गीता' के इस योग-सन्तुलन सूत्र को वह दृष्टिगत रखता है—न तो संसार के पदार्थों का अत्यधिक उपभोग करने वाले का योग सिद्ध होता है और न ही (शरीर के रहते) सर्वथा उपभोग न करने वाले का, तथैव न अतिशमन करने वाले का और न अत्यन्त जागने वाले का योग सिद्ध होता है। योग उसी (शरीरधारी) के लिए दुःखनाशक होता है, जो युक्त (उपयोगयुक्त) होकर (यथायोग्य) आहार-विहार करता है, कर्मों (मन-वचन-काया से होने वाली प्रवृत्तियों) में भी यथायोग्य (उपयुक्त) चेष्टाएँ करता है तथा शयन और जागरण भी जिसका उपयुक्त (यथायोग्य) होता है।[1]

त्रियोगों की प्रवृत्ति-निवृत्ति का सन्तुलन : शुभ योग-संवर के लिए आवश्यक

आरोग्यविज्ञान, मनोविज्ञान और कर्मविज्ञान तीनों दृष्टियों से यह संतुलन या यतनायुक्त जीवन, उपयोगयुक्त जीवन स्वस्थ, संतुलित, दुःखनिवारक, पापकर्मविनाशक एवं पुण्यबन्धकारक अथवा शुभ योग-संवर में स्थिर रखने वाला है। वर्तमान युग में इन त्रिविध योगों का असंतुलन ही अनेक समस्याओं और पापकर्मों को तथा दुःखों को उत्पन्न करता है। यदि मन के विचार और निर्विचार तथा शरीर और वाणी की सक्रियता और निष्क्रियता का जीवन में सन्तुलन हो जाए तो बहुत से आस्रवों का निरोध, दुःखों और दुश्चिन्ताओं का निवारण अनायास ही कर सकता है। यथार्थ जीवन जीने का नियम भी यही है कि मनुष्य अपने जीवन में मन से विचार और निर्विचार का, वाणी से बोलने और न बोलने का तथा काया से क्रिया करने-न करने का सन्तुलन रखे। मनुष्य जब इन तीनों योगों में असंतुलित होकर जीता है, तब अनेक रोग, शोक, चिन्ता, उद्विग्नता, दुःख, दैन्य, कर्मबन्धनों आदि से घिर जाता है। वर्तमान युग का मानव या तो बहुत ही सोचता है, जिससे कोई लाभ नहीं है, बल्कि जीवनी-शक्ति का ह्रास ही अत्यधिक है। वह उन सब ऊलजलूल बातों को सोचकर, पुरानी बातों का स्मरण करके, व्यर्थ की कल्पनाएँ करके, बेसिर-पैर का चिन्तन करके अनावश्यक विचारों में अपनी सारी जीवनी-शक्ति का अपव्यय कर डालता है अथवा अपनी अशुभ प्रवृत्तियों को ढर्रे से किये चला जाता है, उनमें हिंसा-अहिंसा का, सत्य-झूठ का या अच्छाई-बुराई का कोई विचार नहीं करता है, ऐसा विचारमूढ़ व्यक्ति यथार्थ

---

१. नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति, न चैकान्तमनश्नतः।
न चातिस्वप्नशीलस्य जाग्रतोनैव चार्जुन !
युक्ताहार विहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा॥ —भगवद्गीता ६/१६१७

चिन्तन भी नहीं करता। इसी प्रकार कई लोग अपनी वाणी को वाचालता, मौखर्य, व्यर्थ बकवास, निन्दा, चुगली, कलह-वादविवाद, गपशप, अहंकार पोषण में अथवा अनावश्यक ही बोलते रहने में बिना प्रयोजन ही किसी के विषय में झूठी-सच्ची आलोचना-प्रत्यालोचना करते रहने में अथवा भाषणबाजी-नारेबाजी करने-कराने में या थोड़ी-सी पीड़ा या कष्ट होने या मनोऽनुकूल व्यक्ति या परिस्थिति न मिलने पर जोर-जोर से बड़बड़ाने, चिल्लाने या हल्ला करने में वाक्शक्ति अनावश्यक बर्बाद करते रहते हैं अथवा वे स्त्रीकथा, भोजनकथा, राजकथा (राजनैतिक विकथा) और देशकथा (राष्ट्रान्धता, प्रान्तीयता आदि विकथा) में अपनी वाणी का अनावश्यक व्यय करते रहते हैं। इससे दुष्कर्मबन्ध तो होता ही है, हिंसादि अनेक पाप-चेष्टाएँ वैर-परम्परा को जन्म देती हैं। 'भवभावना' नामक ग्रन्थ में भुवनभानुकेवली के चरित्र में उल्लेख है कि जिस जीव ने मनुष्य-जन्म पाकर चतुर्दशपूर्वधर महर्षि बनने के पश्चात् ज्ञान का रस भूलकर राजकथा आदि विकथाओं में पड़कर तथा उपर्युक्त प्रकार से वाणी का व्यर्थ व्यय किया उसे मरकर निगोद आदि एकेन्द्रिय जीवों में जन्म लेना पड़ा। इससे स्पष्ट है कि वचनयोग की शक्ति का दुरुपयोग तथा अपव्यय करने से कितना अधःपतन होता है।[1]

इसी प्रकार वचनयोग के द्वारा वाचना, पृच्छा, पर्यटना, धर्मकथा तथा सदुपदेश देने में, सत्परामर्श देने में, सहानुभूति प्रगट करने में तथा हिंसा आदि हो रही हो उस समय में मूक होकर बैठ जाना भी अच्छा नहीं है, जबकि मौन करके भी कई लोग इशारों से या लिखकर वाणी से होने वाले कई कार्य करते हैं। अतः शरीरधारी के लिए वाणी का असंतुलन भी ठीक नहीं है और काया से भी आज का मनुष्य प्रायः धन, सम्मान, प्रतिष्ठा, प्रसिद्धि, अनुकूल परिस्थिति या वस्तु को पाने के लिए नींद, भूख, थकान आदि का विचार किये बिना अत्यधिक भाग-दौड़ करता रहता है, सुबह से लेकर रात को सोने तक प्रायः कई सभा-सोसाइटियों, कई प्रचार सभाओं में, कई जगह सभापति, मुख्य अतिथि बनने या प्रतिष्ठा पाने के लिए जहाँ-तहाँ दौड़-धूप करता रहता है। रात को नींद भी सुख से नहीं ले पाता। ऐसी अतिप्रवृत्ति वर्तमान युग में कई साधु-साध्वियों में भी प्रविष्ट हो चुकी है। उन्हें अपनी साधना में विक्षेप पड़ने का कोई विचार नहीं होता। येन-केन-प्रकारेण प्रसिद्धि, भक्तों की भीड़, प्रदर्शन और आडम्बर देखकर उनका मन सन्तुष्ट हो उठता है। काया से जहाँ अधिकांश लोग अतिप्रवृत्ति में पड़े हैं, वहाँ कई लोग आलसी, अकर्मण्य और निठल्ले होकर पड़े रहते हैं, आरामतलब बनकर सोये रहते हैं। वे आवश्यक कार्यों से, कर्त्तव्यों और दायित्वों से जी चुराते हैं,

१. 'दिव्यदर्शन', दि ३-३-९० के अंक से भाव ग्रहण, पृ. १७३

इतना ही नहीं, धर्मध्यान, धर्मक्रिया या सत्कार्यों के करने से या अवसर आने पर निष्काम या निःस्वार्थ पुण्य कार्य करने से भी टालमटूल करते हैं या कतराते हैं।

इस प्रकार प्रवृत्ति और निवृत्ति, दोनों तरफ अति असन्तुलन, निरंकुशता, लक्ष्यहीनता या उपेक्षा आदि दोषों के कारण, न तो त्रिविध योगों के द्वारा पुण्य ही उपार्जन हो पाता है और न ही कर्मास्रव का निरोधरूप संवर ही।

योगों को संतुलित करने हेतु स्थिरता का अभ्यास करो

अतः मन, वचन और काया की प्रवृत्ति-निवृत्ति को संतुलित करने के लिए 'आवश्यकसूत्र' में प्रत्येक मुमुक्षु साधक के लिए 'कायोत्सर्गसूत्र' के पाठ में कहा गया है–"ताव कायं ठाणेणं मोणेणं झाणेणं अप्पाणं वोसिरामि।" अर्थात् (जब तक मैं कायोत्सर्ग में हूँ) तब तक शरीर से स्थिर होकर, वाणी से मौन होकर तथा मन से ध्यानस्थ (एक अध्यात्मयोग्य वस्तु में एकाग्र) होकर अपने आप का व्युत्सर्ग (आत्म-व्युत्सर्जन) करता हूँ। इसका फलितार्थ यह है कि दिन और रात के चौबीस घंटों में कम से कम एक या आधा घंटा तो शरीर को स्थिर रखने का अभ्यास करना चाहिए। उस समय अन्य सब कुछ प्रवृत्तियों को छोड़कर शरीर पर से ममता-मूर्च्छा, अहंता-आसक्ति आदि का त्याग करके एकमात्र परमात्मा या शुद्ध आत्मा में समर्पित हो जाना चाहिए। अतः काया का इस प्रकार उत्सर्ग करने से वह बिलकुल शान्त, स्थिर और संतुलित रह सकता है। इसी प्रकार वचनयोग की स्थिरता के लिये हम दिन और रात में कम से कम एक घंटा स्वरयंत्र को निष्क्रिय रखें, वचन उत्पन्न न होने दें, मौन रहें; वाणी को शान्त रखें, अभाषक रहें। ऐसा अभाषक जो बोल तो सकता है, पर बोलता नहीं है। मनोयोग की स्थिरता इन दोनों से ही कठिन है। अगर हम मन-मस्तिष्क को काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर, राग, द्वेष, आर्त्त-रौद्रध्यान आदि के विचारों से खाली रखने का प्रतिदिन कम से कम १५ से ३० मिनट तक अभ्यास करें, हम केवल ज्ञाता-द्रष्टा बनकर रहें तो मन का भी स्थिरीकरण तथा विचारता और निर्विचारता में सन्तुलन हो सकता है। योगदर्शन और गीता में मन को वश करने के लिए दो उपाय बताये हैं–अभ्यास और वैराग्य।[1]

प्रत्येक प्रवृत्ति के साथ यतना को सम्पन्न करने की विधि

पाँचों इन्द्रियों के विषयों से भी विरक्ति या उनके प्रति राग-द्वेष न करने से इन्द्रियाँ आत्म-मुखी होकर यतनापूर्वक विषयों में प्रवृत्त हो सकती हैं। परन्तु यतना

---

१. (क) 'प्रेक्षाध्यान', मई १९८७ के अंक में प्रकाशित 'कैसे जीएँ?' लेख से भाव ग्रहण, पृ. ६
(ख) अभ्यासेन तु कौन्तेय ! वैराग्येण च गृह्यते। –भगवद्गीता ६/३५
(ग) अभ्यास-वैराग्याभ्यां तन्निरोधः। –योगदर्शन, पाद १, सू. १२

के लिए सर्वप्रथम सोचना पड़ेगा कि मन-वचन-काया के द्वारा की जाने वाली यह प्रवृत्ति आवश्यक है या अनावश्यक है? आत्मा के लिए हितकर है या अहितकर? अथवा आवश्यक है तो कब, कहाँ, कैसे, कितनी मात्रा में आवश्यक है? इस प्रकार मन, वचन और काया की प्रवृत्ति संवर-निर्जरारूप धर्म या नैतिकता के विरुद्ध है या अविरुद्ध? तथैव अर्थ (जीवन के लिए आवश्यक पदार्थ जुटाने में) पुरुषार्थ की या काम-पुरुषार्थ (अमुक वस्तु को पाने की या अमुक इन्द्रिय-विषय का उपयोग करने की आवश्यकता है या नहीं? यदि अमुक अर्थ और काम-पुरुषार्थ जीवनयापन के लिए आवश्यक है तो वह धर्म से अविरुद्ध (अहिंसा-सत्यादि धर्म से अविरुद्ध), धर्मसम्मत या धर्मनियंत्रित है या नहीं? कर्ममुक्ति-परायण मुमुक्षु यतनाशील-साधक इन सब तथ्यों पर विचार करके ही आगे बढ़ेगा; तभी वह प्रशस्त शुभ योग-संवर उपार्जित कर सकेगा।

फिर वह यतनाचारी साधक जिस प्रवृत्ति या क्रिया को धर्मविरुद्ध या धर्ममर्यादा से नियंत्रित समझेगा, 'आचारांगसूत्र' के निर्देशानुसार उसमें वह एकाग्र, तन्मय और दत्तचित्त, तन्निविष्टदृष्टि होकर करेगा। वह जिस समय प्रतिलेखन क्रिया करेगा, उस समय अन्यमनस्क नहीं रहेगा, वाणी-प्रयोग या वार्तालाप नहीं करेगा, न ही कायिक व्यर्थ चेष्टाएँ, अयतनायुक्त चेष्टाएँ करेगा। मन में उस क्रिया के पीछे किसी प्रकार की इहलौकिक-पारलौकिक फलाकांक्षा,[1] सुखाकांक्षा, स्वार्थ, भय, प्रलोभन, यश-कीर्ति, अविवेक, लौकिक लाभ, गर्व, नियाणा (निदान), संशय, रोष या अबहुमान आदि दोषों से प्रेरित होकर नहीं करेगा।[2] संयम और तप से आत्मा को भावित करता हुआ साधक या उपासक उक्त धर्मक्रिया को करेगा। इसी प्रकार प्रमार्जन, सामायिक, प्रतिक्रमण, पौषध, भिक्षाचर्या या साधुवर्ग या गृहस्थ श्रावक के लिए दान, शील, तप, भाव, गृहस्थ के लिए कृषि, गोपालन, सात्विक व्यवसाय आदि समस्त प्रवृत्तियाँ या धर्मक्रियाएँ भी उपर्युक्त समस्त दोषों से प्रेरित होकर नहीं करेगा।[3]

भावक्रिया और द्रव्यक्रिया : स्वरूप, अन्तर और निष्पत्ति का उपाय

सम्यग्दृष्टि शुभ योग-संवर-साधक जो भी क्रिया या प्रवृत्ति करेगा, उस क्रिया के साथ चेतना को ओतप्रोत कर देगा। इसे ही जैनागमों में भावक्रिया कहा गया है।

---

१. देखें–दशवैकालिकसूत्र ९, उ. ४ में तपसमाधि आचार समाधि का पाठ

२. आवश्यकसूत्र में सामायिकव्रत के १० मन के दोष

३. तद्दिट्ठीए, तम्मुत्तीए, तप्पुरक्कारे तस्सन्नी, तन्निसेवणे अभिभूय अदक्खू ....।

–आचारांग, श्रु. १, अ. ५, उ. ६

भगवान महावीर ने कहा–"जब तुम चलते हो, तब मन को इन्द्रिय-विषयों और स्वाध्याय से हटा लो। एकमात्र चलने का ही ध्यान रखो।" भावक्रिया तभी होती है, जब चेतना और क्रिया एक ही दिशा में चले। दोनों एकरस-से हो जाएँ। अगर चेतना अलग दिशा में जा रही है और क्रिया पृथक् दिशा में, तो वहाँ द्रव्यक्रिया होगी। शरीर का कोई अवयव चले तो उसके साथ-साथ चेतना भी चले। वचन के साथ भी चेतना जुड़े और मन के साथ भी, तभी वह वाणी और मन की क्रमशः भावक्रिया कहलाएगी। अन्यथा, वाणी से कुछ बोला जा रहा है और चेतना दूसरी दिशा में भटक रही है, वहाँ भावक्रिया नहीं होगी।[1] प्रायः देखा गया है कि व्यक्ति कान से सुनता है, पर उसका मन और कहीं दौड़ रहा है, वहाँ भावक्रिया कैसे होगी? भावक्रिया को ही यतनापूर्वक या उपयोगपूर्वक चर्या करना कहते हैं। भावक्रिया के लिए शब्द और अर्थ का बोध तथा चेतना का उपयोग ये तीनों बातें आवश्यक होती हैं।

भावक्रिया की निष्पत्ति के लिए तीन तत्त्वों पर ध्यान देवें

भावक्रिया को सम्पन्न करने हेतु तीन तत्त्वों पर ध्यान देना आवश्यक है– (१) जानते हुए क्रिया या प्रवृत्ति करना, (२) वर्तमान में जीने का अभ्यास, और (३) क्रिया या प्रवृत्ति के समय जाग्रत रहना।

जो भी क्रिया, चर्या, प्रवृत्ति की जाए उसे जानते हुए करने से व्यक्ति विवेकपूर्वक हितकर-अहितकर, कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य, आवश्यक-अनावश्यक का निर्णय कर सकता है। इसीलिए 'दशवैकालिकसूत्र' में कहा गया है–"पठमं नाणं, तओ दया।"–पहले ज्ञान और फिर दया की प्रवृत्ति। सम्यग्दृष्टि प्रशस्त शुभ योगी साधक भी बोलना, चलना, सोना, जागना आदि समस्त क्रियाएँ जानते हुए होने से बोलते समय संयमपूर्वक बोलने से उसका बोलना वाक्योग-संवर बन जाएगा, उसका चलना भी संयम के हेतु से होने से वह गमनयोग-संवर बन जाएगा, आहार करना भी संयम-यात्रा के हेतु से होने से वह आहारयोग-संवर बन जाएगा।

वर्तमान में जीने के अभ्यास में भावक्रिया इसलिए जरूरी है कि वह अतीत की बातों का स्मरण करके भविष्य की कल्पनाओं में उलझ जाएगा तो उस वर्तमान क्रिया से चेतना का वियोग हो जाएगा, योग नहीं रहेगा, चेतना भूत और भविष्य की दिशा में बह जाएगी। इसलिए भावक्रिया के लिए वर्तमान में जीने का अभ्यास करना चाहिए। भावक्रियापूर्वक क्रिया करते समय भी सतत आत्म-जागृति रखना

१. द्रव्यक्रिया = अनुपयोगावस्था क्रिया। अर्थात् अनुपयोग अवस्था = अध्यवसाय शून्यता में की जाने वाली क्रिया द्रव्यक्रिया है। भावक्रिया–तत्क्रिया-परिणतः। अर्थात् उस क्रिया में परिणत हो जाना–लयलीन हो जाना भावक्रिया है। –सं.

आवश्यक है, ताकि अशुभ आस्रव प्रविष्ट न हो जाएँ। जब अन्तर से जागरूकता का अभ्यास हो जाता है, तब स्वतः विवेक-स्फुरणा होती है कि यह प्रवृत्ति करो, यह मत करो। जागरूकता का दृढ़ अभ्यास हो जाने पर वे कर्म या क्रियाएँ स्वतः छूट जाती हैं जो अनावश्यक हैं या अनाचरणीय हैं। इसलिए सूक्ष्म या स्थूल समस्त प्रवृत्तियाँ संयम के पहरे में हों, असंयम का एक भी विकल्प जीवरूपी नाले में नहीं आ जाए इतनी जागृति रहनी चाहिए। तभी समस्त प्रवृत्तियों के साथ यत्नाचार का योग होगा, फिर न तो मिथ्यायोग होगा न अतियोग।[1]

त्रिविध योगों से समस्त प्रवृत्तियाँ संयम के हेतु से हों

वस्तुतः संयम और तप से आत्मा उक्त क्रिया से भावित होने पर ही भावक्रिया निष्पन्न हो सकती है। अन्यथा उपयोगयुक्त शुद्ध व्यक्ति के ज्ञान में कुछ स्खलनाएँ हो सकती हैं और उदयावलिका में ऐसे कर्म चारों ओर से घुस आते हैं कि वे सम्पूर्ण विरक्तिभाव कायम नहीं रहने देते। अतः संयम की स्फुरणा यदि सक्रिय रहे तो प्रमाद और कषायरूप चोरों का हमला होने का खतरा नहीं होता। इसीलिए 'अपूर्व अवसर' में श्रीमद् राजचन्द्र जी ने कहा है–

"संयमना हेतुथी योग-प्रवर्तना, स्वरूपलक्षे जिन-आज्ञा-आधीन जो।"

अर्थात् मन, वचन और काया के प्रत्येक योग की प्रवृत्ति संयम के हेतु से हो और वह संयम भी स्वरूपलक्षी हो तथा स्वरूपलक्षिता भी जिनाज्ञाधीन हो। किन्तु ऐसा (लक्ष्य, कार्य, कारण और कर्त्ता का) क्रम भी (प्रशस्त शुभ योग-संवर की) साधना-दशा में होता है। मगर ज्यों-ज्यों इससे उन्नत अवस्था आती-जाती है, त्यों-त्यों इन सब की भिन्नता (पृथकता) तोड़कर अन्त में ये सब निज शुद्ध-आत्म-स्वरूप में ही लीन–स्थिर हो जाते हैं।[2]

स्वरूपलक्षिता से अयोग-संवर की पूर्ण स्थिति प्राप्त होती है

यही शुद्ध भावधारा है, जिसमें शुभ-अशुभ योग का कोई विकल्प नहीं होता। यह निर्विकल्प अवस्था है। इसमें शुभाशुभजनित कर्मों के बन्धन टूटते जाते हैं,

---

१. (क) इंदियत्थे विवज्जिता।
(ख) सिहो कहाहिं न रमे, सज्झायम्मि रओ सया। –*दशवैकालिक, अ. ८, गा. ४२*
(ग) 'अपना दर्पण : अपना बिम्ब' (आचार्य महाप्रज्ञ) से भाव ग्रहण, पृ. ११
(घ) दशवैकालिकसूत्र, अ. ४, गा. १०

२. (क) 'अपूर्व अवसर', मूल पद्य ५ (श्रीमद् राजचन्द्र जी) से भाव ग्रहण
(ख) 'सिद्धि के सोपान' ('अपूर्व अवसर' के पद्यों पर स्व. मुनि श्री संतबाल जी लिखित विवेचन का हिन्दी अनुवाद) से भाव ग्रहण, पृ. २३

सर्वकर्ममुक्ति का द्वार खुलता है, केवलज्ञान की ज्योति प्रकट होती है। जब तक धर्मध्यान होता है, तब तक वह आर्त्त-रौद्रध्यान को रोके रखता है। किन्तु इससे भी आगे एक और ध्यान है–शुक्लध्यान। शुक्ल का अर्थ है–पूर्ण शुद्ध, निर्मल, निर्विकार और अयोगरूप संवर। यहीं से पूर्ण अयोग-संवर की भूमिका प्रारम्भ होती है। अयोग-संवर के लक्ष्योन्मुखी साधक शुभ-अशुभ योग का समय-समय पर त्याग करता जाता है और उसकी चेतना निर्मलता का रूप ग्रहण करती जाती है। उस सम्यग्दृष्टि प्रशस्त शुभ योग-साधक का मुख अब केवल शुभ की ओर नहीं, अपितु शुद्धोपयोग की ओर होता है। उसकी यात्रा का लक्ष्य अयोग-संवर के शिखर तक (शैलेशी अवस्था तक) पहुँचना है। सर्वकर्ममुक्ति के साधक का लक्ष्य है–अयोग-संवर के शिखर तक पहुँचना। इसके लिए वह शुक्लध्यान के आदिम दो पायों का अवलम्बन लेता है, शुद्धभाव–शुद्धोपयोग या पारिणामिक (वीतराग) भाव उसके लिए माध्यम बनता है। यह निर्विकार, निरंजन, निर्विकल्प अवस्था होती है, जहाँ चेतना–केवल शुद्ध चेतना रह जाती है। ऐसा अयोग-संवर भी तभी हो सकता है, जब साधक की पीठ अशुभ की ओर हो और मुख शुभ से आगे बढ़कर शुद्ध की ओर हो। साथ ही उसमें लक्ष्य के प्रति स्थिरता हो।[1]

(यद्यपि छद्मस्थ होने से) साधक द्वारा की जाने वाली धर्मक्रियाओं में कुछ स्खलनाएँ हो सकती हैं, किन्तु 'विशेषावश्यकभाष्य' में उसे 'शुद्ध' प्रतिपादित करते हुए कहा है–"उपयोगयुक्त शुद्ध व्यक्ति के ज्ञान में कुछ स्खलनाएँ होने पर भी वह शुद्ध ही है। इसी प्रकार धर्मक्रियाओं में कुछ स्खलनाएँ होने पर भी उस शुद्धोपयोगी की सभी क्रियाएँ कर्मनिर्जरा की हेतु होती हैं।"[2]

आत्म-स्थिरता होने पर प्रत्येक प्रवृत्ति अयोग-संवर का रूप ले लेती है

इस प्रकार की भावक्रिया से सम्पन्न होने से प्रशस्त शुभ योग-संवर तो होता ही है, फलतः पापकर्म का बन्ध तो रुक जाता है, साथ ही उसमें आत्म-स्थिरता हो, अर्थात् लक्ष्य के प्रति स्थिरता हो तो वहाँ अयोग-संवर भी हो जाता है। बहुत-सी बार साधनाप्रिय व्यक्तियों के विचार और वाणी में तो सूझ-बूझ होती है, किन्तु जहाँ व्यक्तिगत स्वार्थ या लोभ अथवा अहंकार आ जाता है, वहाँ वे तुरंत मोहावेश के अधीन होकर आत्म-स्थिरता खो बैठते हैं। वहाँ वे आत्मीयतापूर्ण विचार और वाणी को भूलकर अन्तर में कपट की धारा में बह जाते हैं। जिसके विचार में

---

१. 'श्री अमर भारती', फरवरी १९९५ के अंक में प्रकाशित 'चैतन्य की तीन धाराएँ' से भावांश ग्रहण, पृ. ६-७

२. उवउत्तस्स उ खलियाइयं पि सुद्धस्स भावओ सुद्धं।
साहइ तह किरियाओ, सव्वाओ निज्जरफलाओ॥ –*विशेषावश्यकभाष्य ८६०*

आत्म-स्थिरता होती है, वह मन से दूसरों के लिए बुरा चिन्तन नहीं कर सकता। जिसकी वाणी में आत्म-स्थिरता होती है, वह असत्य या छलकपट की भाषा कैसे बोल सकता है? जिसकी कायिक प्रवृत्ति में आत्म-स्थिरता होती है, वहाँ संयममार्ग के सिवाय अन्यत्र विहरण कर ही कैसे सकता है? दृष्टि में आत्म-स्थिरता आई कि पाप-वासना, स्वार्थलिप्सा आदि लुप्त हो जाती है। आत्म-स्थिरता आने पर चाहे जैसे घोर परीषह या उपसर्ग के आने पर भी वह अपने[1] अंगीकृत नियम, यम, प्रतिज्ञा, व्रत, प्रत्याख्यान, संकल्प या स्वीकृत आचार-मर्यादा से कभी डिग या फिसल नहीं सकता। अनुकूल परीषह आने पर भी वह रागादिवश होकर आत्मा के प्रति वफादारी से जरा भी भ्रष्ट या च्युत नहीं होता। जिसकी प्रवृत्ति (कर्म) में आत्म-स्थिरता होती है, उसका शत्रु रहा ही कौन? अर्थात् 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' उसकी जीवन का मूलमंत्र हो जाना स्वाभाविक है। कर्म (प्रवृत्ति) में जब आत्म-स्थिरता आ जाती है, तब समझ लो, संयममार्ग में विहरण प्रारम्भ हो गया। भोजन पास में पड़ा है। कड़ाके की भूख लगी है। ऐसे समय में कोई व्यक्ति अचानक ही उपद्रव करके सारे भोजन को बिगाड़ देता है, यदि कर्ममुक्ति का साधक उस पर गुस्सा करता है, तो भोजन सुधरने वाला नहीं, किन्तु क्रोध करके तो वह अपनी आत्म-स्थिरता चूक जाता है। अतः आत्म-स्थिरता वाला ऐसे अनुकूल-प्रतिकूल परीषहों और उपसर्गों के अवसर पर शान्त, संतुलित और प्रसन्नतापूर्वक रहने का अभ्यासी अपने द्वारा प्रारम्भ किये हुए कर्म (प्रवृत्ति) के समाप्त होने तक आत्म-स्थिरता में टिका रहेगा। जगत् की कोई भी आफत उस पर बुरा असर नहीं डाल सकेगी। मन-वचन-काया के तीनों योगों को संक्षिप्त करने यानी उनका कम-से-कम प्रयोग करने का सच्चा नुस्खा आत्म-स्थिरता यानी आत्म-स्मृति में स्थिर रहना है। ऐसा व्यक्ति अनुकूल और प्रतिकूल, प्रिय तथा अप्रिय दोनों अवसरों पर सम, प्रसन्न और शान्त रहेगा। इसीलिए श्रीमद् राजचन्द्र जी ने योग निरोधरूप संवर अथवा योगों का संक्षिप्त उपयोग करने हेतु आत्म-स्थिरता को महत्त्व देते हुए कहा है–

"आत्म-स्थिरता त्रण संक्षिप्तयोगनी, मुख्यपणे तो वर्ते देह-पर्यन्त जो।
घोर परीषह के उपसर्ग भये करी, आवी शके नहि ते स्थिरतानो अंत जो॥"[2]

---

१. 'सिद्धि के सोपान' (मुनि श्री संतबाल जी) के हिन्दी अनुवाद से भाव ग्रहण, पृ. १६

२. (क) श्रीमद् राजचन्द्र जी के 'अपूर्व अवसर' काव्य का पद्य ४ और उसका 'सिद्धि के सोपान' नाम से विवेचन, पृ. १६-१७

(ख) मोहनिद्रां परित्यज्य, जागृहि स्वात्मबोधतः।
उत्तिष्ठ स्वात्मकर्माणि कुरुष्वोत्साहतः स्वयम्॥
–कर्मयोग (बुद्धिसागर सूरीश्वर जी म.) से भाव ग्रहण, पृ. ५९

भावार्थ स्पष्ट है। आत्म-स्थिरतापूर्वक भावक्रिया या धर्मक्रिया करता हुआ, अन्त में अयोग-संवर की–अक्रियता की स्थिति प्राप्त कर सकता है। सम्यग्दृष्टिज्ञानी के विचार, वाणी और व्यवहार के साथ आत्मा का संयोग ही नहीं, उसकी स्थिरता = चिरस्थापिता भी होती है, इसलिए कैसी भी विकट परिस्थिति में आत्म-स्थिरता को खोता नहीं।

प्रत्येक अनुकूल परिस्थिति में सामान्य व्यक्ति अहंकार, मद, गर्व से युक्त हर्षाविष्ट हो जाता है और प्रतिकूल परिस्थिति में उद्विग्न, रोष, घृणा, द्वेष आदि से ग्रस्त हो जाता है। किन्तु कभी-कभी विशिष्ट अयोग-संवर-साधक भी आत्म-स्मृति चूककर किसी तरह की प्रतिक्रिया कर बैठता है। अतः प्रश्न होता है कि स्थायीरूप से आत्म-स्थिरता–लक्ष्य के प्रति स्थिरता या दूसरे शब्दों में कर्ममुक्ति के प्रति स्थिरता कैसे रहे? ताकि अयोग-संवर की दिशा में बढ़ सके।

आत्म-स्थिरता प्रति क्षण रखने के लिए मुख्य तीन उपाय

आत्म-स्थिरता प्रति क्षण रह सके, इसके लिए मुख्यतया तीन उपाय हैं– (१) कर्ममुक्ति के लक्ष्य के प्रति जागृति रहे, (२) प्रतिक्रिया-विरति का प्रबल अभ्यास, (३) विधेयात्मक चिन्तन।

'कर्मयोग' में इस तथ्य का स्पष्टतः प्रतिपादन किया गया है–"कर्ममुक्तिलक्षी-साधक पहले तो उक्त कार्य को संयम के हेतु से तोलता है। फिर द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा स्व-कर्त्तव्य कर्म की उपयोगिता समझता है। तत्पश्चात् यदि वह हर्ष और शोक में सम रह सकता है, सब कार्यों में अनासक्त रहकर क्रियाकाल में प्रसन्न मुख होकर कार्य कर सकता है, तो वह स्वयं को उस कार्य के करने का अधिकारी समझता है। फिर उसे मोह-निद्रा छोड़कर स्वात्म-बोध में जाग्रत रहकर उत्साहपूर्वक स्वात्म-कार्य में जुट जाना चाहिए। साथ ही ऐसा अयोग-संवर के साधक के कर्तृत्व का मोह छोड़कर साक्षीभूत आत्मा के द्वारा स्वाधिकार प्राप्त कर्त्तव्य का पालन करना चाहिए।"[1]

---

१. (क) अपेक्षयाऽस्ति सर्वेषां कर्मणामुपयोगिता।
स्वस्मै द्रव्यादिभिर्ज्ञाता, तस्यास्ति कर्मयोग्यता॥२९॥
(ख) प्रसन्नास्यः क्रियाकाले समानो हर्षशोकयोः।
निःस्पृहः सर्वकार्येषु तस्यास्ति कर्मयोग्यता॥३६॥
(ग) मोहनिद्रां परित्यज्य जागृहि स्वात्मबोधतः।
उत्तिष्ठ, स्वात्मकर्माणि कुरुष्वोत्साहतः॥५९॥
(घ) त्यक्त्वा कर्तृत्वसम्मोह, साक्षीभूतेन चात्मना।
स्वाधिकारे समायातं स्वीयकर्म समाचरेत्॥९०॥
–कर्मयोग (बुद्धिसागर सूरीश्वर जी म.) से भाव ग्रहण

निःस्वार्थभाव से संयम हेतु से की जाने वाली प्रवृत्ति भी निर्दोष है

कदाचित् अल्पज्ञतावश संयम के हेतु परहित बुद्धि से ऐसी भी प्रवृत्ति करनी पड़े, जिसमें कुछ द्रव्यहिंसा होती हो, परन्तु भावहिंसा नहीं हो, बल्कि उस प्रवृत्ति से अनेक जीवों को धर्मबोध मिलता हो, अनेक जीव कल्याणमार्ग प्राप्त करते हों, तो वैसी प्रवृत्ति (जैसे साधु जीवन में आहार, ग्रामानुग्रामविहार, धर्मोपदेश आदि) निःस्वार्थभाव से की जाने पर उसमें अशुभास्रव का लेप नहीं लगता। 'बृहत्कल्प-भाष्य' में कहा गया है–"संयम के हेतु से की जाने वाली प्रवृत्तियाँ निर्दोष होती हैं, जैसे वैद्य द्वारा किया जाने वाला व्रणच्छेद (फोड़े का ऑपरेशन) आरोग्य के लिये होने से निर्दोष होता है।"

आशय यह है कि संयमी जो भी विचार करेगा, बोलेगा या काया से कर्त्तव्य करेगा वह सब संयम की सीमा में रहकर करेगा, उसकी प्रत्येक प्रवृत्ति में संयम का पहरा रहेगा। उसे प्रति क्षण आत्मभान रहेगा। असंयमी के प्रायः मर्यादा नहीं होती। अविरति सम्यक्त्वी-साधक के अपेक्षाकृत मर्यादा होती है; तो भी वह सर्वविरति संयमी के जितनी और जैसी नहीं होती।[1]

भगवदाज्ञा समझकर अनासक्त निःस्पृह एवं समर्पणभाव से कार्य करने वाला संवर का आराधक है

ऐसे कर्ममुक्ति के लक्ष्य के प्रति जाग्रत की संयमलक्षी या रत्नत्रय-साधनारूप कोई भी प्रवृत्ति होगी, वह भगवदाज्ञा में होगी। जो ग्लान की सेवा करता है, वह मेरी (प्रभु की) सेवा करता है तथा आपकी आज्ञा का परिपालन ही आपकी सेवा-भक्ति है। जैनाचार्य की इस उक्ति के अनुसार भगवदाज्ञाधीन कार्य ही भगवान की सेवा-पूजा या भक्ति-बहुमान है, यह समझकर, अर्थात् प्रत्येक कार्य को भगवद्-भक्ति, प्रभु-पूजा या भगवदाज्ञा-पालन समझकर उसे प्रसन्नचित्त से, अनासक्त एवं निःस्पृह होकर श्रद्धा-भक्तिपूर्वक समर्पणभाव से करेगा। गीता में भी कहा है–"**स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः**।"–अपने कर्त्तव्य कर्म से उस (भगवान) की अर्चना करके मानव सिद्धि प्राप्त करता है। 'Work is worship' की उक्ति भी प्रसिद्ध है।[2]

---

१. (क) संयमहेऊ जोगो पउंज्जमाणो अवोसवं होइ।
जह आरोग्ग-णिमित्तं, गंडच्छेदो व विज्जस्स॥ –*बृहत्कल्पभाष्य ३९४८*
(ख) 'सिद्धि के सोपान' (मुनि श्री संतबाल जी), पद्य ५ के विवेचन से, पृ. २४

२. (क) स्वरूपलक्षे जिन-आज्ञा-आधीन जो। –*अपूर्व अवसर, पद्य ५*
(ख) जे गिलाणं पडियरइ, से ममं पडियरइ। –*दशवैकालिक निर्युक्ति*
(ग) तव सपर्यास्तवाज्ञा-परिपालनम्। –*अयोग व्यवच्छेदिका (हेमचन्द्राचार्य)*
(घ) भगवद्गीता, अ. १८/४६

पनिहारिनों की तरह लक्ष्य में एकाग्रता हो तो सहज अयोग-संवर हो जाता है

जिस प्रकार दो-तीन पनिहारिनें अपने-अपने सिर पर पानी से भरे दो-दो घड़े रखकर चलती जाती हैं; बीच-बीच में आपस में बातें भी करती हैं, परन्तु उनका ध्यान घड़े की ओर रहता है, इसी तरह अयोग-संवर का साधक भी वीतराग प्रभु का तत्त्वज्ञानरूपी घड़ा अपने सिर पर रखकर शुभ योगरूपी मार्ग से जीवन-यात्रा करता है, परन्तु यदि उसका ध्यान परमात्मा में या परमात्मा द्वारा प्रज्ञप्त तत्त्वज्ञान में या कर्ममुक्तिरूप लक्ष्य में रहता है। अर्थात् वह सोते-जागते, उठते-बैठते, खाते-पीते या जीवन के विविध कार्यकलाप करते अथवा अपना अन्यान्य शारीरिक, मानसिक, वाचिक, बौद्धिक आदि कार्य करते हुए अपना ध्यान एकमात्र वीतराग परमात्मा में या वीतराग परमात्मा के तत्त्वज्ञान में या मोक्षरूप लक्ष्य में रखता है, तो वह सहज ही अयोग-संवर उपार्जित कर लेता है; क्योंकि ऐसा साधक वही प्रवृत्ति तन-मन-वचन से करेगा, जो परमात्मा द्वारा मान्य हो, उनके द्वारा प्ररूपित आगमसम्मत हो, उनकी आज्ञा में हो या कर्ममुक्ति के लक्ष्य के अनुकूल हो, वीतरागता-प्राप्ति में सहायक हो। ऐसा सम्यग्दर्शन-सम्पन्न उत्कृष्ट शुभ योग-संवर-साधक शुभ योग के मार्ग से यात्रा करता-करता एक दिन पूर्ण अयोग संवर की मंजिल तक पहुँच जाएगा।[1]

विधायक दृष्टिकोण के अभ्यासी साधक के लिए अयोग-संवर सुलभ

अयोग-संवर की मंजिल पर पहुँचने वाला मुमुक्षु यात्री शुभ योग-संवर के मार्ग में आने वाले अनुकूल-प्रतिकूल परीषहों, प्रिय-अप्रिय लगने वाले संयोग-वियोगों, उपसर्गों, कष्टों, कठिनाइयों या विघ्न-बाधाओं को देखकर अगर हताश-निराश होकर बैठ गया तो वहीं उसकी यह साधना ठप्प हो जाएगी। इसलिए उसे अपनी संवर-यात्रा में आने वाली विघ्न-बाधाओं को देखकर उस पर विधायक दृष्टि (positive thinking) से सोचना तथा प्रतिकूल को अनुकूल, दुःख को सुख मानने का अभ्यास करना है।

विश्व में वे ही व्यक्ति अयोग-संवर की मंजिल पा सके हैं, जिन्होंने अपने प्रति किसी की प्रतिकूल क्रिया, प्रतिकूल परिस्थिति, विपरीत घटना को अनुकूल घटना में बदला है, जिनकी दृष्टि रचनात्मक या विधेयात्मक रही है। अपनी जीवन-यात्रा में आने वाले अवरोधों को उन्होंने अप्रतिक्रियात्मक–शान्त पुरुषार्थ से दूर किया है, उन्होंने दूसरों की गलत प्रतिक्रियाओं के उबाल को शान्त कर दिखाया है।

---

१. ज्यों पनिहारी कुंभ न विसरै, चकवो न विसरे भान। *–विनयचंद चौबीसी*

संत एकनाथ के विधायक दृष्टिकोण से महिला की वृत्ति का परिवर्तन

संत एकनाथ किसी के यहाँ सुबह-सुबह भिक्षा के लिए गये। गृहिणी उस समय सफाई के काम में व्यस्त थी। आँगन में पोंछा लगा रही थी। उसने झल्लाते हुए वही पोंछा संत की ओर फेंककर गुस्से से कहा–"लो, यह भिक्षा !" संत एकनाथ ने किसी प्रकार का प्रतिकार किये बिना वह पोंछा उठा लिया। सहजभाव से अपने आश्रम पर चले आए। आश्रम में आकर संत ने सोचा–"मुझे भिक्षा में प्राप्त इस वस्तु का तिरस्कार करने का कोई अधिकार नहीं है।" उन्होंने पास ही बहते झरने के पानी से उस पोंछे को रगड़कर धोया और सूखने दे दिया धूप में। शाम को आश्रम में आरती होने जा रही थी। संयोगवश रुई न होने से बाती के बिना दीपक कैसे जलता? अतः संत ने उसी पोंछे के कपड़े की बाती बनाई और दीपक का प्रकाश जगमगा उठा। संत ने शुभ भाव से प्रार्थना की–"भगवन् ! जिस तरह से यह बाती आश्रम में प्रकाश बिखेर रही है, उसी तरह उस भिक्षादात्री बहन के मन को भी प्रकाशित करे।"

संयोगवश वह बहन भी आरती के समय उपस्थित थी। उसने यह सुना तो लज्जा और पश्चात्ताप से भर गई। उसने संत एकनाथ जी से क्षमा माँगी और भविष्य में क्रोध न करने का संकल्प किया।

प्रतिक्रिया-विरति से भी अयोग-संवर सुलभ

इसी प्रकार कष्ट और विपत्ति आने पर या दूसरे के द्वारा कष्ट दिये जाने पर शुभ योग से अयोग-संवर की ओर प्रगतिशील साधक उसे अपने कर्मों की निर्जरा का शुभ अवसर मानकर समभाव से सह लेता है, प्रतिक्रिया नहीं करता तथा निमित्तों को न कोसकर उन्हें अपने लिए कर्मक्षय का अवसर देने में सहायक और सहयोगी मानता है। भगवान महावीर ने अनार्य देश में कष्ट देने वालों को अपने घोर कर्म काटने का अवसर देने में सहायक माना। प्रतिक्रिया न करके उस कर्म को वहीं समभाव से भोगकर क्षय कर दिया और आत्म-भावों में रमण करने लगे। इसी प्रकार व्यक्ति अनेक दुःखों, पीड़ाओं, कष्टों और प्रतिकूलताओं में विधेयात्मक दृष्टि से सोचे कि मैं अनन्त सुखरूप हूँ, अनन्त ज्ञानदर्शनरूप हूँ, अनन्त शक्तिमय हूँ। यह दुःख शरीर को हो सकता है, परन्तु मैं अगर महसूस न करूँ, सवपन न करूँ तो आत्मा को कोई दुःख नहीं है।"

साधारण व्यक्ति भी कम से कम अशुभ योग में प्रवृत्त न हो, अपने योगों को शुभ में प्रवृत्त करता रहे, साथ में आत्मदृष्टि, स्वरूपलक्षीदृष्टि एवं आत्म-स्थिरता आत्मौपम्यदृष्टि रखे तो अपना जीवन सुख-शान्तिमय बना सकता है, शुभ कर्म से कर्ममुक्ति की ओर प्रयाण कर सकता है।

●●

६

शुभ योग-संवर के सन्दर्भ में–

वचन-संवर की सक्रिय साधना

वाहनों की गति पर ब्रेक लगाने की तरह योगत्रय पर भी आवश्यक

आपने देखा होगा कि साइकिल, मोटरसाइकिल या मोटर में ब्रेक न हो तो एक्सीडेंट होने का खतरा रहता है। ब्रेक के बिना मोटर आदि वाहनों को चलाने वाला कहीं भी दुर्घटना का शिकार हो सकता है। इसी प्रकार घोड़ागाड़ी, बैलगाड़ी या रिक्शा को भी जहाँ खतरा हो, वहाँ तुरन्त रोका न जाए तो एक्सीडेंट हो जाता है। उक्त एक्सीडेंट होने से रिक्शा आदि के चालक, सवारी एवं सजीव वाहन हो तो घोड़ा या बैल उसी स्थान पर प्रायः मरण-शरण हो जाते हैं अथवा किसी का आयुष्य बलवान् हो तो घायल हो जाता है या फिर थोड़ी-सी खरोंच लगकर बाल-बाल बच जाता है।

वचन पर ब्रेक न लगाने का दुष्परिणाम

प्रायः सभी वाहनों में ब्रेक होता है। घोड़ा, हाथी आदि पर सवारी करने वाला लगाम अपने हाथ में रखता है, ताकि जहाँ इच्छा हो, वहाँ उसे रोक सके। परन्तु कई बार वाहन-चालक शराब पीकर अथवा अन्य किसी नशीली वस्तु का सेवन करके मोटर, टैक्सी, जीप, ट्रक या बस आदि वाहन को अन्धाधुंध चलाते हैं, अगर कोई पदचारी अथवा अन्य वाहन-चालक उस वाहन की चपेट में आकर मर जाता है या बुरी तरह से घायल हो जाता है, तो भी ऐसे लोग कोई परवाह नहीं करते। वे उसे सहानुभूति बताने या अपनी भयंकर गलती के लिए माफी माँगने के बजाय यों ही वैसी ही दुर्घटनाग्रस्त हालत में छोड़कर भाग जाते हैं।

ब्रेक होने पर भी गाड़ी को अन्धाधुंध चलाने का परिणाम

एक बार पुत्र-विवाह की खुशी में वर के पिता, अपने कुछ साथियों को लेकर शराब के नशे में अन्धाधुंध मोटर चलाते हुए जा रहे थे। सहसा मोटर एक पेड़ से टकराकर उलट गई। उनमें से एक व्यक्ति तो घटना-स्थल पर ही मर गया। एक व्यक्ति बुरी तरह घायल होने से तड़फ-तड़फकर मर गया। दो व्यक्ति बचे, वे भी

अत्यन्त घायल एवं बेहोश हो गए। यह था, ब्रेक होने पर भी गाड़ी को शराब पीकर अन्धाधुंध चलाने का दुष्परिणाम !

इसी प्रकार मानव-जीवनरूपी वाहन के मन, वचन और काय, ये तीन पहिये हैं, गति-प्रगति-प्रवृत्ति करने के लिए। यदि मानव-जीवनरूपी वाहन के इन तीनों पहियों पर ब्रेक न हो, मन-वचन-काय की गति, प्रगति या प्रवृत्ति को जहाँ रोकना हो, जहाँ इनकी प्रवृत्ति से खतरा उत्पन्न होने की आशंका हो, वहाँ इनकी गति-प्रवृत्ति का निरोध किया या रोका न जाय, उस पर अविलम्ब ब्रेक न लगाया जाय तो तुरन्त कर्मों के आगमन (आस्रव) होने, प्रविष्ट होने या बन्ध होने का खतरा उपस्थित हो सकता है। उस खतरे के या पापकर्म के कटु फल भोगने में नानी याद आ जाएगी।

पुण्य और धर्म के बदले पाप और अशुभ बन्ध का उपार्जन

ऐसे आस्रव और कर्मबन्ध के तथा उसके कटुफल से अनभिज्ञ लोग जिस मन, वचन और काया से पुण्य और संवर-निर्जरारूप धर्म उपार्जित कर सकते थे, उसके बदले वे अहर्निश इनका दुरुपयोग करके अशुभ (पाप) कर्म का बंध एवं आस्रव करके अपने लिए विषवृक्ष के बीज बोते रहते हैं।

योगत्रय-संवर परस्पर एक-दूसरे से सम्बद्ध

कोई भी प्रवृत्ति करते समय सबसे पहले मन में उसका जन्म होता है कि यह प्रवृत्ति इस प्रकार करनी चाहिए, इस प्रकार नहीं। उसके पश्चात् ही तदनुसार वचन या काया की प्रवृत्ति या गति होती है। इसलिए वचन-संवर या काय-संवर से मनः-संवर सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। मन में किसी के प्रति बुरे विचार अथवा वंचना, प्रताड़ना करने, किसी पदार्थ की ममत्त्वपूर्वक सुरक्षा करने, हत्या करने या लूटने-खसोटने के कुविचार चल रहे हैं और वचन से उसने मीठी-मीठी, ठकुरसुहाती प्रशंसायुक्त बातें कीं अथवा मौन रखा या इशारा किया, तो वचन-संवर भी नहीं है और न मनः-संवर है। इसी प्रकार किसी व्यक्ति ने मन में किसी के प्रति अशुभ चिन्तन किया; किन्तु वचन और काया से किसी के प्रति आदरभाव दिखाया, बहुमान किया, उसके चरणों में वन्दन-नमन किया तो यहाँ भी मनः-संवर एवं वाक्-संवर नहीं है, काय-संवर भी नहीं है।

शुभ योग-संवर कब होगा, कब नहीं ?

वचन-संवर या काय-संवर तभी होता है, जब मन में किसी के प्रति मंगल-भावना हो, वचन से भी हित-मित-पथ्य-सत्य वचन प्रकट होता हो और काया से भी दूसरे के हित, कल्याण एवं विकास की चेष्टा हो, दूसरे की सेवा एवं परोपकार की वृत्ति-प्रवृत्ति हो। मतलब यह है कि मन-वचन-काया तीनों की प्रवृत्ति की एकरूपता,

सामंजस्यशीलता, स्व-पर-हितैषिता की हो, तभी अशुभ योग से निवृत्तिरूप शुभ योग-संवर हो सकता है; बशर्ते कि वह व्यक्ति सम्यग्दृष्टि हो। क्योंकि सम्यग्दृष्टि की योगत्रय की प्रवृत्ति शुद्ध निःस्वार्थता, निःस्पृहता एवं ज्ञाता-द्रष्टा भावों से सम्पृक्त होगी, इसलिए वह शुभ योग-संवर के साथ-साथ भाव-संवर (शुद्ध-संवर) एवं सकामनिर्जरा अवसर को हाथ से नहीं जाने देता। आशय यह है कि सम्यग्दृष्टि की शास्त्रों या ग्रन्थों अथवा आत्म-हित-प्रेरक पुस्तकों के स्वाध्याय, जप, धर्म-शुक्ल-उच्च-ध्यान, परोपदेश, भाषण-संभाषण अथवा लेखन, निःस्वार्थ सेवा आदि की प्रवृत्ति शुद्ध योग या भाव योग के संवररूप में होगी अथवा उत्कृष्ट ज्ञानादि में तन्मयता की भावना या अनुप्रेक्षा होने से सकामनिर्जरा भी सम्भव है। अतः मनः-संवर, वचन-संवर और काय-संवर तीनों एक सूत्र में बद्ध हैं।

वचन-संवर आदि जीवन में कैसे क्रियान्वित हों ?

कर्मविज्ञान[1] के छठे खण्ड में हमने मनः-संवर आदि तीनों पर पर्याप्त प्रकाश डाला है। यहाँ तो मनः-संवरयुक्त वचन-संवर की व्यावहारिक जीवन में क्रियान्विति कैसे हो सकती है? कहाँ-कहाँ, कैसे-कैसे वचन और मन पर ब्रेक लगाना चाहिए? वचन-संवर में बाधक तत्त्व कौन-कौन से हैं? उन्हें कैसे रोककर वचन-संवर की पगडण्डी पकड़नी चाहिए? इत्यादि विषयों पर प्रकाश डाला जाएगा।

अधिकांश मानव मन, वचन (वाणी) या काया का कोई महत्त्व नहीं समझते। वे निरर्थक बकवास, वितण्डावाद, कलह, गालीगलौज, निन्दा-चुगली, निरर्थक उपन्यास, नाटक या अश्लील साहित्य का पठन-पाठन करके अपनी अमोघ भगवती वाणी का आस्रव और तदनुसार बन्ध करते रहते हैं।

दूसरों की भूल देखने में शूरवीर : स्वयं की भूल देखने में कायर

अधिकांश मनुष्य दूसरों की भूल देखने के लिए उद्यत रहते हैं। उन्हें दूसरों के दोष देखने में आनन्द आता है। वे जब तक दूसरों के दोष नहीं देख लेते तब तक उनका भोजन हजम नहीं होता। उनकी इस अहंकारीवृत्ति को देखते हुए ऐसा लगता है, मानो दूसरों के कार्य-कलापों की चैकिंग करने के लिए उन्हें इंस्पेक्टर बनाया हो। वे लोगों के सामने गर्वोच्छत होकर कहते फिरते हैं–"मैं प्रत्येक व्यक्ति के पैरों की चाल देखकर उसके स्वभाव, कार्य, वृत्ति और प्रवृत्ति का पता लगा सकता हूँ।" वे दूसरों के कार्यों का इंस्पेक्शन करने में इतने व्यस्त रहते हैं कि उन्हें अपनी वृत्ति-प्रवृत्तियों का निरीक्षण-परीक्षण करने का समय ही नहीं मिल पाता। ऐसे लोग अभिमानपूर्वक कहते हैं–"मैं तो कदापि भूल नहीं करता, दूसरे लोग भूल के सिवाय कुछ करते ही नहीं हैं।" परन्तु यह उनका निरा अभिमान है।

---

१. देखें–कर्मविज्ञान, खण्ड ६, भा. ३ में मनः-संवर, वचन-संवर और काय-संवर पर निबन्ध

स्वयं की गलती को दबाने की कोशिश

ऐसे व्यक्तियों से जब किसी काम में जरा-सी गलती हो जाती है, तो उनका स्वर बदल जाता है, फिर वे अपनी गलती पर लीपा-पोती करने के लिए कहते हैं–"भाई ! परिस्थिति ही ऐसी थी कि मैं क्या, अन्य कोई भी व्यक्ति होता तो उसको भी ऐसा ही करना पड़ता। अतः मैंने उस विकट परिस्थिति में जो कुछ किया है, वह ठीक है। उसमें गलती क्या है? 'उत्तराध्ययन निर्युक्ति' में कहा गया है–"दुर्जन दूसरों के राई या सरसों जितने दोष भी देखता रहता है, किन्तु अपने बिल्व (बेलफल) जितने बड़े दोषों को देखता हुआ भी अनदेखा कर देता है।[1]

परिस्थितिवश हुई दूसरे की गलती के प्रति असहिष्णु

परन्तु जब उसी प्रवृत्ति को दूसरे व्यक्ति ने परिस्थितिवश गलत ढंग से की हो तो ऐसे लोगों के अहंकार का पारा चढ़ जाता है, उस समय वे गर्जने लगते हैं– "इस प्रकार परिस्थिति के वश होकर यदि कोई व्यक्ति अपनी प्रवृत्तियों को गलत ढंग से करता-कराता या बिगाड़ता रहेगा तो उसके आगे बढ़ने का कार्य ठप्प हो जाएगा। अपने विकास के लिए मनुष्य को धैर्यपूर्वक सहिष्णु बनना चाहिए था। अपने मन-मस्तिष्क को अपने सिद्धान्त और आदर्श पर दृढ़ रखना चाहिए था। वह यदि थोड़ा साहस से काम लेता तो ऐसा गलत काम न होता। ऐसी परिस्थिति में उसने जो कुछ किया है, वह कतई उचित नहीं है। कोई भी समझदार व्यक्ति उसके कार्य करने के ढंग को सही नहीं कहेगा।" कई बार ऐसे व्यक्तियों का अहंकार उन्हें सामने वाले व्यक्ति की परिस्थिति, मजबूरी, क्षमता, भूमिका आदि का कतई विचार नहीं करने देता।[2]

सारी दुनियाँ की भूल सुधारने का ठेका अहंकारीवृत्ति है

ऐसे लोग तो मानो सारी दुनियाँ को सुधारने का ठेका ही लिये बैठे हों। वे उद्धत होकर कहते हैं–"हम यदि दूसरों के कार्यों में भूल नहीं निकालें या दोष प्रगट न करें तो जगत् के सभी लोग प्रायः अधिक से अधिक भूलें और गलतियाँ करने लगेंगे। जगत् सुधरेगा नहीं, बिगड़ता जाएगा। हम दूसरों की भूलों को बारीकी से देखते और बताते हैं, इसी कारण संसार का कारोबार सही ढंग से चल रहा है; अन्यथा कितनी गड़बड़झाला हुई होती दुनियाँ में। संसार की व्यवस्था उन्हीं के इस प्रकार के अन्य दोष प्रकटीकरण से क्षतिरहित चल रही है।"

---

१. राइ-सरिसव-मित्ताणि परछिद्दाणि पाससि।
अप्पणो बिल्लमित्ताणि पासंतो वि न पाससि ॥ —*उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गा. १४०*

२. 'हंसा ! तू झील मैत्री सरोवर में' (मुनि श्री अभयशेखरविजय जी म.) से भावांश ग्रहण, पृ. १८२

ऐसे बुद्धुओं को कौन समझाए कि यह तुम्हारा निरा अहंकार है, गर्वोक्ति है, मिथ्या मदान्धता है। दूसरे-तीसरे लोग जो भूलें करते हैं और उनसे उन्हें जो हानि उठानी पड़ती है, उससे कई गुना हानि तुम्हें दूसरे की भूलों को देखने और कहते रहने की गलत आदत से उठानी पड़ती है। दूसरे को अपनी भूल मालूम होने पर कदाचित् नम्रतावश वह उसे सुधार सकेगा, मगर तुम अहंकार के घोड़े पर चढ़े हुए लोग अधिकाधिक आस्रवों और अशुभ कर्मबन्धों को निमन्त्रण देकर पापकर्म का बोझ ढो रहे हो; यह भूल उनकी भूलों से कई गुना अधिक है। याद रखिये, ऐसी पर-दोष दृष्टि से सभी जीवों के प्रति द्वेष, तिरस्कार, घृणा, शत्रुता या ईर्ष्यावृत्ति दिल में पैदा होती है, अज्ञातमन में उस पापकर्मबन्ध के गहन संस्कार जगते रहते हैं और निमित्त मिलते ही कलह, युद्ध या संघर्ष के रूप में वैर-परम्परा की वृद्धि, यह कम हानि नहीं है। हर समय दूसरों के दोष, भूल, त्रुटि या गलती देखने की वृत्ति अत्यन्त भयंकर अशुभ कर्मों का बंध करती है, साथ ही उससे सभी जीवों के प्रति द्वेष, घृणा, तिरस्कार, अपमान और वैर-विरोध की वृत्ति मन-मस्तिष्क में अड्डा जमा लेती है। स्वयं में प्रचण्ड अभिमान भी मनुष्य को मिथ्यात्व की ओर ले जाता है।[1]

अनिवार्य परिस्थिति में दूसरे की भूल देखे, कहें या नहीं ?

कई बार ऐसी परिस्थिति पैदा हो जाती है कि विद्यार्थी की भूल अध्यापक को, पुत्र की भूल पिता को, नौकर की भूल मालिक को देखनी और कहनी भी पड़ती है, यदि विद्यार्थी आदि को अध्यापक आदि देखे नहीं और कुछ कहे नहीं तो उन विद्यार्थी, पुत्र आदि के द्वारा भयंकर हानि भी हो सकती है। अतः विद्यार्थी, पुत्र या नौकर आदि ऐसी गम्भीर भूल न कर बैठें, यह सोचकर अध्यापक, पिता या मालिक आदि अपना कर्त्तव्य समझकर विद्यार्थी आदि को उनकी भूल न बताएँ तो वह भूल तिल का ताड़ बन सकती है, इसके अतिरिक्त विद्यार्थी, पुत्र आदि के विकास से ताला लग सकता है। इतना ही नहीं, विकास के बदले उनका भयंकर विनाश भी हो सकता है। इसलिए विद्यार्थी, पुत्र आदि की भूल जानना-देखना और उन्हें बताना नहीं, ऐसा एकान्त विधान नहीं किया जा सकता।

भूल देखने, जानने और कहने का अधिकारी कौन ?

परन्तु यहाँ प्रश्न यह होता है कि भूल देखने-जानने और कहने का अधिकारी कौन हो सकता है ? वह कब कहे ? किन शब्दों में, कैसे-कैसे कहे ? यह अवश्य

---

१. 'हंसा ! तू झील मैत्री सरोवर में' से भावांश ग्रहण, पृ. १८३

विचारणीय है। यदि चाहे जो व्यक्ति, चाहे जिस समय और चाहे जिस तरह से, चाहे जिन शब्दों में विद्यार्थी, पुत्र आदि को उनकी भूल बताने या कहने लगे, इस पर से यह मान लेना भयंकर भूल होगी कि उक्त विद्यार्थी या पुत्र आदि की भूलें होती रुक जाएँगी अथवा उसकी भूल बताने से उनका विनाश होता रुक जाएगा, विकास तेजी से होता जाएगा। उलटे, चाहे जिस व्यक्ति द्वारा चाहे जिस तरीके से उक्त विद्यार्थी या पुत्र आदि की भूलें बताने पर उसके मन-मस्तिष्क में बहुधा रोष, द्वेष, तिरस्कार, दुर्भाव, शत्रुता आदि विपरीत एवं अनिष्ट प्रतिक्रिया पनपने लगती है। वे उसे अनधिकृत चेष्टा समझने लगते हैं। जिससे जैसे-तैसे रूप में, चाहे जिस व्यक्ति द्वारा भूल बताने में लाभ तो दूर रहा, भयंकर हानि उठानी पड़ती है। सामने वाले व्यक्ति का अपना दर्परूपी सर्प फुफकारने लगता है।

भूल किसे, कैसे और किस प्रकार कहना ?

अतः ऐसी अनिवार्य परिस्थिति में, उसी व्यक्ति की भूलें देखी जा सकती हैं, उसे ही कही जा सकती हैं, जिस पर अपना अधिकार हो अथवा जिस समर्पित व्यक्ति की अपने प्रति श्रद्धा, भक्ति और निष्ठा हो, वफादारी हो, जिसने उक्त विश्वस्त या आप्त व्यक्ति को अपने आध्यात्मिक विकास की जिम्मेदारी सौंपी हो तथा जो व्यक्ति स्वयं या तो वीतराग आप्तपुरुष हो अथवा छद्मस्थ हो, तो भी स्वयं उन भूलों या त्रुटियों को जान-बूझकर नहीं करता हो। जिसकी दृष्टि सम्यक् हो, सद्भावना और सदाशयता से परिपूर्ण हो, जिसमें दोषदृष्टि या तेजोद्वेषदृष्टि अथवा विकासावरोधक दृष्टि बिलकुल न हो। ऐसे व्यक्ति द्वारा भूलें देखी भी जा सकती हैं और कही भी जा सकती हैं। इसे एक शास्त्रीय उदाहरण से समझाना उचित होगा–

भगवान महावीर ने गौतम स्वामी की भूल सुधारी

गणधर गौतम स्वामी भगवान महावीर के पट्टशिष्ट थे; भगवान के प्रति समर्पित और विनीत। एक बार वाणिज्य ग्राम नगर में श्रमणोपासक आनन्द अपना अन्तिम समय निकट जानकर समाधिमरण (संथारा) साधना अंगीकार किये हुए थे। उस दौरान उसे विशुद्ध अध्यवसाय के कारण द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अमुक सीमा तक का अवधिज्ञान प्राप्त हो गया था। भिक्षाचर्या करते हुए गौतम स्वामी ने जनता के मुख से ऐसा सुना तो, वे आनन्द श्रमणोपासक को दर्शन देने पहुँचे। उस समय आनन्द ने जब अनायास ही इसका जिक्र किया तो गौतम स्वामी ने कहा–"आनन्द ! तुम्हारा यह कथन यथार्थ नहीं है, इतनी सीमा का अवधिज्ञान श्रमणोपासक को नहीं हो सकता। अतः तुम अपने इस अयथार्थ कथन के लिए प्रायश्चित्त करो।" आनन्द ने सविनय कहा–"भगवन् ! प्रायश्चित्त का अधिकारी तो वही होता है जिसने जान-बूझकर या अनजाने में मिथ्या कथन किया हो। आप

इस पर पुनः विचार करें।" गणधर गौतम ने सोचा–"सम्भव है, मेरे समझने में कहीं भूल हो।" वे सीधे भगवान महावीर के पास पहुँचे और उन्होंने इस बात का स्पष्ट निर्णय भगवान से चाहा। भगवान ने स्पष्ट कहा–"गौतम ! आनन्द श्रावक की भूल नहीं है, भूल तुम्हारी है। तुमने उसे प्रायश्चित्त के लिए कहकर उसका दिल दुखाया। अतः इसी समय वापस जाकर अपनी भूल के लिए आनन्द से क्षमा माँगो और उसका मनः समाधान करो।" गणधर गौतम ने आनन्द श्रावक के समक्ष अपनी भूल स्वीकार की और उसके लिए क्षमायाचना की।[1]

यह था आप्तपुरुष द्वारा समर्पित या श्रद्धालु व्यक्ति को उसकी भूल देखकर उसे बताने और सुधारने का ज्वलन्त उदाहरण !

भगवान ने महाशतक श्रावक की भूल सुधारी

इसी प्रकार 'उपासकदशांगसूत्र' में महाशतक श्रावक का उदाहरण भी प्रसिद्ध है। जब महाशतक श्रावक अपनी पौषधशाला में पौषधव्रत साधनालीन था। उसकी पत्नी रेवती उसे सांसारिक विषयभोगों में फँसाने और ललचाने के लिए जोर-शोर से प्रयत्न करने लगी। विविध हाव-भावों और लुभावने मोहक वचनों से आकृष्ट करने का उसने अथक प्रयत्न किया, परन्तु महाशतक को अब अपने जीवन में कामभोगों से अरुचि हो गई थी। अपनी अन्तिम साधना में दृढ़ रहने के कारण उसे भी अमुक सीमा तक का अवधिज्ञान हो गया था। उसने जब देखा कि यह मेरे न चाहने पर भी बार-बार एक ही रट लगाकर मुझे झकझोर रही है, तब उस पर रोष आ गया और अवधिज्ञान से उसका आयुष्य सिर्फ ७ दिन का और नरक गतिप्रयाण का भविष्य जान-देखकर रोषवश कहा–"रेवती ! तू बार-बार मुझे मेरी रुचि के विपरीत बातें कहकर तंग मत कर। तू नहीं जानती है–आज से सातवें दिन मरकर तू अमुक नरक में जाएगी।" यह सुनते ही रेवती को बहुत ही मानसिक आघात लगा। वह सोचने लगी–पति मेरे से रुष्ट हो गए हैं।[2] अतः वह उदास होकर चली गई। यद्यपि बात सत्य थी, परन्तु पौषधव्रती श्रमणोपासक महाशतक ने वह बात रोष और आवेश में आकर कही थी, इसलिए उसकी इस भूल को सुधारने हेतु भगवान महावीर ने गणधर गौतम द्वारा सन्देश भिजवाया कि "तुमने पौषधव्रत में रेवती को मर्मान्तक कठोर वचन कहकर व्रत में दोष लगाया है। अतः इसकी आलोचना करके प्रायश्चित्त ग्रहण कर आत्म-शुद्धि करो।" महाशतक श्रावक ने तुरन्त अपनी भूल स्वीकार करके आत्म-शुद्धि की।

यह भी भगवान द्वारा भूल देखने-बताने और उसे महाशतक द्वारा तुरन्त मानकर सुधारने का अनूठा उदाहरण है।

---

१. देखें–उपासकदशांगसूत्र में आनन्द श्रमणोपासक का अध्ययन प्रथम

२. देखें–उपासकदशांगसूत्र में महाशतक श्रावक का अध्ययन अष्टम

मेघ मुनि को संयम में स्थिर और समर्पित कर दिया

इससे विलक्षण एक और उदाहरण है-श्रेणिकपुत्र मेघकुमार का। उसको भागवती दीक्षा लेने की पहली रात्रि में साधुओं के पैर की अनजाने में ठोकरें लग जाने से असह्य आर्त्तध्यान हो उठा और उसे साधुवेष एवं धर्मोपकरणों का त्यागकर दीक्षा छोड़ने का विचार हो गया। भगवान महावीर को उसकी भूल का पता लग गया, परन्तु उन्होंने उसे तुरन्त नहीं बताई। On the spot भूल बताने से मेघकुमार मुनि का मन भगवान के प्रति अश्रद्धान्वित हो सकता था। इसलिए जब स्वयं उसने अपने मन की बात कही, तब भगवान ने उसे अत्यन्त वात्सल्यपूर्वक उसके पूर्व-जन्म में हाथी के भव में वन में दावाग्नि लग जाने से अपने द्वारा किये गए मण्डल में हजारों पशुओं को शरण देने तथा एक खरगोश के प्रति अनुकम्पा से प्रेरित होकर बीस पहर तक अपना पैर अधर रखकर उसकी रक्षा करने से मनुष्य-जन्म प्राप्त करने की झाँकी बताई। कितना कष्ट सहन किया था, उस समय और अब जरा से कष्ट से घबरा गए? मेघ ! तुम स्वयं सोचो और जरा-सी अपनी असहिष्णुता के कारण अपने महाव्रती साधु-जीवन के त्याग करने का क्या परिणाम आएगा? मैंने तुम्हें बता दिया, अब जैसे तुम्हें सुख हो, वैसा करो !" यद्यपि भगवान महावीर ने मेघ मुनि को न तो कोई उपालम्भ दिया, न धिक्कारा और न ही कटु वचन कहे, न ही उसे अपनी भूल बताई। किन्तु इतने से इशारे से वह स्वयं अपनी भूल समझकर उसे सुधारने और सर्वस्व समर्पित करने को उद्यत हो गया।[1]

संघ-समर्पित साधु-साध्वियों को नियाणा करने से रोका

इसी प्रकार एक बार जब धर्मसंघ के प्रति समर्पित साधु-साध्वी भगवान के समवसरण में उनके दर्शनार्थ आए श्रेणिक राजा और चेलना रानी के रूप और वैभव को देखकर नियाणा करने को उद्यत हो रहे थे, तब भगवान महावीर ने उन्हें अपनी भूल के प्रति सावधान किया और वैसी भूल करके अपने संयम को खोने से रोका। साधु-साध्वियों ने भी तुरन्त अपनी भूल सुधार ली।

गोशालक को भूल बताने-कहने से भगवान क्यों विरत हो गए ?

किन्तु जब गोशालक को दीक्षित अवस्था में अपने साथ रहकर बार-बार भूल करते देखा और उसकी विरोधी एवं अहंकारी मनोवृत्ति देखी तो उन्होंने उसकी भूल पर कुछ भी कहना उचित नहीं समझा, क्योंकि उन्होंने देखा उद्धत और अहंकारी साधक जब अपनी भूल को सुधारने के बदले भूल सुझाने-बताने वाले

---

१. देखें-ज्ञाताधर्मकथांग का प्रथम उत्क्षिप्त-ज्ञात अध्ययन

को भी अपशब्द कह बैठता है या उस पर दोषारोपण करने लगता है, तब उसे कुछ न कहकर मौन रहना ही श्रेयस्कर है। भगवान ने अपने साधुवर्ग को भी गोशालक से विवाद करने से मना कर दिया था। उस समय भगवान छद्मस्थ थे।[1]

विद्वेषी और झगड़ालू को भूल न बताकर मौन रहना श्रेयस्कर

उन्होंने इसी मनोवैज्ञानिक सूत्र को लेकर अपने धर्म-संघ के सभी साधु-साध्वियों को निर्देश दिया कि जब कोई व्यक्ति अपनी भूल न सुधारने और आत्म-हितैषी न बनकर सिर्फ विजिगीषु बनकर वितण्डावाद करने, द्वेष-रोष बढ़ाने हेतु विवाद करने आए, तो उसके साथ बात करने से अपनी आत्मा ही दूषित होने की सम्भावना है, अतः उस समय मौन रखना ही श्रेयस्कर है।" यह था किसी को उसकी भूल बताने-न बताने के सम्बन्ध में भगवान महावीर का मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण !

भूल बताना अनिवार्य हो तो किसको, कब, कैसे बताई जाए ?

अतः किसी को उसकी भूल बताना अनिवार्य हो, उसकी भूल बताकर आत्म-शुद्धि न की जाए तो स्व और पर दोनों का अनिष्ट होता हो, ऐसे समय में युक्ति से और आत्मीयतापूर्वक भूल को परोक्ष रूप से बताकर सुधारना चाहिए। जैसे भावदेव अपने दीक्षित ज्येष्ठ-भ्राता भावदेव के लिहाज से अपनी नवोढ़ा धर्मपत्नी नागिला को छोड़कर दीक्षित हो गए थे। किन्तु कुछ वर्षों के बाद उनके मन में सांसारिक पत्नी के प्रति मोह जाग्रत हो गया और मौका पाकर वे अकेले ही नागिला से मिलने और पुनः गृहस्थी में फँसने को आतुर होकर चल पड़े। पानी भरने कुएँ पर आई हुई नागिला ने जब उन्हें दूर से ही आते हुए देखा तो वह समझ गई–मेरे सांसारिक पतिदेव अकेले आ रहे हैं, मुझे तथा स्वयं को त्यक्त विषयभोगों में पुनः फँसाने के लिए। वह पानी का घड़ा झटपट घर में रखकर अपनी एक सहेली को लेकर सामने पहुँची और दर्शन-वन्दन करके पूछा–"आप अकेले कैसे पधारे?" उन्होंने नागिला को न पहचानते हुए कहा–"इस गाँव में नागिला नाम की एक वणिक्-पत्नी रहती है। उससे मुझे मिलना है।" "कहिये, उससे आपको क्या काम है? आप तो संसार-विरक्त साधु हैं।" नागिला ने पूछा तो उसने कहा–"क्या तुम मुझे उससे मिला दोगी? मुझे उससे कुछ बातें कहनी हैं।" *नागिला समझ गई कि इनका मन संयम से विचलित हो गया है। अगर मैं इन्हें सीधा उपालम्भ देकर समझाने जाऊँगी और भूल बताऊँगी तो ये मानने वाले नहीं हैं। अतः इन्हें युक्ति से समझाकर संयम में–मुनिधर्म में स्थिर करना उचित होगा।"*

---

१. देखें–भगवतीसूत्र, श. १५ में गोशालक-अधिकार, प्रश्न १२

भावदेव जब से नागिला को छोड़कर मुनिधर्म में प्रव्रजित हुए थे, तभी से नागिला ने अपने मन को समझा दिया–"उन्होंने पवित्र मार्ग पर प्रयाण किया है, अपना कल्याण करें, मेरे लिए अनायास ही मोह-बन्धन कट गया, अतः मुझे भी गृहस्थ-जीवन में रहते हुए आत्म-कल्याण करना चाहिए।" अतः दूसरे दिन नागिला से मिला देने का वादा करके वह मुनि को वन्दन करके चली गई और अपनी एक सहेली के साथ उसके लड़के को खीर खिलाकर तथा वमन की दवा देकर लाई। उसने आते ही मुनि जी से कहा–"लो, यह नागिला आ गई है, आपको क्या कहना है?" भावदेव–"मैं नागिला को यों ही निराधार छोड़कर चला गया था, अब मैं उसे अपनाने आया हूँ।" नागिला बोली–"आप तो घरबार, कुटुम्ब, धन-धाम आदि तथा समस्त सांसारिक कामभोगों को छोड़कर निकले थे, अब वापस पतन के मार्ग को क्यों अपना रहे हैं?" इसी दौरान उस लड़के ने वमन किया और वह वापस उसे चाटने लगा। भावदेव मुनि ने यह देख कहा–"अरे, यह क्या घृणित कार्य कर रहा है? वमन की हुई खीर को पुनः क्यों चाट रहा है?" उसने कहा–"यह बहुत स्वादिष्ट लगती है।" मुनि–"वमन किये हुए को तो कोई भी समझदार नहीं चाटता।" इसी मौके पर नागिला बोली–"पर आप तो वमन किये कामभोगों को पुनः अपनाने जा रहे हैं ! क्या आपका यह कार्य शोभास्पद है? मैं तो आपको कदापि स्वीकार नहीं कर सकती। आप अपने बड़े साधुओं के पास जाइए और संयम से आपका मन जो चलित हुआ है, उसका प्रायश्चित्त ग्रहण करके आत्म-शुद्धि कीजिए।" भावदेव मुनि ने अपनी भूल स्वीकार की और क्षमा माँगकर वापस लौटे और संयम में स्थिर हुए। यह है, भूल जानकर युक्ति से बताने और सुधारने की यथार्थ प्रक्रिया।

स्थिरीकरण और उपबृंहण का रहस्य

जैन आगमों में सम्यक्त्व के आठ अंगों में 'स्थिरीकरण' और 'उपबृंहण' नामक अंग हैं। उनका रहस्यार्थ है–धर्म से डिगते हुए को स्थिर करना तथा कदाचित् मोहवश साधर्मी भाई या बहन से कोई गलती या भूल हो जाए तो चारों ओर उसका ढिंढोरा न पीटकर तथा उसकी निन्दा या बदनामी न करके उसके विशिष्ट गुणों को प्रगट करके, उसके प्रति वात्सल्यभाव रखकर उसके जीवन को सँवारना, उसकी भूल सुधारना। इन दोनों का आशय यह है कि किसी भी साधर्मी भाई-बहन की गलती या भूल को लेकर बाजार में, जाहिर में या समूह में उसकी चर्चा करके उसे बदनाम करना, उसे सत्य-अहिंसादि धर्म में स्थिर करने के बजाय, उक्त सद्धर्म से उसके मन में उस धर्म या व्यक्ति से घृणा पैदा करना है, उसके अहं को उत्तेजित करना है, उसमें आक्रोश और क्षोभ पैदा करना है। बहुधा स्वाभिमानी

मनुष्य ऐसे भूल बताने वालों की बातें सुनी-अनसुनी कर देते हैं, उद्धत होकर उनके मुँह पर कस देते हैं–"पहले आप अपनी गलती सुधार लीजिए। दुनियाँ को सुधारने चले हैं, पहले अपने घर, परिवार और जाति में जो बिगाड़ हो रहा है, उसे तो सुधार लें।"

बार-बार टोकने की आदत से भी वैरानुबन्ध की संभावना

कई लोगों की यह आदत होती है, वे अनधिकार चेष्टावश बात-बात में दूसरों को टोकते रहते हैं। अहंकारी मालिक नौकर या मजदूर को, अध्यापक विद्यार्थी को, पिता अपने किसी पुत्र को जब-तब बार-बार टोकता रहता है, यह आदत भी बहुधा सामने वाले की भूल से भी बड़ी भूल बन जाती है। बार-बार टोकने की आदत से सामने वाला व्यक्ति ढीठ बनकर सुन लेता है, प्रायः अपनी भूल नहीं सुधारता; बल्कि वह सोचता है–इनका कहने का काम है, मेरा काम सिर्फ सुनने का है। लापरवाही से बार-बार वस्तु को बिगाड़ देने की या किसी नौकर आदि की बुरी आदत की अपेक्षा उसे बार-बार टोकने की आदत अधिक खतरनाक हो सकती है। इससे बार-बार टोकने वाले व्यक्ति में सामने वाले के प्रति रोष, द्वेष आदि की वृत्ति होने से अशुभ कर्म का गाढ़ बन्ध तो होता ही है, वैर की परम्परा भी बढ़ती है। जिसको बार-बार टोका जाता है, उसमें कभी-कभी रोषवश घोर द्रव्य-भावहिंसारूप रौद्रध्यान और उससे घोर पापकर्म का बन्ध एवं उसके उदय में आने पर घोर पीड़ा या सजा भोगनी पड़ती है।

बार-बार टोकने का दुष्परिणाम : अतिरोषवश मरकर सर्पयोनि में

चण्डकौशिक सर्प का जीव पूर्व-भव में एक साधु था। एक दिन वह अपने शिष्य के साथ भिक्षाचर्या करके उपाश्रय की ओर आ रहा था। रास्ते में एक मरी हुई मेंढकी पर उसका पैर अनजाने में पड़ गया। इसे देखकर शिष्य ने कहा–"गुरुजी ! आपके पैर के नीचे दबकर मेंढकी मर गई है। इसका प्रायश्चित्त लें।" गुरु ने समाधान किया–"वत्स ! मेंढ़की मरी हुई थी, अनजाने में मेरा पैर पड़ गया, इसके लिए 'मिच्छामि दुक्कड़ं'। परन्तु शिष्य नहीं माना, वह हठ पर चढ़ गया और थोड़ी-थोड़ी देर बाद गुरु को टोकने लगा–"गुरुजी ! याद रखना, प्रायश्चित्त लेना मत भूलना।" परन्तु हठाग्रही शिष्य उपाश्रय पहुँचने तक तथा बाद में भी आहार करने तक पुनः-पुनः गुरु को टोकता रहा। संध्या समय जब प्रतिक्रमण कर रहे थे, तब फिर शिष्य ने टोका–"गुरुजी ! मेंढकी का प्रायश्चित्त लिया या नहीं ? गुरु के द्वारा बार-बार समाधान करने पर भी हठी शिष्य नहीं मान रहा था। बार-बार टोकने और उसी बात की रट लगाने के कारण गुरु अत्यन्त कोपाविष्ट हो गए और

शिष्य को रजोहरण से मारने दौड़े। रात्रि के अन्धकार में उन्हें खम्भा दिखाई नहीं दिया। वे सहसा खम्भे से टकरा गए और लहूलुहान होकर वहीं गिर पड़े। खोपड़ी फट गई और वहीं उनके प्राणपखेरू उड़ गये।

अगर उनका शिष्य बार-बार टोकाटोक न करता और समझाने पर भी जिद्द न पकड़ता तो गुरु उत्तेजित और क्रोधाविष्ट न होते। प्रचण्ड कोप के कारण अन्तिम समय में क्रूर अध्यवसाययुक्त रौद्रध्यानवश वे मरकर संन्यासी बने और वहाँ से भी क्रोध कर भयंकर चण्डकौशिक विषधर बने। शिष्य ने भी गुरु के प्रति द्वेष, विरोध और घृणा के कारण घोर अशुभ कर्म का बन्ध कर लिया।

यह था बार-बार टक-टक करने का दुष्परिणाम ! गुरु-शिष्य दोनों ने भाषासमिति और वचनगुप्ति का पालन किया होता तो ऐसा दुर्गति का अवसर शायद न आता !

टक-टक और टकोर में बहुत अन्तर

गुजराती भाषा में दो शब्द इसके लिए प्रयुक्त होते हैं–'टक-टक' और 'टकोर'। टक-टक का अर्थ है–बार-बार टोकना। टक-टक प्रायः पद-पद पर होती है, जबकि टकोर किसी उचित मौके पर ही होती है। टक-टक अन्धाधुंध, बिना विचारे, परिणाम का विवेक किये बिना, बेहिसाब होती है, जबकि टकोर करने वाला परिणाम का विवेक करता है, द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव और पात्र को देखता है, अवसर आने पर ही सामने वाले व्यक्ति को उसकी भूल सूचित करता है। टक-टक तिरस्कारबुद्धि से, घृणाभाव से और कभी ईर्ष्या प्रेरित होती है, जबकि टकोर अवसर देखकर करुणाबुद्धि से, स्व-पर-हित की दृष्टि से होती है। टक-टक दीर्घकालिक और प्रायः कर्कश शब्दों से युक्त होती है, जबकि टकोर short and sweet (संक्षेप में और मधुर शब्दों में) होती है। टक-टक से सामने वाला व्यक्ति तकरार करता है, जबकि टकोर से सामने वाला व्यक्ति अपनी भूल का स्वीकार करता है। टक-टक मनुष्य को कठोर और प्रतिक्रियाकारी बनाती है, जबकि टकोर मनुष्य को सोचने-समझने को विवश करती है। इसलिए टक-टक में वाणी की कठोरता होती है, जबकि टकोर में कोमलता। टक-टक में वाणी का अविवेक, अतिरेक और भाषासमिति का अविचार होता है, जबकि टकोर में वाणी का विवेक, सन्तुलन और भाषासमिति का विचार होता है। टक-टक होठों से होती है, टकोर होती है–हृदय से, विवेक के छन्ने से छनी हुई वाणी से। 'सूत्रकृतांगसूत्र' में कहा गया है–"नो वयणं फरुसं वएज्जा।" (कठोर वचन न बोले।) 'दशवैकालिकसूत्र' भी इसी तथ्य का समर्थन करता है–"तहेव फरुसा भासा गुरुभूओवघाइणी।" (कठोर भाषा गुरुतर कर्मबन्ध की कारण और प्राणियों के लिए

घातक होती है।) कठोर वाणी का प्रयोग प्रीति का विनाश करता है, जबकि कोमल वाणी का प्रयोग प्रीति बढ़ाता है।[1]

यह देखा गया है कि घड़ी रात-दिन टिक-टिक करती है, कोई उसकी टिक-टिक पर ध्यान नहीं देता, न ही टिक-टिक सुनने के लिए लालायित रहता है, जबकि घड़ी में टकोरे सीमित समय के लिए ही पड़ते हैं, जिन्हें लोग चाव से सुनते हैं, ध्यान से सुनते हैं। इसी प्रकार ठठेरे के यहाँ बर्तनों पर चाहे जितनी टक-टक होती रहे, कबूतर उससे सावधान होकर उड़ता नहीं, क्योंकि वह उस टक-टक (या ठन-ठन) की आवाज सुनने का आदी हो गया है। जबकि वही कबूतर कभी-कभी या किसी समय घंटे पर पड़ने वाली चोट (टकोर) से एकदम उड़ जाता है, सावधान होकर वहाँ से चला जाता है। मतलब यह है कि बार-बार होने वाली टक-टक पर सम्बन्धित मनुष्य ध्यान नहीं देता, जबकि कभी-कभार होने वाली टकोर (भूल के लिए प्रेम से सूचित की जाने वाली शब्दावली) पर सम्बन्धित व्यक्ति प्रायः ध्यान देता है, लक्ष्य में लेता है और तदनुसार अपनी भूल सुधारने के लिए तैयार होता है।

चैन-स्मोकर को बार-बार टक-टक करने की पत्नी की प्रवृत्ति

एक चैन-स्मोकर था, वह थोड़ी-थोड़ी देर पर सिगरेट फूँकने का आदी था। यद्यपि सिगरेट के प्रत्येक पैकेट पर चेतावनी दी हुई रहती है–"सिगरेट पीना स्वास्थ्य के लिए हानिकारक है।" परन्तु उस वार्निंग (चेतावनी) को सिगरेट का शौकीन क्यों मानने लगा? भगवान महावीर ने भी बार-बार चेतावनी दी है कि "जितने भी व्यसन हैं, वे सब दुःख और दुर्गति के कारण हैं। पाँचों इन्द्रियों के विषयभोग (कामभोग) अनर्थ की खान हैं।" किन्तु विषयभोगी दुर्व्यसनी जीव कहाँ इन अनर्थों से विरक्त होते हैं? धूम्रपान का व्यसनी वह व्यक्ति भी सिगरेट पीना नहीं छोड़ सका। उसकी पत्नी पिछले तीन वर्षों से प्रतिदिन टोकती रहती थी। परन्तु पति महोदय सिगरेट पीने की चेतावनी की सुनी-अनसुनी करते रहे। डॉक्टर ने उसे गंभीर रूप से चेतावनी दी कि अगर वह सिगरेट पीना बंद न करेगा तो उसकी जिंदगी खतरे में पड़ जाएगी। डॉक्टर की अन्तिम चेतावनी सुनकर पत्नी ने मन ही मन फैसला कर लिया कि कुछ भी हो, पति को बार-बार टोकूँगी तो सिगरेट छोड़ देगा, परन्तु उसकी यह आशा भी निरर्थक साबित हुई। बार-बार टोकने से उसके पति ढीठ हो गए। आखिर वह एक प्रभावशाली संत के पास अपनी फरियाद लेकर पहुँची। संत ने सारी बात सुनकर कहा–"बहन ! मैं तुम्हारे पति की इस आदत को छुड़ा सकता हूँ, बशर्ते कि तुम उसे सिगरेट छोड़ने के लिए बार-बार कहना बिलकुल बंद कर दो। तुम्हारी टक-टक बंद करके आज से पन्द्रहवें दिन मुझसे मिलना।" उस

१. 'हंसा ! तू झील मैत्री सरोवर में' से भाव ग्रहण

महिला ने संत की आज्ञा शिरोधार्य की और कहा–"यदि पतिदेव की सिगरेट फूँकने की आदत छूट जाती हो तो मुझे उनसे कहने की आवश्यकता ही क्या है?"

परन्तु तीन दिन बीते होंगे कि वह महिला सन्त के पास पहुँची और विवशतापूर्वक बोली–"महाराज ! आप मुझे और कोई खाने-पीने की चीज छोड़ने का प्रत्याख्यान दिला दीजिए, उनको टोकना बंद करने की बात मुझसे नहीं हो सकेगी। मेरी जबान वश में नहीं रहती। जब मैं अपनी आँखों के सामने इन्हें एक के बाद एक सिगरेट फूँकते देखती हूँ तो मुझसे चुप नहीं बैठा जाता। मैं इन्हें न टोकूँ, यह मुझसे नहीं हो सकता।" संत ने मुस्कराते हुए कहा–"बहन ! माफ करना; सिर्फ तीन साल से आप टोकने की आदत को नहीं छोड़ सकतीं तो वर्षों से जिसकी सिगरेट पीने की आदत है, वह तुरंत ही छोड़ दे, ऐसी आशा रखना व्यर्थ है। मैं तो कहता हूँ किसी की पड़ी हुई किसी बुरी आदत की अपेक्षा, उसे बार-बार टोकने की आदत अधिक भयंकर है और अशुभ कर्मबन्धक है।" वास्तव में बार-बार टोकने या टक-टक करने की आदत वाले को मिथ्याभिमानवश अपनी आदत बुरी है, इससे अपना और दूसरे का–दोनों का भयंकर अहित है, यह बात ध्यान में ही नहीं आती। अतः वाक्-संवर करने के इच्छुक आत्म-हितैषी को किसी की भूल पर तुरंत मुखरूपी रेडियो स्टार्ट नहीं करना चाहिए। यह टक-टक का ही एक प्रकार है, टकोर नहीं है। तुरंत भूल बताने से सामने वाले के मन में उसके प्रति घृणा एवं तिरस्कार की वृत्ति जागती है, जो आगे चलकर वैर का विकराल विषवृक्ष बन सकता है।

वाक्-संवर के इच्छुक को तुरन्त वहीं पर नहीं कहना चाहिए

मान लो, आपके किसी निकट सम्बन्धी, रिश्तेदार या पारिवारिक जन अथवा नौकर ने कोई बड़ी भूल की। आपको लगता है कि उसे उसकी भूल तुरंत बताकर उसे उचित परामर्श देकर टकोर करने की आवश्यकता है, फिर भी यदि आप वाक्-संवर के इच्छुक हैं तो तुरंत उसे कुछ भी मत कहिये। दो-चार घंटे, दो-चार दिन अथवा दो-चार महीने बीतने दीजिये, फिर यथावसर यथापात्र उसे कहना उचित समझें तो कहिये, परन्तु एक ही बार, थोड़े शब्दों में, मधुरता के साथ कहिये। कालक्षेप करके फिर किसी आत्मीय की भूल बताने से वह प्रवृत्ति तिरस्कार और घृणायुक्त नहीं होती, उसके पीछे भूल बताने वाले का अहंकार नहीं हो तो वह आत्मीयतापूर्ण प्रकटीकरण हो जाता है। यदि आप तुरंत कह देने की अपनी भूल को नहीं सुधार सकते तो सामने वाला व्यक्ति तुरंत on the spot आपके द्वारा बताई गई स्वयं की भूल को कैसे सुधार पायेगा? अतः यथावसर यथायोग्य बोलिये, जिससे उन बोले गए शब्दों का उस पर प्रभाव पड़े।

मालिक की हर बात पर डाँट-फटकार से नौकर नहीं सुधरता

मान लो, आप जिस कमरे में बैठे हैं, उसी कमरे में नौकर सफाई कर रहा है। अचानक उसकी गफलत से आदमकद शीशा टूट गया। वह तीन-चार जगह से चटक गया। उसके टूटने की आवाज सुनते ही आपके मस्तिष्क का बोइलर फट गया। आपकी वाणी क्रोधान्धतापूर्वक फूट पड़ी–"अबे मूर्ख ! क्या अन्धा होकर काम कर रहा था। तेरी आँखें फूट गई थीं?" नौकर भी तो एक आदमी है, उसके भी हृदय है, वह पाषाण हृदय नहीं है। शीशा फूटने का दर्द उसके भी दिल में है। उसके दिल में भी शीशा फूटने का अफसोस है और घबराहट भी है कि मालिक क्या कहेंगे? कितना उपालम्भ मिलेगा? परन्तु यदि आप उसके उस असह्य घाव पर हमदर्दी की मरहम-पट्टी न करके उस पर क्रोधावेश में बरस पड़ते हैं, जले पर नमक छिड़कने का-सा कार्य करते हैं तो आप अशुभ योग से निवृत्त होने तथा शुभ योग-संवर करने का मौका चूक गए।

मालिक का तुरन्त आक्रोश नौकर को विद्रोही बना सकता है

सामने वाले व्यक्ति की मनःस्थिति उस समय बहुत ही नाजुक होती है। एक तो स्वयं से भूल हुई, उसका तथा वस्तु के टूट जाने का बिगड़ जाने का आघात तो होता ही है और ऊपर से मालिक की जली-कटी सुननी पड़ती है, इससे मन ही मन तिलमिलाता है–कुढ़ता है। ऐसे समय में तत्काल बोले गए कटु एवं मर्मस्पर्शी शब्द सामने वाले व्यक्ति के दिल के टुकड़े-टुकड़े कर देते हैं। उसके दिल में मालिक के आक्रोशयुक्त वचन की प्रतिक्रिया होती है, वह प्रायः विद्रोही बन जाता है। उसका अहंकार मालिक की बात को सुनी-अनसुनी भी कर सकता है।

अहंकारग्रस्त व्यक्ति भूल कबूलवाने के चक्कर में

इतना होने पर भी अगर मालिक उस घटना को प्रतिष्ठा का प्रश्न बनाकर अपनी बात को जोर देकर प्रस्तुत करता है कि "भूल तुम्हारी ही है। तुम्हारा चेहरा ही कह रहा है।" इस प्रकार उस तथ्यरहित बात को सिद्ध करने हेतु अर्थहीन प्रयास में पूर्णतया जुट जाता है, तब तो कहता ही क्या? बाद में कदाचित् शान्ति से, ठंडे दिल-दिमाग से सोचने पर मालिक को अपना ऐसा प्रयास बिलकुल गलत लगे, पर वह अहंकार के हाथी पर सवार होने से नीचे नहीं उतर सकता, न ही अपनी टक-टक करने की भूल को स्वीकार कर पाता है।

वचन से तीखे प्रहार बनाम मधुर और सीमित शब्द

यद्यपि नौकर की उस गलती से मालिक को काफी नुकसान भी हुआ होगा और इस नुकसान के कारण उसके मन में काफी आघात भी पहुँचा होगा, किन्तु

इससे भी अधिक नुकसान है, क्रोध और मानकषायवश बोले गए असह्य और तीक्ष्ण वचन से पापकर्मबन्ध और वैर की परम्परा। यदि उस समय मालिक थोड़ा धैर्य रखे और यह सोचे कि मेरे ही किसी पूर्वबद्ध अन्तरायकर्म का उदय होने से ऐसा हुआ, वह चीज मेरे पास न रही, नौकर तो निमित्त है, इसने जान-बूझकर उस चीज का नुकसान नहीं किया। मूल उपादान तो मेरी कर्मबद्ध आत्मा है। निमित्त को दण्ड क्यों दूँ। इसे भला-बुरा कहने से कोई लाभ नहीं होगा। उलटे, कषायवश पापकर्म का और नया बन्ध होगा, नौकर के मन में भी उसकी तीव्र प्रतिक्रिया होने से सम्भव है, विद्रोह की आग इसके मन में भी भड़क जाए। दूसरी हानि यह है कि इस समय क्रोधादिपूर्वक तीखे वाक्यबाणों का प्रहार करने से मैं वाक्-संवर तथा अकषाय-संवर इन दोनों लाभों से वंचित हो जाऊँगा। इस प्रकार का चिन्तन करके यदि नौकर के प्रति सहानुभूतिपूर्वक प्रेम से मधुर शब्दों में मालिक उसे सहलाए और पूछे–"तेरे कहीं चोट तो नहीं लगी न? कोई बात नहीं। ससार में जितनी भी वस्तुएँ मिलती हैं, वे सभी विनश्वर हैं। एक न एक दिन तो नष्ट होनी ही थी। चिन्ता मत कर !" इन शुभ शब्दों के सिवाय एक भी अशुभ और मर्मस्पर्शी शब्द जबान से न निकले, इस प्रकार की पहरेदारी जीभ पर लगा दें तो बहुत बड़ी उपलब्धि हो सकती है। मालिक के कोपयुक्त संभावित डाँट-फटकार के कटु एवं चुभने वाले शब्दों की चोट से बचने का नौकर के मन में आशातीत आनन्द उत्पन्न होगा। मेरी भूल जान-देखकर भी मालिक ने मुझे डाँटा-फटकारा नहीं, चुपचाप मेरी गलती सहन कर ली। मालिक के इस उदारतापूर्ण व्यवहार से नौकर के मन में मालिक के प्रति आदरभाव बढ़ता है, सचमुच मालिक देवता हैं, महान् हैं, मेरे प्रति उनके हृदय में लबालब वात्सल्य है। वह मालिक को पितातुल्य समझता है, जी-जान से उनकी सेवा करता है। मालिक के प्रति नौकर का यह आदरभाव उसके हृदय में गहरी छाप छोड़ देता है। फलतः चार-छह घंटों बाद मालिक यदि उस भूल के विषय में या अन्य बातों के बारे में जो कुछ कहता है, नौकर उसे सहर्ष स्वीकार कर लेता है, अपनी गलती के लिए क्षमा भी माँग लेता है।

दोनों पक्षों को कई प्रकार से संवर लाभ : क्यों और कैसे ?

ऐसा करने से एक तो दोनों ओर से मनःसंवर सहित वाक्-संवर का लाभ मिलता है। अशुभ योग से निवृत्ति होने से शुभ योग-संवर अर्जित हो जाता है। दूसरा लाभ यह है कि किसी भी नुकसान का घाव ताजा होता है, तब जरूर गहरा होता है, मगर ज्यों-ज्यों समय बीतता जाता है, त्यों-त्यों उसकी गहराई कम होती जाती है, व्यक्ति आवेश, रोष और तनाव से मुक्त होकर शान्त और स्वस्थ हो जाता है। फलतः तीसरा लाभ यह होता है कि उतना विलम्ब करने से बीच के समय में व्यक्ति को सोचने का अवसर मिल जाता है कि सामने वाले को किन शब्दों में, किस प्रकार

मधुरतापूर्वक कहा जाय, जिससे उसके अहं (स्वाभिमान) को तथा हृदय को चोट नहीं लगे और जो काम कटुता से नहीं हो पाता, उसे नम्रता से, मृदुता से किया जा सके।" सचमुच इतनी मध्यावधि में सामने वाले व्यक्ति को कहने योग्य मैटर भी पूरा सेटिंग हो जाता है दिल-दिमाग में। फिर तो मालिक के कहने के साथ ही उसका वचन शिरोधार्य हो जाता है। उसके मन में मालिक के प्रति भय और आशंका के जो घने बादल छाये हुए थे, वे भी बिखर जाते हैं। मालिक और नौकर दोनों के दिल हलके हो जाते हैं, आघात समाप्त हो जाता है। परस्पर प्रेमभाव बढ़ने के साथ ही भूल करने वाले व्यक्ति में अपनी भूल को स्वीकारने और सुधारने की, मालिक द्वारा दिये गए सुझाव पर अमल करने की नैतिक हिम्मत एवं आतुरता भी उसमें आ जाती है। किसी प्रकार के द्वेष, संक्लेश, तकरार या प्रतिशोध की दुर्भावना उत्पन्न नहीं होती। इस प्रकार सामने वाले की और मालिक की भूल अर्थात् मन-वचन या काया की प्रवृत्तियों की विकृति (विगाढ़) यानी सीधी राह चलने की अपेक्षा टेढ़ी राह चलना; दूर करने की शक्ति दोनों में आ जाती है।[1]

अल्पंकारी को कर्मास्रव-निरोधरूप संवर एवं शान्त जीवन का महालाभ

अल्पंकारी (अल्पंकारी) भद्रा बहुत जगह भटकने और दुःख और संकट के थपेड़ों से आहत होने के बाद अपने भाई के साथ वापस आई तो बिलकुल बदल गई थी। अब वह क्रोधी और बात-बात में तुनुकमिजाजी अल्पंकारी न रहकर क्षमाशील, गंभीर और उदारहृदया अल्पंकारी बन गई थी। उसके पति ने उसे अपना लिया। अब वह सहिष्णु, शान्त, गम्भीर और क्षमाशील बन गई। अपने यहाँ रहने वाले दास-दासियों के प्रति भी उसका व्यवहार बिलकुल कोमल और उदार हो गया था। उसकी क्षमाशीलता की प्रशंसा देवलोक में भी पहुँची। एक देव उसकी परीक्षा लेने के लिये दुःसाध्य रोगग्रस्त साधु का रूप बनाकर भिक्षापात्र लिये अल्पंकारी के यहाँ पहुँचा और पूछा "देवानुप्रिये बहन ! क्या तुम्हारे यहाँ लक्षपाक तेल है ? मुझे अपने रोग की चिकित्सा के लिये चाहिए।" अल्पंकारी ने वन्दना करके कहा "हाँ, भगवन् ! मेरे यहाँ बहुत तेल है। उसने अपनी दासी को लक्षपाक तेल का घड़ा लाने को कहा। दासी घड़ा लेकर आ रही थी। रास्ते में ही देवमाया से वह गिर पड़ी। तेल का घड़ा फूट गया।' यह देख अल्पंकारी तुरंत दौड़कर उस दासी के पास आई, उसे उठाया और प्रेम से पूछा "बेटी ! तेरे कहीं लगी तो नहीं। जा दूसरा घड़ा ले आ।" जब दूसरा घड़ा लेकर वह आ रही थी, तब भी पहले की तरह गिर पड़ी। घड़ा फूट गया। इतने कीमती तेल का घड़ा फूटने पर भी अल्पंकारी के दिल में दासी के प्रति रोष या घड़ा फूटने का कोई अफसोस नहीं था। उसने

१. 'हंसा ! तू झील मेरे सरोवर में' से भावांश ग्रहण

फिर दासी को उठाकर आश्वासन दिया–"घबरा मत ! संसार की कोई भी चीज अविनश्वर नहीं है। एक न एक दिन नष्ट होने वाली है। चिन्ता मत कर। जा, तीसरा घड़ा ले आ।" तीसरा घड़ा भी देवमाया से उसके हाथ से छिटककर जमीन पर गिर पड़ा। तब भी अत्वंकारी के चेहरे पर रोष, विषाद की कोई रेखा नहीं थी। देवरूप साधु ने अत्वंकारी को धन्यवाद दिया और उसकी क्षमाशीलता की प्रशंसा की। घड़े देवमाया से पुनः जैसे थे, वैसे ही हो गए। वह क्षमाशीलता, उदारता और गम्भीरता की परीक्षा में उत्तीर्ण हुई।[1]

यह है मन-वचन-काय-संवर का व्यावहारिक रूप ! अगर अत्वंकारी ने तन-मन-वचन पर ब्रेक न लगाया होता, उसके तन-मन-वचन में रोष और द्वेष उभरता तो सम्भव है, दासी के मन में भी भय, घबराहट और विद्रोह की भावना उमड़ती। परन्तु अत्वंकारी के व्यवहार से दोनों के मन में शान्ति रही।

सहृदयतापूर्ण शब्दों में उपालम्भ से उभय पक्ष को लाभ

वचन पर ब्रेक लगाने के साथ-साथ एक बात का और ध्यान रखना चाहिए। जिस प्रकार रोगी का ऑपरेशन ऑपरेशन-थियेटर में किया जाता है तथा ऑपरेशन करने वाला सर्जन जितनी आवश्यकता हो, उतनी ही जगह में चीरफाड़ करता है, इसी प्रकार भूल करने वाले व्यक्ति को भूल के लिए विलम्ब से उपालम्भ देना चाहने पर भी वह अधिकृत पुरुष उसे जाहिर में या सबके सामने नहीं, एकान्त में ही उतने ही नपे-तुले शब्दों में उपालम्भ दे, अनावश्यक एक भी शब्द अधिक न बढ़ाए, क्योंकि प्रथम तो सामने वाले की भूल के लिए तुरन्त उलाहना देने वाला व्यक्ति आवेश में होता है,[2] वह अपने पर कंट्रोल नहीं रख सकता। आवेश में व्यक्ति यह नहीं सोच पाता कि इस व्यक्ति को उपालम्भ कब, कहाँ और किन शब्दों में देना आवश्यक है? वह अपने अहंकारवश, एकान्त में न कहकर चार आदमियों के बीच भूल करने वाले को झाड़ने लगता है। उसे इस बात का भान नहीं रहता कि सामने वाले को कितना कहना आवश्यक है, कितना अनावश्यक? वह जो भी मन में आया, उन कटु, अंटसंट और अनुचित शब्दों में उसे उपालम्भ देता है।

मनोवैज्ञानिकों के इस सुनहरे परामर्श–Never say a word or write a letter when you are angry. (अर्थात् रोषावेश के समय कदापि एक शब्द भी न कहें और न ही पत्र लिखें) को क्रोधाविष्ट होकर भूल जाते हैं। क्रोधावेश में या स्वार्थपूर्ण आवेश में आकर किसी को कटु, व्यंगात्मक या तीखे तमतमाते शब्दों में

---

१. 'उपदेश-प्रसाद भाषान्तर' से संक्षिप्त

२. 'हंसा ! तू झील मैत्री सरोवर में' से भावांश ग्रहण

धमकाना, झाड़ना या उपालम्भ देना क्रूरता है, सहृदयता नहीं, वह अशुभ कर्मबन्ध का कारण है, जिसके उदय में आने पर कड़वा और कठोर फल भोगना पड़ता है।

ऑपरेशन के समय चीरा लगाने का अधिकार उसी सर्जन डॉक्टर को होता है, जो रोगी के रोगग्रस्त विकृत भाग को निकालकर वापस टाँका लगा सके। यदि शरीर के रोगग्रस्त विकृत भाग पर चीरा लगाकर जो उसे वापस भलीभाँति सीता नहीं, रक्त को बहता ही छोड़ देता है, वह सर्जन डॉक्टर नहीं, व्यवहार में खूनी कहलाता है। इसी प्रकार जो अधिकृत व्यक्ति भूल करने वाले व्यक्ति के प्रति हमदर्दी के साथ प्रेम से कटु और तीखे शब्दों का चीरा लगाकर सही माने में उसकी भूलरूप विकृति या व्रण को निकाल देता है, साथ ही मधुर और सहानुभूति भरे शब्दों का टाँका लगाता है, वही व्यक्ति सर्जन डॉक्टर के समान हितैषी और पर-जीवन-सृजनकर्ता अधिकारी है। केवल मर्मस्पर्शी और तीखे तमतमाते 'शब्दों का चीरा लगाकर सामने वाले की भूल के घाव को और अधिक बढ़ा देता है, उसे सहानुभूतिपूर्वक मधुर शब्दों का टाँका लगाकर सींता नहीं, वह जीवन-सृजनकर्ता नहीं; विध्वंसकर्त्ता, घातक व्यक्ति है।

अतः सामने वाले के दोषरूप घाव का ऑपरेशन करके उस पर मरहम-पट्टी करने वाला व्यक्ति पहले मधुर और निश्छल शब्दों से उसके हृदय को जीत लेता है, उसके वास्तविक गुणों की प्रशंसा करके उसे बिना किसी प्रतिकार के अपनी भूल को कठोर शब्दों में कहने पर भी स्वीकार करने को बाध्य कर देता है। जो व्यक्ति यतनापूर्वक मधुर और नपे-तुले शब्दों में सामने वाले को अपनी भूल सुधारने के लिए कहता है, वह भाषा समिति का पालन करता हुआ, वाणी के शुभ योग-संवर का लाभ प्राप्त कर लेता है।

अभ्याख्यान, पैशुन्य और पर-परिवाद : वाक्-संवर में अत्यन्त बाधक

इसके अतिरिक्त वाक्-संवर में विशेष बाधक हैं–अभ्याख्यान, पैशुन्य और पर-परिवाद। ये तीनों क्रमशः १३, १४ और १५वें पापस्थानक (पापकर्मबन्ध के कारण) हैं। अभ्याख्यान का अर्थ है–दूसरे पर मिथ्या दोषारोपण। पैशुन्य का अर्थ है–चुगलखोरी और पर-परिवाद का अर्थ है–दूसरे की निन्दा करना। वाक्-संवर के साधक को इन तीनों पापकर्मबन्ध के कारणों (स्रोतों) से बचना चाहिए। वह यदि अपनी जबान पर कंट्रोल रखे और दोषरोपण पैशुन्य और पर-परिवाद नामक पापों से बचे तो वाणी के शुभ योग-संवर का लाभ अनायास ही प्राप्त कर सकता है। शुभ योग-संवर की उपलब्धि होने पर कदाचित् आत्म-स्वरूप में रमणता आ जाए तो सकामनिर्जरा भी हो सकती है, जो बहुत-से कर्मों का क्षय कर डालती है।

●●

७

पुण्य के संवर और निर्जरा के लिए–

योग्य क्षेत्र में पुण्य का बीजारोपण

जैसा बीज : वैसा फल

भूमि में बोया हुआ अनाज का एक दाना अनेक गुणा होकर बोने वाले को मिलता है। उसके लिए बोने वाले को खेत से उसका मुआवजा माँगने की जरूरत नहीं होती। प्रकृति के नियमानुसार अपने आप ही उसे एक कण के बदले में अनेक गुने कण मुआवजे के रूप में वापस मिलते ही हैं। बीज बोने वाले को बीज बोते समय इतनी विचारणा या पसंदगी जरूर करनी होती है कि वह कड़वे तूम्बे का बीज बो रहा है या मीठे तरबूज का? अथवा वह गेहूँ आदि पोषणक्षम अनाज का बीज बो रहा है या कँटीले बबूल का बीज बो रहा है? बीज बोने वाले ने अनाज का बीज बोया होगा तो उसे अनेक गुना अनाज के रूप में उसका फल मिलेगा और बबूल का बीज बोया होगा तो अनेक गुने काँटों के रूप में उसका फल मिलेगा। तरबूज का बीज बोया होगा तो तरबूज के रूप में अनेक मीठे फल मिलेंगे और कड़वे तूम्बे का बीज बोया होगा तो कड़वे तूम्बे के फल मिलेंगे। यह तो खेत में बीज बोने वाले पर निर्भर है कि वह कैसे बीज बोता है?

बीज बोने से पहले और पीछे :
फल मिलने तक रखी जाने वाली सावधानी

इसके अतिरिक्त जैसे बीज बोने से पहले किसान को सावधानी रखनी पड़ती है कि जिस जमीन पर वह बीज बो रहा है, वह जमीन पथरीली, क्षार या ऊसर (बंजर) तो नहीं है? क्योंकि बंजर जमीन में भले ही अच्छे बीज बोये जायें, वे उगते–फलते नहीं। फिर उसे यह भी देखना होता है कि अच्छी जमीन पर भी बीज बोने से पहले उस जमीन पर काँटे-कंकर, झाड़-झंखाड़, फालतू घास आदि तो नहीं है, जमीन ऊबड़-खाबड़ या कठोर तो नहीं है? ऐसा हो तो वह उस जमीन पर से काँटे-कंकर, झाड़-झंखाड़ आदि हटाकर जमीन को मुलायम और समतल करता है। फिर वह यह भी देखता है कि बीज बोने का अभी समय (मौसम या वर्षाकाल) है

या नहीं? यदि असमय में बीज बोयेगा तो वह उगेगा या नहीं? इसमें भी संदेह है। इसके अतिरिक्त बीज बोने के पश्चात् वह मन में शंका, कांक्षा या विचिकित्सा को नहीं पालता कि बीज बो तो रहा हूँ, पता नहीं उगेगा या नहीं? अथवा इसके बदले मुझे इतना फल तो मिलना ही चाहिए? या अभी तक मुझे इसका फल क्यों नहीं मिला? या अमुक को तो इसका फल मिल गया, मुझे अभी तक क्यों नहीं मिला? अथवा उसके फल में ही सन्देह करने लगे अथवा उस बीज के बोने का प्रतिफल मेरी प्रशंसा या प्रसिद्धि या मुझे पारितोषिक के रूप में मिले, ऐसी फलाकांक्षा विज्ञ कृषक नहीं करता। साथ ही बीज बोने के बाद उसको आँधी, पानी, हवा, जानवर आदि से रक्षा के लिए तथा समय-समय पर पानी देने और उसकी हिफाजत के लिए परिश्रम व तप करने हेतु विवेकी किसान सावधान रहता है। तभी उसे बीज बोने के अपने सार्थक श्रम का फल मिलता है।

जीवन-क्षेत्र में आत्म-भूमि पर शुभाशुभ कर्मबीज का भी फल मिलता है

इसी प्रकार जीवन के क्षेत्र में आत्मारूपी भूमि पर मनुष्य शुभ या अशुभ अथवा पुण्य या पापकर्म के जैसे बीज बोता है, उसे उसका फल अनेक गुना वापस मिलता है। अगर वह पुण्य के बीज बोता है, भलाई का बीजारोपण करता है तो उसे चारों ओर से उसके शुभ फल मिले बिना नहीं रहते हैं।

पुण्य बीज के नौ प्रकार

इसलिए कर्मविज्ञान के मर्मज्ञों ने पुण्य के मुख्य रूप में नौ बीज और पाप के मुख्यतया १८ बीज बताये हैं। वैसे तो पुण्य के उन नौ बीजों के भी अनेक प्रकार हो सकते हैं। यहाँ हमें शुभ योग-संवर के सन्दर्भ में पुण्य बीज के रूप में विचार करना है। अन्न, पान, लयन, शयन, वस्त्र, मन, वचन, काय और नमस्काररूप से शास्त्र में ९ प्रकार के पुण्य बताए हैं।[1]

अशुभ योग से निवृत्त होने की अपेक्षा से शुभ योग-संवर कहा है

यद्यपि पुण्य एक प्रकार का शुभ कर्म है, वह शुभ योग है, कर्मबन्ध का कारण है, कर्मक्षय का कारण नहीं, तथापि अशुभ योग (अर्थात् मन, वचन, काया की अशुभ प्रवृत्ति) से निवृत्ति होने की अपेक्षा से इसे आचार्यों ने शुभ योग-संवर का रूप दिया है।

---

१. नवविहे पुन्ने पण्णत्ते तं.-अन्नपुन्ने, पाणपुन्ने, वत्थपुन्ने, लयणपुन्ने, सयणपुन्ने, मणपुन्ने, वइपुन्ने, कायपुन्ने, नमोक्कारपुन्ने। *-स्थानांग, स्था. ९, सू. ८८५*

पुण्य बीज बोते समय भी पात्रता और योग्यता का विचार करना अनिवार्य

बीज बोते समय भी किसान जैसे जमीन की योग्यता-पात्रता देखकर बीज बोता है, वैसे ही पुण्य बीज बोने वाले व्यक्ति को भी दान, पुण्य, परोपकार या परार्थ कर्म करते समय अपनी तथा जिसके लिए यह किया जा रहा है, उसकी पात्रता और योग्यता भी देखनी जरूरी है। अर्थात् अन्नादि प्रदान या उनका प्रयोग व विसर्जन करते समय जिसे अन्नादि का लाभ मिलना है उसकी पात्रता और योग्यता का भी विचार करना जरूरी है।

अनुकम्पापात्र, मध्यम सुपात्र और उत्कृष्ट सुपात्र : कौन-कौन, किस अपेक्षा से ?

आशय यह है कि जिसको वह अन्न, पान, लयन, शयन आदि प्रदान करना चाहता है, वह अपंगपन, अंगविकलता अथवा किसी दुःसाध्य रोगादि पीड़ा से या बाढ़, भूकम्प, दुष्काल, सूखा आदि प्राकृतिक प्रकोपों से पीड़ित है या अभाव-पीड़ित है अथवा किसी अकस्मात् (दुर्घटना) के कारण संकट में पड़ा है, भूख-प्यास से अत्यन्त व्याकुल है, उसके प्राण खतरे में पड़े हैं, तो ऐसा व्यक्ति अनुकम्पापात्र है या पात्र है। यदि वह वेश्या, कसाई, चाण्डाल है या अन्य पापकर्मजीवी है, परन्तु मरणासन्न है, घायल है, पीड़ित है या माँसाहारी, मद्यपायी आदि है, दुःसाध्य व्याधि-पीड़ित है तो वह तात्कालिक अनुकम्पापात्र है। सम्भव है, बाद में समझाने पर वह पापकर्म छोड़कर शुभ मार्ग पर आ जाये। अथवा यदि वह सम्यग्दृष्टि, मार्गानुसारी या व्रती सद्गृहस्थ है या शान्त, सन्तोषी, नीतिमान गृहस्थ है अथवा लोकसेवक है, वह आपके गाँव में अनायास ही या रास्ता भूल जाने के कारण आपके गाँव या घर में आ पहुँचा है अथवा वह कल का उपवासी है, तो वह मध्यम सुपात्र है। यद्यपि शुभ कर्म की दिशा में प्रस्थान करने वाले व्यक्ति को सर्वप्रथम अशुभ कर्म-पापकर्म से तो निवृत्त होना अत्यावश्यक है, साथ ही उसे यह भी देखना आवश्यक है कि कोई जीव या मानव अनुकम्पापात्र होते हुए भी यदि माँसाहार या शराब आदि अखाद्य-अपेय वस्तु का आदी है या ऐसी प्राणिहिंसाजन्य वस्तु चाहता है तो वैसी वस्तु देना कदापि पुण्यबन्धक नहीं होगा। पात्र, अनुकम्पापात्र या मध्यम सुपात्र की भी अन्नादि से निःस्वार्थभाव से सहायता करना उसकी योग्यतानुरूप उचित है, पुण्यवर्द्धक है।

इनसे भी उच्च उत्कृष्ट सुपात्र वह है, जो भिक्षाजीवी है, साधुता के गुणों से सम्पन्न है, अपनी संयम-यात्रा के लिए जो अल्पातिअल्प योग्य, एषणीय वस्तुओं से

अपना निर्वाह करता है, किसी पर बोझरूप नहीं है, धर्म-पालन के लिए शरीर का धारण-पोषण करता है।[1]

पात्र का विचार करने के साथ देयवस्तु का भी विचार करना चाहिए

इन तीनों पात्र, मध्यम सुपात्र और उत्कृष्ट सुपात्र के सिवाय देयवस्तु की सात्त्विकता, राजसत्ता और तामसिकता का भी विचार करना आवश्यक है। यदि देयवस्तु त्रस प्राणिहिंसाजन्य है, नशीली, रोगोत्पादक, आलस्यवर्द्धक, रजोगुणपोषक या आदाता के योग्य नहीं है अथवा उत्कृष्ट सुपात्र के लिए कल्पनीय, एषणीय या ग्राह्य नहीं है, तो उसे देने से रजोगुण या तमोगुण की वृद्धि या पोषण होना सम्भव है, सतोगुण का नहीं।

दान : स्वरूप, विशेषता और उससे पुण्य, संवर और निर्जरा

इसलिए 'तत्त्वार्थसूत्र' में तथा 'आगमों' में जहाँ-जहाँ दान का वर्णन आता है, वहाँ व्यवहारदृष्टि से दान का अर्थ किया गया है–"अनुग्रह (स्व-परोपकार अथवा स्व-पर-कल्याण) के हेतु अपनी किसी भी वस्तु का व्युत्सर्ग (स्वेच्छा से त्याग) करना दान है।" दान की एक परिभाषा यह भी है–"दानं संविभागः।" अर्थात् सम्यक् प्रकार से किया हुआ विभाग (स्वयं के अत्यावश्यक उपभोग के साथ-साथ उसका उचित विभाजन करना, ताकि कुछ अंश उपकारी और कल्याणकारी कार्यों में लग सके) दान है। इसके साथ ही दान क्रिया की सफलता, पुण्योपार्जन के साथ-साथ संवर और निर्जरा की शक्यता को व्यक्त करते हुए 'तत्त्वार्थसूत्र' में कहा गया है–"विधि, द्रव्य, दाता और पात्र की विशेषता की अपेक्षा से दान में विशेषता (विशिष्ट गुणवत्ता) होती है।" आशय यह है कि कर्ममुक्ति के साधक यदि दान के इन चार अंगों पर विचार करता है तो उसका वह दान पुण्यबन्ध का कारण तो

---

१. (क) उत्कृष्ट सुपात्र के लिए देखें–सूत्रकृतांग में पाठ–"अहाह भगवं एवं, से दंते दविए वोसट्ठकाएति वच्चे माहणेति वा, समणेति वा, भिक्खुति वा णिग्गंथेति वा। इति विरए सव्व पावकम्मेहिं .... विरए समिए सहिए समाजए णो कुज्झे णो माणी माहणति वच्चे।"

(ख) मध्यम सुपात्र श्रावक के लिए देखें–सूत्रकृतांग, श्रु. २, अ. २ में धर्मपक्षीय पाठ– "अप्पारंभा, अप्पपरिग्गहा, धम्मिया, धम्माणुया, धम्मिट्ठा, धम्मक्खाइ, धम्मपलोइ, धम्मपवज्जणा, धम्मसमुदायारा धम्मेण चेव वित्तिं कप्पेमाणा, सुसीला सुव्वया सुप्पडियाणंदा साहूहिं त्ति।"

(ग) भगवतीसूत्र में चतुर्विधसंघ, चतुर्विधतीर्थ में गौतमादि साधुओं को भगवान ने मम (बृहत्) अन्तेवासी तथा उपासकदशांगसूत्र में आनंद आदि श्रावकों को मम (लघु) अंतेवासी कहा है। समवायांगसूत्र में साधु को श्रमण तथा प्रतिमाधारी श्रावक को 'श्रमणभूत' कहा है। –सं.

बनता ही है, उससे आगे बढ़कर शुभ योग-संवर, शुद्धोपयोग संवर और निर्जरा का कारण भी बन सकता है। दान के चार अंग ये हैं–(१) दाता स्वयं, (२) द्रव्य = दी जाने वाली वस्तु, (३) दिये जाने (दान देने) की विधि या तरीका, तथा (४) पात्र = दान लेने वाला पात्र = आदाता। इन चारों के आधार पर ही दान की क्वांटिटी की अपेक्षा क्वालिटी (गुणवत्ता) का तारतम्य (न्यूनाधिकता) अवलम्बित है। 'भगवतीसूत्र' में भी दान की विशेषता के विषय में कहा गया है– "द्रव्य-शुद्धि से, दाता की शुद्धता से, तपस्वी की शुद्धता से, त्रिकरण-शुद्धि से, पात्र-शुद्धि से, त्रिविध (मन-वचन-काया) रूप से, त्रिकरण (करना, कराना, अनुमोदन) की शुद्धता से दान में विशेषता (गुणवत्ता) होती है।" दान भी पुण्यबन्ध का एक विशिष्ट प्रकार है। इसलिए दान की पूर्ण सफलता के लिए मुख्यतया दाता को बहुत सावधानी रखनी चाहिए, क्योंकि वही दान का महत्त्वपूर्ण अंग है, वही दान का फलभोक्ता है। श्रमणोपासक के बारहवें व्रत का नाम अतिथि (यथा) संविभागव्रत है। उसमें भी पाँच (दोषों) अतिचारों से दूर रहने का निर्देश है– सचित्तनिक्षेपणता, सचित्तपिधानता, परव्यपदेश, मात्सर्य और कालातिक्रम। ये पाँच अतिचार सर्वविरत श्रमण को दान देने से बचने या दान न देने के बहाने की अपेक्षा से है। इसलिए सम्यग्दृष्टि एवं शुद्धोपलक्षी दाता के लिए आवश्यक है कि किसी को दान देते समय उसके मन-वचन-काय शुद्ध हों, दान में अहंकार और यश आदि की भावना न हो। दान देते समय, देने से पहले और पीछे भी आदाता के प्रति किसी प्रकार की स्वार्थभावना, ईर्ष्या, अहंभावना, कृपणता या आसक्ति आदि दुर्भावना न आये। पात्र का यथायोग्य सत्कार–सम्मान किया जाये। काया से भी पात्र के प्रति विनम्रता प्रदर्शित की जाये। मध्यम और उत्कृष्टपात्र को भक्ति-बहुमानपूर्वक दान दे। मन में यही सोचे कि आज मेरा अहोभाग्य है कि मैं योग्य पात्ररूप व्यक्ति या संस्था को कुछ देकर धन्य बना। मुझे इन्होंने अपनी वस्तु का व्युत्सर्जन करने का अवसर दिया। दान लेकर मुझे कृतार्थ किया। वस्तुतः इसमें मेरा अपना क्या है? समाज से ही यह सब प्राप्त हुआ है, समाज को या समाज के अमुक पात्रों को अर्पित करने में मुझे प्रसन्नता है। ऐसे चढ़ते भावों से दान देने का पुण्य फल उत्कृष्ट होता है, उत्कृष्टभाव आने पर संवर और निर्जरा को भी अवकाश है।[1]

---

१. (क) अनुग्रहार्थं स्वस्यातिसर्गो दानम्॥३३॥
(ख) विधि-द्रव्य-दातृ-पात्र-विशेषात्तद्विशेषः॥३४॥ –*तत्त्वार्थसूत्र, अ. ७, सू. ३३-३४*
(ग) दव्वसुद्धेणं दायगसुद्धेणं तवस्सि-विसुद्धेणं तिकरणसुद्धेणं पडिगाहसुद्धेणं तिविहेणं तिकरणसुद्धेण दाणेणं। –*भगवतीसूत्र, श. १५, सू. ५४१*
(घ) 'तत्त्वार्थसूत्र विवेचन' (उपाध्याय श्री केवल मुनि जी) से भाव ग्रहण, पृ. ३४७-३४८

पात्र-अपात्र का विवेक अवश्य करना चाहिए

पात्र–दानदाता को पात्र का विवेक अवश्य करना चाहिए। अन्यथा पात्रापात्र का विवेक किये बिना किसी को कुछ भी दे डालने से उतना लाभ नहीं होगा, सामान्य पात्रों की अपेक्षा विशिष्ट पात्रों को दान देने का सुफल अधिक होता है। सामान्यतया अनुकम्पापात्र, मध्यमपात्र और उत्कृष्टपात्र ये तीन दान के पात्र हैं। अनुकम्पापात्र में अभाव, बाढ़ आदि संकट, रोग, दुःख आदि से पीड़ित व्यक्ति तथा संस्थाएँ भी तथा सामूहिक पात्र भी समाविष्ट हैं। मध्यमपात्र में अविरत सम्यग्दृष्टि, देशविरत श्रावक तथा मार्गानुसारी धर्मलक्षी नीतिजीवी व्रतबद्ध लोकसेवक या जन-संगठन आदि का समावेश हो जाता है और उत्कृष्टपात्र में महाव्रती साधु, श्रमण, श्रमणी, मुनि, आर्यिका आदि त्यागीजनों तथा उनकी संस्थाओं (संघों) का समावेश है।

देयवस्तु तथा विधि का विवेक भी दान में अनिवार्य

देयद्रव्य–देयवस्तु पात्रों के अनुरूप हो। जो भी वस्तु दी जाये, वह लेने वाले के गुणों को बढ़ाने वाली हो, उसकी जीवन-यात्रा में सहकारी या उपयोगी हो। ऐसी वस्तु न दी जाये, जो उसकी भूमिका के अनुरूप न हो, कल्पनीय या एषणीय न हो अथवा जिसकी उसे जरूरत न हो। देयद्रव्य शुद्ध हो, निरामिष हो, अभक्ष्य न हो, तामस या राजस न हो।

विधि–दान के विषय में दान देने की विधि (Way या Method), पद्धति या तरीका भी विचारणीय होता है। देयवस्तु शुद्ध हो, पात्र के अनुरूप भी हो, किन्तु अविधिपूर्वक या अहंकार, ईर्ष्या, अश्रद्धा अथवा लौकिक फलाकांक्षा से दी गई हो तो वह दान शुद्ध नहीं कहलाता है। इसके अतिरिक्त देश, काल, पात्र, श्रद्धा और सत्कार आदि बातें भी विधि में समाविष्ट हैं। जिसको भी दिया जाये, निःस्वार्थभाव से, उच्चभाव और आदर के साथ अहंकारादि से रहित होकर दिया जाये तो वह विधि उत्तम कहलाती है।

दान में उपर्युक्त विवेक से अफल, सुफल का विचार

उत्कृष्ट सुपात्र या मध्यम सुपात्र को दान देते समय दान के उपर्युक्त चारों या पाँचों अंगों की तथा तीन करण, तीन योग की शुद्धि का ध्यान रखा जाए तो दान का फल भी पुण्योपार्जन के अलावा शुभ योग-संवर और निर्जरा का लाभ भी हो सकता है। 'भगवद्गीता' में इसी अपेक्षा से दान के सात्त्विक, राजस और तामस, ये तीन प्रकार बताये हैं।[1]

---

१. दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम्॥२०॥

विधि, द्रव्य, दाता और पात्र की अपेक्षा से दान के फल में विशेषता आती है। यदि चारों ही शुद्ध और उत्कृष्ट हैं तो फल भी उत्कृष्ट होगा। इनकी शुद्धता और उत्कृष्टता में जितनी कमी होगी उसके फल में भी उतनी ही कमी होती चली जायेगी।[1]

यद्यपि 'स्थानांगसूत्र' में उक्त दस प्रकार के दानों में से धर्मदान के विषय में विधि आदि का विवेक करना अनिवार्य है। अन्न, औषध, अभय और ज्ञान का श्रद्धापूर्वक विधि आदि सहित दिया गया दान भी धर्मदान के अन्तर्गत है। अनुकम्पादान में भी विधि आदि का किंचित् विवेक करना चाहिए। गीता में उक्त सात्त्विक, राजस और तामसदान का भी विचार दाता को करना आवश्यक है। वैसे तो जीवमात्र अनुकम्पापात्र है। फिर भी 'प्रथम ज्ञान, फिर दया' के सिद्धान्त के अनुसार दान में विवेक होना चाहिए। 'स्थानांगसूत्र' में १० प्रकार के दान बताये हैं–(१) अनुकम्पादान, (२) संग्रहदान, (३) भयदान, (४) कारुण्यदान, (५) लज्जादान, (६) गौरवदान, (७) अधर्मदान, (८) धर्मदान, (९) करिष्यतिदान, और (१०) कृतदान। इनमें अधर्मदान तो सर्वथा वर्ज्य है। अनुकम्पादान और धर्मदान के सिवाय शेष ७ दानों में विवेक किया जाये तो किंचित् पुण्यलाभ हो सकता है।[2]

ये अन्ध-विश्वासयुक्त या परम्परागत अशुभ प्रवृत्ति अशुभ भावात्मक हैं, शुभ भावात्मक नहीं

'समयसार' में कहा गया है–पुण्य या पाप भावों पर निर्भर है, किसी वस्तु, व्यक्ति या निमित्त पर नहीं।[3] परन्तु भावों की शुभाशुभता के समझने में भी पूरा विवेक होना चाहिए। क्रूर, कठोर, अनुकम्पाविहीन, निर्दय-हृदय में यदि ऐसे

पिछले पृष्ठ का शेष–

यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः।
दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम्॥२१॥
अदेशकाले यद्दानं च पात्रेभ्यश्च दीयते।
असत्कृतमवज्ञातं तत् तामसमुदाहृतम्॥२२॥ *–भगवद्गीता, अ. १७, श्लो. २०-२२*

१. 'तत्त्वार्थसूत्र विवेचन' (उपाध्याय श्री केवल मुनि जी) से भाव ग्रहण, पृ. ३४८

२. दसविहे दाणे पण्णत्ते तं.–अणुकम्पा संगहे चेव भये कालुणिएइ य। लज्जाए गारवेणं च अहम्मे पुण सत्तमे। धम्मे य अट्ठमे वुत्ते. काहीइ य कयंति य। *–स्थानांग, स्था. १०*
दस प्रकार के दान कहे गये हैं–(१) अनुकम्पादान, (२) संग्रहदान, (३) भयदान, (४) कारुण्यदान, (५) लज्जादान, (६) गौरवदान, (७) अधर्मदान, (८) धर्मदान, (९) करिष्यतिदान, और (१०) कृतदान।

३. ण य वत्थुदो दु बंधो, अज्झवसाणेण बंधोऽत्थि। *–समयसार २६५*

भाव उत्पन्न हों कि मैं इस बकरे, भैंसे या अन्य प्राणी को इस पाशविक (तिर्यंचयोनि में मिलने वाले) दुःख से मुक्त करने तथा स्वर्ग प्राप्त कराने के लिए इसकी बलि (वध) दे रहा हूँ अथवा यह वृद्धावस्था या अन्य पीड़ा से पीड़ित है, कष्ट पा रहा है, इसे कष्ट से छुड़ा रहा हूँ। ये भाव शुभ नहीं कहे जा सकते। साम्प्रदायिक परम्परा, अन्ध-विश्वास या देवी-देवों अथवा भगवान की तथाकथित अन्ध-भक्ति के नाम पर या अपनी किसी स्वार्थलालसा या मोहवश किसी भी प्राणी का वध या हत्या करना, वध चाहना, दुःख या पीड़ा पहुँचाना घोर अपराध है, पाप है, अशुभ कर्मबन्धजनक है, वैर-परम्परा बढ़ाने वाला कृत्य है। जहाँ अपने माने हुए देव, भगवान धर्म-सम्प्रदाय या तथाकथित गुरु की अन्ध-भक्ति के नाम से दिये गये किसी प्राणी के बलिदान या वध को कई लोग देव-गुरु-धर्म-सम्प्रदायगत तथाकथित भक्ति का शुभ भावों में समावेश करते हैं, वे कहते हैं कि हमारा उक्त प्राणी के प्रति द्वेष, वैर या क्रोध नहीं है, किन्तु हम तथाकथित परम्परावश ऐसा करते हैं, किन्तु यह हिंसापूर्ण एवं क्रूरतापूर्ण घोर कृत्य है, परिणामों में निर्दयता, क्रूरता एवं मिथ्यात्व (मिथ्यादृष्टि) है, वहाँ शुभ भावों को जरा भी अवकाश नहीं है। वह सरासर पाप है, पापकर्मबन्ध है, पुण्य नहीं है।

चिकित्सक और वधक का कृत्य एक-सा होने पर भी शुभ-अशुभ भावों के कारण पुण्य-पाप

एक चिकित्सक रोगी के अंगों की चीरफाड़ करता है, उसके विषाक्त या दूषित अंग को काटता है, किन्तु उसके पीछे उसकी शुभ भावना रोगी को रोगमुक्त–स्वस्थ करने की है, उसका जीवन बचाने की है। इसलिए डॉक्टर का कृत्य बाहर से देखने वाले को वधक के समान घातक-सा लगने पर भी शुभ भावों से युक्त होने से पुण्यजनक है।

वस्तु या पात्र मुख्य नहीं, दाता के भाव मुख्य हैं : कुछ ज्वलन्त उदाहरण

अगर पुण्य-पाप शुभ-अशुभ भावों पर आधारित न होता, केवल वस्तु या व्यक्ति पर आधारित होता तो नागश्री ब्राह्मणी ने धर्मरुचि अनगार जैसे उत्कृष्टपात्र को घृतादि से संस्कारित साग भिक्षा में दान दिया था, उसे महापुण्य या निर्जरा होनी चाहिए थी, परन्तु निर्जरा तो दूर रही, साधारण पुण्य भी नहीं हुआ, उसके भाव अशुभ थे। उसने उकरड़ी पर डालने के समान मुनि के पात्र में डालने का उपक्रम किया था। ऐसे अशुभ भावों के कारण पापकर्म का बन्ध किया। फलतः मरकर छठी

नरक भूमि में गई।[1] जबकि चन्दनबाला ने अपने तेले के पारणे के अवसर भगवान महावीर जैसे उत्कृष्ट सुपात्र को केवल उड़द के बाकले ही आहार के रूप में दिये। परन्तु वस्तु सामान्य होते हुए भी उसके पीछे भाव उत्कृष्ट शुभ थे, विधि भी शुद्ध थी, दाता भी शुद्ध थी। इस कारण पुण्यबन्ध तो हुआ ही, विनय, वैयावृत्य, ऊणोदरी तप आदि आभ्यन्तर-बाह्य तप के कारण सकाम महानिर्जरा भी हुई।[2]

शुभ और साथ में निर्जरा के उपर्युक्त उत्कट तपों–भावों के कारण शालिभद्र के पूर्व-भव के निर्धन किन्तु भव्य भावनाशील जीव संगम ने महान् पुण्य और साथ में निर्जरा भी उपार्जित की। उसके प्रभाव से गोभद्र जैसे धर्मनिष्ठ पुण्यशाली के यहाँ शालिभद्र के रूप में जन्म और वातावरण मिला।[3] भाव का एक फलित अर्थ यह भी है कि कोई भी व्यक्ति किसी भी पात्र को किस बुद्धि से, किस दृष्टि से, किस भावना से देता है, उसकी उस बुद्धि, दृष्टि या भावना के आधार पर पुण्य या पापकर्म का बन्ध होता है।

यही कारण है कि 'भगवतीसूत्र' के श. ८, उ. ६ में कहा गया है–"भन्ते ! तथारूप असंयमी, अविरत, अप्रत्याख्यात-पापकर्म वाले व्यक्ति को जो श्रमणोपासक (व्रतधारी श्रावक) प्रासुक या अप्रासुक, एषणीय या अनैषणीय अशनादि चारों आहार से प्रतिलाभित करता है, वह क्या उपार्जन करता है? "गौतम ! जो (श्रमणोपासक देव-गुरु-धर्मबुद्धि से) तथारूप असंयत आदि को आहारादि देता है, वह एकान्ततः पापकर्म उपार्जन करता है, वह किसी प्रकार की निर्जरा नहीं करता।" इसी पाठ को लेकर जैनधर्म का एक सम्प्रदाय ऐसी प्ररूपणा करता है कि "पूर्वोक्त नौ प्रकार का पुण्य तथा रूप श्रमण-माहन को देने से ही होता है, अन्य को देने से पुण्य नहीं होता, अपितु एकान्त पाप होता है।"

इस सूत्रपाठ का 'परमार्थ'

वस्तुतः इस सूत्रपाठ का परमार्थ न जानने-समझने के कारण ही ऐसी भ्रान्ति हुई है। यहाँ जो असंयती, अव्रती आदि को आहारादि देने से पापकर्मबन्ध का उल्लेख है, उसका रहस्य यह है कि अगर देव-गुरु-धर्मबुद्धि से ऐसे असंयती–अव्रती को जो व्रतबद्ध श्रमणोपासक आहारादि देता है, जो घोर मिथ्यात्व से ग्रस्त है, अनेक जीवों को गाढ़ मिथ्यात्व से ग्रस्त करता है, जो आडम्बर, प्रदर्शन एवं अपनी कुयुक्तिपूर्ण आकर्षक मोहक वाणी से जनता को प्रभावित एवं आकर्षित करके पापवृत्ति-प्रवृत्ति

१. देखें–ज्ञाताधर्मकथासूत्र, श्रु. १, अ. १६ में नागश्री ब्राह्मणी का वृत्तान्त
२. देखें–श्रमण भगवान महावीर में चन्दनबाला का वृत्तान्त
३. देखें–जवाहर किरणावली–शालिभद्र चरित्र (आचार्य श्री जवाहरलाल जी म.)

की ओर मोड़ देता है, अपनी वाक्चातुरी से उसे पाप के रास्ते चढ़ाता है, उसे आहारादि देने से पुण्य या निर्जरा न होकर एकान्त पापकर्म का बन्ध होता है, क्योंकि ऐसे तथाकथित घोर मिथ्यात्वी को गुरुबुद्धि या धर्मबुद्धि से आहारादि देने से उसके मिथ्यात्व को ही उत्तेजना मिलती है, अनेक भद्र एवं सरलमना लोगों के मन में ऐसा संशय या भ्रम भी होना संभव है कि ऐसा समझदार श्रावक जब ऐसे तथाकथित व्यक्ति को आहारादि दान देता है, तो इसमें कुछ न कुछ लाभ होगा, तभी देता होगा। यों समझकर अन्य भद्र एवं सुलभबोधि लोगों की वृत्ति भी उसके मिथ्यात्व या पाखण्ड की ओर आकर्षित हो जाय, उसके परिणामस्वरूप अनेक जीवों के सम्यक्त्व पर्याय की हानि हो जाये। वे भी अहिंसा, संयम, सत्यादि धर्ममार्ग को छोड़कर अधर्ममार्ग पर चढ़ जाएँ ऐसा भी सम्भव है।[1]

'तथारूप' तथा 'पडिलाभेमाणस्स' शब्दों का रहस्ययुक्त फलितार्थ

इन या ऐसे कतिपय कारणों को लेकर भगवान ने 'तथारूप' विशेषण से इस आशय को स्पष्ट किया है। इस पाठ में 'तथारूप' शब्द का आशय है–उस-उस अन्यतीर्थिक वेश से युक्त बाबा, योगी, संन्यासी आदि जो असंयत, अविरत तथा पापकर्मों के निरोध और प्रत्याख्यान से रहित हैं, उन्हें गुरुबुद्धि, धर्मबुद्धि या भगवद्बुद्धि से मोक्षार्थ आहारदान देने का फल सूचित किया गया है। दूसरी बात यह है कि इस सूत्रपाठ में तथा पहले के दो सूत्रपाठों में जो 'पडिलाभेमाणस्स' शब्द है, वह भी मोक्ष-लाभ की दृष्टि से दान देने के फल का सूचक है। अभावग्रस्त, पीड़ित, दुःखित, रोगग्रस्त या अनुकम्पनीय व्यक्तियों को अथवा अपने पारिवारिक या सामाजिक, राष्ट्रीय, संस्थापकीय, धर्म-सम्प्रदायीय अथवा अपने आश्रित जनों या जीवों को औचित्यादिरूप में शुभ भाव से देने में कहीं भी 'पडिलाभे' शब्द नहीं आता, अपितु वहाँ 'दलयइ' या 'दलिज्जा' शब्द का प्रयोग शास्त्रकारों ने किया है। प्राचीन आचार्यों का कथन भी इस सम्बन्ध में प्रस्तुत है–

"मोक्खत्थं जं दाणं, तं पइ एसो विही समक्खाओ।
अणुकंपादाणं पुण जिणेहिं, न कयाइ पडिसिद्धं॥"

---

१. (क) (प्र.) समणोवासगस्स णं भंते ! तहारूवं असंजय-अविरय-अपडिहय-पच्चक्खाय-पावकम्मं फासुएण वा, अफासुएण वा, एसणिज्जेण वा अणेसणिज्जेण वा असण-पाण-खाइम-साइमेणं पडिलाभेमाणस्स किं कज्जइ ?
(उ.) गोयमा ! एगंतसो से पावे कम्मे कज्जइ; नत्थि य से काइ निज्जरा कज्जइ।
–भगवतीसूत्र, श. ८, उ. ६, सू. ३
(ख) 'प्रश्नोत्तर-मोहनमाला, भा. ३' (प्रयोजक–मुनि श्री मोहनलाल जी म.) से भाव ग्रहण, पृ. १४६

यह (उपर्युक्त) विधि (विधान) मोक्षार्थ जो दान है, उसके सम्बन्ध में कही गई है। अनुकम्पादान का तो जिनेन्द्र भगवन्तों ने कदापि निषेध नहीं किया है।[1]

'तहारूवं' तथा 'पडिलाभेमाणस्स' शब्दों से रहस्य फलित होता है

पूर्वोक्त सूत्रपाठ में 'तहारूवं' तथा 'पडिलाभेमाणस्स' इन दो शब्दों से उपर्युक्त तथाकथित असंयत, अविरत आदि को गुरुबुद्धि से तथा मोक्ष-लाभ की दृष्टि से आहारादि दान देने का फल एकान्त पाप सूचित करके इन दोनों विशेषणों–प्रयोजनों से भिन्न जो असंयत, अविरत आदि हैं उन्हें द्रव्यतः और भावतः अनुकम्पाबुद्धि से दान देने पुण्य-लाभ तथा धर्म-लाभ भी फलित होता है। वीतराग भगवन्तों का मार्ग अनेकान्त दृष्टि से समझना चाहिए। एकान्त पाप होने के जो कारण थे, उनका रहस्यार्थ हमने खोल दिया है। उनके सिवाय अनेक कारण होते हैं, उनमें एकान्त पाप कैसे हो सकता है? उनमें शुभ भाव से पुण्य-लाभ होने में कोई सन्देह नहीं है। वे विकल्प इस प्रकार हैं–

अनुकम्पापात्र जीवों पर भी शुभ भावों से अनुकम्पा की वृत्ति-प्रवृत्ति करने से पुण्यबन्ध होता है

(१) अधर्मी पुरुषों को अधर्म या पाप करते देखकर किसी जीव (मनुष्य या पशु आदि) को तदनुकूल कँपकँपी छूटे, उसे अनुकम्पा कहते हैं। अर्थात् किसी जीव को, जिसका वध होने वाला है, उसके प्रति अनुकम्पा उत्पन्न होती है तथा किसी वध होने वाले या मरने वाले या मरणासन्न अथवा वधकर्त्ता–मारने वाले जीव के प्रति अनुकम्पा उत्पन्न होती है ! अरर् ! ऐसे बेचारे जीव मनुष्य-भव को या पंचेन्द्रिय जाति को पाकर पापकार्य करके इस भव और पर-भव दोनों भवों को हार रहे हैं या बिगाड़ रहे हैं। ऐसे शुभ परिणाम वालों को मन से पुण्यबन्ध होता है तथा वध होते या मरते हुए जीवों को बचाने हेतु तन, मन और योग्य साधकों से प्रयत्न करता है, उसे भी पुण्यबन्ध होता है।

(२) निर्दोष–निरपराध पंचेन्द्रिय जीवों के वधकर्त्ता पुरुषों को जीवों की दया के पथ पर लाने के हेतु मन-वचन-काया द्वारा शुभ प्रवृत्ति करने वाले को भी पुण्यबन्ध होता है।[2]

(३) पंचेन्द्रिय जीवों के प्रति अनुकम्पा को लेकर पंचेन्द्रिय-वध बंद कराने या माँस-मत्स्याहार छुड़ाने हेतु उक्त वधकर्त्ता पंचेन्द्रिय जीव को उसके आमिषाहार के

---

१. भगवतीसूत्र, द्वितीय खण्ड, श. ८, उ. ६ की व्याख्या, पृ. ३१३ (आ. प्र. स., ब्यावर से प्रकाशित)

२. 'प्रश्नोत्तर-मोहनमाला, भा. ३' से भाव ग्रहण, पृ. १४६-१४७

बदले अन्य सात्त्विक शाकाहार की आदत डालने हेतु कोई श्रावक शुभ भाव से सात्त्विक खुराक देता है, उससे उसे पुण्यबन्ध होना सम्भव है।[1]

जैसे–जयपुर के एक समय के दीवान श्री चम्पालाल जी जैन पवित्र गृहस्थधर्मी श्रावक थे। वे अहिंसा का अपनी श्रावक मर्यादा के अनुसार पालन करते थे। किसी राज्याधिकारी ने जयपुर के उस समय के राजा से उनकी चुगली खाई। दीवान जी तो कोरी अहिंसा की बातें करते हैं। क्या वे हिंसक सिंह को अहिंसक खुराक देकर सन्तुष्ट कर सकते हैं? जयपुर-नरेश ने दूसरे ही दिन जैन दीवान जी को आदेश दिया–"दीवान जी ! कल आपको सिंह को उसकी खुराक खिलाकर सन्तुष्ट करना है।" चम्पालाल जी ने कुछ क्षण सोचा और फिर मन ही मन निश्चय करके कहा–"हाँ, महाराज ! ऐसा ही होगा।" उन्होंने एक थाल में मिठाई भरी और उस पर एक स्वच्छ कपड़ा ढका। फिर स्वयं उघाड़े वदन उस थाल को लेकर सिंह के पिंजरे के पास पहुँच गये। फिर उन्होंने नौ बार नवकार महामन्त्र का स्मरण करके सिंह के पिंजरे को खोला और मिठाई के थाल को उसके सामने रखकर उससे कहा–"भाई सिंह ! तुम्हारी भूख मिटाने के लिए मेरे पास ये मिठाइयाँ हैं, इन्हें खा लो और तुम्हें माँस ही चाहिये तो मैं सामने खड़ा हूँ, मेरा माँस खा लो, मैं दूसरे प्राणी का माँस तुम्हें नहीं दे सकता।" सबके आश्चर्य के बीच सिंह ने माँस के बदले मिठाइयाँ खाकर अपनी भूख मिटाई।" इसी प्रकार महात्मा गांधी जी ने भी एक अंग्रेज के लड़कों को माँसाहार छुड़ाकर सात्त्विक आहार की ओर मोड़ा था।[2] क्या ये दोनों पुण्यबन्ध के कार्य नहीं थे?

(४) किसी असंयत, अविरत प्राणी या मानव को दुःखित, पीड़ित, अनाथ, असहाय या आश्रित देखकर कोई श्रमणोपासक या सम्यग्दृष्टि श्रावक उस पर अनुकम्पाभाव लाता है, उसे आहारादि से यथायोग्य सहायता देता है। इस वृत्ति-प्रवृत्ति से मनपुण्य तथा अन्नपुण्य आदि का बन्ध होता ही है।

सम्यग्दृष्टि और व्रती श्रावक भी स्वाश्रित जीवों या दुःखित पीड़ितों की सहायता से पुण्य बाँधता है

सम्यग्दृष्टि या व्रती श्रावक भी अपने आश्रित पशुओं या मानवों को आहारादि देता ही है; वे कोई संयत, विरत या समस्त पापकर्मों के त्यागी नहीं होते। अगर वे उन्हें आहार नहीं देते हैं तो उन्हें 'भत्तपाण-वुच्छेए' (आहार-पानी का विच्छेद) नामक प्रथमव्रत का अतिचार (दोष) लगता है। आनन्द, कामदेव आदि व्रतबद्ध श्रावकों के

१. 'प्रश्नोत्तर-मोहनमाला, भा. ३' से भाव ग्रहण, पृ. १४६

२. (क) 'माटी और सोना' (नेमीचन्द पटोरिया) से संक्षिप्त
(ख) 'हरिजनसेवक' में प्रकाशित घटना से भाव ग्रहण

कई-कई सौ गोवंश के व्रज थे, वे सब गायें या गायों की सन्तानें संयत, विरत या पापकर्मों की त्यागी नहीं थी तथा उनके यहाँ काम करने वाले नौकर-चाकर आदि भी क्या सभी संयत, विरत आदि थे या व्रतबद्ध साधु-श्रावक थे? फिर भी वे उनकी आहार-पानी आदि से सहायता करते थे। क्षायिक सम्यग्दृष्टि श्रीकृष्ण जी के द्वारा एक जराजर्जर अशक्त बूढ़े की ईंटें उठाकर अनुकम्पाभाव से सहायता करने का स्पष्ट उल्लेख 'अन्तकृद्दशासूत्र' में है। सम्यग्दृष्टि श्रीकृष्ण जी ने अपने शरीर से शुभ भाव से उक्त असंयत, अविरत वृद्ध को सहायता देकर कायपुण्य उपार्जित किया या एकान्त पाप किया?[1] यदि अनुकम्पाभाव से किसी भी पीड़ित या दुःखित, असहाय आदि को आहारादि से सहायता देना एकान्त पाप होता तो आनन्द, कामदेव आदि व्रतधारी श्रमणोपासक ऐसा पापकर्म क्यों करते? किन्तु उन्होंने पहला और बारहवाँ व्रत स्वीकार करके श्रमण माहण के सिवाय भी अतिथि रूप श्रमणोपासक को अथवा किसी पीड़ित, दुःखित या आश्रित को भी सहायता देकर पुण्य का उपार्जन ही किया है, पाप का नहीं। शास्त्र में जहाँ किसी श्राविका या सम्यग्दृष्टि महिला द्वारा अपने गर्भस्थ शिशु (जो अभी असंयत, अविरत है) का पालन-पोषण करने का वर्णन आता है, वहाँ स्पष्ट मूल पाठ है–"तस्स गब्भस्स अणुकंपणट्ठाए।"–उस गर्भ की अनुकम्पा के लिए। अपने गर्भस्थ शिशु का या संतान का असहाय अवस्था में तथा बाद में भी उसके आत्म-विकास के लिए अनुकम्पावश शुभ भाव से पालन-पोषण, रक्षण करना क्या एकान्त पापकर्मबन्धक है? क्या उससे पुण्यकर्मबन्ध नहीं होता?[2]

संसार के समस्त अनुकम्पनीय प्राणियों पर अनुकम्पा करने से पुण्यबन्ध और सातावेदनीय फल प्राप्त होता है

'भगवतीसूत्र' के सातवें शतक के अनुसार प्राण, भूत, जीव और सत्त्व (यानी समस्त सांसारिक प्राणियों पर अनुकम्पा करने से, अनुकम्पानुसार वृत्ति-प्रवृत्ति करने से जीव सातावेदनीय का उपार्जन करता है और सातावेदनीय पुण्य का फल है। पुण्य अन्नपुण्य आदि नौ प्रकार से होता है। स्पष्ट है कि श्रमण और माहन के सिवाय भी प्राणी, भूत, जीव और सत्त्व को अनुकम्पाबुद्धि से अशनादि देने से तथा उन पर मन, वचन, काया के योगों की शुभ प्रवृत्ति दयावश करने से उक्त

---

१. (क) देखें–उपासकदशांग में आनन्द आदि श्रमणोपासकों के द्वारा व्रतग्रहण का वर्णन
(ख) देखें–अन्तकृद्दशांगसूत्र में गजसुकुमाल मुनि के वर्णन का प्रसंग

२. (क) 'प्रश्नोत्तर-मोहनमाला' से भाव ग्रहण, पृ. १८८-१८९
(ख) तस्स गब्भस्स अणुकंपणट्ठाए जयं चिट्ठइ, जयं आसइ, जयं सुवइ।''''' नाइचिंतं नाइसोगं नाइमोहं नाइभयं, नाइपरित्तासं''''''तं गब्भं सुहंसुहेण परिवहइ।
–ज्ञातासूत्र, श्रु. १, अ. १, सू. १९

अनुकम्पादान से पुण्यबन्ध होता है और पुण्यबन्ध से सातावेदनीयरूप फल की प्राप्ति होती है। तथैव 'भगवतीसूत्र' के सप्तम शतक में कहे अनुसार दस बोलों से सातावेदनीय प्राप्त होता है। अतः चौबीस ही दण्डक (संसार के समस्त षट्कायिक जीव) सातावेदनीयकर्म (पुण्य) बाँधते हैं। 'भगवतीसूत्र' में कथित सातावेदनीय-प्राप्ति के १० बोलों का समावेश नौ प्रकार के पुण्यों में हो जाता है।[1]

इस पर से यह सिद्ध होता है कि नौ प्रकार का पुण्य बीज कोई भी जीव बो सकता है, बशर्ते कि शुभ भाव हो। शुभ-अशुभ भावों के अनुसार पुण्य-पाप की चौभंगी भी घटित होती है–(१) पुण्यानुबन्धी पुण्य, (२) पुण्यानुबन्धी पाप, (३) पापानुबन्धी पुण्य, और (४) पापानुबन्धी पाप। इन चारों भागों (विकल्पों) का स्पष्टीकरण हम कर्मविज्ञान, भा. ३–आस्रव और संवर में कर आये हैं।[2] पुण्य का फल भी अपने-अपने भावों और पात्रादि के अनुसार न्यूनाधिक रूप में मिलता है।

मनुष्येतर जीव भी पुण्य उपार्जन कर सकता है

वैसे तो नौ ही प्रकार के पुण्यों का उपार्जन मनुष्य-भव में प्रायः उपार्जित किया ही जा सकता है। परन्तु जो जीव प्रकृति का भद्र हो, विनीत हो, श्रद्धालु हो, दयावान हो; वह मनुष्येतर जीव भी पुण्य का उपार्जन कर सकता है। जैसे–'ज्ञातासूत्र' में उल्लेख है कि मेघकुमार के जीव ने पूर्व-भव–हाथी के भव में, अनेक वनवासी पशु-पक्षियों पर विशेषतः एक खरगोश पर अनुकम्पा लाकर स्वयं २० प्रहर तक कष्ट सहकर उसे बचाया, अभयदान दिया। जिससे उसने मनपुण्य और कायपुण्य के रूप में पुण्य उपार्जन के फलस्वरूप शुभ मनुष्यायु का बन्ध किया और कतिपय अशुभ कर्मों के क्षय के कारण संसार परित्त किया।[3]

पंच स्थावरकायिक जीव भी पुण्य उपार्जित करके सातावेदनीय का बन्ध कर सकते हैं

इस पाठ पद से स्पष्ट सिद्ध होता है कि पृथ्वीकायादि स्थावर जीवों द्वारा अपनी काया से किसी भी प्राण, भूत, जीव और सत्त्व को दुःख उत्पन्न न हो तो

---

१. (क) 'प्रश्नोत्तर-मोहनमाला' से भाव ग्रहण, पृ. १८५

(ख) (प्र.) कहन्नं भंते ! जीवा णं सायावेयणिज्जा कम्मा कज्जंति ?

(उ.) गोयमा ! पाणाणुकंपाए भूयाणुकंपाए जीवाणुकंपाए सत्ताणुकंपाए बहूणं पाणाणं जाव सत्ताणं अदुक्खणयाए अजूरणयाए अतिप्पणयाए अपिट्टणयाए अपरियावणयाए, एवं खलु गोयमा ! जीवा णं सायावेयणिज्जा कम्मा कज्जंति।''''
एवं जाव वेमाणिया णं। –भगवतीसूत्र, श. ७, उ. ६, सू. २८५/१

२. देखें–'कर्मविज्ञान, भा. ३' में पुण्य-पाप की चौभंगी के स्पष्टीकरण के लिए

३. देखें–ज्ञाताधर्मकथासूत्र, श्रु. १, अ. १ में मेघकुमार के पूर्व-भव का वृत्तान्त

उन स्थावर जीवों को भी भगवतीसूत्र में कहे अनुसार असातावेदनीय का अभाव और सातावेदनीय का सद्भाव काया से होता है और इस कारण नौ प्रकार के पुण्यों में उसे कायपुण्य कहा जा सकता है। निष्कर्ष यह है कि पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय और वनस्पतिकाय, ये पाँचों स्थावरकाय जीव कायपुण्य से सातावेदनीय कर्म उपार्जित करते हैं। इसी प्रकार द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और संज्ञीपंचेन्द्रिय (नारक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव) सभी नौ प्रकार के पुण्यों में से किसी भी प्रकार के पुण्य का उपार्जन कर सकते हैं। एकेन्द्रिय से चतुरिन्द्रिय तक के जीवों में भले ही द्रव्यमन न हो, भावमन तो होता ही है।

नारक और निगोद के जीव भी पुण्योपार्जन कर सकते हैं

कोई कह सकता है कि नारक जीव तथा सूक्ष्म निगोद के जीव साधु-सम्बन्धी पुण्य उपार्जन नहीं कर सकते, फिर वे सातावेदनीय का कैसे उपार्जन कर सकते हैं और उन्हें पुण्यबन्ध कैसे होता होगा? इस सम्बन्ध में विचारणीय यह है कि सूक्ष्म निगोद की काया से किसी जीव को दुःख न हो, इस अपेक्षा से कायपुण्य द्वारा सातावेदनीय कर्म उपार्जित किया जाता है। इसी प्रकार नारक जीव द्वारा दूसरे जीवों को किसी प्रकार का उपद्रव न हो तथा मन-वचन-काया से वे नारक के किसी जीव को साता पहुँचाएँ अथवा कोई सम्यक्त्वी नारक देवादिक के कहने से तीर्थंकर आदि महापुरुषों की दीक्षा तथा केवलज्ञान आदि कारणों से प्रकाश आदि होने से जानकर उस अवसर पर उन्हें भाव से नमस्कार आदि करे तो भी पुण्य उपार्जन कर लेते हैं। अतः नारक जीव भी मन, वचन, काय और नमस्कार आदि से पुण्यबन्ध कर लेते हैं। उसके फलस्वरूप वे सातावेदनीय आदि पुण्य प्रकृतियों का बन्ध कर लेते हैं।[1]

मानवेतर प्राणी भी मानवों और अन्य प्राणियों को साता उपजाकर पुण्यबन्ध करते हैं

'कल्याण' (मासिक) के जून १९६७ के अंक में प्रकाशित स्वामिभक्त गरुड़, खोये हुए कागजातों का चील द्वारा प्रदान, कौए की दयालुता, अहिंसक कीर्तन प्रेमी सर्प, भैंस द्वारा गोवत्स का पालन, स्वामिभक्त गधा, बंदरों द्वारा तोते के बच्चे का पालन, मैना द्वारा चोरों को भगाना, कुत्तों द्वारा अन्धों को मार्गदर्शन, घोड़े द्वारा घायल मालिक को सुरक्षित स्थान पर पहुँचाना, कुत्ते द्वारा मानव शिशु की रक्षा, बिल्ली द्वारा साँप से क्लार्क को बचाना, चमगादड़ों द्वारा महिला को खतरे से बचाना, भक्त गाय द्वारा मालिक की सेवा, चील द्वारा मानव को जहरीले पानी पीने से बचाना, साँप द्वारा नारी की रक्षा आदि अनेक घटनाएँ प्रमाणित करती हैं,

---

१. 'प्रश्नोत्तर-मोहनमाला, भा. ३' से भाव ग्रहण, पृ. १८५

मानवेतर प्राणी भी मानवों तथा अन्य प्राणियों को साता उपजाकर या अन्य प्रकार से उपकार करके पुण्यबन्ध करते हैं, कर सकते हैं।[1] कई प्राणियों में दया, मानवता और कृतज्ञता कूट-कूटकर भरी होती है।

एक आगमिक पुण्यकथा : मृग द्वारा मुनि को आहार दिलाने की

बलभद्र मुनि ने अभिग्रह कर लिया था कि वन में ही भिक्षा करूँगा। अतः वे जंगल में ही भिक्षा के लिए घूम रहे थे। एक मृग मुनि को इस प्रकार आहार के लिए घूमते देख अपने मूक इशारे से जहाँ बढ़ई लकड़ी चीर रहे थे, उनका भोजन बना हुआ तैयार था, वहाँ ले आया। मृग ने बढ़ई को मुनिवर को आहार देने का संकेत किया। उस समय मृग की भी मुनि को आहार दिलाने की, बढ़ई की आहार देने की और मुनिवर की आहार लेने की शुभ भावना थी। उसी समय अकस्मात् तीनों पर वृक्ष के गिरने से तीनों कालधर्म प्राप्त करके उस पुण्यबन्ध के फलस्वरूप देवलोक में गये।[2]

नवविध पुण्य-प्राप्ति के विषय में भगवतीसूत्र के दो निर्जरापरक पाठ प्रस्तुत किये जाते हैं

नवविध पुण्य-प्राप्ति के विषय में आगमों तथा अन्य ग्रन्थों और आचार्यों का स्पष्ट चिन्तन एवं प्रतिपादन होने पर भी हलग्रहवश नौ प्रकार का पुण्य साधु को दान देने या साधु के प्रति शुभ योग से ही हो सकता है, ऐसी प्ररूपणा की जाती है। इस सम्बन्ध में वे 'भगवतीसूत्र' का प्रमाण प्रस्तुत करते हैं–"(प्र.) भगवन् ! तथारूप (श्रमण के वेश तथा तदनुकूल गुणों से सम्पन्न) श्रमण या माहन को प्रासुक एवं एषणीय अशन-पान-खादिम-स्वादिम आहार द्वारा प्रतिलाभित करने वाले श्रमणोपासक को किस फल की प्राप्ति होती है? (उ.) गौतम ! वह (ऐसा करके) एकान्तरूप से निर्जरा करता है, उसके पापकर्म का बन्ध नहीं होता।" इसके पश्चात् दूसरा पाठ भी इस प्रकार है–"(प्र.) भगवन् ! तथारूप श्रमण या माहन को (अपवादमार्ग में) अप्रासुक एवं अनेषणीय आहार द्वारा प्रतिलाभित करते हुए

---

१. (क) 'कल्याण' (मासिक) के जून १९६७ के अंक में प्रकाशित सत्य घटनाएँ
(ख) 'कादम्बिनी' (मासिक) जुलाई १९६६ के अंक में प्रकाशित सत्य घटनाएँ

२. (क) यह आगमिक कथा–कृष्णचरित्र तथा त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र में है।
(ख) इसके प्रमाण के लिए देखें–
दुल्लहाओ मुहादाई, मुहाजीवी वि दुल्लहा।
मुहादायी मुहाजीवी दोवि गच्छंति सुग्गइं॥
–दशवैकालिकसूत्र, अ. ५, उ. १, गा. १००

श्रमणोपासक को किस फल की प्राप्ति होती है? (उ.) गौतम ! उसके बहुत निर्जरा होती है और अल्पतर पापकर्म का बन्ध होता है।"[1]

दोनों सूत्रपाठों को नवविध पुण्यपरक मानना भ्रान्ति है : क्यों और कैसे ?

इन दोनों सूत्रपाठों में निर्जरा के सम्बन्ध में प्रश्न पूछा गया है और उत्तर भी निर्जरापरक दिया गया है। इन दोनों पाठों में पुण्य का तो नाम ही नहीं है कि तथारूप श्रमण-माहन को देने से नौ प्रकार के पुण्य का उपार्जन होता है। दूसरी बात–ये दोनों प्रश्न 'श्रमणोपासक' के लिए हैं, अन्य मानवों तथा जीवों के लिए नहीं और वह भी 'अन्नपुण्णे' और 'पाणपुण्णे' (आहार देने के पुण्य) के सम्बन्ध में हैं, अन्य पुण्यों के उपार्जन का जिक्र ही नहीं है मूलपाठ में। तीसरी बात–यहाँ तथारूप 'श्रमण' के साथ-साथ 'माहन' शब्द का प्रयोग भी किया गया है। यदि वे केवल 'श्रमण' को आहारादि देने से ही नौ प्रकार का पुण्यबन्ध मानते हैं, तो 'माहन' को देने से पुण्यबन्ध का निषेध सिद्ध होगा, जो भगवद्-वचन के विरुद्ध प्ररूपणा होगी और 'माहन' शब्द व प्रतिमाधारी श्रावक तथा व्रतबद्ध श्रमणोपासक अर्थ में आगमों में तथा उनकी टीकाओं तथा ग्रन्थों में प्रयुक्त है। ऐसी स्थिति में आपकी यह प्ररूपणा गलत सिद्ध हो जाती है कि केवल तथारूप श्रमण को देने आदि से ही नौ प्रकार का पुण्य होता है। फिर यदि शब्दों को पकड़कर चलते हैं तो यहाँ 'समणी' और 'माहणी' शब्द नहीं हैं, उनको आहारादि देने से निर्जरा या पुण्य का लाभ होगा या नहीं?[2]

---

१. (क) (प्र.) समणोवासगस्स णं भंते ! तहारूवं समणं वा माहणं वा फासुएसणिज्जेणं असण-पाण-खाइम-साइमेणं पडिलाभेमाणस्स किं कज्जति?
(उ.) गोयमा ! एगंतसो से निज्जरा कज्जइ। नत्थि य से पावेकम्मे कज्जति।
(ख) (प्र.) समणोवासगस्स णं भंते ! तहारूवं समणं वा माहणं वा अफासुएणं अणेसणिज्जेणं असण-पाण. जाव पडिलाभेमाणस्स किं कज्जइ?
(उ.) गोयमा ! बहुतरिया से निज्जरा कज्जइ, अप्पतराए से पावे कम्मे कज्जइ।
–भगवतीसूत्र, श. ८, उ. ६, सू. १-२

२. (क) देखें–भगवतीसूत्र, श. ५, उ. ६ तथा श. २, उ. ५ में एवं स्थानांग, स्था. ३, उ. १ में 'माहण' को 'श्रावक' कहा गया है।
(ख) 'माहन' इत्येवमादिशति स्वयं स्थूल-प्राणातिपातादि-निवृत्तत्वाद् यः स माहनः। अथवा ब्राह्मणो-ब्रह्मचर्यस्य देशतः सद्भावात् ब्राह्मणो देशविरतः।
–भगवती, श. १, उ. ७ की टीका
(ग) अथवा श्रमणः साधुर्मानः श्रावकः। देशमूल गुणयुक्तः इति भावः।
(घ) 'प्रश्नोत्तर-मोहनमाला' से भाव ग्रहण, पृ. १५८-१५९

ऐसे प्रश्न उपस्थित होने पर वे इन दोनों पाठों में प्रयुक्त निर्जरा को ही पुण्य के नौ प्रकार के रूप में मानते हैं, उनके मतानुसार इसका मतलब यह भी फलित होता है कि निर्जरारूप धर्म और पुण्य समानार्थक है।

पुण्य और निर्जरा को या पुण्य और धर्म को एक मानना भी भ्रान्तियुक्त है

किन्तु पुण्य और निर्जरा को एक मानना, धर्म और पुण्य को समानार्थक मानना बहुत बड़ी भ्रान्ति है। क्योंकि पुण्य से शुभ कर्म का बन्ध होता है, जबकि संवर-निर्जरारूप धर्म से कर्मों का निरोध तथा क्षय, क्षयोपशम होता है। पुण्य कर्म-पुद्गलरूप होने से रूपी है जबकि धर्म अरूपी है। पुण्य नौ तत्त्वों में तीसरा तत्त्व है; संवर तथा निर्जरा छठा और सातवाँ तत्त्व है। 'उत्तराध्ययनसूत्र' में पुण्य तथा संवर-निर्जरा को पृथक्-पृथक् तत्त्व बताया गया है। पुण्य से पौद्गलिक सुख प्राप्त होता है, जबकि शुद्ध धर्म से शुभ और अशुभ दोनों प्रकार के कर्मों से मुक्त होने की दिशा में जीव बढ़ता है। पुण्य का माध्यम भाव होने पर भी प्रायः पुद्गल बनता है, जबकि धर्म आत्मिक गुणों से, आत्म-भावों में रमण करने से, आत्म-भावों में या आत्म-स्वरूप में स्थित होने से होता है। 'स्थानांगसूत्र' के प्रथम स्थानक में पुण्य और धर्म को पृथक्-पृथक् कहा गया है।

'भगवतीसूत्र' के प्रथम शतक के छठे उद्देशक में कहा गया है कि "गर्भ में स्थित संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव तथारूप श्रमण-माहन से एक भी आर्यधर्म का श्रवण करके पुण्यकामी, धर्मकामी, स्वर्गकामी और मोक्षकामी होता हुआ काल करे तो वह गर्भस्थ जीव देवगति को प्राप्त करता है।"[1]

पुण्य और निर्जरा में भी महान् अन्तर है

इसी प्रकार पुण्य और निर्जरा, ये दोनों भी पृथक्-पृथक् तत्त्व हैं। 'स्थानांगसूत्र' के प्रथम स्थान में तथा नवतत्त्व में पुण्य को तीसरा और निर्जरा को सातवाँ तत्त्व

---

१. (क) जीवाजीवा य बंधो य पुण्ण-पावासवो तहा।
संवरो निज्जरा मोक्खो संतए तहिया नव॥ —उत्तरा, अ. २८, गा. १४

(ख) एगे धम्मे, एगे पुण्णे, एगा णिज्जरा। —स्थानांग, स्था. १, सू. ६, १०, १५

(ग) से णं सन्नी-पंचिंदिए सव्वाहिं पज्जत्तीहिं पज्जत्तिए तहारूवस्स समणस्स वा माहणस्स वा अंतिए एगेमवि आयरियं धम्मियं सुवयणं सोच्चा निसम्म तओ भवइ संवेगजायसड्ढे तिव्वधम्माणुरागरत्ते से णं जीवे धम्मकामए, पुण्णकामए, सग्गकामए, मोक्खकामए धम्मकंखिए .... धम्मपिवासिए .... तच्चित्ते .... तब्भावणाभाविए एयंसि णं अंतरंसि (गब्भगए समाणे) कालं करेज्जा देवलोएसु उववज्जइ।

—भगवती, श. १, उ. ७, सू. ६२

बताया है। दोनों के स्वरूप में भी अन्तर है। शास्त्र में कहा है–पुण्य से शुभ कर्म का बन्ध होता है और निर्जरा से शुभ-अशुभ कर्मों का अंशतः क्षय होता है। 'उत्तराध्ययनसूत्र' में बताया गया है–वन्दना से तथा निर्जरा से बहुत से कर्मों का क्षय होता है। निर्जरा द्वादशविध तपश्चरणात्मक होती है, इस अपेक्षा से सम्यक् तप से कर्मों की निर्जरा होती है। पुण्य से शुभ कर्मों का बन्ध होता है, जबकि निर्जरा से शुभ-अशुभ दोनों कर्मों का क्षय होता है। निर्जरा से करोड़ों भवों के संचित बहुत से कर्मों का क्षय होता है। इस अपेक्षा से निर्जरा मोक्ष (सर्वकर्ममुक्ति) का अंश है, जबकि पुण्य शुभ कर्मों का आस्रव और बन्ध है। 'उत्तराध्ययन' में कहा गया है–पुण्य और पाप (शुभ और अशुभ कर्मों) के पुद्गलों का सर्वथा क्षय (निर्जरण) होने से मोक्ष होता है। इसके विपरीत पुण्य तत्त्व के नौ प्रकार हैं और 'प्रज्ञापनासूत्र' के अनुसार–सातावेदनीय, उच्च गोत्र, मनुष्यायु, देवायु, शुभ नाम आदि ४२ पुण्य रूप (पुण्यफल) हैं। 'तत्त्वार्थसूत्र' के अनुसार–सातावेदनीय, सम्यक्त्व-मोहनीय, हास्य, रति, पुरुषवेद, शुभ आयु, शुभ नाम और शुभ गोत्र, ये ८ पुण्य प्रकृतियाँ (पुण्यफल) हैं। पूर्वोक्त ४२ प्रकृतियों के उदय से जीव पुण्य का फल भोगता है, जबकि सकामनिर्जरा हो तो उससे कर्मों की मुक्ति होती है। सम्यग्दृष्टि, व्रती, महाव्रती आदि के पुण्यबन्ध के साथ-साथ संवर और निर्जरा भी संभव है।

तथारूप श्रमण-माहन को दान देने से निर्जरा के साथ पुण्यबन्ध भी होता है

तथारूप श्रमण-माहन को निर्दोष दान देने से श्रमणोपासक को एकान्त निर्जरा बताई है, परन्तु वहाँ एकान्त मोक्ष नहीं बताया, वह निर्जरा अशुभ कर्मों के क्षय की अपेक्षा कही है, परन्तु साथ ही दान से शुभ कर्म का बन्ध भी होता है, वह धर्मदान होने से पुण्य का बन्ध होता है, क्योंकि धर्मदान से पुण्य और निर्जरा दोनों होते हैं। 'भगवतीसूत्र' में कहा गया है–तथारूप श्रमण-माहन को प्रासुक और निर्दोष आहारादि देकर जो श्रमणोपासक समाधि उत्पन्न करता है, उन्हें समाधि प्राप्त कराने वाला श्रमणोपासक स्वयं उसी समाधि को प्राप्त करता है। यहाँ भी आहारादि दान पुण्यबन्ध का कारण है,[1] जिससे समाधि रूप साता प्राप्त होती है।

---

१. (क) वेदणएणं नीयागोयं कम्मं खवेइ; उच्चगोयं कम्मं निबंधइ। सोहग्गं च णं अपडिहयं आणाफलं निव्वत्तेइ। दाहिणभावं च णं जणयइ। –उत्तराध्ययन, अ. २९, सू. १०

(ख) भवकोडि-संचियं कम्मं तवसा निज्जरिज्जइ। –वही, अ. ३०, गा. ६

(ग) दुविहं खवेऊण य पुण्ण-पावं, निरंगणे सव्वओ विप्पमुक्के। –वही, अ. २१, गा. २४

(घ) सायावेयणिज्जं मणुस्साउए देवाउए सुहणामस्स णं···· उच्चागोयस्स····।

–प्रज्ञापना, पद २३, उ. १

श्रमण निर्ग्रन्थ को आहारादि दान देने से उत्कृष्ट पुण्य एवं निर्जरा दोनों फल प्राप्त होते हैं

'भगवतीसूत्र' पंचम शतक, उ. ६ में तथा 'स्थानांगसूत्र' के तृतीय स्थान, उ. १ में बताया गया है कि "तीन कारणों से जीव शुभ दीर्घायुष्य कर्मबन्ध करता है, जो प्राणातिपात, मृषावाद किये बिना तथारूप श्रमण निर्ग्रन्थ को वन्दन, नमस्कार, सत्कार, सम्मान करके तथा कल्याणरूप, मंगलरूप, देवरूप चैत्य (ज्ञान) रूप मानकर, पर्युपासना करके मनोज्ञ एवं प्रीतिकारी अशनादि चतुर्विध आहार प्रतिलाभित करता (देता) है।" यह भी उत्कृष्टपात्र में दान-पुण्य के बीजारोपण का फल है। 'सुखविपाकसूत्र' के अनुसार–सुदत्त अनगार को सुमुख गाथापति ने प्रासुक एवं निर्दोष आहार विधि-द्रव्य-दाता और पात्र की शुद्धिपूर्वक देने से संसार परित्त किया और देवगति का आयुष्य बाँधा। तथैव भगवान महावीर को विजय गाथापति ने तथा (भगवान महावीर के लिए) सिंह अनगार को रेवती गाथापत्नी ने प्रासुक एवं निर्दोष आहार दिया था, जिसके कारण संसार परित्त किया और देवायुष्यबन्ध किया। यहाँ भी संसार परित्त किया, वह निर्जरा है और देवायुष्यरूप शुभ कर्मबन्ध दान की तीव्र भावना के कारण तीर्थंकर नामकर्म का बन्ध किया, वह पुण्य फल है। इसी प्रकार तथारूप श्रमण निर्ग्रन्थ को निर्दोष-प्रासुक आहारादि दान देने से तीर्थंकर नामकर्म का भी उपार्जन भव्य जीव कर पाता है। वह पुण्य का फल है। अतः अशुभ कर्मों का क्षय होने से संसार (जन्म-मरण) घटता है, वहाँ निर्जरा होती है और शुभ कर्म का बन्ध होता है, वहाँ पुण्य होता है।[1]

पिछले पृष्ठ का शेष–

(ङ) सद्वेद्य-सम्यक्त्व-हास्य-रति-पुरुषवेद-शुभायुर्नाम-गोत्राणि पुण्यम्।
–तत्त्वार्थसूत्र, अ. ८, सू. २६

(च) 'प्रश्नोत्तर-मोहनमाला, भा. ३' से भाव ग्रहण, पृ. १४९

(छ) ''' समणोवासएणं तहारूवं समणं वा माहणं वा फासुएणं एसणिज्जेणं असण-पाण-खाइम-साइमं पडिलाभेमाणे तहारूवस्स समणस्स वा माहणस्स वा समाहिं उप्पाएति। समाहिकारए णं तमेव समाहिं पडिलभति। *–भगवतीसूत्र, श. ७, उ. १, सू. ९*

१. (क) तिहिं ठाणेहिं जीवा सुभदीहाउअत्ताए कम्मं पगरेंति तं.–णो पाणे अइवइत्ता भवइ; णो मुसंवइत्ता भवइ, तहारूवं समणं वा णिग्गंथं वा वंदित्ता नमंसित्ता सक्कारेत्ता सम्माणेत्ता कल्लाणं मंगलं देवयं चेइयं पज्जुवासेत्ता मणुन्नेणं पीइकारएणं असण-पाण-खाइम-साइमेणं पडिलाभेत्ता भवइ, इच्चेएहिं तिहिं ठाणेहिं जीवा सुहदीहाउयत्ताए कम्मं पगरेंति।
–स्थानांग, ठा. ३, उ. १; भगवती ५/६

(ख) देखें–सुखविपाकसूत्र, अ. १ में सुबाहुकुमार का जीवनवृत्त

(ग) देखें–भगवतीसूत्र, श. १५ में रेवती गाथापत्नी का वृत्तान्त

पुण्य किस भूमिका में हेय है, किस भूमिका में उपादेय ?

निर्जरा को हेय नहीं माना है, परन्तु पुण्य तो तीर्थंकरों, केवलज्ञानियों के लिए अन्तिम गुणस्थान में हेय माना है। अतः पुण्य निश्चयदृष्टि से सर्वथा हेय है, जबकि व्यवहारदृष्टि से मध्यम भूमिका वाले चतुर्थ गुणस्थान से दशम गुणस्थान तक के जीवों के लिए कथंचित् हेय है, कथंचित् उपादेय है और उससे निम्न गुणस्थान वाले जीवों के लिए पाप तो सर्वथा हेय है, किन्तु पुण्य उपादेय है, ऐसा क्यों? इसका विस्तृत वर्णन हम कर्मविज्ञान के तृतीय भाग में 'पुण्य हेय है या उपादेय?' शीर्षक निबन्ध में कर आये हैं। पुण्य का स्वरूप भी इसी भाग में स्पष्ट रूप से प्रतिपादित किया गया है।

पूर्वबद्ध कर्म और उसके उदयकाल के बीच के लम्बे सत्ताकाल में कर्मफल-परिवर्तन सम्भव

जीव जब तक छद्मस्थ है, संसारस्थ है, तब तक उसमें न्यूनाधिक रूप में रागभाव रहता है। संसारी जीव में पूर्वबद्ध कर्मों के उदय के कारण रागादि परिणाम होते रहते हैं। जिनके कारण कर्मबन्ध और कर्मों के निमित्त से संसार-परिभ्रमण। इस प्रकार से साधारण व्यक्ति यह समझ लेता है कि यों तो कर्मों के चक्र से परतंत्रता में और संसार-परिभ्रमण से कभी मुक्त नहीं हो सकेगा। कभी कर्मबन्धन से मुक्त होकर पूर्ण स्वतन्त्र नहीं हो सकेगा। परन्तु कर्मविज्ञान मर्मज्ञों ने बताया है कि कर्म और वैभाविक आत्मा के संयोग से बन्ध होने पर भी जब तक उक्त कर्म का उदय नहीं होता तब तक जीव (आत्मा) उसे उत्कट परिणामों के बल पर उत्कर्षण, अपकर्षण या संक्रमण के रूप में परिवर्तन कर सकता है, क्योंकि उदय और बन्ध के बीच में सत्ता के कोश की विशाल मरुभूमि पड़ी है, जिसमें अनेकों परिवर्तन भी हो सकते हैं। परन्तु अधिकांश संसारी जीवों को इस तत्त्व-तथ्य का ज्ञान नहीं होता, न ही वे परिवर्तन के लिए उत्सुक होते हैं। अधिकांश जीव स्थिति स्थापक होते हैं। इस प्रवाह को रोकने में जीव तभी समर्थ हो सकता है। यदि वह शुभ योग द्वारा संवर और निर्जरा की ओर बढ़े; पुण्य-पाप के द्वन्द्वों से ऊपर उठकर समता-वीतरागता की भूमिका में पदार्पण करे। तभी उसे पूर्ण और पारमार्थिक स्वतन्त्रता मिल सकती है।

परन्तु इस भूमिका पर पहुँचने की अभी स्थिति और क्षमता न हो तो पुण्य और पाप दोनों में से पुण्य का पल्ला पकड़ना ही हितावह होगा, क्योंकि सत्ता में पड़े हुए पूर्वबद्ध कर्म की स्थिति इतनी लम्बी होती है कि उक्त कर्म के उदय में आने से पहले-पहले उत्कर्षण, अपकर्षण, संक्रमण आदि की विविध श्रेणियों को पार करता हुआ जीव (आत्मा) अपने पूर्वबद्ध उक्त कर्मदल के कर्मफल को बदलने

में पूर्ण स्वतन्त्र और समर्थ होता है। किन्तु उक्त पूर्वबद्ध कर्म के उदय में आने पर उस कर्म के फल को बदलना उसके वश की बात नहीं। अर्थात् बद्धकर्म के उदय की सीमा में प्रवेश करने से पूर्व जीव (आत्मा) उक्त पापकर्म के फल को पुण्य कर्मफल में परिवर्तित कर सकता है। उदय की सीमा में प्रवेश करने के पश्चात् उक्त कर्म के फल में किसी प्रकार का परिवर्तन होना सम्भव नहीं।

घोर मिथ्यात्वी पापात्मक कर्मों को पुण्यात्मक रूप में बदल नहीं पाते

जो व्यक्ति घोर मिथ्यात्वी होते हैं, वे प्रायः इन्द्रिय-विषयभोगों में राग-द्वेष के कारण अपनी इस स्वतंत्रता का उपयोग नहीं कर पाते। उन्हें प्रायः अपने हिताहित का, धर्म-अधर्म का, पुण्य-पाप का या कल्याण-अकल्याण का कुछ भी ज्ञान-भान नहीं होता और न ही उनकी उन तत्त्वों के ज्ञान में रुचि होती है। वे प्रायः हिंसादि अशुभ आस्रवों में पड़े रहकर पापबन्ध करते रहते हैं। हमारे पूर्वबद्ध कर्म अभी सत्ता में पड़े हैं, इसका भी उन्हें कुछ भान नहीं होता। पूर्वकृत पुण्य (शुभ कर्मों) के उदय में आने पर पुण्यफल के रूप में भविष्य में पुण्यबल को बढ़ाने के सभी कुछ साधन, निमित्त या वातावरण प्राप्त होने पर भी उनके द्वारा सदुपयोग न होने से वे पुण्यात्मक संस्कार पापात्मक रूप में संक्रमित होते रहते हैं। हितोन्मुख होने के अवसर जीवन में अनेकों बार मिलने पर भी उनका सदुपयोग न करने के कारण अपने जीवन की दिशा नहीं बदल सके। फलतः सत्ता में पड़े हुए वे कर्म पापात्मक बनकर उदय में आते रहे। जिससे वे जीव उत्तरोत्तर अधिकाधिक पतन की ओर जाते रहे। ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती का यही हाल हुआ। यदि उक्त अवसर का सदुपयोग कर लेते तो वे ही पापात्मक कर्म पुण्यात्मक रूप में संक्रमित होने लगते। उन कर्मों की स्थिति में उत्कर्षण (वृद्धि) के बजाय अपकर्षण होने (घटने) लगता।

एक बार भी पापात्मक कर्म-संस्कार पुण्योन्मुख होने पर उत्तरोत्तर अधिकाधिक पुण्यात्मक होते जाते हैं

तत्पश्चात् एक बार वे पापात्मक कर्म-संस्कार पुण्योन्मुख हो जाते तो भविष्य में उत्तरोत्तर अधिकाधिक पुण्यात्मक बन-बनकर अधिकाधिक उत्थान की ओर बढ़ते जाते। जिस प्रकार एक घड़ा सीधा रख देने पर उस पर जितने भी घड़े टिकाये जायेंगे, वे सब सीधे ही रखे जायेंगे। इसी प्रकार एक बार कर्म-संस्कार के पुण्योन्मुख होने पर बन्ध, उदय, उदीरणा, सत्ता, अपकर्षण, उत्कर्षण, संक्रमण आदि जितने भी कारण उसकी सीमा में होंगे, वे सब पुण्यात्मक ही होंगे। अर्थात् एक बार पुण्यात्मक कर्म-संस्कार की दृढ़ता के साथ अधीनता प्राप्त हो जाने पर व्यक्ति उत्तरोत्तर अधिक तेजी के साथ पुण्य की ओर ही जायेगा। पुण्य का उदय होने पर यदि व्यक्ति लौकिक फलाकांक्षारहित होकर विवेकपूर्वक उसका सदुपयोग करे तो उसके पुण्यात्मक

परिणाम के कारण नये पुण्य का बन्ध तो होगा ही, साथ ही उक्त पुण्यात्मक संस्कारों (कर्मों) में चार बातें साथ ही साथ जुड़ती जायेंगी–(१) पुण्य और पाप दोनों की स्थिति का अपकर्षण, (२) पापकर्मों के अनुभाग (रस) का अपकर्षण, (३) पुण्यात्मक कर्मों के अनुभाग का उत्कर्षण, और (४) पापात्मक कर्मों का पुण्य के रूप में संक्रमण।[1] इससे यह होगा कि अगले क्षणों में जो पुण्यात्मक कर्म उदय में आयेंगे, वे अपने पूर्ववर्ती पुण्यकर्म संस्कारों से उत्तरोत्तर अधिक शक्तिमान होंगे। यानी पूर्व समयवर्ती पुण्य के उदय से द्वितीय समयवर्ती पुण्य की शक्ति और भी अधिक बढ़ जायेगी। फलतः जीव के वे परिणाम उत्तरोत्तर विशुद्ध से विशुद्धतर और विशुद्धतम होते चले जायेंगे। जिसके कारण पूर्व पृष्ठों में बताये अनुसार उत्कृष्ट पुण्य के साथ संवर और निर्जरा का लाभ भी प्राप्त होता जायेगा। इस दृष्टि से समझदार या सम्यग्दृष्टि-सम्पन्न व्यक्ति के लिए पुण्य का बन्धन भी हलका हो सकेगा।[2]

पुण्य की उपादेयता और सार्थकता किस भूमिका में और क्यों ?

इस दृष्टि से पुण्य की उपादेयता और सार्थकता निचली भूमिका वालों के लिए स्पष्ट है और जो व्यक्ति मिथ्यादृष्टि हैं, फिर भी अन्याय, अनीति और हिंसादि पापकर्मों में रत हैं, उन्हें तो सर्वप्रथम पाप के मार्ग को छोड़कर पुण्य का मार्ग पकड़ना अत्यन्त हितकर है। किन्तु जो मिथ्यादृष्टि होते हुए भी शुभ योगी हैं, उनके लिए भी पुण्य-वृद्धि की उपादेयता स्पष्ट है। जो सम्यग्दृष्टि हैं, धार्मिक हैं, न्याय-नीति-सम्पन्न हैं अथवा व्रतधारी श्रावक हैं, उनके लिए भी पूर्वकृत पुण्य से प्राप्त शुभ साधन या वातावरण को पाकर पूर्वोक्त प्रकार से पुण्यात्मक वृत्ति-प्रवृत्ति के अवसर आने पर चूकना नहीं चाहिए। तभी वे संवर और निर्जरा के पथ पर दौड़ लगा सकेंगे।

पापबन्ध में बन्ध से छूटने का अवकाश नहीं, पुण्यबन्ध में अवकाश है

यह ठीक है कि बन्ध की अपेक्षा पाप और पुण्य दोनों बराबर हैं। परन्तु सैद्धान्तिक दृष्टि से दोनों में आकाश-पाताल का अन्तर है। पाप सर्वथा बन्ध है, किन्तु पुण्यबन्ध होते हुए भी, इससे छूटने का इसमें अवकाश है। पाप से पाप और पुण्य दोनों की स्थिति का उत्कर्षण होता है, जिससे संसार बढ़ता रहता है, जबकि

---

१. (क) उत्कर्षण, अपकर्षण, संक्रमण, बन्ध, उदय, उदीरणा, सत्ता आदि के नियमों और कार्यों के विषय में विशेष स्पष्टीकरण देखें–'कर्मविज्ञान, भा. ५' में कर्मबन्ध की विविध परिवर्तनीय अवस्थाएँ–१, २ शीर्षक निबन्ध

(ख) 'कर्मरहस्य' (ब्र. जिनेन्द्रवर्णी) से भाव ग्रहण, पृ. १८२-१८६

२. वही, पृ. १८६

सुदृढ़ पुण्य से पाप और पुण्य दोनों की स्थिति का अपकर्षण हो सकता है जिससे संसार का ह्रास (परित्त) होता है। फलाकांक्षारहित विवेकपूर्वक या पुण्यानुबन्धी पुण्य होने पर यह अपकर्षण या संसार-परित्तीकरण सामान्य पुण्य की अपेक्षा कई गुणा बढ़ जाता है।

पुण्य के मुख्यतया दो प्रकार : लौकिक और पारमार्थिक

इस अपेक्षा से पुण्य दो प्रकार का होता है–(१) पारमार्थिक हित के विवेक से शून्य लौकिक पुण्य, और (२) पारमार्थिक हित के विवेक से युक्त पारमार्थिक पुण्य। इन्हें ही दूसरे शब्दों में सकाम पुण्य और निष्काम पुण्य कह सकते हैं। यद्यपि पुण्य कार्य या पुण्यभाव पदार्थ ही होता है, लौकिक पुण्य-प्रवृत्ति में पर-हित सिर्फ पारिवारिक या सामाजिक बाह्य विकास या उत्थान की दृष्टि से माना जाता है, जिसे स्थानांगसूत्र में ग्रामधर्म, नगरधर्म, राष्ट्रधर्म आदि कहा गया है तथा उसमें व्यक्ति, परिवार, समाज, राष्ट्र आदि के शारीरिक, मानसिक या भौतिक दुःखों के निवारण करके बाह्य सुख पहुँचाने की बात सोची जाती है, जबकि लोकोत्तर निष्काम पुण्य में आध्यात्मिक विकास और हित की बात ही प्रधान रूप से होती है। इसलिए निष्काम कर्म ही परम्परा से संसार के ह्रास और सर्वकर्मरूप मुक्ति का कारण है। स्व-पर-कल्याणकामी को निम्न भूमिका के अनुसार पुण्य की वृत्ति-प्रवृत्ति का त्याग करने की अपेक्षा इससे उत्पन्न अहंकारादि कषाय, कामना, फलाकांक्षा आदि विकृतियों का त्याग करना चाहिए।[1]

अधिकांश लोग पुण्य का फल पाना चाहते हैं; शुद्ध पुण्य अर्जित करने का प्रयत्न नहीं करते

बहुत-से लोग सुख-शान्ति, आधि, व्याधि, उपाधि तथा दुःखों और विपत्तियों से छुटकारा पाना चाहते हैं। वे पुण्यवृद्धि के जो नौ प्रकार के बीज बताये हैं, उन्हें भी करने में हिचकिचाते हैं, वे कभी तो समय का बहाना बनायेंगे, कभी अरुचि, उदासीनता या निर्धनता का कारण प्रस्तुत करेंगे। परन्तु अशुभ कर्मों के निवारण और शुभ कर्मों के उपार्जन से होने वाले पुण्य के सुलभ, अल्पकष्टकर और बिना ही अर्थव्यय के उपाय को नहीं करेंगे, किन्तु चाहेंगे सुख-शान्ति, रोगमुक्ति, परिवार में परस्पर स्नेह, व्यावहारिक कार्यों में सफलता; जोकि लौकिक सकाम पुण्य के फल हैं। निष्काम पुण्य के फलस्वरूप मिलने वाली मनुष्य की आध्यात्मिक उन्नति, कर्मनिरोध और कर्मक्षय के कारण आत्म-स्वरूप में स्थिरता; अनावृत, कुण्ठित

१. 'कर्मरहस्य' (ब्र. जिनेन्द्रवर्णी) से भाव ग्रहण, पृ. १८७-१८९

आत्म-गुणों का प्रकटीकरण तो बहुत दूर की बात है। ऐसे व्यक्तियों के लिए एक आचार्य की उक्ति घटित होती है–

"पुण्यस्य फलमिच्छन्ति, पुण्यं नेच्छन्ति मानवाः।
फलं पापस्य नेच्छन्ति, पापं कुर्वन्ति यत्नतः॥"

–लोग पुण्य का सुखद फल पाना चाहते हैं, किन्तु तात्त्विक दृष्टि से पुण्य का जीवन में आचरण नहीं करना चाहते। वे अपने पापों का फल जरा भी पाना नहीं चाहते, किन्तु आश्चर्य है कि बेधड़क होकर अहर्निश हिंसा, झूठ, चोरी, ठगी, बेईमानी, भ्रष्टाचार, रिश्वतखोरी, अन्याय, अनीति, क्रूरता, निर्दयता आदि पापों का आचरण करते हैं।

सुख-शान्ति के लिए पुण्याचरण करना वर्तमान युग में भी अनिवार्य है

इसलिए आज के समस्त लोगों को परिवार, समाज, धर्म-सम्प्रदाय, राजनीति, व्यवसाय, राष्ट्र आदि के जीवन के सभी क्षेत्रों में सुख-शान्ति, अमनचैन, सुरक्षा, तथा विभिन्न प्रकार के संकटों और विपत्तियों के निवारणार्थ पुण्य का आचरण करना अनिवार्य है। पुण्य के द्वारा ही धर्म की नींव सुदृढ़ हो सकती है।

पापकर्मों के आचरण से आनन्द की अपेक्षा पुण्यकर्मों के आचरण में अधिक आनन्द है

स्थूलदृष्टि से भी देखें तो पुण्य और पाप दोनों में पुण्य का पलड़ा भारी रहेगा। केवल अपना ही पेट भरने से मिलने वाले आनन्द की अपेक्षा अन्य भूखों का पेट भरने से जो आनन्द मिलता है; दूसरों से छीन-झपटकर या आवश्यकता से अधिक वस्तुओं के संग्रह से मिलने वाले आनन्द की अपेक्षा जरूरमंद को देने में जो आनन्द है, अपने लिए अधिकाधिक मकानों का उपभोग करने से मिलने वाले आनन्द की अपेक्षा किसी आश्रयहीन बेघर को आश्रय देने या विद्यालय, पुस्तकालय, धर्मालय आदि के लिए मकान देने में जो आनन्द है तथा अपने पास आवश्यकता से अधिक वस्त्रों की पेटियाँ भरकर रखने में जो आनन्द है, उसकी अपेक्षा वस्त्रहीन, फटेहाल या सर्दी से ठिठुरते हुए मानवों को वस्त्र देने में जो आनन्द है अथवा मन से दूसरों की हत्या करने, झूठ बोलकर ठगने, माल हड़पने या दूसरों की वस्तु को अपने कब्जे में करने के रौद्र दुश्चिन्तन में या अपनी बुद्धि, शक्ति आदि की मन्दता के कारण हीनभावना करने रोते-झींकते रहने में जो आनन्द है, उसकी अपेक्षा दूसरों के प्रति मैत्री, करुणा, प्रमोद एवं माध्यस्थ्यभावना करने या समस्त जीवों की सुख-शान्ति, निरामयता, कल्याणकारिता, विकास, उन्नति आदि की भावना करने में जो आनन्द

है अथवा वचन से दूसरों की निन्दा-चुगली करने, फूट डालने, धोखा देने, ठगने, छल-प्रपंच करने, झूठी सलाह देने या हिंसादि का उपदेश-आदेश देने में जो आनन्द है, उसकी अपेक्षा वचन से सत्य, हित, परिमित, मधुर बोलने, धर्ममार्ग की ओर प्रेरित करने, कलह मिटाने, सत्परामर्श देने में जो आनन्द है,[1] काया से दूसरों को मारने, सताने, हैरान करने, हत्या, दंगा, मारपीट, चोरी, लूटपाट, आगजनी, बलात्कार आदि पापकर्म करने में जो आनन्द है, उसकी अपेक्षा काया से दूसरों को सहारा देने, रक्षा करने, श्रमदान करने, सेवा करने, अभाव-पीड़ितों को दान या सहयोग देने आदि में जो आनन्द है, इसी प्रकार नास्तिक बनकर अहंकारवश किसी भी वीतरागी परमात्मा मुक्त प्रभु को, सद्गुरु को, सद्धर्म को न मानने और उनकी विनय-भक्ति न करने तथा उद्दण्ड, अत्याचारी, भ्रष्ट अधिकारी या जबर्दस्त के आगे सिर झुकाने में जो आनन्द है, उसकी अपेक्षा वीतराग देवाधिदेव, निर्ग्रन्थ सद्गुरु एवं सद्धर्म के प्रति विनय-भक्ति, वन्दन, नमन करने, अपने से धर्माचरण में आगे बढ़े हुए महान् आत्मा के प्रति विनय करने में जो आनन्द है, उस पर विचार करने से स्पष्टतः प्रतीत होगा पहला मार्ग पापकारी है, अशान्ति एवं असन्तोष पैदा करने वाला है, जबकि दूसरा पुण्यमार्ग है, जो जीवन में सुख-शान्ति, संतोष और सुव्यवस्था लाने वाला है।

पुण्याचरण से उभयलोक में मिलने वाली भौतिक उपलब्धियाँ

पुण्य से इहलोक में भी परिवार, समाज और राष्ट्र तथा विश्व में सुख-शान्ति, सन्तुष्टि और सुव्यवस्था रहती है, परलोक में भी। 'उत्तराध्ययनसूत्र' इस तथ्य का साक्षी है कि जो व्यक्ति इस लोक में विविध कामभोगों (कामनाओं-वासनाओं, लालसाओं, इच्छाओं आदि) पर नियंत्रण रखता है, वह आत्मा के प्रति अपराध नहीं करता, अर्थात् अपनी आत्मा को अपराधों-दोषों से ग्रस्त नहीं करता, वह पवित्र देह का त्याग करके देव होता है, ऐसा मैंने सुना है, फिर वहाँ जब पुनः मनुष्यलोक में ऐसे स्थान में जन्म लेता है, जहाँ उसे ऋद्धि, द्युति (तेजस्विता), यशकीर्ति, वर्ण (प्रसिद्धि या प्रशंसा), सुदीर्घ आयु और अनुत्तर (उत्कृष्ट) सुख मिलता है। इसी प्रकार पूर्वकृत पुण्य के प्रभाव से देवयोनि से आयुष्य पूर्ण करके वह मनुष्य योनि में ऐसी जगह जन्म लेता है, जहाँ उसे चार काय स्कन्धों के अतिरिक्त अन्य दस सुखद अंग मिलते हैं-(१) क्षेत्र (भूमि), (२) वास्तु (मकान), (३) हिरण्य (सोना, चाँदी आदि), (४) पालतू पशु, (५) दास-सेवक (नौकर-चाकर), (६) अच्छे मित्र, (७) अच्छी ज्ञाति, (८) उच्च गोत्र, (९) उच्च वर्ण, (१०) अल्प रोग-आतंक, (११) महाप्रज्ञा, (१२) आभिजात्य (कुलीनता),

१. 'दिव्यदर्शन' (गुजराती पाक्षिक), दि १४-४-९० के अंक से भावांश ग्रहण, पृ. २०७

(१३) यश, और (१४) बलिष्ठता।[1] ये सब पुण्याचरण के सुखद फल हैं, जो पापाचरण करने वालों को हर्गिज नहीं मिल पाते।

पुण्याचरण के नौ माध्यम, उनका स्वरूप और आचरण का निदर्शन

पुण्य उपार्जन करने के मुख्यतया नौ माध्यम स्थानांग में बताये हैं, उनका संक्षेप में स्वरूप और पुण्यशालियों द्वारा किये जाने वाले आचरण का दिग्दर्शन इस प्रकार है–

(१) अन्नपुण्य–सामान्यतया किसी भूखे या अभाव-पीड़ित जीव को बिना किसी स्वार्थभाव के भोजन कराना, धर्म-धुरन्धर भिक्षाजीवी श्रमण, माहन को सात्त्विक आहार देना अथवा किसी अभावग्रस्त के तथा उसके परिवार के पेट भरने की समस्या हल करना, उसके लिए किसी सात्त्विक आजीविका या रोटी-रोजी का प्रबन्ध कर देना अन्नपुण्य है। विशेष रूप से जब किसी नगर, ग्राम या प्रान्त (प्रदेश) में दुष्काल, सूखा, भूकम्प, बाढ़ आदि के प्रकोप से मानव तथा पशु आदि भूख के मारे मर रहे हों, उस समय निःस्वार्थभाव से उनको अन्नादि सहायता देना अन्नपुण्य है।

जैन इतिहास में झगडूशाह, खेमाशाह आदि कई जैन-वणिकों का नाम अमर है, जिन्होंने गुजरात में दुष्काल के समय सारे गुजरात को निःस्वार्थभाव से अन्न दिया था। किशनगढ़ के तत्कालीन राजा मदनसिंह जी ने अपने राज्य में दुष्काल के कारण प्रजा को जिन्दा रखने हेतु अपने राज्य भण्डार में जितना अन्न था, वह सब उन्हें बाँट दिया। फिर भी दुष्काल मिटा नहीं। अतः चिन्तित होकर वर्षभर से अन्न की जरूरत को पूरा करने हेतु उन्होंने चारों ओर खोज की। उन्हें मालूम पड़ा कि आगरा से सेठ बलवंतराज जी मेहता के ५०० मन अनाज आने वाला है। अतः राजा जी ने बलवंतराज जी को बुलाकर उन्हें अनाज के मुँहमाँगे दाम लेकर दे देने को कहा। बलवंतराज जी ने कहा–"राजन् ! मैं दयाधर्मी जैन हूँ। मैं राज्य की भूखी जनता को

---

१. (क) इह काम-नियट्टस्स, अत्तट्ठे नावरज्झई।
पूइ-देह-निरोहेणं, भवे देवित्ति मे सुयं॥२६॥
इड्ढी जुई जसो वण्णो आउं सुहमणुत्तरं।
भुज्जो जत्थ मणुस्सेसु, तत्थ से उववज्जई॥२७॥ –उत्तराध्ययन, अ. ७, गा. २६-२७

(ख) खेत्तं वत्थु हिरण्णं च पसवो दास-पोरुसं।
चत्तारि कामखंधाणि तत्थ से उववज्जई॥१७॥
मित्तवं नायवं होइ, उच्चगोए य वण्णवं।
अप्पायंके महापन्ने अभिजाए जसो बले॥१८॥
उवेंति माणुसं जोणिं, तत्थ से उववज्जइ॥१९॥ –वही, अ. ३, गा. १७-१८, १९

देखकर इस अनाज को बेचूँगा नहीं, मैं इतना अनाज बेचकर पुण्य के अवसर को क्यों खोऊँ? मुझे आप इस सेवा का अवसर दें। मैं बहुत उपकृत होऊँगा। मैं सारा अनाज ५०० मन अभी और ५०० मन बाद में आगरा से आयेगा, वह भूखी जनता को देने के लिए तैयार हूँ।" राजासाहब यह सुनकर बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने खुश होकर जागीरी और पुरस्कार देना चाहा, परन्तु बलवंतराज जी ने साफ इन्कार कर दिया कि "सेवा को कतई बेचूँगा नहीं।" यह था निःस्वार्थ अन्नपुण्य ! एक गाँव के समझदार व्यापारी ने गाँव में दुष्काल के कारण चोरी, लूटपाट और अशान्ति होने की सम्भावना से दूरदर्शी बनकर गाँव के सभी लोगों को एकत्रित करके अपने एक हजार मन अनाज में से अपने वर्षभर खाने के लिए ६० मन और ग्राम के किसानों के बोने के लिए बीज के रूप में २०० मन अन्न रखकर जो एक वर्ष तक चल सके बाकी का इतना सारा अनाज गाँव के लोगों को क्षुधापूर्ति के लिए देकर अन्नपुण्य उपार्जित किया। बम्बई के एक जैन व्यापारी प्रतिदिन बिना किसी भेदभाव से अपनी ओर से एक शाकाहारी होटल से ५० भूखे व्यक्तियों को भोजन कराते हैं। इस तरह विभिन्न रूप से अन्नपुण्य का लाभ कई लोग प्राप्त करते हैं।[1]

(२) पानपुण्य या प्राणपुण्य–१३ वर्ष की उम्र में विधवा हो जाने के बाद ससुराल वालों द्वारा तिरस्कार किये जाने से श्यामो अपने माँ-बाप के पास रहने लगी। परन्तु दुर्भाग्य से माँ-बाप की मृत्यु के बाद श्यामो ने एक संकल्प किया–वह मेहनत-मजदूरी करके अपना पेट भरेगी और बचत होगी, उस राशि को पुण्यकार्य में खर्च करेगी। श्यामो दो घण्टे रात रहते उठती, प्रतिदिन ५ सेर आटा पीस लेती, लोगों के यहाँ काम करती, चरखा कातती, गाय चराती, इस प्रकार श्रम से उसने अपनी जिन्दगी में ५०० रुपये बचाये। मुंगेर से भागलपुर जाने वाली सड़क पर उसने इस रकम से प्यासे राहगीरों को पानी पिलाने हेतु एक कुआँ, एक प्याऊ और ठण्डी छाया के लिए कुछ पेड़ लगाये। प्याऊ पर बैठकर वह खुद पानी पिलाती। कभी भूखों को भोजन भी खिला देती। १५० वर्ष हो गये उस बात को। आज भी वह कुआँ, प्याऊ आदि श्यामो के अपूर्व त्याग और श्रम की तथा पानपुण्य की स्मृति बने हुए हैं।[2]

प्राणपुण्य–'पाणपुण्णे' का संस्कृत रूपान्तर 'प्राणपुण्य' भी होता है। अहमदाबाद उस समय घोर विपत्ति में डूबा हुआ था। एक विदेशी सरदार हमीद खाँ ने शहर पर हमला कर दिया। अपनी सेना को शहर में लूटपाट, हत्या,

---

१. (क) 'तीर्थंकर' (मासिक) के सितम्बर १९७६ में प्रकाशित नेमीचन्द पटोरिया के लेख से संक्षिप्त
(ख) 'कल्याण' (मासिक) जुलाई १९७२ के अंक से भाव ग्रहण
(ग) 'नवभारत टाइम्स' दि. २९-४-९२ के अंक से भाव ग्रहण

२. 'महकते जीवन फूल' (अशोक मुनि) से संक्षिप्त

आगजनी आदि की खुली छूट दे दी। निर्दोष जनता पर होने वाले इस अत्याचार और विनाशलीला को रोकने का बीड़ा उठाया–नगर सेठ खुशालचन्द्र ने। उसने हमीद खाँ को पीढ़ियों से अर्जित अधिकांश धन देकर अहमदाबाद की रक्षा की, नगर में शान्ति स्थापित करवाई, जनता के बहुमूल्य प्राण बचाये। इसी प्रकार बाबा राघवदास ने गोरखपुर आदि कई स्थानों में अग्निकाण्ड, हत्याकाण्ड आदि में स्वयं जान की बाजी लगाकर अनेक लोगों के प्राण बचाये। इस प्रकार स्वयं के प्राणों को खतरे में डालकर जनता के प्राण बचाना प्राणपुण्य का आचरण है।[1]

(३) लयनपुण्य का अर्थ होता है–निःस्वार्थभाव से किसी निराश्रित, अनाथ, असहाय या भूकम्प, बाढ़ आदि प्राकृतिक प्रकोपों से पीड़ित व्यक्तियों को आश्रय देना, रहने के लिए मकान देना। आज से लगभग ९०० वर्ष पहले की बात है। गुजरात की एक जैन महिला लच्छी (लक्ष्मी) बहन ने मारवाड़ में दुष्काल से पीड़ित होकर आये हुए ऊदा मेहता को बिना किसी जान-पहचान के अपने यहाँ रहने के लिए आश्रय दिया, भोजन कराया। बाद में मकान बनाने के लिए जमीन दी। यही ऊदा मेहता आगे चलकर सोलंकी राजाओं के शासनकाल में मंत्री बना। लच्छी बहन ने इस प्रकार लयनपुण्य अर्जित किया।[2]

इसी प्रकार भटिण्डा जैन समाज के प्रधान वयोवृद्ध लाला कुन्दनलाल जी ने सन् १९७१ के चातुर्मास में शुभ भाव से स्थानीय महिलाओं के लिए पौषधशाला, कन्याशाला तथा अतिथियों के लिए धर्मशाला बनवाने हेतु पर्याप्त धन तथा १,२०० गज जमीन एवं साधन जैन समाज को दान के रूप में देकर लयनपुण्य अर्जित किया।[3] इसी प्रकार जो पुण्यशाली अभाव-पीड़ितों, निराश्रितों के लिए अपनी जमीन, धर्मस्थान के लिए अपना मकान तथा निर्मित विद्यालय, अनाथालय, आश्रम, रुग्णालय, धर्मशाला आदि शुभ भाव से दान के रूप देता है, वह भी लयनपुण्य उपार्जित कर लेता है।

(४) शयनपुण्य का अर्थ है–सोने-बैठने के लिए पट्टा, खाट, शयनीय स्थान, शय्या, चादर आदि सामग्री देना। कुछ ही दिनों पहले की घटना है। ५० मनुष्यों की एक बारात बस से लखनऊ से अलीगढ़ आई हुई थी। दूसरे दिन जब बारात वापस लखनऊ जाने वाली थी कि कुछ उपद्रवियों ने बस पर पथराव किया और लड़कियों से छेड़खानी करने लगे। श्रीमती मिथिलेश यादव ने यह देखकर उपद्रवियों को

---

१. (क) 'महावीर नी धर्म' (जयभिक्खु) से संक्षिप्त
(ख) 'युग निर्माण योजना' से संक्षिप्त

२. 'वल्लभ प्रवचन, भा. ३' (प्रवक्ता–विजयवल्लभसूरि जी म.) के पर्युषण प्रवचन से संक्षिप्त

३. 'सुधर्मा' (मासिक), दि. १५-३-७२ के अंक से संक्षिप्त

ललकारा, जिससे वे भाग गये। फिर श्रीमती यादव सभी भयभीत बारातियों को बस से उतारकर सुरक्षित अपने घर ले गईं। बस सहित सारा सामान मँगवाया। सबको अपने घर में ठहराया, सबके भोजन-पानी का प्रबन्ध किया। रात्रि में सबके सोने का सुन्दर इन्तजाम किया। सबने श्रीमती यादव की इस उदारता का आभार माना। इस प्रकार श्रीमती यादव ने लयनपुण्य और शयनपुण्य दोनों पुण्य अर्जित किये।[1] इसी प्रकार अनेक शय्याओं वाला चिकित्सालय खोलना, नेत्रदानयज्ञ आदि के माध्यम से नेत्र-रोगियों के रहने-सोने आदि का प्रबन्ध करना भी शयनपुण्य के अन्तर्गत है।

(५) वस्त्रपुण्य–सर्दी आदि के कारण ठिठुरते हुए या फटेहाल लोगों को निःस्वार्थभाव से वस्त्र वितरण करना। श्री मफतलालभाई आदि कई सेवाभावी सज्जन शीतकाल में प्रति वर्ष अपनी ओर से गरीबों एवं पीड़ितों को वस्त्र वितरण करके वस्त्रपुण्य अर्जित करते हैं। सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' भी अपना वस्त्र उतारकर सर्दी से ठिठुरते हुए व्यक्तियों को दे देते थे।

(६) मनःपुण्य–मन से, शुभ भावनाओं से पुण्य उपार्जित करना मनपुण्य का आशय है। किसी ग्राम, नगर, राष्ट्र तथा विश्व में शान्ति, समता, अमनचैन स्थापित करने के लिए, कल्याण के लिए, पाप से मुक्त होकर धर्ममार्ग पर आरूढ़ होने के लिए तथा किसी व्यक्ति को सन्मार्ग पर लाने, दूसरों के तन-मन के आरोग्य के लिए शुभ भावना करना तथा 'सर्वेभवन्तु सुखिनः', 'शिवमस्तु सर्वजगतः' इत्यादि शुभ भावनामूलक श्लोकों से शुभ चिन्तन करना मनःपुण्य है। परमात्म प्रार्थना द्वारा भी दुःखित-पीड़ितों का शुभ भावनाओं से दुःख-निवारण करना भी मनःपुण्य है। अमेरिका के केन्सास सिटी में डॉ. फिल्मौर द्वारा स्थापित एक प्रार्थना संघ है, जिसमें सामूहिक प्रार्थना द्वारा हजारों लोगों के निःस्वार्थभाव से दुःख निवारण किये जाते हैं।[2]

(७) वचनपुण्य–अपनी वाणी से भगवन्तों, महापुरुषों और महान् आत्माओं के गुणगान, स्तवस्तोत्र-स्तुतिपाठ करना, नामस्मरण करना, दूसरों को सत्परामर्श तथा सन्मार्गदर्शन देना, व्यसन-मुक्ति की, अहिंसा-सत्यादि धर्मपालन की धर्मलक्षी न्याय-नीति का पालन करने की प्रेरणा देना वचनपुण्य है। मुंजाल नामक श्रावक गुजरात के महामंत्री तेजपाल का गुमाश्ता था। महामंत्री कुछ भी दानपुण्य नहीं करते थे। यह देख एक दिन महामंत्री से कहा–"सेठ जी ! आप बासी भोजन करते हैं।" इस पर पहले तो वे चौंके, कुछ रुष्ट भी हुए, फिर इस पर सोचते-सोचते उन्हें इस कथन का रहस्य ज्ञात हुआ कि "गुमाश्ता ठीक ही तो कहता है। मैंने पूर्व-कृत पुण्य के फलस्वरूप ऋद्धि-समृद्धि और ऐश्वर्य पाया, किन्तु अब कुछ भी नया पुण्य या

---

१. 'नवभारत टाइम्स' (बम्बई), दि. ३-३-९५ के अंक से संक्षिप्त

२. 'कल्याण', अप्रेल १९५७ के अंक से संक्षिप्त

धर्माचरण नहीं कर रहा हूँ।" उसी दिन से वेदानादि पुण्य का तथा धर्म का विशेष रूप से आचरण करने लगे।[1] इसी प्रकार वाणी से व्यक्तिगत या सामूहिक मंत्रजाप, भगवन्नाम-स्मरण, कीर्तन, स्तवन-स्तोत्र-स्तुतिपाठ आदि करने से भी पुण्यलाभ इतना ही नहीं, उत्तराध्ययनसूत्र के अनुसार स्तुतिपाठ से अथवा चौबीस तीर्थंकरों की स्तुति (स्तव) से दर्शन (सम्यक्त्व) विशुद्धि कर लेता है तथा स्तव एवं स्तुति-मंगल से ज्ञान-दर्शन-चारित्र रूप बोधिलाभ की प्राप्ति होती है। बोधिलाभ-प्राप्त जीव या तो अन्तःक्रिया (मोक्ष) को प्राप्त कर लेता है या फिर कल्प-देवलोकों में अथवा नवग्रैवेयक पंच अनुत्तरविमानों में उत्पन्न होता है।[2] वह है–वाणी से विशिष्ट पुण्य या शुद्धोपयोग युक्त प्रयोग से सर्वकर्ममोक्ष प्राप्त होने का लाभ।

(८) कायपुण्य–काया से निःस्वार्थभाव से दूसरों की सेवा करना, रक्षा करना, पाप में पड़ने से बचाना, सहायता देना, उपकार करना, सहयोग या श्रमदान करना कायपुण्य है। वृद्धों, बीमारों, अपंगों, असहायों, अशक्तों या अनाथ बालकों या साधु-महात्माओं की सेवा करने से भी कायपुण्य होता है। अपने शरीर से दूसरों के दुःखों का निवारण करना भी कायपुण्य है। लाचू मेमोरियल कॉलेज, जोधपुर के साइंस के १८ वर्षीय छात्र ओमप्रकाश मालवीय ने स्थानीय गुलाबसागर तालाब में डूबते हुए २७ लोगों को अपनी जान पर खेलकर बचाया।[3]

(९) नमस्कारपुण्य–वीतराग, निरंजन, निराकार, सिद्ध, बुद्ध, मुक्त तथा जीवन्मुक्त अर्हन्त परमात्मा एवं आचार्य, उपाध्याय, साधु-साध्वी, श्रमणोपासक-श्रमणोपासिका तथा अन्य सम्यग्दृष्टि व धर्मात्मा आदि महान् आत्माओं को नमन-वन्दन, प्रणिपात तथा श्रद्धा-भक्तिपूर्वक नमस्कार एवं स्तुति-स्तव करने से नमस्कारपुण्य का उपार्जन होता है। नमस्कारपुण्य बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। इससे अहंकार, मद, माया, ईर्ष्या, स्वार्थवृत्ति, तनाव, उद्विग्नता, भय, विघ्न, मरणान्तकष्ट, दुःसाध्य रोग, आधि, व्याधि, उपाधि, संकट आदि दूर होते हैं। इतना ही नहीं महापुरुषों को नमस्कार अनन्य भक्तिभावपूर्वक किये हुए नमस्कार का फल संसार-सागर से तारने–पार उतारने वाला बतलाया है। कहा भी है–

"इक्को वि णमोक्कारो, जिणवर-वसहस्स वद्धमाणस्स।
संसार-सायराओ, तारेइ नरं वा नारीं वा॥"

–एक नमस्कार भी भक्ति-बहुमानपूर्वक जिनवर वृषभ (श्रेष्ठ) वर्द्धमान महावीर को करने से वह उस नर या नारी को संसार-सागर से पार करने–तारने वाला बन जाता है।

---

१. 'श्री अमर भारती' से भाव ग्रहण
२. उत्तराध्ययनसूत्र, अ. २९, बोल ९, १४
३. 'नवभारत टाइम्स' (बम्बई) दि. ५-११-७२ से भाव ग्रहण

श्री कृष्ण वासुदेव ने तीर्थंकर अरिष्टनेमि के १८ हजार साधुओं को भक्तिभावपूर्वक वन्दन-नमस्कार किया। तदनन्तर भगवान अरिष्टनेमि के पास आकर कहा–"प्रभो ! अब जरा थकान आ गई है।" भगवान ने कहा–श्रीकृष्ण ! तुम भूलते हो ! थकान आई नहीं, थकान उतरी है। सातवीं नरक की स्थिति में से नीचे की चार नरकों की कर्मस्थिति तुमने तोड़ डाली है, क्योंकि यह वन्दन क्रिया बहुत ही उच्चभाव से अपार अहोभाग्य समझकर की गई है।"[1] अगर व्यक्ति मन-वचन-काया को अशुभ से हटाकर अथवा सांसारिक-लौकिक प्रयोजनों से हटाकर श्रद्धा-भक्ति-विनय-बहुमानपूर्वक निष्ठा के साथ त्रिलोकबन्धु विश्वपूज्य पंचपरमेष्ठी के नमस्कार में लगा दे, उन्हें अपना सर्वात्मना समर्पण कर दे तथा एकाग्रतापूर्वक नमस्कार महामंत्र का विधिवत् पाठ करे तो समस्त पापों (अशुभ कर्मों) का नाश होता है। जैसा कि इस महामंत्र की चूलिका में कहा है–"सव्व-पावप्पणासणो।" नमस्कार मंत्र के जप, पाठ या स्मरण के प्रभाव से पुण्य प्रबल होने से लौकिक, भौतिक, नैतिक, सामाजिक और आध्यात्मिक सभी सत्कार्य सिद्ध होते हैं; एकाग्रता और श्रद्धा-भक्तिपूर्वक नमस्कार महामंत्र के पाठ से रोग, शोक, संकट, चिन्ता, दरिद्रता आदि दुःखों से मुक्त हो जाता है। एकाग्रता, श्रद्धा-भक्ति और निष्ठा के साथ नमस्कार महामंत्र के रटन से गुलाबचन्दभाई का थर्ड स्टेज पर पहुँचा हुआ दुःसाध्य कैंसर रोग मिट गया। वह सब तरह से स्वस्थ, सशक्त और आर्थिक दृष्टि से समृद्ध हो गया। बेगू के गंगाराम तेली की नवकार मंत्र पर अटूट श्रद्धा है। इसके प्रभाव से उसके सभी कार्य प्रायः अचूकरूप से सिद्ध होते हैं। बिहार प्रान्त का रसूल मियाँ नमस्कार महामंत्र के श्रद्धा-भक्तिपूर्वक जाप के प्रभाव से सभी आपत्तियों के समय सुरक्षित रहा। सुना है, सन् १९४७ में हिन्दुस्तान-पाकिस्तान विभाजन के समय रावलपिंडी में हिन्दुओं पर मुस्लिम आतंकवादियों और उपद्रवियों द्वारा बार-बार आक्रमण, हत्या, लूटपाट, दंगे आदि हो रहे थे। उस समय योगिराज श्री फूलचन्द जी महाराज ने एकाग्रता एवं निष्ठापूर्वक महामंत्र नवकार का पाठ किया, जिसके प्रभाव से वहाँ के जैन मोहल्ले में दंगाई लोग कुछ भी हानि न कर सके। यह है नमस्कार से होने वाले पुण्य का प्रभाव ![2]

नौ प्रकार के पुण्यों के निष्कामभाव से आचरण से महान् फल

ये तो नौ प्रकार के पुण्यों के सकामभाव से आचरण करने के भौतिक फल हैं। अगर आत्मौपम्यभाव से, निःस्वार्थ, निष्काम एवं पारमार्थिकभावना एवं संवर, निर्जरा एवं धर्म-अनुप्रेक्षापूर्वक आत्मिक-भावों और आत्म-गुणों के रूप में इन नौ पुण्यों को क्रियान्वित किया जाए तो उत्कृष्ट पुण्य के साथ-साथ संवर, निर्जरा और परम्परा से मोक्ष की भी उपलब्धि हो सकती है। ●●

१. 'दिव्यदर्शन', दि. २६-१-९१ के अंक से भाव ग्रहण

२. (क) देखें–णमोकार महामंत्र के चमत्कार (दिवाकर चित्रकथा) में
(ख) 'हंसा ! तू झील मैत्री सरोवर' से संक्षिप्त

८

निर्जरा : अनेक रूप और स्वरूप

कर्मों का बंध होने वाला तत्त्व बंध और छूटने वाला तत्त्व निर्जरा है

संसार में अनन्त-अनन्त प्राणी अपनी प्रवृत्तियों के कारण कर्मों से बार-बार लिपटते हैं और उनके उदय में आने पर उनको बरबस या समभाव से भोगकर उन्हें अलग भी करते जाते हैं। अगर प्राणी कर्मों का बन्ध ही बन्ध करते जाएँ, उनसे छुटकारा कभी मिले ही नहीं, तब तो कोई भी प्राणी अपनी इन्द्रियों, चेतना, मन आदि का विकास कर ही नहीं सकता। परन्तु कर्मविज्ञान ने यह सिद्ध करके बता दिया है कि प्रत्येक सांसारिक प्राणी प्रति क्षण सात या आठ कर्म बाँधता भी है और भोगकर उनसे छूटता भी है। एकेन्द्रिय से द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय बनने तक के पीछे यही सिद्धान्त काम करता है। परन्तु कर्मविज्ञान में बाँधने और छूटने के तत्त्व को अलग-अलग संज्ञा (नाम) दी गई है। कर्मों का बन्ध होने वाले तत्त्व का नाम 'बन्ध' है और कर्मों से छूटने वाले तत्त्व का नाम 'निर्जरा' है।

कर्मनिजरा : लक्षण, स्वरूप और प्रयोजन

'भगवती आराधना' के अनुसार–निर्जरा का अर्थ है–पूर्वकृत कर्मों का झड़ना। जैसे पक्षी पंख फड़फड़ाकर उस पर लगी हुई धूल को झाड़ देता है, उसी प्रकार जीव आत्मा पर लगी हुई पूर्वकृत कर्मरज को झाड़ देता है, उसे निर्जरा कहा जाता है। 'बारस अणुवेक्खा' के अनुसार–आत्म-प्रदेशों के साथ लगे कर्मप्रदेशों का, उन आत्म-प्रदेशों से झड़ जाना–पृथक् हो जाना निर्जरा है। मोक्ष में समस्त कर्मों का क्षय हो जाता है, वैसे निर्जरा में एक ही साथ, एक ही समय में समस्त कर्मों का क्षय नहीं होता, किन्तु पूर्वबद्ध कर्मों में से जो कर्म उदय में आ जाते हैं, सुख-दुःखरूप फल देने के अभिमुख हो जाते हैं, उन्हीं कर्मों का फल जीव भोगता है, भोगने के बाद फल देकर वे कर्म झड़ जाते हैं। इसलिए 'सर्वार्थसिद्धि' में कहा गया है–एक देश से (आंशिक रूप से) कर्मों का (आत्म-प्रदेश से) जुदा होना निर्जरा है।[१]

---

१. (क) पुव्वकद-कम्म-सडणं तु णिज्जरा। –भ. आ. मू. १८४७
(ख) बंध-पदेशग्गलणं णिज्जरणं। –बा. अ. ६६
(ग) एक-देश-कर्म-संक्षय-लक्षणा निर्जरा। –सर्वार्थसिद्धि ८/२३/३९९/६

निर्जरा का सामान्य लक्षण

यद्यपि संवर से नये कर्मों का आगमन रुक जाता है, तथापि पुराने (पहले के) बँधे हुए कर्म तो आत्मा में संचित रूप से पड़े रहते हैं। वे तब तक पड़े रहते हैं, जब तक उनका अबाधाकाल पूर्ण नहीं होता, अर्थात् वे जब तक उदय में नहीं आते। सभी कर्म एक साथ उदय में नहीं आते। उन संचित कर्मों में से जो-जो कर्म उदय में आते जाते हैं, उन्हें क्रम-क्रम से भोगने से, वे कर्म क्रमशः आत्म-प्रदेश से दूर होते जाते हैं। कर्मों के इस तरह क्रम-क्रम से दूर होने–आत्मा से पृथक् होने, नष्ट होने या क्षय होने को निर्जरा कहते हैं। कर्मों की निर्जरा भी क्रमपूर्वक ही होती है, अक्रम से नहीं।[1]

निर्जरा का लक्षण : समस्त जीवों की दृष्टि से

निर्जरा का लक्षण 'स्थानांगसूत्र' की वृत्ति में इस प्रकार किया गया है–कर्मों का जीव (आत्मा) के प्रदेशों से झड़ना = खिरना निर्जरा है। अथवा पूर्णरूप से प्रति समय विशिष्ट कर्म के विपाक (फलभोग) से उसकी हानि (क्षय) से उक्त कर्म का पृथक् हो जाना, झड़ जाना निर्जरा है।[2]

मुमुक्षुओं के लिए निर्जरा क्यों आवश्यक है ?

शरीर में जब तक विजातीय द्रव्य संचित रहते हैं, तब तक शरीर स्वस्थ नहीं रहता, उसका विकास नहीं हो पाता; उसी प्रकार आत्मा में जब तक विजातीय कर्मपुद्गल अधिक मात्रा में संचित हो जाते हैं, वे निकलें नहीं, तब तक वह आत्मा स्वस्थ होकर आगे विकास नहीं कर पाती। एकेन्द्रिय से द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय आदि रूप में चेतना के विकास में निर्जरा ही प्रमुख कारण है। प्रत्येक जीव के अपनी-अपनी भूमिकानुसार संचित या पूर्वबद्ध कर्मों के उदय में आने पर उस-उस जीव द्वारा उनके भोगे जाने से वे क्षीण हो जाते हैं, अर्थात् वे उदय प्राप्त कर्म भोगने से आत्मा से पृथक् हो जाते हैं। मोक्ष-साधक भी पूर्वबद्ध कर्मों को या तो उदय में आने से पूर्व ही सम्यग्ज्ञानपूर्वक बाह्य-अन्तरंग तप, परीषह-उपसर्ग-सहन, कष्ट-सहन, कषाय-विजय आदि से कर्मों की निर्जरा कर लेता है अथवा उस-उस कर्म के उदय में आने पर भी समभावपूर्वक उक्त कर्म को भोगकर निर्जरा करता है। यदि कर्मों की निर्जरा न हो, आत्म-शुद्धि न हो तो साधक भी आत्म-गुण-विकास नहीं कर सकता।

---

१. (क) देखें–जैनेन्द्रसिद्धान्तकोश, भा. २ में निर्जरा शब्द, पृ. ६२२
(ख) जैनधर्मामृत, अ. १२ में निर्जरा शब्द का प्राथमिक, पृ. २५३

२. (क) कर्मणां जीव-प्रदेशेभ्यः परिशाटने। –*स्थानांगसूत्र, स्था. १०*
(ख) कार्त्स्न्येनानुसमयं विशेष-कर्मविपाकहान्या परिशाटने। –*वही, स्था. ४, उ. ४*

कोई व्यक्ति मन, इन्द्रियों और बुद्धि का दरवाजा बाहर से बन्द कर ले, परन्तु उसके मन-मस्तिष्क में अनादिकाल से संसार में विभिन्न गतियों-योनियों में परिभ्रमण करते हुए जो करोड़ों-अरबों शब्द, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श अथवा राग-द्वेष या कषाय के भाव कर्मबन्ध के रूप में संचित हैं, उनकी सफाई करके उन्हें बाहर न निकाला जाए, उन विषय-कषायों से जनित कर्मों के भंडार को खाली न किया जाए तो अंदर ही अंदर सड़कर वे उस आत्मा को कर्मों से भारी कर देंगे अथवा हिंसा, असत्य, चोरी, बेईमानी, हत्या, लूटपाट आदि बुराइयों की दुर्भावनाएँ, मोह, मद, काम, क्रोधादि की वृत्तियाँ अवचेतन मन में संचित होती रहें, उन्हें रिक्त न किया जाए तो वे अनेक दुष्कर्मों का अनर्थ पैदा कर सकती हैं। इसीलिए निर्जरा का एक अर्थ है–भीतर जो संचित है, उसको बाहर निकालना, रिक्त करना।[9] निर्जरा न हो तो विषय-कषायों से जनित पूर्वबद्ध–संचित कर्मों का भंडार खाली ही नहीं होगा। इसलिए प्रत्येक जीव को निर्जरा की आवश्यकता है, उसके बिना चेतना का विकास, ऊर्ध्वारोहण, गति-योनि-इन्द्रिय आदि का विकास नहीं हो सकता।

कर्मनिर्जरा क्यों और कैसे-कैसे होती है ?

'सर्वार्थसिद्धि' में कहा गया है–"जिस प्रकार भात आदि का आहार करने पर पचने के बाद वह मल के रूप में निकल जाता है, शरीर से पृथक् हो जाता है, उसी प्रकार (रागादिवश) कर्म आत्मा में प्रविष्ट होकर बँध जाता है और यथासमय (अबाधाकाल पूरा होने पर, उदय में आकर) उस आत्मा को भला-बुरा अनुभव कराने के बाद पूर्व प्राप्त स्थिति समाप्त हो जाने पर वह कर्म निवृत्त होकर निर्जीर्ण हो जाता (निकल जाता = पृथक् हो जाता) है।

'राजवार्तिक' में कहा गया है–कर्म के झड़ने–नष्ट = क्षय होने का नाम निर्जरा है। वह बाह्य वस्तु की निर्जरा की भाँति निर्जरा है। [जिस प्रकार किसी पक्षी की पाँखें धूल से भर जाती हैं, तब वह फड़फड़ाकर अपनी पाँखों को प्रकम्पित करता है, जिससे सारा रजकण झड़ जाता है, उसी प्रकार कर्मरज से भी जीव (आत्मा) भर जाने पर समय-समय पर तप से, कष्ट-सहन से प्रकम्पित करके उतने कर्मरज कणों को झाड़ देता है। यह बाह्य निर्जरा की भाँति निर्जरा की प्रक्रिया है।] जिस प्रकार मंत्र या औषध आदि से शक्तिहीन किया हुआ विष दोष उत्पन्न नहीं करता, उसी प्रकार उदय में आए हुए वे कर्म स्वेच्छा से या अनिच्छा से तप, त्याग, कष्ट-सहन, परीषह, उपसर्ग आदि पर विजय आदि से भोगकर नीरस और निःशक्त किये जाने पर संसारचक्र को कम कर देते हैं या संसाररूप

---

१. 'अमूर्त चिन्तन' (आचार्य महाप्रज्ञ) से भावांश ग्रहण, पृ. ७५-७६

फलप्रदायक नहीं रहते। अतएव यथाकाल या तपोविशेष से कर्मों की फलदान-शक्ति का अनुभव करके (फलभोग कर) उन्हें झाड़ देना निर्जरा है।[1]

निर्जरा की प्रक्रिया

'तत्त्वार्थसूत्र' के अनुसार–निर्जरा का क्रम इस प्रकार है–विपाक का अर्थ है–कर्मों की फलदान-शक्ति अर्थात् विविध प्रकार से कर्म के पाक = परिपक्व होने–पकने, फल देने योग्य–उपभोग योग्य हो जाना। इस प्रकार कर्म के उदय में आने पर उसके फल का अनुभव–वेदन होना अनुभाव है। आशय यह है, निर्जरा से पहले सर्वप्रथम जीव द्वारा पहले बाँधे हुए विविध कर्मों के उदय में आने पर उनका फल वह अनेक प्रकार से सुखरूप या दुःखरूप अनुभव करता है = भोगता है, कर्मविज्ञान की भाषा में इसे अनुभाव या अनुभाग कहते हैं; अर्थात् अनुभव कराने की शक्ति। 'कार्तिकेयानुप्रेक्षा' में भी कहा है–"सब कर्मों की शक्ति के उदय होने, फल देने, विपाक होने को अनुभाव कहते हैं, उसके पश्चात् अर्थात् फलभोग कराने के पश्चात् कर्मों की निर्जरा हो जाती है, वे कर्म आत्मा से पृथक् हो जाते हैं, झड़ जाते हैं।

अनुभाव कर्म के स्वभावानुसार होता है

इस निर्जरा प्रक्रिया में एक बात और समझ लेनी है–जो अनुभाव होता है, वह कर्मों के नाम अथवा स्वभाव के अनुसार होता है। जैसे ज्ञानावरणीय कर्म के उदय से जीव में बुद्धिहीनता आती है, उसकी स्मृति अत्यन्त मन्द हो जाती है या चली जाती है, वह विविध विषयों को नहीं जान पाता। इसी प्रकार साता-असाता-वेदनीय कर्म के उदय से जीव को सुख-दुःख की अनुभूति होती है। अन्तराय कर्म के उदय से लाभ आदि में विघ्न पड़ता है। शेष सभी कर्मों का फल = अनुभव = वेदन भी उनके नाम और स्वभाव के अनुसार समझ लेना चाहिए।[2]

---

१. (क) पीडानुग्रहाभावात्मने प्रदाय, अभ्यवहृतौदनादि-विकारवत् पूर्वस्थितिक्षयादवस्थानाभावात् कर्मणो निवृत्तिर्निर्जरा। –*सर्वार्थसिद्धि ८/२३/३९१/६*

(ख) निर्जीर्यते निरस्यते यथा निरसनमात्रं वा निर्जरा। निर्जरैव निर्जरा। कः उपमार्थः? यथा मंत्रौषधबलान्निर्जीर्णवीर्य विपाकं विषं न दोषप्रदम्, तथा ..... तपोविशेषेण निर्जीर्णरसं कर्म न संसारफलप्रदम्। .... यथा विपाकात्तपसो वा उपभुक्तवीर्यं कर्मनिर्जरा। –*राजवार्तिक ४/१२/२७, ४/१९/२७, ७/१४/४०/१७*

(ग) 'अमूर्त चिन्तन' से भावांश ग्रहण, पृ. ७६

२. (क) विपाकोऽनुभावः स यथानाम, ततश्च निर्जरा। –*तत्त्वार्थसूत्र, अ. ८, सू. २२-२४*

वेदना और निर्जरा एक नहीं है

इस पर से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि कर्मनिर्जरा वेदन = अनुभाव = फलभोग करने के बाद ही होती है, पहले नहीं। 'भगवतीसूत्र' में एक प्रश्न उठाया गया है–भगवन् ! जो वेदना है, क्या वह निर्जरा है अथवा जो निर्जरा है, वह वेदना है? इसके उत्तर में भगवान ने कहा–जो वेदना है, वह निर्जरा नहीं है, इसी प्रकार जो निर्जरा है, वह भी वेदना नहीं है। क्योंकि नैरयिक आदि चौबीस दण्डकवर्ती जीदों की जो वेदना है, वह कर्म है और जो निर्जरा है, वह नोकर्म है। जीव के द्वारा वेदन किया जाता है, किया गया है और किया जायेगा–कर्मों का और निर्जीण किया गया है, किया जाता है और किया जायेगा–नोकर्मों का। इसका कारण बताते हुए उन्होंने कहा–जो वेदना का समय है वह निर्जरा का समय नहीं है। जिस समय में वेदन करते हैं, उस समय निर्जरा नहीं करते, जिस समय निर्जरा करते हैं, उस समय वेदन नहीं करते। वेदन का समय दूसरा है, निर्जरा का समय दूसरा है। निष्कर्ष यह है कि पहले (उदयप्राप्त) कर्मों की वेदना = अनुभूति होती है, निर्जरा नहीं होती। वेदना = अनुभूति (फल भोगने) के पश्चात् जब उन कर्मपरमाणुओं का कर्मत्व नष्ट हो जाता है, तब निर्जरा होती है। अतः निर्जरा उक्त कर्म का अभाव होने पर होती है, इसलिए कहा गया है–वेदना कर्म है, निर्जरा नोकर्म।

वस्तुतः उदयप्राप्त कर्म का वेदन करना = भोगना 'वेदना' कहलाती है और जो कर्म भोगकर क्षय कर दिया गया है, उसे निर्जरा कहते हैं। वेदना कर्म की, पूर्वबद्ध कर्म की होती है, कर्म बँधने के समय से लेकर वेदन के अन्तिम समय तक उसकी 'कर्म' संज्ञा रहती है। इसी कारण वेदना को (उदयप्राप्त) कर्म कहा गया है और निर्जरा को 'नोकर्म' (कर्माभाव)। निर्जरा हो जाने पर वे पुद्गल कर्म नहीं रहते, अकर्म हो जाते हैं।[9]

पिछले पृष्ठ का शेष–

(ख) 'तत्त्वार्थसूत्र विवेचन, अ. ८' (उपाध्याय केवल मुनि जी) से भाव ग्रहण

(ग) सव्वेसिं कम्माणं सत्ति-विवाओ हवेइ अणुभाओ।
तदणंतरं च सडणं कम्माणं णिज्जरा जाण॥ –*कार्तिकेयानुप्रेक्षा १०३*

१. (क) (प्र.) से नूणं भंते ! जा वेदणा सा निज्जरा, जा निज्जरा सा वेयणा?
(उ.) णो इणट्ठे समट्ठे। ····गोयमा ! कम्मं वेयणा, णो कम्मं णिज्जरा। ···· गोयमा ! कम्मं वेदेंसु, नो कम्मं निज्जरिंसु; कम्मं वेदेंति, नो कम्मं निज्जरेंति; कम्मं वेदिस्संति, नो कम्मं निज्जरिस्संति।

निर्जरा : आत्मा से कर्म-परमाणुओं का विलग हो जाना है

आत्मा और कर्म-परमाणु दोनों पृथक्-पृथक् हैं। आत्मा (जीव) का राग-द्वेष-कषायादि विभावों के कारण कर्म-प्रायोग्य परमाणु के साथ संयोग होता है। जहाँ संयोग होता है, वहाँ उसका वियोग भी होता है। ये कर्म-प्रायोग्य परमाणु आत्मा से श्लिष्ट होकर उस पर प्रभाव डालने के पश्चात् अकर्म बन जाते हैं। अकर्म (उस-उस कर्म से रहित) बनते ही वे आत्मा से वियुक्त (विलग) हो जाते हैं। इसी वियुक्त दशा का नाम निर्जरा है।[1]

महावेदना वाले सभी महानिर्जरा वाले नहीं होते

वेदना और निर्जरा के सम्बन्ध में 'भगवतीसूत्र' में एक प्रश्न उठाया गया है–जो जीव महावेदना वाले हैं, क्या वे महानिर्जरा वाले हैं तथा जो महानिर्जरा वाले हैं, क्या वे महावेदना वाले हैं तथा क्या महावेदना वाला और अल्पवेदना वाला, इन दोनों में जो जीव श्रेयान् (श्रेष्ठ) है, वही प्रशस्त निर्जरा वाला है? इसका उत्तर भगवान ने अनेकान्त दृष्टि से दिया है–ऐसा कोई नियम नहीं है कि जो महावेदना (उपसर्ग आदि के कारण उत्पन्न हुई विशेष पीड़ा) होने से महानिर्जरा (कर्मों का विशेष रूप से, प्रशस्त रूप से क्षय होना) होती है। भगवान ने कीचड़ से रँगे हुए और खंजन से रँगे हुए वस्त्रद्वय के दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट कर दिया है कि जो महावेदना वाले होते हैं, वे सभी महानिर्जरा वाले नहीं होते।

श्रमण महावेदना या अल्पवेदना होने पर भी महानिर्जरा वाले क्यों ?

यहाँ मूल पाठ में जो प्रश्न उठाया गया है कि नैरयिक महावेदना वाले होते हुए भी महानिर्जरा वाले क्यों नहीं होते और श्रमण निर्ग्रन्थ महावेदना हो या अल्पवेदना फिर भी महानिर्जरा वाले क्यों होते हैं? इसके समाधान में भगवान ने कीचड़ से रँगे तथा खंजन से रँगे वस्त्रद्वय के दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट कर दिया है कि जो महावेदना वाले होते हैं, वे सभी महानिर्जरा वाले नहीं होते। जैसे–नारक महावेदना वाले होते हैं, उन्हें अपने पूर्वकृत गाढ़बन्धनबद्ध, निधत्त-निकाचित रूप

पिछले पृष्ठ का शेष–

(ख) गोयमा ! जं समयं वेदेंति, नो तं समयं निज्जरेंति। अन्नंमि समए वेदेंति, अन्नंमि समए निज्जरेंति; अन्ने से वेदणासमए, अन्ने से निज्जरासमए।

–भगवतीसूत्र, श. ७, उ. ३, सू. १०-२२

(ग) 'भगवतीसूत्र' (अनुवाद-विवेचनयुक्त) (श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर), श. ७, उ. ३ की व्याख्या से, पृ. १४५

१. 'जैनदर्शन : मनन और मीमांसा' (आचार्य महाप्रज्ञ) से भाव ग्रहण, पृ. ३२५

से बद्ध कर्मों के फलस्वरूप महावेदना होती है। परन्तु सम्यग्दृष्टि के सिवाय वे सब प्रायः उसे समभाव से, आत्म-शुद्धि, सकामनिर्जरा लक्षी दृष्टि और ज्ञानपूर्वक न भोगकर, न सहकर, विषमभाव से रो-रोकर विलाप करते हुए भोगते-सहते हैं। जिससे वह महावेदना महानिर्जरारूप नहीं होती; प्रत्युत अल्पतर, अप्रशस्त अकामनिर्जरा होकर रह जाती है। इसके विपरीत भगवान महावीर जैसे या धीर-वीर श्रमण निर्ग्रन्थ बड़े से बड़े उपसर्गों और परीषहों के समय समभाव से, शान्ति से सहन करने के कारण महानिर्जरा और वह भी प्रशस्तनिर्जरा कर लेते हैं। इसलिए वेदना महती हो अथवा अल्प उसे समभाव से शान्तभाव से ज्ञानपूर्वक सहने वाला प्रशस्त महानिर्जरा और महापर्यवसान वाला होता है। यही कारण है कि नैरयिकों के पूर्वकृत पापकर्म गाढ़ीकृत (गाढ़ बँधे हुए), चिक्कणीकृत (मिट्टी के चिकने बर्तन के समान सूक्ष्म कर्म स्कन्धों के रस के साथ चिकने किये हुए दुर्भेद्य) तथा श्लिष्ट (आग में तपाई हुई सुइयों के ढेर की तरह परस्पर चिपककर एकमेक किये हुए) निधत्त एवं खिलीभूत (निकाचित किये) हुए हैं; इसलिए वे सम्प्रगाढ़ वेदना को वेदते हुए भी महानिर्जरा और महापर्यवसान वाले नहीं होते; जबकि श्रमण निर्ग्रन्थों के यथाबादर (स्थूलतर स्कन्धरूप) कर्म शिथिलीकृत, (मन्दविपाक वाले), निष्ठितकृत (सत्तारहित किये हुए) तथा विपरिणामित (विपरिणाम वाले) होते हैं। अतः शिथिलबन्ध वाले उन कर्मों को वे शीघ्र ही स्थितिघात और रसघात आदि के द्वारा विपरिणाम वाले कर देते हैं। अतएव वे शीघ्र ही विध्वस्त हो जाते हैं। इस सम्बन्ध में दो दृष्टान्तों द्वारा समझाया गया है-(१) सूखे घास का पूला आग में डालते ही, तथा (२) तपे हुए तवे पर पानी की बूँद डालते ही, दोनों शीघ्र विनष्ट हो जाते हैं, वैसे ही श्रमण निर्ग्रन्थों के कर्म शीघ्र ही नष्ट हो जाते हैं। क्योंकि जितनी और जैसी भी वेदना हो, श्रमण निर्ग्रन्थ उसे शमभाव-समभाव से वेदते हुए महानिर्जरा और महापर्यवसान वाले हो जाते हैं। नैरयिक महावेदना होने पर महानिर्जरा वाला नहीं हो पाता, इसका कारण एक दृष्टान्त द्वारा बताया गया है-ऐरण पर जोर-जोर से चोट मारने पर भी उसके स्थूल पुद्गलों को वह नष्ट नहीं कर पाता; वैसे ही क्लिष्ट कर्म वाले नैरयिक घोर वेदना सहते हुए भी प्रशस्त महानिर्जरा नहीं कर पाते।

जो महावेदना वाला होता है, वह महानिर्जरा वाला होता है, यह सूत्रोक्त कथन प्रायिक समझना चाहिए। सयोगीकेवली नामक तेरहवें गुणस्थान में महानिर्जरा होती है, किन्तु महावेदना नहीं भी होती। उसकी वहाँ भजना है।[1]

---

१. (प्र.) से नूणं भंते ! जे महावेदणे से महानिज्जरे ? जे महानिज्जरे से महावेयणे ? महावेदणस्स य अप्पवेदणस्स य से सेए, जे पसत्थ निज्जराए ?

(उ.) हंता गोयमा ! जे महावेदणे ····· एवं चेव।

महावेदना और महानिर्जरा से सम्बन्धित चौभंगी

इसी सूत्र में आगे इसी से सम्बन्धित प्रश्न उठाया गया है–"भगवन् ! क्या (संसारी) जीव महावेदना और महानिर्जरा वाले होते हैं, महावेदना और अल्पनिर्जरा वाले होते हैं, अल्पवेदना और महानिर्जरा वाले होते हैं अथवा अल्पवेदना और अल्पनिर्जरा वाले होते हैं?" इसका समाधान दिया गया है– "गौतम ! कितने ही जीव महावेदना और महानिर्जरा वाले होते हैं, कितने ही महावेदना और अल्पनिर्जरा वाले होते हैं, कई जीव अल्पवेदना और महानिर्जरा वाले होते हैं तथा कई जीव अल्पवेदना और अल्पनिर्जरा वाले होते हैं।"

इस चतुर्भंगी का स्थूलरूप से कारण बताया गया है–"प्रतिमा-प्रतिपन्न (भिक्षुपडिमा अंगीकार किया हुआ) अनगार महावेदना और महानिर्जरा वाला होता है। छठी-सातवीं नरकभूमियों के नैरयिक जीव महावेदना वाले, किन्तु अल्पनिर्जरा वाले होते हैं। शैलेशी अवस्था को प्राप्त अनगार अल्पवेदना और महानिर्जरा वाले होते हैं तथा अनुत्तरौपपातिक देव अल्पवेदना और अल्पनिर्जरा वाले होते हैं।[1] निष्कर्ष यह है कि वेदना की अधिकता या अल्पता निर्जरा के तारतम्य का कारण नहीं है। निर्जरा का मुख्य कारण है कष्ट को सहने की पद्धति और दृष्टि।

पिछले पृष्ठ का शेष–

(प्र.) ते णं भंते ! समणेहिंतो निग्गंथेहिंतो महानिज्जरतरा?

(उ.) गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे।

गोयमा ! से जहानामए दुवे वत्थे सिया ····· कयरे वत्थे दुधोयतराए चेव दुवामतराए चेव दुपरिकम्मतराए चेव, कयरे वा वत्थे सुधोयतराए ··· इत्यादि। एवामेव गोयमा ! नेरइयाणं पावाइं कम्माइं गाढीकताइं चिक्कणीकताइं सिलिट्ठीकताइं भवंति, संपगाढं पि य णं ते वेदणं वेदेमाणं नो महानिज्जरा, णो महापज्जवसाणा भवंति। ····· समणाणं खिलीभूताइं, अहाबायराइं कम्माइं सिढिलीकयाइं निट्ठिताइं कडाइं, विप्परिणामिताई खिप्पामेव विद्धत्थाई भवंति ··· एवामेव गोयमा ! समणाणं निग्गंथाणं जाव महापज्जवसाणा भवंति ··।

–*भगवतीसूत्र, श. ६, उ. १, सू. २-४*

१. (प्र.) जीवा णं भंते ! किं महावेदणा महाणिज्जरा? महावेदणा अप्पनिज्जरा? अप्पवेदणा महानिज्जरा? अप्पवेदणा अप्पनिज्जरा?

(उ.) गोयमा ! अत्थेगइया जीवा महावेदणा महानिज्जरा, अत्थेगइया जीवा महावेदणा अप्पनिज्जरा, अत्थेगइया जीवा अप्पवेदणा महानिज्जरा, अत्थेगइया जीवा अप्पवेदणा अप्पनिज्जरा।

····· पडिमा-पडिवन्नए अणगारे महावेदणे महानिज्जरे।
छट्ठ-सत्तमासु पुढवीसु नेरइया महावेदणा अप्पनिज्जरा॥
सेलेसिं पडिवन्नए अणगारे अप्पवेदणे महानिज्जरे।
अणुत्तरोववाइया देवा अप्पवेदणा अप्पनिज्जरा॥

–*वही, श. ६, उ. १, सू. १३/१-२*

गजसुकुमाल मुनि ने बारहवीं भिक्षुप्रतिमा अंगीकार की थी। उन पर सोमल ब्राह्मण द्वारा दिये गए मरणान्तक उपसर्ग के कारण उन्हें महावेदना हुई थी, जिसे उन्होंने समभाव से सहन की, फलतः महानिर्जरा हुई। नैरयिकों को महावेदना होती है, परन्तु (सम्यग्दृष्टि के सिवाय) वे अल्पनिर्जरा ही कर पाते हैं। इसी प्रकार तिर्यंचगति के जीव तथा मनुष्यगति के जीव चारों ही विकल्पों (भंगों) वाले होते हैं। मरुदेवी माता के वेदना अल्प और निर्जरा महान् हुई।

चौबीसदण्डकवर्ती जीवों में से कौन, कब महावेदना और अल्पवेदना से युक्त ?

महावेदना और अल्पवेदना के सम्बन्ध में एक और निष्कर्ष 'भगवतीसूत्र' में मिलता है। नरक में उत्पन्न होने वाला जीव इस भव में रहा हुआ तथा नरक में उत्पन्न होता हुआ कदाचित् महावेदना वाला और कदाचित् अल्पवेदना वाला होता है, किन्तु नरक में उत्पन्न होने के बाद वह एकान्त दुःखरूप वेदना वेदता है, कदाचित् (तीर्थंकर आदि के जन्म, केवलज्ञान आदि के समय में) सुख (साता) रूप वेदना वेदता है।

दशविध भवनपति, वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक देव पूर्वोक्त दोनों अवस्थाओं में पूर्ववत् कदाचित् महावेदना और कदाचित् अल्पवेदना वाले होते हैं, किन्तु उन-उन देवलोकों में उत्पन्न होने के पश्चात् प्रहारादि के आ पड़ने पर कदाचित् दुःखवेदना के सिवाय एकान्त सुख (साता) रूप वेदना वेदते हैं। पृथ्वीकायादि से लेकर मनुष्यों तक के जीव पूर्वोक्त दोनों अवस्थाओं में पूर्ववत् ही होते हैं; किन्तु उस-उस भव में उत्पन्न होने के पश्चात् विमात्रा (विविध प्रकार) से वेदना वेदते हैं। कभी अल्पवेदनायुक्त होते हैं, कभी महावेदनायुक्त।[9]

---

९. (प्र.) जीवे णं भंते ! जे भविए नेरतिएसु उववज्जितए, से णं भंते ! किं इहगते महावेदणे, उववज्जमाणे महावेदणे, उववन्ने महावेदणे ?

(उ.) गोयमा ! इहगते सिय महावेदणे, सिय अप्पवेदणे, उववज्जमाणे सिय महावेदणे, सिय अप्पवेदणे, अहे णं उववन्ने भवति, ततो पच्छा एगंतदुक्खं वेदणं वेदेति, आहच्च सायं।

[असुरकुमारेसु जाव थणियकुमारेसु वाणमंतर-जोइसवासी-वेमाणिएसु] इहगते सिय महावेदणे सिय अप्पवेदणे, उववज्जमाणे वि एवं, अहे णं उववन्ने भवति ततोपच्छा एगंतसातं वेदणं वेदेति, आहच्चअसातं।

जे भविए पुढविकाएसु जाव मणुस्सेसु। इहगते ···· उववज्जमाणे सिय महावेयणे सिय अप्पवेयणे। अहे णं उववन्ने भवति ततो पच्छा वेमाताए वेयणं वेदेति।

—भगवतीसूत्र, श. ७, उ. ६, सू. ७-११

नारकों, देवों, तिर्यंचों और मनुष्यों के उस-उस गति में उत्पन्न होने के पश्चात् जो एकान्त सुख, एकान्त दुःख तथा कभी सुख-कभी दुःख आदि का विधान किया गया है, इसके पीछे प्रमुख कारण का उल्लेख करते हुए 'भगवतीसूत्र' में बताया गया है—पापकर्म, जो किया गया है, किया जाता है या किया जाएगा, वह सब दुःखरूप (दुखोत्पादक) होता है। किन्तु उन पापकर्मों की यदि सकामनिर्जरा हो तो वह मोक्षसुखरूप होती है और अकामनिर्जरा हो तो वह सांसारिक सुखरूप होती है।[9]

जीव महाकर्मादि के कारण दुःखी और अल्पकर्मादि के कारण सुखी होते हैं

कर्मशास्त्र में कर्मों की दीर्घकालिक स्थिति वाले जीव को महाकर्म वाला, कायिकी आदि क्रियाएँ प्रबल हों तो महाक्रिया वाला, कर्मबन्ध या कर्मास्रव के हेतुभूत मिथ्यात्व आदि प्रचुर एवं गाढ़ हों तो महास्रव वाला तथा महापीड़ा वाले को महावेदना वाला कहा गया है। इसके विपरीत कर्म, क्रिया, आस्रव एवं पीड़ा शिथिलतर, अल्पस्थितिक, अप्रचुर एवं अगाढ़ हों तो उसे क्रमशः अल्पकर्म वाला, अल्पक्रिया वाला, अल्पआस्रव वाला एवं अल्पपीड़ा वाला कहा जाता है। इस दृष्टि से गाढ़ बन्धन से बद्ध कर्मों की निर्जरा अल्प एवं शिथिलबन्धन से बद्ध कर्मों की निर्जरा अधिक होती है।

इन्हीं चार बातों को लेकर 'भगवतीसूत्र' में बन्ध के कारण दुःख और निर्जरा के कारण सुख के कारणों पर प्रकाश डाला गया है—जो जीव महाकर्म, महाक्रिया, महाआस्रव और महावेदना से युक्त होता है, उसके चारों ओर से, सभी दिशाओं से या प्रदेशों से कर्मपुद्गल संकलितरूप से बँधते हैं; बन्धनरूप से चय को प्राप्त होते हैं तथा कर्मपुद्गलों की रचना (निषेक) रूप से उपचय को प्राप्त होते हैं अथवा वे कर्मपुद्गल बंधनरूप में बँधते हैं, निधत्तरूप में उनका चय होता है और निकाचितरूप से उनका उपचय होता है। ऐसे महाकर्मा का जीव (आत्मा) सदैव दुरूपता, दुर्वर्णता, दुर्गन्धता, दुःरसता, दुःस्पर्शता, अनिष्टता, अकान्तता, अप्रियता, अशुभता, अमनोज्ञता, अमनोगमता, अनिच्छनीयता से तथा अनभिध्यितता (प्राप्त करने हेतु अलोभता) तथा ऊर्ध्वगामिता नहीं, किन्तु अधोगामिता से, सुखरूप में नहीं, दुःखरूप में ही बार-बार परिणत होता है।

---

१. (प्र.) नेरइयाणं (जाव वेमाणियाणं) भंते ! पावे कम्मे, जे य कडे, जे य कज्जति, जे य कज्जिस्सति सव्वे से दुक्खे ? जे निज्जीण्णे से णं सुहे ?

(उ.) हंता गोयमा ! नेरइयाणं (एवं जाव वेमाणियाणं) पावे कम्मे जाव सुहे।

—भगवतीसूत्र, श. ८, उ. ८, सू. ३-४

ऐसा होने का कारण बताया गया है–"जैसे कोई बिलकुल न पहना हुआ, धोया हुआ या बुनकर द्वारा ताजा बुना हुआ नया वस्त्र हो, उसे बार-बार पहनने से या इस्तेमाल करने से अथवा विभिन्न अशुभ पुद्गलों का संयोग होने से वह वस्त्र मसौते जैसा मलिन एवं दुर्गन्धियुक्त हो जाता है, वैसे ही पूर्वोक्त प्रकार के दुष्कर्म-पुद्गलों के संयोग से वह महाकर्म वाला जीव (आत्मा) भी पूर्वोक्त कुरूपता आदि कारणों से बार-बार असुखरूप में परिणत होता है। इसके विपरीत जो जीव अल्पकर्म, अल्पक्रिया, अल्पास्रव और अल्पवेदना से युक्त होता है, उस जीव के कर्मपुद्गल सब ओर से छिन्न-भिन्न, विध्वस्त और परिध्वस्त हो जाते हैं, क्योंकि मलिन कीचड़ सना, गंदा और धूल से भरा वस्त्र क्रमशः साफ करते जाने–पानी से धोते जाने से उस पर संलग्न मलिन पुद्गल छूट जाते हैं, अलग हो जाते–समाप्त हो जाते हैं और अन्त में वह वस्त्र साफ, स्वच्छ और चमकीला हो जाता है; इसी प्रकार कर्मों के संयोग से मलिन आत्मा भी सम्यक् तपश्चरणादि द्वारा कर्मपुद्गलों के निर्जरण हो जाने से, झड़ जाने से, विध्वस्त हो जाने से सुखादिरूप में प्रशस्त या परिणत हो जाती है। निष्कर्ष यह है कि कर्मों का आस्रव या बन्ध गाढ़ हो जाने से जीव दुःखी और कर्मनिर्जरा होने से सुखी होता है। परन्तु कर्मों की सकामरूप मोहलक्षी निर्जरा होने से ही आत्मा को ऐसा निराबाध सुख प्राप्त हो सकता है।[9]

---

१. (क) देखें–महाकर्म आदि की परिष्कृत परिभाषा के विषय में–व्याख्याप्रज्ञप्ति विवेचन (आ. प्र. स., ब्यावर), खण्ड २, श. ६, उ. ३, पृ. १७-१८

(ख) (प्र.) से नूणं भंते ! महाकम्मस्स महाकिरियस्स महासव्वस्स महावेदणस्स सव्वतो पोग्गला बज्झंति ···· चिज्जंति ···· उवचिज्जंति ··· तस्स आया दुरूवत्ताए ··· अहत्ताए, नो उड्ढत्ताए, दुक्खत्ताए, नो सुहत्ताए भुज्जो भुज्जो परिणमइ? हंता ··· महाकम्मस्स तं चेव?

(उ.) गोयमा ! से जहानामए वत्थस्स अहतस्स वा धोतस्स वा तंतुग्गतस्स वा आणुपुव्वीए परिभुज्जमाणस्स सव्वओ पोग्गला बज्झंति, ··· चिज्जंति, ··· जाव परिणमंति, से तेणट्ठेणं।

(ग) (प्र.) से नूणं भंते ! अप्पकम्मस्स अप्पकिरियस्स अप्पासवस्स अप्पवेदणस्स सव्वओ पोग्गला भिज्जंति ··· छिज्जंति ··· विद्धंसंति सव्वओ पोग्गला परिविद्धं भवति ···· सया समितं च णं तस्स आया सुरूवत्ताए पसत्थं नेयव्वं जाव सुहत्ताए, नो दुक्खत्ताए भुजो भुजो परिणमंति?

(उ.) हंता गोयमा ! जाव परिणमंति।

गोयमा ! से जहानामए वत्थस्स जल्लियस्स वा पंकितस्स वा मइलियस्स वा रइल्लियस्स वा आणुपुव्वीय परिकमिज्जमाणस्स सुद्धेणं वारिणा धोव्वमाणस्स सव्वतो पोग्गला भिज्जंति जाव परिणमंति; से तेणट्ठेणं।

–भगवतीसूत्र, श. ६, उ. ३, सू. २-३

मायि-मिथ्यादृष्टि नैरयिक महाकर्मादियुक्त

प्रश्न होता है–पूर्व पृष्ठों में बताये अनुसार नरक के नैरयिकों में जो मिथ्यादृष्टि होते हैं, वे महाकर्म, महाआस्रव, महाक्रिया और महावेदना वाले होते हैं; किन्तु नारकों में जो सम्यग्दृष्टि हैं, वे कैसे होते हैं? इसके लिए 'भगवतीसूत्र' में कहा गया है–नैरयिक दो प्रकार के होते हैं–मायि-मिथ्यादृष्टि उपपन्नक और अमायि-सम्यग्दृष्टि उपपन्नक। मायि-मिथ्यादृष्टि उपपन्नक नैरयिक महाकर्मतर यावत् महावेदनतर होते हैं और जो अमायि-सम्यग्दृष्टि नैरयिक होते हैं, वे अल्पकर्मतर यावत् अल्पवेदनतर होते हैं।

इसी प्रकार भवनपति, वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक जाति के देवों तथा मनुष्यों में भी दो-दो प्रकार समझने चाहिए–मायि-मिथ्यादृष्टि और अमायि-सम्यग्दृष्टि। ये सब भी द्विविध नारकों की तरह महाकर्मतर यावत् महावेदनतर तथा अल्पकर्मतर यावत् अल्पवेदनतर समझने चाहिए।

मिथ्यादृष्टि अकामनिर्जरा कर पाते हैं, सम्यग्दृष्टि सकामनिर्जरा

निष्कर्ष यह है कि एकेन्द्रियों और विकलेन्द्रिय जीवों को छोड़कर नारक, देव, मनुष्यों और तिर्यंच पंचेन्द्रियों में जो मिथ्यादृष्टि हैं, वे महाकर्म, महाक्रिया, महास्रव और महावेदना वाले होने से बहुत ही अल्पनिर्जरा कर पाते हैं, वह भी अकामनिर्जरा ही। इसके विपरीत इनमें जो सम्यग्दृष्टि हैं, वे अल्पकर्मा, अल्पक्रिय, अल्पास्रव और अल्पवेदन होते हैं, इसलिए अधिक निर्जरा कर पाते हैं और वह भी सकामनिर्जरा यानी विशिष्ट श्रेयस्करी निर्जरा कर सकते हैं।[1]

एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रिय जीव असंज्ञी होने से अकामनिकरण वेदना वेदते हैं

एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रिय जीव तो अमनस्क होने के कारण अल्पकर्मा और अल्पनिर्जरा वाले होते हैं, उनको प्रायः अल्पवेदना से होने से क्या निर्जरा महान् नहीं होती? इसके समाधान के लिए 'भगवतीसूत्र' में कहा गया है–ये जो असंज्ञी

---

१. (क) नेरइया दुविहा पण्णत्ता, तं.–मायि-मिच्छादिट्ठि-उववन्नगा य अमायि-सम्मद्दिट्ठि-उववन्नगा य। तत्थणं जे से मायि-मिच्छादिट्ठि-उववन्नए नेरतिए से णं महाकम्मतराए चेव जाव महावेदणतराए चेव। तत्थणं जे से अमायि-सम्मद्दिट्ठि-उववन्नए नेरइए से णं अप्पकम्मतराए चेव जाव अप्पवेयणतराए चेव। ''' दो भंते ! असुरकुमारी?''' एवं असुरकुमारा''' एवं एगिंदिय विगलिंदियवज्जा जाव वेमाणिया।

–भगवतीसूत्र, श. १८, उ. ५, सू. ५-६

(ख) एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रिय जीवों में ऐसा अन्तर नहीं होता। वे एकान्त मायि-मिथ्यादृष्टि ही होते हैं। –सं.

(अमनस्क) प्राणी हैं, पृथ्वीकायिक, अप्कायिक, तेजस्कायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक तथा छठे कई त्रसकायिक (सम्मूर्च्छिम या विकलेन्द्रिय) जीव हैं, जो अन्ध (अन्धों की तरह अज्ञानान्ध अथवा नेत्रेन्द्रिय विकल) हैं, मूढ़ (मोहयुक्त होने से तत्त्वार्थश्रद्धान के अयोग्य) हैं, तामस (मूढ़ताओं = मिथ्यात्वों) में प्रविष्ट की तरह हैं, (ज्ञानावरणीयरूप) तमःपटल तथा (मोहनीय कर्मरूप) मोहजाल से प्रतिच्छन्न (आच्छादित) हैं, वे अकामनिकरण वेदना वेदते हैं। जिनमें अकाम अर्थात् वेदना के अनुभव में अमनस्क होने से अनिच्छा ही निकरण = कारण है, अकामनिकरणक यानी अज्ञानकारणक वेदना कहलाती है। यह अकामनिकरण वेदना अल्प होते हुए भी अकामनिर्जरा होने से निर्जरा अत्यल्प होती है।

संज्ञी और समर्थ जीव भी अकामनिकरणक तथा प्रकापनिकरणक वेदना वेदते हैं

इससे आगे एक प्रश्न और पूछा गया है–"जो जीव संज्ञी (समनस्क = वेदना का अनुभव करने में समर्थ) हैं; क्या वे (समस्त पंचेन्द्रिय संज्ञी त्रस = नारक, तिर्यंच, मनुष्य, देव) जीव भी अकामनिकरणक (अज्ञानपूर्वक या अनिच्छापूर्वक) वेदना को वेदते हैं? भगवान ने कहा–हाँ, वे भी वेदते हैं।"

इसके कारण का सयुक्तिक प्रतिपादन करते हुए कहा गया है कि "जैसे समर्थ होते हुए भी जो जीव अन्धकार में दीपक के बिना रूपों (पदार्थों) को देख नहीं सकते, जो अवलोकन किये बिना सम्मुख रहे हुए रूपी (पदार्थों) को देख नहीं पाते, अवेक्षण किये बिना पीठ पीछे के भाग को नहीं देख सकते, अवलोकन किये बिना अगल-बगल के रूपों (पदार्थों या दृश्यों) को नहीं देख सकते तथा आलोकन किये बिना न ऊपर के रूपों को देख सकते हैं और न नीचे के रूपों को, इसी प्रकार ये (पूर्वोक्त संज्ञी) जीव समर्थ होते हुए भी अकामनिकरण वेदना वेदते हैं।

निष्कर्ष यह है कि असंज्ञी जीवों के द्रव्यमन न होने से वे इच्छा-शक्ति, ज्ञान-शक्ति या विचार-शक्ति के अभाव में सुख-दुःखरूप वेदना अकामनिकरणरूप में (अनिच्छा से अज्ञानतापूर्वक) भोगते हैं और संज्ञी जीव समनस्क होने से देखने–जानने में अथवा ज्ञान-शक्ति और इच्छा-शक्ति में समर्थ होते हुए भी अनिच्छा या निरुद्देश्यपूर्वक अथवा कर्मक्षयलक्षी दृष्टि के अभाव में मिथ्यादृष्टियुक्त होने से) अकामनिकरणरूप में (अज्ञान दशा में) सुख-दुःखरूप वेदन करते हैं।

इस सम्बन्ध में एक प्रश्न और उठाया गया है कि कई संज्ञी जीव ज्ञान-शक्ति और इच्छा-शक्ति से युक्त होते हुए (समर्थ होते हुए) भी क्या प्रकामनिकरण (प्रबल इच्छापूर्वक) वेदना को भोगते (वेदते) हैं? इसके उत्तर में भगवान ने कहा–हाँ, वे वेदते हैं; क्यों वेदते हैं, इसका समाधान देते हुए कहा गया है–"जो समुद्र के पार

जाने में तथा समुद्रपार रहे हुए रूपों (दृश्यों या पदार्थों) को देखने में अथवा देवलोक में जाने में या देवलोक में रहे हुए रूपों (पदार्थों) को देखने में समर्थ नहीं हैं; वे समर्थ (संज्ञी = समनस्क) होते हुए भी प्रकामनिकरण वेदना को वेदते हैं।" तात्पर्य यह है कि ज्ञान-शक्ति, इच्छा-शक्ति एवं विचार-शक्ति से युक्त (समर्थ) होते हुए भी मिथ्यादृष्टि एवं मिथ्याज्ञान के कारण उसमें उपयोगपूर्वक प्रवृत्त होने (प्राप्त करने) का सामर्थ्य न होने से वे प्रकामनिकरण (मात्र तीव्र इच्छा = कामनापूर्वक) वेदना वेदते हैं। ये (पूर्वोक्त) तीनों ही प्रकार अकामनिर्जरा के हैं।[1]

जिसकी निर्जरा प्रशस्त, वही श्रेयस्कर है

निष्कर्ष यह है कि जीव चाहे महावेदन वाला हो या अल्पवेदन वाला, जिसकी निर्जरा प्रशस्त हो वही श्रेयस्कर है। वेदन के दौरान दृष्टि सम्यक् हो, सुख-दुःख, राग-द्वेष या कषाय से रहित होकर समभावपूर्वक भोगा जाए तो कर्मों की निर्जरा कर्ममुक्तिलक्षी सकाम (स्वेच्छापूर्वक) निर्जरा होती है; जो मोक्षलक्षी तथा आत्म-शुद्धिलक्षी होती है। अन्यथा मिथ्यादृष्टि एवं मिथ्याज्ञान के वश होकर मूढ़ता–अज्ञान और कषाय से आविष्ट होकर कर्मफल भोगा जाए या कर्मक्षय किया जाए तो उससे पुराने बँधे हुए अमुक कर्म बहुत कर्मक्षय होंगे, साथ ही नये कर्म और बँध जायेंगे।[2]

---

१. (क) जे इमे भंते ! असण्णिणो पाणा, तं जहा–पुढविकाइया जाव वणस्सतिकाइया, छट्ठा य एगइया तसा, एतेणं अंधा, मूढा, तमं पविट्ठा, तमपडल-मोहजाल-पलिच्छन्ना अकाम-निकरणं वेदणं वेदेंतीति वत्तव्वं सिया ? हंता, गोयमा ! ··· वत्तव्वं सिया।

(ख) अत्थि णं भंते ! पभू वि अकाम-निकरणं वेदणं वेदेंति ? हंता गोयमा ! अत्थि। कहं णं भंते ! पभू वि अकाम-निकरणं वेदणं वेदेंति ? गोयमा ! जे णं णो पभू विणा पदीवेणं अंधकारंसि रूवं पासित्तए ··· पुरतो रूवाइं अणिज्झाइत्ता णं पासित्तए ··· मग्गतो रूवाइं अणवयक्खित्ता णं पासित्तए ···· पासतो रूवाइं अणवलोएत्ता णं पासित्तए ··· उड्ढं रूवाइं ··· अहो रूवाइं अणालोएत्ता णं पासित्तए। एस णं गोयमा पभू वि अकाम-निकरणं वेदणं वेदेंति।

(ग) अत्थि णं भंते ! पभू वि पकाम-निकरणं वेदणं वेदेंति ? हंता, अत्थि। कहं णं भंते ! पभू वि पकाम-निकरणं वेयणं वेदेंति ? गोयमा ! जे णं नो पभू समुद्दस्स पारं गमित्तए, जे णं नो पभू समुद्दस्स पारगताइं रूवाइं पासित्तए; जे णं नो पभू देवलोगं गमित्तए, जे णं नो पभू देवलोगगताइं रूवाइं पासित्तए; एस णं गोयमा ! पभू वि पकाम-निकरणं वेयणं वेदेंति। –भगवतीसूत्र, श. ७, उ. ७, सू. २४-२८

(घ) देखें–व्याख्याप्रज्ञप्ति, खण्ड २, श. ७, उ. ७ की व्याख्या (श्री आ. प्र. समिति, ब्यावर), पृ. १७

२. देखें–भगवतीसूत्र, श. ६, उ. १, सू. ४ का यह निष्कर्षात्मक पाठ–···· महावेदणस्स अप्पवेदणस्स य से सेए जे पसत्थ-निज्जराए।

ईश्वर किसी के कर्म लगाता–छुड़ाता नहीं

कतिपय धर्म-सम्प्रदायों का यह मत है कि ईश्वर, खुदा, गॉड, परमात्मा आदि की केवल बाह्य पूजा, अर्चा, स्तुति, भक्ति, स्तोत्र पाठ, स्तवन करने या गुणगाथा गाने मात्र से तथा हिंसादि पापकर्म या अशुभ कर्म करते रहकर ईश्वर, खुदा और गॉड आदि से माफी माँगने मात्र से या दुआ माँगने मात्र से पूर्वकृत कर्मों या कर्मों के फल से छुटकारा हो जाता है। किन्तु यह मत सिद्धान्त और युक्ति से विरुद्ध है। ईश्वर या खुदा आदि उन पूर्वकृत पापकर्मजनित फलों से या कर्मों से छुटकारा नहीं दिला सकता। तुम्हारे बदले ईश्वर कर्मों से जनित दुःखों का वेदन (फलभोग) नहीं करेगा, न ही कर्मनिर्जरा करेगा। जैन-कर्मविज्ञान का अकाट्य सिद्धान्त है कि जीवों का दुःख आत्मकृत है, परकृत नहीं और न उभयकृत है। जीव आत्मकृत दुःख वेदते हैं, परकृत दुःख नहीं वेदते और न ही उभयकृत दुःख वेदते हैं। जीवों की वेदना आत्मकृत है, परकृत नहीं और न तदुभयकृत है। सभी जीव आत्मकृत वेदन वेदते (भोगते) हैं, न तो वे परकृत वेदन वेदते हैं और न तदुभयकृत वेदन वेदते हैं। वेदना जब जीव स्वयं भोगता है, तब निर्जरा भी स्वयं करता है, उसके बदले कोई दूसरा नहीं।[1]

प्रस्तुत चार सूत्रों में दुःख शब्द से केवल दुःख अर्थ का ग्रहण न होकर दुःख के हेतुभूत कर्मों का ग्रहण होता है। अतः दुःख से सम्बद्ध दोनों सूत्रों का आशय यह है कि दुःख के कारणभूत कर्म तथा कर्म का वेदन स्वकृत है, परकृत या उभयकृत नहीं। वेदना शब्द से भी यहाँ सुख और दुःख दोनों का तथा सुख-दुःख दोनों के हेतुभूत कर्मों का ग्रहण होता है, क्योंकि साता-असाता-वेदना भी कर्मजन्य होती है। अतः वेदना एवं वेदना का वेदन दोनों ही आत्मकृत होते हैं।[2]

स्वकृत कर्म : स्वयं ही फलभोग कर निर्जरा

'परमात्म द्वात्रिंशिका' में कहा गया है कि "आत्मा ने जो कुछ भी शुभ या अशुभ कार्य किया है, उसी का शुभ-अशुभ फल वही प्राप्त करता है। किसी को यदि किसी भी देवी-देव, ईश्वर या दूसरे के द्वारा स्वकृत कर्म का फल प्राप्त होने लगे, तब तो निश्चय ही स्वयं के द्वारा कृत कर्म निरर्थक हो जाएगा।" संसारी

---

१. अप्पणा चेव निज्जरेति, अप्पणा चेव गरहइ।
नवरं उदयाणंतर-पच्छाकडं कम्म निज्जरेइ॥ —*भगवतीसूत्र, श. १, उ. ३, सू. १३*

२. गोयमा ! अत्तकडे दुक्खे, नो परकडे दुक्खे, नो तदुभयकडे दुक्खे। ... अत्तकडं दुक्खं वेदेंति, नो परकडं दुक्खं वेदेंति, नो तदुभयकडं दुक्खं वेदेंति। ... अत्तकडा वेयणा, नो परकडा वेयणा, नो तदुभयकडा वेयणा। जीवा अत्तकडं वेदणं वेदेंति, नो परकडं वेदणं वेदेंति, नो तदुभयकडं वेयणं वेदेंति। —*वही, श. १७, उ. ४, सू. १३-२०*

देहधारी जीव अपने ही किये हुए कर्मों का फल पाते हैं, स्व के अतिरिक्त दूसरा कोई किसी को कुछ भी (कर्मफल) देता-लेता नहीं। हे भद्र ! तुझे अनन्यचित्त होकर इस सिद्धान्त पर अटल निष्ठा रखकर विचार करते हुए दूसरा कोई कर्मफल देता या भुगवाता है, इस बुद्धि (विचारधारा) का त्याग कर देना चाहिए।" अतः वेदना और निर्जरा दोनों आत्मकृत हैं।[1]

कोई भी शक्ति दूसरे के कर्मों का कर्त्ता

इस सिद्धान्त के विपरीत कतिपय ईश्वरकर्तृत्ववादी धर्म-सम्प्रदायों और दर्शनों ने आवाज उठाई–"ईश्वर ही सृष्टि के सभी जीवों का कर्त्ता, धर्त्ता, हर्त्ता है। वह जैसे रखे, वैसे रहो। वह जैसा भी कर्म कराना चाहेगा, करायेगा, स्वर्ग या नरक जहाँ भी जीव जाता है, ईश्वर की प्रेरणा से ही। उसकी इच्छा होगी तो मुक्ति दिला देगा, अमुक कर्मों से छुटकारा दिला देगा। हमें कुछ करने-धरने की जरूरत नहीं।"[2]

परन्तु भगवद्गीता, उपनिषद् आदि अध्यात्म-ग्रन्थों में इस मान्यता का खण्डन किया गया है–"प्रभु (परमात्मा) लोक (जगत् या जगत् के जीवों) का या जगत् के जीवों के कर्मों का सर्जन नहीं करता और न ही जीवों को कर्मफल का संयोग कराता है। जगत् और जीव अपने-अपने स्वभाव (स्व-स्वभाव या स्वकर्म) के अनुसार प्रवृत्ति करते हैं।" ईश्वर किसी के पापकर्म और पुण्यकर्म (सुकृत) को नहीं ले लेता। जीवों का ज्ञान अज्ञान से आवृत है, इसलिए वे मोहमूढ़ बनते हैं। गीता में यह भी बताया है कि कर्मफल का त्याग करके निष्कामभाव से, अनासक्त होकर शुभ या शुद्ध कर्म करे। शुद्ध या शुभ कर्म करते समय फलासक्ति का, फल का तथा अहंकार-ममकार का, विषयासक्ति, प्रमाद या आलस्य का त्याग करे। राग-द्वेष, काम-क्रोध-लोभादि विकारों से दूर रहकर कर्म करने से कर्म करता हुआ भी कर्मजनित दोषों से लिप्त नहीं होगा। महाभारत, चाणक्यनीति आदि भी इसी तथ्य का समर्थन करते हैं। इस प्रकार के स्पष्ट प्ररूपण से किसी ईश्वर, भगवान,

---

१. (क) स्वयं कृतं कर्म यदात्मना पुरा, फलं तदीयं लभते शुभाशुभम्।
परेण दत्तं यदि लभ्यते स्फुटं, स्वयं कृतं कर्म निरर्थकं तदा॥३०॥
निजार्जितं कर्म विहाय देहिनो, न कोऽपि कस्यापि ददाति किंचन॥
विचारयन्नेवमनन्यमानसः, परो ददातीति विमुंच शेमुषीम्॥३१॥
–अमितगतिसूरिकृत सामायिक पाठ

(ख) अत्तकडा वेयणा अत्तकडा निज्जरा। *–भगवतीसूत्र, श. १७, उ. ४*

२. (क) ईश्वरप्रेरितो गच्छेत् स्वर्गं वा श्वभ्रमेव वा।

(ख) स एव कर्तुमकर्तुमन्यथा कर्तुं वा समर्थः।

देवी-देव या परनिमित्त के द्वारा किसी जीव को दुःख देने, वेदना देने या दुःख या वेदना भोग लेने की अन्य धर्मों की भ्रान्त मान्यता का निराकरण हो जाता है।[1]

कई नास्तिक एवं बुद्धिवादी आस्तिकों के दिमाग में यह प्रश्न बार-बार उभरता है कि जैसे ईश्वर या खुदा अथवा गॉड संसारी जीवों को कर्म कराता हुआ, फल भुगवाता हुआ अथवा सुख-दुःख देता हुआ नहीं दिखता; वैसे ही कर्मों (कर्मवर्गणा) के पुद्गल वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्श से युक्त होते हुए भी सामान्य मानव द्वारा इन चर्मचक्षुओं से नहीं दिखाई देते। अत्यन्त शक्तिशाली सूक्ष्मदर्शक यंत्र से भी ये कर्म लगते, बँधते और छूटते दिखाई नहीं देते। अतः हम कैसे जानें कि अमुक कर्म बँधे हैं, अमुक उदय में आए हैं, अमुक कर्मों की निर्जरा हो चुकी है? कर्म कोई पशु नहीं हैं कि इन्हें लाठी मारकर दूर भगा दिया जाए अथवा ये मनुष्य भी नहीं हैं कि उन्हें जबरन पकड़कर एक जगह अलग बिठा दिया जाए अथवा ये धूल भी नहीं हैं कि इन्हें झटककर दूर कर दिया जाए ! तब आत्मा से चिपटे हुए ये अदृश्य कर्म कैसे पकड़े जाएँ और कैसे दूर किये जाएँ?[2]

केवली की चरमनिर्जरा के सूक्ष्म पुद्गलों को कौन जान-देख पाता है ?

'भगवतीसूत्र' में माकन्दिकपुत्र अनगार द्वारा एक प्रश्न उठाया गया है कि "भगवन् ! सर्वकर्मों को वेदते (भोगते) हुए, सर्वकर्मों की निर्जरा करते हुए, समस्त मरणों से मरते हुए, सर्वशरीरों को छोड़ते हुए तथा चरमकर्म को वेदते,

---

१. (क) न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।
न कर्मफलसंयोगं, स्वभावस्तु प्रवर्तते॥१४॥
नादत्ते कस्यचित् पापं, न चैव सुकृतं विभुः।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः॥१५॥ —भगवद्गीता ५/१४-१५

(ख) यथा मृत्पिण्डतः कर्ता कुरुते यद्यदिच्छति।
एवमात्मकृतं कर्म मानवः प्रतिपद्यते॥ —महाभारत अनु. पर्व, अ. १/७४

(ग) आत्मनैव कृतं कर्म ह्यात्मनैवोपभुज्यते।
इह वा प्रेत्य वा राजंस्वया प्राप्तं यथा तथा॥ —वही, भीष्म पर्व ३७-७७

(घ) स्वयं कर्म करोत्यात्मा, स्वयं तत्फलमश्नुते।
स्वयं भ्रमति संसारे, स्वयं तस्माद्विमुच्यते॥ —चाणक्यनीति

(ङ) त्यक्त्वा कर्मफलासंगं, नित्यतृप्तो निराश्रयः।
कर्मण्यभि प्रवृत्तोऽपि नैव किंचित्करोति सः॥ —गीता ४/२०

(च) योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते॥ —वही ५/७

२. (क) 'रत्नाकरावतारिका' से ईश्वरकर्तृत्व खण्डन का भाव ग्रहण
(ख) 'आत्मतत्त्वविचार' (विजयलक्ष्मणसूरि जी म.) से भाव ग्रहण, पृ. ४९९

निर्जरण करते, चरममरण से मरते, चरमशरीर को छोड़ते एवं मारणान्तिक कर्म को वेदते, निर्जरते, शरीर छोड़ते, मरण से मरते हुए ज्ञानादि से भावित आत्मा वाले (केवलज्ञानी) अनगार के जो चरम (अन्तिम) निर्जरा के सूक्ष्म और समग्र लोकव्यापी पुद्गलों (केवली के चरमनिर्जरा के सूक्ष्म पुद्गलों) के अन्यत्व और नानात्व को क्या छद्मस्थ मनुष्य जानता, देखता या ग्रहण कर सकता है? संक्षेप में इसका समाधान इस प्रकार किया गया है–नैरयिक से लेकर पाँच स्थावर, तीन विकलेन्द्रिय, तिर्यंच-पंचेन्द्रिय एवं भवनपति, वाणव्यन्तर तथा ज्योतिष्क देव उन निर्जरा-पुद्गलों को जानते-देखते नहीं, किन्तु आहरण (ग्रहण) करते हैं। मनुष्यों में कई उन निर्जरा पुद्गलों को जानते-देखते हैं, कई नहीं जानते-देखते, किन्तु आहरण (ग्रहण) तो सभी मनुष्य कर पाते हैं।

संज्ञीभूत और उपयोगयुक्त मनुष्य ही उस निर्जरा को जान-देख सकते हैं

इसका फलितार्थ यह है कि मनुष्य दो प्रकार के हैं–संज्ञीभूत और असंज्ञीभूत। केवली भगवान तो उन समग्र लोकव्यापी सूक्ष्म निर्जरा-पुद्गलों को जान-देख पाते ही हैं। प्रश्न है–छद्मस्थ मनुष्यों का। उनमें जो संज्ञीभूत यानी विशिष्ट अवधिज्ञानी हैं तथा उपयोगयुक्त हैं, वे उन सूक्ष्म निर्जरा-पुद्गलों को जान-देख सकते हैं। जो वैमानिक अमायि-सम्यग्दृष्टि हैं, परम्परोपपन्नक हैं, पर्याप्तक हैं तथा विशिष्ट अवधिज्ञानी होते हुए भी उपयुक्त हैं, वे भी उन निर्जरित कर्मपुद्गलों को जान-देख सकते हैं। इसके विपरीत जो असंज्ञीभूत (विशिष्ट अवधिज्ञानरहित) मनुष्य या त्रिविधदेव आदि हैं एवं अनुपयुक्त हैं, वे उन कार्मण (निर्जरा) पुद्गलों कों जान-देख नहीं सकते।[1]

---

१. (क) अणगारस्स णं भावियप्पणो सव्वं कम्मं वेदेमाणस्स ··· निज्जरेमाणस्स ··· सव्वं मारं मरमाणस्स, सव्वं सरीरं विप्पजहमाणस्स, चरिमं कम्मं वेदेमाणस्स ··· निज्जरेमाणस्स, चरिमं मारं मरमाणस्स, चरिमं सरीरं विप्पजहमाणस्स; मारणंतियं कम्मं वेदेमाणस्स ··· जाव मारणंतियं सरीरं विप्पजहमाणस्स जे चरिमा निज्जरा पोग्गला, सुहुमा णं ते पोग्गला ··· सव्वं लोगं पि णं ओगाहित्ताणं चिट्ठंति। छउमत्थे णं माणुस्से ते सिं निज्जरापोग्गलाणं किं चि (आणत्तं वा णाणत्तं वा) ण जाणंति, ण पासंति आहारेंति। (नेरइया वि एवं जाव पंचिंदिय तिरिक्खजोणियाणं, वाणमंतर जोइसिया वि एवं) मणुस्सा दुविहा पण्णत्ता, तं जहा–सण्णीभूया, असण्णीभूया य। असण्णीभूया न जाणंति न पासंति। ··· सण्णीभूया दुविहा-उवउत्ता, अणुवउत्ता य। ··· जे ते अणुवउत्ता, ते न जाणंति न पासंति, जे ते उवउत्ता, ते जाणंति ३।

–भगवतीसूत्र ७/३

(ख) स्पष्टीकरण के लिए देखें–व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र, श. ७, उ. ३, सू. ८ से ९/६ तक, पृ. ६८१-६८५

उपर्युक्त पाठ से यह स्पष्ट फलित होता है कि केवली की चरमनिर्जरा के सूक्ष्म पुद्गलों को भले ही छद्मस्थ सामान्य अवधिज्ञानी, जो अनुपयुक्त हो, जान-देख न सकता हो, परन्तु अपने व कदाचित् दूसरों के कर्मोदय के तथा कर्मनिर्जरा के पुद्गलों को सम्यग्दृष्टि, संवरधर्मी, देशविरत या सर्वविरत छद्मस्थ मति-श्रुत या अवधिज्ञान से युक्त हो, वह स्व-पर-अनुभवज्ञान से, शास्त्रज्ञान से, ज्ञानियों के उपदेश से या अनुमानादि प्रमाण से जान-देख सकता है। जैसे कि 'आचारांगसूत्र' में कहा गया है–"संसार में कई लोगों को यह संज्ञा (समझ-बूझ) नहीं होती कि मैं किस दिशा या अनुदिशा से आया हूँ? मैं कहाँ से आया हूँ, कहाँ जाऊँगा? परन्तु ऐसा ज्ञान उसी व्यक्ति को होता है, जो आत्मवादी, लोकवादी, कर्मवादी, क्रियावादी (सम्यग्दृष्टि) हो। उसे यह ज्ञान स्व-सन्मति से, दूसरों (श्रुतधरों) के कहने से या ज्ञानी से या शास्त्र के सुनने से होता है।" 'संज्ञा' को मतिज्ञान का समानार्थक कहा गया है। इसलिए सम्यग्दृष्टि, मति-श्रुतज्ञानी भी उपयोग लगाए तो कर्मों के वेदन, उदय तथा निर्जरा आदि को जान सकता है, अनुभव कर सकता है। अतः पूर्वबद्ध कर्म या नये आते हुए कर्म ही इन चर्मचक्षुओं से जान-देख न सके, किन्तु नये आते हुए कर्मों (आस्रवों) को न रोकने (संवर न करने) से तथा पुराने बँधे हुए कर्मों का सम्यक् तप आदि से क्षय (निर्जरा) न करने से भी जो परिणाम आता है, उसे तो साधारण मानव भी इस जगत् के जीवों की विचित्रता को तथा स्वयं के शुभाशुभ कर्मों के उदयवश प्राप्त सुख-दुःखरूप फल को युक्ति से जान-देख सकता है। बिजली भले ही आँखों से न दिखाई दे, किन्तु उसके विविध कार्यों को देखकर अनुमान किया जाता है कि बिजली है। इसी प्रकार कर्म और कर्मनिर्जरा आदि भले ही आँखों से न दिखाई दे, किन्तु उनके शुभाशुभ कर्मफलों (परिणामों) को तो हम जीवन और जगत् में प्रत्यक्ष जानते-देखते हैं।[1]

---

१. (क) इहमेगेसिं णो सण्णा भवइ, तं.–पुरत्थिमाओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि ····
(जाव) अहो दिसाओ वा आगओ अहमंसि; अण्णयरीओ वा दिसाओ अणुदिसाओ वा आगओ अहमंसि। एवमेगेसिं णो णायं भवइ–अत्थि मे ···· णत्थि मे आया उववाइए।
केहं आसी? के वाइओ चुए इह पेच्चा भविस्सामि?
से जं पुण जाणेज्जा–सह संमइयाए, परवागरणेणं, अण्णेसिं अंतिए वा सोच्चा, तं.–पुरत्थिमाओ वा ····अहमंसि। ··· से आयावाई लोयावाई कम्मावाई किरियावाई।
–आचारांग, श्रु. १, अ. १, सू. १-४

(ख) मतिः स्मृतिः संज्ञा-चिन्ताऽभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम्। –तत्त्वार्थसूत्र, अ. १, सू. १३

(ग) ईहाऽपोह-वीमंसा-मग्गणा य गवेसणा।
सन्ना मई पन्ना सव्वं आभिणिबोहियं॥ –नन्दीसूत्र, गा. ८०

आत्मा से कर्मों को पृथक् करने का ठोस उपाय

कर्मों को आत्मा से पृथक् करने अथवा कर्मों से मुक्ति पाने के लिए मुमुक्षु साधक को कर्मों को पकड़ने की जरूरत नहीं, किन्तु ऐसा उपाय करना चाहिए, जिससे वे आत्मा से अलग हो जाएँ। एक आचार्य ने कहा है–

"मलं स्वर्णगतं वह्निर्हंसः क्षीरगतं जलम्।
यथा पृथक्करोत्येव, जन्तोः कर्ममलं तपः॥"

–जैसे सोने के मैल को अग्नि दूर कर देती है; दूध में रहे हुए जल को हंस अलग कर देता है; उसी प्रकार प्राणियों की आत्मा पर लगे हुए कर्ममल को तप दूर कर देता है। कहा भी है–"भवकोडिसंचियं कम्मं तवसा निज्जरिज्जइ।" –करोड़ों भवों में संचित किया हुआ कर्म भी तपस्या से नष्ट-निर्जरित हो जाता है, बशर्ते कि वह तप आत्म-शुद्धि, अहिंसादि तथा सम्यग्दर्शन-ज्ञानपूर्वक स्वेच्छा से किया गया हो। ऐसे तप से तथा नाना प्रकार कष्ट, उपसर्ग, परीषह आदि समभावपूर्वक सहने से ही कर्मों की सकामनिर्जरा होती है।[1]

अब तक सब कर्मों का क्षय क्यों नहीं ?

इस सम्बन्ध में एक प्रश्न होता है कि सिद्धान्तानुसार प्रतिसमय जीव कर्मों की निर्जरा करता रहता है, ऐसी स्थिति में वह अब तक अपने समस्त कर्मों का क्षय क्यों नहीं कर पाया? इसका युक्तिपूर्वक समाधान एक रूपक द्वारा दिया जा रहा है–मान लो, एक कोठी में धान्य भरा है। उसमें से प्रतिदिन धान्य निकाला जाता रहे, साथ ही ऊपर से उसमें रोजाना धान्य पड़ता भी जाए तो वह कोठी कभी खाली नहीं हो सकेगी। वह कोठी खाली तभी होगी, जब ऊपर से उसमें धान्य पड़ना बंद हो जाए। यही बात अज्ञानी एवं मिथ्यादृष्टि जीवों की निर्जरा के सम्बन्ध में समझ लेनी चाहिए। उनके जीवन में पूर्वबद्ध कर्मों के उदय में आने पर वे उन कर्मों को बरबस, अनिच्छा से, हाय-हाय करते या रोते-बिलखते, दुःखी होकर भोगते हैं, अज्ञानपूर्वक भोगते हैं, बड़े-बड़े कष्टों को भी वे मूढ़तावश सहते हैं, इस प्रकार अनजाने में अज्ञानतावश सर्दी, गर्मी, भूख-प्यास आदि कष्ट सहने से निर्जरा तो होती है, परन्तु वह बहुत ही अल्प और अकामनिर्जरा होती है। उस निर्जरा से जितने कर्मों का क्षय होता है, उनसे अधिक मात्रा में वे नये अशुभ कर्मों का बन्ध कर लेते हैं। कई बार उन कष्ट देने वाले विभिन्न निमित्तों पर रोष, द्वेष, ईर्ष्या, कलह, युद्ध आदि करके वैर-परम्परा भी बाँध लेते हैं। इन सबकी निर्जरा को शास्त्रीय भाषा में अकामनिर्जरा कहा है।

---

१. (क) 'आत्मतत्त्वविचार' से भाव ग्रहण, पृ. ५०१
(ख) उत्तराध्ययनसूत्र, अ. ३०, गा. ६

अकामनिर्जरा से कष्ट-सहन अधिक, कर्मक्षय कम : कैसे ?

तिर्यंच-भव में एकेन्द्रिय जीवों से लेकर मिथ्यादृष्टि पंचेन्द्रिय तक के जीव विवश होकर अनिच्छा से, अज्ञानतापूर्वक नाना कष्ट सहन करते हैं। नरक में मिथ्यात्वी नारक जीव द्रव्यगत, क्षेत्रगत, कालगत एवं भावगत नाना कष्ट, आतंक, भय आदि का त्रास सहते हैं, परमाधामी असुरों द्वारा तथा परस्पर दी जाने वाली घोर यातनाएँ रोते-बिलखते सहते हैं। मनुष्यों में भी मिथ्यादृष्टि अज्ञानी मनुष्य विवश होकर बीमारी, व्याधि, संकट, विपत्ति आदि का त्रास सहते हैं अथवा औपपातिकसूत्रानुसार कई तापस, साधक, बाबा, गैरिक आदि स्वेच्छा से अज्ञानपूर्वक मोक्ष या कर्मक्षय के उद्देश्य से विहीन होकर स्वर्गादि कामना या प्रसिद्धि लालसा से नाना प्रकार से कष्ट सहन करते हैं, हिंसामूलक पंचाग्नितप तथा अग्नि में हवन करते हैं, घंटों ठंडे जल में खड़े रहते हैं, बार-बार पानी में नहाते, डुबकी लगाते हैं, भूख-प्यास भी सहते हैं, लम्बी-लम्बी या कठोर तपस्या भी करते और पारणे में थोड़ा-सा आहार लेते हैं; परन्तु ये और इस प्रकार के अज्ञान या मूढ़तापूर्वक किये हुए तप या कष्ट-सहन अकामनिर्जरा का ही पलड़ा भारी करते हैं। इससे न तो आत्म-शुद्धि होती है और न ही मोक्षफल प्राप्त होता है। अकामनिर्जरा, बालतप या विवशतापूर्वक कष्ट-सहन से स्वर्गादि की प्राप्ति कदाचित् हो भी जाए, किन्तु उनका जन्म-मरणरूप संसार घटता नहीं, वह उत्तरोत्तर बढ़ता ही जाता है।

यही कारण है कि ये और इस प्रकार के अज्ञानी और मिथ्यादृष्टि जीव विविध प्रकार से प्रतिसमय अकामनिर्जरा करते रहने के बावजूद भी प्रति समय नये कर्म भी बाँधते रहते हैं। समस्त कर्मों का या आंशिक रूप से कर्मों का क्षय अथवा उनका निरोध तो तब हो जब कर्मों का आस्रव (आगमन) रुके और बन्ध कम हो तथा क्षय (निर्जरा सकामरूप से) अधिक हो अथवा अधिकाधिक तीव्र गति से कर्मों का क्षय (महानिर्जरा, तीव्रनिर्जरा) हो।[1]

अज्ञानी और ज्ञानी के कर्मक्षय करने में अन्तर

तीव्र गति से सकामनिर्जरा के रूप में कर्मक्षय कैसे होता है? इस तथ्य को स्पष्ट करते हुए 'बृहत्कल्पसूत्र' में कहा गया है–"जिन (पूर्वबद्ध) कर्मों को अज्ञानी जीव बहुत-से कोटि वर्षों में क्षय कर पाता है; उन्हीं कर्मों को तीन गुप्तियों से युक्त (सम्यग्दृष्टि) ज्ञानी जीव एक श्वासोच्छ्वासमात्र काल में क्षय कर डालता है।"

---

१. (क) 'आत्मतत्त्वविचार' से भाव ग्रहण, पृ. ५०३
(ख) देखें–औपपातिकसूत्र में बालतपस्वियों आदि की अकामनिर्जरा का वर्णन

आगे के पृष्ठों में हम शास्त्रीय सैद्धान्तिक दृष्टि से अकामनिर्जरा के—अज्ञान और मिथ्यादर्शनपूर्वक होने वाली निर्जरा के विविध रूपों का दिग्दर्शन करा रहे हैं, ताकि कर्ममुक्ति के साधक को सकामनिर्जरा और अकामनिर्जरा का अन्तर स्पष्ट रूप से समझ में आ जाए।[1]

सकामनिर्जरा और अकामनिर्जरा के अन्तर को स्पष्टतः समझाने के लिए 'भगवतीसूत्र' में एक प्रश्नोत्तर द्वारा समाधान किया गया है। वह संक्षेप में इस प्रकार है—"अन्न के प्रति निःस्पृह—अन्नगिलायक अथवा अन्न के बिना ग्लानि पाकर जैसे-तैसे नीरस, अन्त, प्रान्त, तुच्छ आहार का सेवन समभावपूर्वक कर लेने वाले कूरगडुक श्रमण के समान अन्नगिलायक चतुर्थभक्त (उपवास), षष्ठभक्त (बेला), अष्टमभक्त (तेला) या दशमभक्त (चौला) (बीच-बीच में पारणा करते हुए लगातार) करने वाला तपस्वी श्रमण निर्ग्रन्थ अल्पकाल और अल्पकष्ट में जितने कर्मों की (सकामरूप से) निर्जरा कर डालता है, उतनी निर्जरा (अकामरूप से) करने वाला नरक का नैरयिक क्रमशः एक वर्ष, बहुत वर्ष या सौ वर्षों में; सौ वर्ष, अनेक सौ वर्ष या हजार वर्षों में; एक हजार वर्ष, अनेक हजार वर्ष या एक लाख वर्षों में; एक लाख वर्ष, अनेक लाख वर्ष या एक करोड़ वर्षों में तथा एक करोड़ वर्ष, अनेक करोड़ वर्ष या कोटाकोटि वर्षों में भी नहीं कर पाता है।"[2]

यहाँ मिथ्यादृष्टि एवं अज्ञानी (विभंगज्ञानी) नैरयिक की अकामनिर्जरा के सम्बन्ध में यह बात समझनी चाहिए। सम्यग्दृष्टि एवं सम्यग्ज्ञानी (अवधिज्ञानी) नैरयिक सकामनिर्जरा ही करते हैं।

नरक का नैरयिक अत्यन्त घोर वेदना करोड़ों वर्षों तक भोगने पर भी श्रमण निर्ग्रन्थ तपस्वी जितने अल्पकाल में बहुत कर्मों को क्षय क्यों नहीं कर पाता है? इसके उत्तर में पाँच रूपकों द्वारा युक्ति से इस तथ्य को सिद्ध किया है।

जैसे अत्यन्त जराजीर्ण, भूखा-प्यासा, थका-हारा कोई वृद्ध कोशम्ब वृक्ष की एक बड़ी, सूखी, गँठीली, चिकनी, टेढ़ी-मेढ़ी, गाँठ-गँठली जड़ पर एक भोंठे कुल्हाड़े से जोर-जोर से आवाज करता हुआ चोट करे तो भी उस लकड़ी के

---

१. जं अन्नाणी कम्मं खवेइ, बहुयाहिं वासकोडीहिं।
तं नाणी तिहिं गुत्तो, खवेइ उसासमित्तेण॥ —बृहत्कल्पसूत्र, उ. २

२. जावतियं अन्नगिलायए, चउत्थभत्तिए ''' छट्ठभत्तिए ''' अट्ठमभत्तिए ''' दसमभत्तिए ''''
समणे निग्गंथे कम्मं णिज्जरेति, एवतियं कम्मं नरएसु नेरतिया वासेण वा, वाससेहिं वा,
वाससतेण वा; ''''' वाससतेण वा, वाससतेहिं वा, वाससहस्सेण वा; ''' वाससहस्सेण वा,
वाससहस्सेहिं वा, वास-सय-सहस्सेण वा; '''' वास-सय-सहस्सेण वा, वास-सय-सहस्सेहिं वा,
वासकोडीए; ''' वासकोडीए वा, वासकोडीहिं वा, वासकोडाकोडीए वा नो खवयंति।
—भगवतीसूत्र, श. १६, उ. ४, सू. १-७

बड़े-बड़े टुकड़े नहीं कर पाता; वैसे की जिन्होंने पहले गाढ़, चिकने और कठोर पाप किये हैं, वे नरकों के नैरयिक दीर्घकाल तक अत्यन्त घोर वेदना भोगते हुए भी तपस्वी श्रमण निर्ग्रन्थों की तरह (अत्यल्प वेदना अल्पकाल तक भोगकर) महानिर्जरा और महापर्यवसान (मोक्षरूप फल) वाले नहीं हो पाते।

जैसे कोई पुरुष एहरन पर जोर-जोर से शब्द करता हुआ हथौड़े की चोट मारता है, फिर भी वह एहरन के स्थूल पुद्गलों को तोड़ नहीं पाता; इसी प्रकार पहले किये हुए गाढ़, चिकने और कठोर पापों वाले नैरयिक दीर्घकाल तक अत्यन्त घोर वेदना भोगते हुए भी निर्ग्रन्थ तपस्वी श्रमणों की तरह महानिर्जरा और महापर्यवसान वाले नहीं होते।

(इसके विपरीत) जिस प्रकार तरुण, बलिष्ठ, मेधावी यावत् निपुण शिल्पकार एक बड़े शाल्मली वृक्ष की गीली, अजटिल, गाँठरहित, सीधी, चिकनाई से रहित और आधार पर टिकी हुई गण्डिका (जड़) पर तीखे कुल्हाड़े से जोर-जोर से आवाज किये बिना ही प्रहार करे तो आसानी से (थोड़ी ही देर में) उसके बड़े-बड़े टुकड़े कर देता है; इसी प्रकार जिन श्रमण निर्ग्रन्थ तपस्वियों ने अपने कर्म शिथिल बन्ध वाले, यथास्थूल यावत् निष्ठित कर दिये हैं, उनके वे कर्म शीघ्र ही नष्ट हो जाते हैं और वे श्रमण निर्ग्रन्थ यावत् महानिर्जरा-महापर्यवसान वाले होते हैं।

(इसी प्रकार) जैसे कोई पुरुष सूखे घास के पूले को यावत् अग्नि में डाले तो वह शीघ्र ही जल जाता है, इसी प्रकार उन श्रमण निर्ग्रन्थों के यथाबादर कर्म भी शीघ्र ही भस्म हो जाते हैं। जैसे कोई पुरुष पानी की बूँद को तपाये हुए लोहे के कड़ाह पर डाले तो वह शीघ्र ही नष्ट हो जाती है, वैसे ही श्रमण निर्ग्रन्थों के स्थूल कर्म भी शीघ्र ही नष्ट हो जाते हैं; जबकि नारक उतने ही कर्म लाखों, करोड़ों व कोटाकोटी वर्षों में भी क्षय नहीं कर पाते।[1]

'राजवार्तिक' में भी बताया है–"मन-वचन-काय-गुप्ति से युक्त होकर जो अनेक प्रकार के तप करता है, वह मनुष्य विपुल कर्मनिर्जरा कर लेता है।"

'मूलाचार' का कथन है–"इन्द्रियादि-संयम और योग से युक्त होकर जो जीव अनेकविध तप करता है, वह बहुत-से कर्मों की निर्जरा कर लेता है।"[2]

---

१. देखें–भगवतीसूत्र, श. १६, उ. ४, सू. ७ में वह पाठ (आ. प्र. स., ब्यावर से प्रकाशित), पृ. ५५४

२. (क) काय-मणो-वचि-गुत्तो जो तवसा चेट्ठदे अणेगविहं।
सो कम्म-णिज्जराए विउलाए वट्टदे मणुस्सोत्ति॥
–*राजवार्तिक ८/२३/७/५८४ में उद्धृत गाथा*

(ख) जम-जोगे जुत्तो जो तवसा चेट्ठदे अणेगविधं।
सो कम्म-णिज्जराए विउलाए वट्टदे जीवो॥ –*मूलाचार, गा. २४*

निष्कर्ष यह है कि नरक के नैरयिक दीर्घकाल तक बहुत कष्ट भोगने पर भी उतनी निर्जरा नहीं कर पाते, जितनी निर्जरा एक सम्यग्दृष्टि-सम्पन्न, देशविरत श्रावक या सर्वविरति श्रमण आत्म-शुद्धि की दृष्टि से, सम्यग्ज्ञानपूर्वक अल्पवेदन (कष्टानुभव) करके भी कर लेता है, क्योंकि नारकी के नैरयिकों के पूर्वबद्ध कर्म इतने चिकने, कठोर, गाढ़ और जड़ जमाये हुए होते हैं कि वे सहसा छूट नहीं पाते, दूसरी बात यह है कि अधिकांश नारकों की दृष्टि सम्यक् नहीं होती, ज्ञान भी सम्यक् नहीं होता, मिथ्याज्ञान (विभंगज्ञान) वश वे दूसरे नारक के साथ पूर्वबद्ध वैर या अपकार का स्मरण करके उन कर्मों का फल भोगने के समय परस्पर एक-दूसरे से लड़ते हैं, परस्पर वाक्प्रकार करते हैं, कलह करते हैं, लड़ते-भिड़ते हैं तथा पूर्व जीवन में की हुई घोर हिंसा, असत्याचरण, चौर्यकर्म, व्यभिचार आदि के कारण बँधे हुए गाढ़ पापकर्मों का फल भुगवाने के लिए परमाधामी निमित्त बनकर तरह-तरह से यातना देते हैं, तब-तब वे परवश होकर अनिच्छा से हाय-हाय करते, छटपटाते, जोर-जोर से रोते-चिल्लाते-गिड़गिड़ाते हुए कर्मफल भोगते हैं। इस कारण पुराने कर्मों की किंचित् निर्जरा होने के साथ-साथ उनके नये अशुभ कर्म और बँधते जाते हैं। यही कारण है कि उनकी कर्मनिर्जरा अकामरूप होने से उन-उन पूर्वबद्ध और नवबद्ध कर्मों का फल विषमभाव से, यम, नियम, आत्म-शुद्धि, संवर-निर्जरा की इच्छा के बिना–इच्छा से अज्ञानपूर्वक भोगने में कष्ट भी अधिक होता है और दीर्घकाल भी उन पापकर्मों का फल भोगने में लगता है। जैसा कि 'उववाईसूत्र' में बताया है–जो जीव असंयत हैं, अविरत हैं, पापकर्मों का त्याग (प्रत्याख्यान) नहीं किया है, अतएव (बार-बार अज्ञानवश) पापकर्म करते रहते हैं, जो साम्परायिक क्रियाओं से युक्त हैं, असंवृत (संवरधर्म से रहित) हैं, एकान्तरूप से दूसरे जीवों को दंडित–पीड़ित करते रहते (दण्ड = हिंसक) हैं, एकान्त बाल (अज्ञानी) हैं, एकान्त सुप्त (प्रमादी) हैं, अनवरत त्रस-प्राणियों की घात करते रहते हैं, ऐसे जीव कालमास में (उस भव की आयु कर्म की स्थिति पूर्ण होने पर) काल करके नरक के नैरयिकों में उत्पन्न होते हैं। 'सूत्रकृतांग' में उक्त 'नरक विभक्ति' के तथा 'उत्तराध्ययन' में मृगापुत्र द्वारा नरकों में होने वाले विभिन्न दुःखों, कष्टों और यातनाओं के वर्णन के अनुसार दीर्घकाल तक अनिच्छा से, परवश होकर, रोते-चिल्लाते-विलाप करते हुए कष्ट भोगते हैं। इस कारण दीर्घकाल तक कष्ट सहने पर भी निर्जरा (अकामनिर्जरा) बहुत थोड़ी होती है, नये-नये कर्मों का बंध होता रहता है।[9]

---

१. (क) नित्याशुभतर-लेश्या-परिणाम-देह-वेदना-विक्रियाः। परस्परोदीरितदुःखाः संक्लिष्टासुरोदीरित-दुःखाश्च प्राक्चतुर्थ्याः। —तत्त्वार्थसूत्र, अ. ३, सू. ३-५

एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक के जीव भी अकामनिर्जरा वाले होते हैं

प्रश्न होता है–नरक के नैरयिक तो पूर्वबद्ध घोर चिक्कण कठोर पापकर्मवश दीर्घकाल तक दुःख भोगकर भी अत्यल्प अकामनिर्जरा कर पाते हैं, परन्तु जो एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तिर्यंच तक तथा पंचेन्द्रिय मनुष्य हैं, वे नारकों जितने पूर्वबद्ध घोर पापकर्मों से युक्त नहीं होते, फिर भी वे असंयत, अविरत होते हैं, पापकर्मों के त्याग-प्रत्याख्यान से रहित होते हैं, इसलिए वे नैरयिकों से कुछ अधिक निर्जरा वाले होते हैं, किन्तु उनकी वह निर्जरा भी अकाम होती हैं, इसी कारण वे वाणव्यन्तर देवों में उत्पन्न होते हैं। वे किस-किस निमित्त से बरबस, विवश होकर अज्ञानपूर्वक कष्ट सहते हैं? कष्टों को संक्लिष्ट होकर भोगते हैं? उन कष्टों के भोगने से कर्मों की जो निर्जरा होती है, उनकी वह निर्जरा अकाम क्यों है? इसका समाधान भी 'औपपातिकसूत्र' में इस प्रकार किया गया है–"वे जीव ग्राम, नगर आदि में उत्पन्न होकर अकाम (अनिच्छा और अज्ञानपूर्वक आत्म-शुद्धि के भाव से रहित होकर) तृषा, क्षुधा, ब्रह्मचर्य-पालन, अस्नान-शीत-तापकष्ट से, दंश-मशक-प्रस्वेद-जल्ल-मल-पंक आदि के परिताप से (अपने-अपने पूर्वबद्ध कर्मानुसार) अल्पतर या अधिकतर काल तक अपनी आत्मा में परिक्लेश पाते हैं (संतप्त होते हैं) (जिसके फलस्वरूप नारकों से कुछ अधिक अकामनिर्जरा होने से) वे यथाकाल मरकर वाणव्यन्तर जाति के देवों में से किन्हीं एक देवों में उत्पन्न होते हैं, जिनकी आयुस्थिति दस हजार वर्ष की होती है। चूँकि उनकी निर्जरा अकाम होती है, इस कारण वे देव परलोक के आराधक (आत्म-शुद्धिरूप मोक्ष मार्ग के आराधक) नहीं होते।"[1] कई देव नहीं भी होते, वे तिर्यंचादि गतियों में कष्ट पाते हैं।

पिछले पृष्ठ का शेष–

(ख) (प्र.) जीवे णं भंते ! असंजए, अविरए, अपडिहय-पच्चक्खाय-पावकम्मे, सकिरिए, असंवुडे, एगंतदंडे, एगंतबाले, एगंतसुत्ते ओसण्ण-तस-पाण-घाई कालमासे कालं किच्चानेरइएसु उववज्जइ?

(उ.) हंता उववज्जइ। *–औपपातिकसूत्र ३७/४*

(ग) देखें–सूत्रकृतांगसूत्र के प्रथम श्रुतस्कन्ध के पंचम अध्ययन में नरयविभत्ति के दोनों उद्देशकों में नारकों को प्राप्त होने वाले विविध दुःखों का वर्णन

(घ) देखें–उत्तराध्ययनसूत्र के मृगापुत्रीय नामक १९वें अध्ययन में 'सो बेइ अम्मापियरो एवमेयं जहा फुडं ''' ' इस प्रकार की ४४वीं गाथा से लेकर ७३वीं गाथा तक मृगापुत्र द्वारा उक्त नरक में प्राप्त होने वाले दुःखों का वर्णन

१. (प्र.) जीवे णं भंते ! असंजए अविरए अपडिहय-पच्चक्खाय-पावकम्मे इओ चुए पेच्चा देवे सिया?

ये मनुष्य भी अकामनिर्जरा युक्त होते हैं : क्यों और कैसे ?

'औपपातिकसूत्र' के अनुसार ऐसे मनुष्य भी अकामनिर्जरा से युक्त होते हैं, जो ग्राम-नगरादि में उत्पन्न होकर किसी अपराध के फलस्वरूप हथकड़ियाँ-बेड़ियाँ डालकर कारागार में बंद कर दिये जाते हैं, किन्हीं के कान, नाक, हाथ, पैर, ओठ, जीव, सिर, मुख, कमर, पीठ आदि का छेदन-भेदन कर दिया जाता है या वे स्वयं के या दूसरों के नाक-कान आदि काट डालते हैं। हृदय को चोट पहुँचाते हैं, आँख फोड़ देते हैं, दाँत तोड़ देते हैं, कपड़े फाड़ देते हैं, गर्दन मरोड़ देते हैं या स्वयं इन अंगों को तोड़-फोड़ लेते हैं या किसी अपराध के कारण मारा-पीटा, घसीटा या लटका दिया जाता है, विविध प्रकार से पीड़ित किया जाता है, शूल क्षार द्वारा पीड़ित करके या दावाग्नि में प्रज्वलित करके या विविध प्रकार से यातनाएँ दी जाती हैं अथवा स्वयं ही शरीर पर कीचड़ लपेट लेते हैं, ठंडे पानी में खड़े रहते हैं, कीचड़ में धँस जाते हैं तथा गिरिपतन, तरुपतन, अग्नि-प्रवेश, विषभक्षण, शस्त्र से भेदन, गृद्धपृष्ठ, वैहानस आदि विविध प्रकार से आत्महत्या कर लेते हैं अथवा किसी दुर्घटना से या घोर जंगल में भटक जाने से या दुर्भिक्ष से मृत्यु पाते हैं, ये और इस प्रकार के स्वेच्छा से नाना कष्ट सहते हैं, कष्ट सहते समय उनके परिणाम असंक्लिष्ट होते हैं; (किन्तु इन सबका यह कष्ट-सहन सम्यग्दृष्टि एवं सम्यग्ज्ञानपूर्वक आत्म-शुद्धि के लक्ष्य से नहीं होता, कई लोगों की इहलोक में यशकीर्ति की, परलोक में स्वर्गादि की फलाकांक्षा (कामना) होती है, इस कारण उनकी कर्मनिर्जरा भी अकाम होने से) वे भी वाणव्यन्तर जाति के देवों में १२ हजार वर्ष की स्थिति वाले विराधक देव होते हैं।[1]

पिछले पृष्ठ का शेष–

(उ.) गोयमा ! अत्थेगइया देवे सिया, अत्थेगइया नो देवे सिया। ··· जे इमे गामागर ··· सण्णिवेसेसु अकाम-तण्हाए, अकाम-छुहाए, अकाम-बंभचेरवासेणं, अकाम-अण्हाणग-सियाभव-दंस-मसग-सेय-जल्ल-मल-पंक-परितावेणं अप्पतरो वा भुज्जतरो वा कालं अप्पाणं परिकिलेसेंति, अप्पतरो ··· परिकिलेसित्ता कालमासे कालं किच्चा अण्णयरेसु वाणमंतरेसु देवलोएसु देवत्ताए उववत्तारो भवंति। ··· तेसिं देवाणं दसवाससहस्साइं ठिई पण्णत्ता। परलोगस्साराहगा (न भवंति)। –*औपपातिकसूत्र* ३७/५

१. से जे इमे गामागर-नगर ··· सण्णिवेसुसु मणुया भवंति, तं जहा–अंडुबद्धगा, णियलबद्धगा ··· हत्थच्छिन्नगा ··· लंबियया घंसियया ··· फाडियया, पीलियया सुलाइयया, सूलभिन्नगा, खारवत्तिया ··· दवग्गिदड्ढगा, पंकोसण्णगा, पंकेखुत्तगा, वलयमयगा, वसट्टमयगा, णियाणमयगा, अंतोसल्लमयगा, गिरिपडियगा, तरुपडियगा, ··· जलपवेसिगा, जलपापवेसिगा, विरुभक्खियगा, सत्थोवाडियगा ··· कंतारमयगा, दुब्भिक्खमयगा असंकिलिट्ठ-परिणामा ते कालमासे कालंकिच्चा अण्णयरेसु वाणमंतरेसु देवलोएसु देवत्ताए उववत्तारो भवंति। (तत्थ) वारसवाससहस्साइं ठिई पण्णत्ता। ····· (ते मणुया वि) परलोगस्स आराहगा (न भवंति)।

–वही ३७/६

विविध व्रतधारी तथा विविध प्रकार के तापस भी अकामनिर्जरायुक्त

इसी सूत्र में आगे कहा गया है कि जो उदक के साथ दो, तीन, सात या ग्यारह वस्तुओं का सेवन करते हैं, इन्द्रियसंयमी हैं, गोव्रती हैं, गृहस्थधर्मी, धर्मचिन्तक हैं तथा एकमात्र सरसों के तेल के सिवाय दूध, दही आदि नौ विगइयों (विकृतियों) में से किसी भी विगई का सेवन नहीं करते; ऐसे अल्प इच्छा वाले मानव भी उत्कृष्ट ८४ हजार वर्ष की स्थिति वाले वाणव्यन्तर देवों में उत्पन्न होते हैं; किन्तु सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान तथा कर्मक्षय द्वारा आत्म-शुद्धि के लक्ष्य से रहित होने से अकामनिर्जरा करते हैं, इसलिए आराधक नहीं होते। इसी प्रकार गंगातटवासी वानप्रस्थ, अग्निहोत्रिक, याज्ञिक, नदियों में डुबकी लगाने वाले, बार-बार गात्रप्रक्षालन करने वाले, दक्षिणतटवासी, उत्तरतटवासी, शंखध्वनि करने वाले, गंगातट पर ध्वनि करने वाले, मृगलुब्धक (मृग का शिकार करने वाले), हस्तितापस, दंडधारी, दिशा-प्रोक्षक, जलवासी, बिलवासी, बिल्वफलाशी, वृक्षमूलवासी, पानी, वायु, शैवाल, मूल, कंद, त्वचा (छाल), पत्ते, फूल अथवा बीज का आहार करने वाले, पके, सूखे या गिरे हुए कंद, मूल, त्वचा, पुष्प, फल का आहार करने वाले, जलाभिषेक करने से कठिन गात्र वाले, आतापना लेने वाले, पंचाग्नि ताप तपने वाले, विविध प्रकार के तापस बहुत वर्षों तक तापसपर्याय का पालन करके मरकर एक लाख वर्ष अधिक एक पल्योपम की स्थिति वाले ज्योतिष्कदेवों में उत्पन्न होते हैं। परन्तु वे होते हैं अनाराधक ही, क्योंकि इहलोक-परलोक-फलाकांक्षा, प्रसिद्धि, यशकीर्ति या स्वर्गकामना आदि से मिथ्यात्ववश अज्ञानपूर्वक इतना तप या कष्ट-सहन करते हैं।[1]

'भगवतीसूत्र' में मौर्यपुत्र तामली तापस का वर्णन है। उसने प्राणामा प्रव्रज्या अंगीकार की। प्राणामा प्रव्रज्या के नियमानुसार वह इन्द्र, स्कन्द, रुद्र, शिव, वैश्रमण, प्रशान्तरूपा आर्या (पार्वती), रौद्ररूपा (महिषासुरमर्दिनी) चण्डी को, राजा, युवराज, तलवर, माडम्बिक, कौटुम्बिक, श्रेष्ठी, सार्थवाह, यहाँ तक कि चाण्डाल, कुत्ता, कौआ आदि को प्रणाम करता था। उच्च व्यक्ति को उच्च रीति से

---

१. (क) से जे पुण इमे गामागर-नगर ... सन्निवेसेसु मणुया भवंति, तं.-दग-बिइया ... दग-एगारसमा गोयमा गोव्वइया ... नो कप्पइ इमाओ नवरस-विगईओ आहारित्तए ... णण्णत्थ एक्काए सरिसव-विगईए, ते मणुआ अपिच्छा ... तं चेव सव्वं।

(ख) से जे इमे गंगाकूलगा वाणपत्था तावसा भवंति, तं.-होतिया ... जण्णई, ... उम्मज्जगा ... संपक्खाला ... मिगलुद्धगा हत्थितावसा, उद्दंडगा दिसापोक्खिणो ... रुक्खमूलिया ... अंबुभक्खिणो, वाउभक्खिणो ... मूलाहारा, कंदाहारा ... आयावणाहिं पंचग्गि-तावेहिं इंगालसोल्लियं कंडुसोल्लियं कट्ठसोल्लियं पिव अप्पाणं करेमाणा ... अणाराहगा ... । —औपपातिकसूत्र ३७/९-१०

तथा नीच व्यक्ति को निम्न रीति से प्रणाम करना ही प्राणामा प्रव्रज्या का उद्देश्य था। वह लकड़ी के पात्र रखता था और यावज्जीव तक छठ-छठ (बेले-बेले) तप करता था, तप और पारणे के दिन भी आतापनाभूमि में जाकर सूर्य के सम्मुख ऊर्ध्ववाहू खड़े होकर आतापना लेता था। पारणे के दिन ताम्रलिप्ती नगरी के उच्च-नीच-मध्यमकुलों के घरों से भिक्षा में शुद्ध भात लाता और उसे भी २१ बार धोकर खाता था।

किन्तु उसके इस तपश्चरण के पीछे कोई मोक्षलक्षी सम्यग्दृष्टि या सम्यग्ज्ञान या सदुद्देश्य नहीं था। इस कठोर व्रत और तपश्चरण (बालतप) द्वारा जब उसका शरीर अत्यन्त शुष्क, कृश, रूक्ष एवं दुर्बल हो गया, तब उसने समस्त परिचितों से अपना संकल्प निवेदन करके ताम्रलिप्ती नगरी के बाहर एक परिमित क्षेत्र का प्रमार्जन करके पादपोपगमन नामक यावज्जीव अनशन ग्रहण किया। तत्पश्चात् तामली बालतपस्वी ऋषि ने दो महीने की इस संलेखना तप से आत्मा को भावित करके उस दौरान चमरेन्द्र बनने के निदान को ठुकराकर कालधर्म प्राप्त किया। इस अकामनिर्जरा के फलस्वरूप ईशान देवलोक में ईशान देवेन्द्र के रूप में उत्पन्न हुआ। यद्यपि बालतपस्वी होने से तामली तापस मिथ्यादृष्टि था, किन्तु ईशानेन्द्र पद-प्राप्ति के पश्चात् वह सिद्धान्ततः सम्यग्दृष्टि हो गया। उसका मिथ्याज्ञान सम्यग्ज्ञान हो गया। अतएव भविष्य में वह महाविदेह क्षेत्र में जन्म लेकर सिद्ध, बुद्ध और सर्वकर्ममुक्त होगा।[1]

पूरण बालतपस्वी द्वारा कृत अकामनिर्जरा का फल

'भगवतीसूत्र' में ही पूरण बालतपस्वी का वर्णन है। वह विन्ध्याचल की तलहटी में वेमेल सन्निवेश निवासी था। बहुत ही धनाढ्य और तेजस्वी था। उसने

---

१. तएणं तस्स मोरियपुत्तस्स तामलिस्स गाहावतिस्स .... इमेयारूवे अज्झत्थिए .... जाव समुपज्जित्था .... तं किं णं अहं पुरा पोराणाणं सुचिण्णाणं जाव कडाणं कम्माणं एगंतसोक्खयं उवेहेमाणे विहरामि? .... सयमेव दारुमयं पडिग्गहं गहाय मुंडे भवित्ता पाणामाए पवज्जाए पव्वइत्तए। .... पव्वइए वि समाणे .... इमं एयारूवं अभिग्गहं अभिगिण्हइ–कप्पइ मे जावज्जीवाए छट्ठं छट्ठेणं अणिक्खित्तेणं तवोकम्मेणं उड्ढं बाहाओ पगिब्भिय २ सूराभिमुहे आतावणभूमीए आतावेमाणे विहरइ। छट्ठस्स वि यणं पारणयंसि आतावणभूमीओ पच्चोरुभइभूता सयमेव दारुमयं पडिग्गहं गहाय तामलित्तीए नयरीए .... भिक्खायरियाए एडइ। सुद्धोयणं पडिग्गाहेइ, तिरुत्तखुत्तो उदएणं पक्खालेइ, तओ पच्छा आहारं आहारेइ। .... पाणामाए पवज्जाए पव्वइए समाणे जं जत्थ पासइ–इंदं वा खंदं वे रुद्दं वा .... कागं वा साणं वा पाणं वा .... जं जहा पासति, तस्स तहा पणामं करेइ। से तेणट्ठेण जाव पाणामा पव्वज्जा। .... तएणं से तामली बालतवस्सीरिसी .... दो मासियाए संलेहणाए अत्ताणं झूसित्ता .... कालं किच्चा ईसाणे कप्पे .... ईसाणदेविंदत्ताए उववन्ने।

–भगवती, श. ३, उ. १, सू. ३५-४५

भी तामली तापस की तरह अपने ज्येष्ठ-पुत्र को गृहभार सौंपकर दानामा-प्रव्रज्या ग्रहण की। तामली की तरह वह भी बेले-बेले तप करके पारणा करता था, आतापना भी उसी तरह लेता था। पारणे के दिन चार खानों वाला स्वनिर्मित काष्ठ-पुटक (टिफिन) लेकर भिक्षाचरी करता था। इस काष्ठ-पुटक के पहले खाने में जो भिक्षा प्राप्त होती, वह मार्ग में मिलने वाले पथिकों को, दूसरे खाने में प्राप्त खाद्य-वस्तु कौओं और कुत्तों को और तीसरे खाने में प्राप्त खाद्य-वस्तु मछलियों और कछुओं को दे देता था तथा चौथे खाने में प्राप्त भिक्षान्न का स्वयं आहार करता था। दान-प्रधान क्रिया ही दानमयी या दानामा-प्रव्रज्या का मूल उद्देश्य था। पूरे बारह वर्ष तक दानामा-प्रव्रज्या-पर्याय का पालन करने तथा तपश्चर्या और आतापना पर जब शरीर रूक्ष, शुष्क, दुर्बल हो गया तो पूरण बालतपस्वी ने पादपोपगमन संथारा करके एक मासिक संलेखना की आराधना से अपनी आत्मा को भावित किया और यथासमय कालधर्म प्राप्त करके चमरचंचा राजधानी में चमरेन्द्र के रूप में उत्पन्न हुआ। पूरण बालतपस्वी द्वारा की हुई तपस्या तथा दानामा-प्रव्रज्या सम्यग्दृष्टि और सम्यग्ज्ञानरहित होने से अकामनिर्जरा ही थी, किन्तु बाद में इन्द्र-पद प्राप्त होने के पश्चात् सम्यग्दृष्टि होने से वह वहाँ से आयुष्य पूर्ण कर भविष्य में महाविदेह क्षेत्र में जन्म लेकर सिद्ध, बुद्ध और सर्वकर्ममुक्त होगा।[1]

आचार्यादि के प्रत्यनीक श्रमण भी अकामनिर्जरा वाले हैं

इसके साथ ही 'उववाईसूत्र' में उन श्रमणों की भी वृत्ति-प्रवृत्ति को अकामनिर्जरा और अनाराधकता की कोटि में परिगणित किया गया है, जो आचार्य, उपाध्याय, कुल और गण के प्रत्यनीक (प्रतिकूल) होते हैं,

---

१. ..... जंबूद्दीवे भारहे वासे विंझगिरिपायमूले बेभेले नामं सन्निवेसे पूरणे नामं गाहावती परिवसति। .... जहा तामलिस्स वत्तव्वया तहा नेतव्वा, नवरं, चउप्पुडयं दारुमयं पडिग्गहं गहाय सयमेव मुंडे भवित्ता दाणामाए पव्वज्जाए पव्वइए वि य णं समाणे तं चेव जाव आयावणभूमीओ पच्चोरुभइ। .... सयमेव चउप्पुडयं दारुमयं पडिग्गहयं गहाय घरसमुदाणस्स भिक्खायरियाए अडेत्ता–जं मे पढमे पुडए पडइ, कप्पइ मे तं पंथियपहियाणं दलइत्तए; जं मे दोच्चे पुडए पडइ, कप्पइ मे काक-सुणयाणं दलइत्तए, जं मे तच्चे पुडए पडइ, कप्पइ मे तं मच्छकच्छभाणं दलइत्तए; जं मे चउत्थे पुडए पडइ, कप्पइ मे तं अप्पणा आहारं आहारित्तए .... एवं संपेहेइ। तं चेव निरवसेसं, जाव जं से चउत्थे पुडए पडइ तं अप्पणा आहारं आहारेइ। तए णं से पूरणे बालतवस्सी तेणं .... बालतवोकम्मेणं तं चेव, जाव बेभेलस्स सन्निवेसस्स दाहिण-पुरत्थिमे दिसीभागे .... संलेहणा झूसणा-झूसिए भत्तपाण पडियाइक्खिए पाओवगमणं निवण्णे .... दुवालसवासाइं परियागं पाउणित्ता मासियाए संलेहणाए अत्ताणं झूसेत्ता .... कालं किच्चा चमरचंचाए रायहाणीए जाव इंदत्ताए उववन्ने।

–भगवती ३/२/१९-२३

आचार्य-उपाध्याय के। अपयश, अवर्ण (निन्दा) और अपकीर्ति करते हैं, बहुत-सी मिथ्या बातें उनके सम्बन्ध में उठाते हैं, मिथ्यात्व के अभिनिवेश (दुराग्रह) के कारण स्व-पर और उभय को बरगलाते हैं, भ्रान्ति फैलाते हैं, इस प्रकार बहुत वर्षों तक श्रामण्य-पर्याय का पालन करके यथासमय काल करके वे लान्तककल्प (देवलोक) में किल्विषीदेवों के रूप में उत्पन्न होते हैं, अन्तिम समय में अपने दोषों की आलोचना-प्रतिक्रमणादि न करने से वे विराधक[1] होते हैं, आराधक नहीं।

आत्मोत्कर्षाभिलाषी श्रमण भी अकामनिर्जरा से युक्त अनाराधक

इसी सूत्र में आगे कहा गया है कि जो श्रमण प्रव्रजित होकर आत्मोत्कर्षक (अपनी बड़ाई करने वाले) पर-निन्दक, भूतिकर्मिक तथा जो बार-बार कौतुक (आश्चर्यजनक जादूगरी) करते हैं, वे इस प्रकार की प्रवृत्ति करते हुए बहुत वर्षों तक श्रामण्यपर्याय का पालन करते हैं, अन्तिम समय में अपने दोषों की आलोचना किये बिना ही काल करके उत्कृष्टतः अच्युत देवलोक में आभियोगिक देव के रूप में उत्पन्न होते हैं। वे अकामनिर्जरा करके परलोक अनाराधक होते हैं।[2]

इसी प्रकार वे आजीविक श्रमण भी अकामनिर्जरा करने वाले होते हैं—जो अपनी भिक्षाचरी दो घरों के अन्तर से, तीन घरों के अन्तर से या सात घरों के अन्तर से करते हैं, जो अपने शरीर के अधोभाग पर कमलपत्र वेष्टित कर लेते हैं, कई घरों से सामुदायिक रूप से भिक्षा लेते हैं, विद्युत् के समान चंचल होते हैं तथा ऊँट के समान गर्दन ऊँची करके चलते हैं, इस प्रकार के श्रमण भी बहुत वर्षों तक उक्त पर्याय में रहकर अज्ञानपूर्वक कष्ट सहकर श्रमण-जीवन में लगे दोषों की आलोचना किये बिना ही यथाकाल कालधर्म प्राप्त करके उत्कृष्टतः अच्युत कल्प देवलोक तक उत्पन्न होते हैं, किन्तु परलोक में अनाराधक होते हैं।[3]

---

१. से जे ..... पव्वइया समणा भवंति, तं.—आयरिय .... उवज्झाय-कुल-गण-संघाणं आयरिय-उवज्झायाणं अयसकारगा, अवण्णकारगा, अकित्तिकारगा बहूहिं असब्भावुब्भावणाहिं मिच्छत्ताभिनिवेसेहिं च अप्पाणं च परं च तदुभयं च वुग्गाहेमाणा वुप्पाएमाणा विहरित्ता .... तस्स ठाणस्स अणालोइय-अपडिक्कंता .... कालंकिच्चा उक्कोसेणं लंतए कप्पे देवकिब्विसिएसु देवकिब्विसियत्ताए उववत्तारो भवन्ति। .... अणाराहगा।

—औपपातिकसूत्र ४०/१५

२. जे इमे .... पव्वइया समणा भवंति, तं.—अत्तुक्कोसिया परपरिवाइया भूइकम्मिया, भुज्जो २ कोउयकारगा .... तस्स ठाणस्स अणालोइय अपडिक्कंता .... कालं किच्चा .... उक्कोसेणं अच्चुए कप्पे आभिओगिएसु देवेसु देवत्ताए उववत्तारो भवंति। .... परलोगस्स अणाराहगा। सेसं तं चेव।

—वही ४०/१८

३. से जे इमे .... आजीविका भवंति, तं.-दुघरंतरिया, तिघरंतरिया, सत्तघरंतरिया उप्पलवेंटिया, घरसमुदाणिया विज्जु-अंतरिया उट्ठियासमणा, तेणं .... विहरमाणा बहुइं वासाइं परियायं पाउणित्ता .... उक्कोसेणं अच्चुए कप्पे देवत्ताए उववत्तारो भवंति। .... बावीसं सागरोवमाई ठिई। अणाराहगा, सेसं तं चेव।

—वही ४०/१७

निह्नव श्रमण भी अकामनिर्जरायुक्त एवं अनाराधक

जो व्यक्ति श्रमण, भिक्षु या साधुवेश में रहकर सिद्धान्त-प्रतिकूल प्ररूपणा करके निह्नव हो जाते हैं, वे भी अकामनिर्जराकारक और अनाराधक होते हैं। वे निह्नव सात प्रकार के हैं–(१) बहुरत, (२) जीवप्रदेशक, (३) अव्यक्तवादी, (४) सामुच्छेदिक, (५) द्विक्रिया-प्ररूपक, (६) त्रैराशिक, और (७) अबद्धिक (व्रतबद्ध न रहने वाले स्वच्छन्दी)। ये सात प्रवचन निह्नव होते हैं, जो वेश-भूषा और चर्या श्रमणों की-सी रखते हैं, किन्तु मिथ्यादृष्टि होते हैं, बहुत-सी असद्भूत बातें करते हैं, मिथ्यात्व के अभिनिवेश (दुराग्रह) से स्व, पर और उभय को बरगलाते, भ्रमित करते हैं। इस प्रकार बहुत वर्षों तक तथाकथित श्रामण्य-पर्याय में प्रवृत्त रहते हैं, फिर यथासमय मृत्यु प्राप्त करके उत्कृष्टतः ऊपर के ग्रैवेयक देवों में देवरूप से उत्पन्न होते हैं, जहाँ उनकी स्थिति ३१ सागरोपम की होती है, परन्तु वे परलोक में अनाराधक होते हैं।[1]

परिव्राजक आदि भी अकामनिर्जरा करते हैं

'औपपातिकसूत्र' के अनुसार–जो चारों वेदों के सांगोपांग सरहस्य पारगामी हैं, उनकी स्मृति और धारणा से युक्त हैं। इतिहास, निघण्टु आदि वेदांगों में तथा षष्ठितंत्र (सांख्यशास्त्र) में विशारद हैं; शिक्षा, कल्प, व्याकरण, छन्द, निरुक्त और ज्योतिष आदि ग्रन्थों तथा अन्य सभी ब्राह्मणशास्त्रों में सुपरिनिष्ठित (पारंगत) हैं। परिव्राजकों को वाह्यशौच-प्रधान आचार-संहिता का पालन करते हुए विचरण करने वाले वे परिव्राजक भी बहुत वर्षों तक आयुष्य-पर्याय का पालन करके दस सागरोपम की स्थिति वाले ब्रह्मलोक-कल्प नामक देवलोक में देवरूप में उत्पन्न होते हैं; किन्तु ये सभी आठ प्रकार के उक्त ब्राह्मण परिव्राजक तथा आठ प्रकार के क्षत्रिय-परिव्राजक सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञानयुक्त नहीं होते। उनका अज्ञानपूर्वक किया हुआ वह तप तथा कष्ट-सहन प्रायः प्राणिहिंसाजन्य, यशकीर्तिकांक्षी, स्वर्गकामनामूलक तथा इहलोक-परलोक-फलाकांक्षामूलक[2] होने से अकामनिर्जराकारक होता है। इस कारण वे अनाराधक ही होते हैं।

---

१. से जे इमे ... णिण्हगा भवंति, तं.–(१) बहुरया, (२) जीवपएसिया, (३) अव्वत्तिया, (४) सामुच्छेइया, (५) दोकिरिया, (६) तेरासिया, (७) अबद्धिया; इच्चेते सत्त पवयण-णिण्हगा केवलं चरिया-लिंग-सामण्णा मिच्छदिट्ठी बहूहिं असब्भावुब्भावणाहिं मिच्छत्ताभिणिवेसेहिं य अप्पाणं च परं च तदुभयं च वुग्गाहेमाणा वुप्पाएमाणा विहरित्ता बहुइं वासाइं सामण्ण-परियागं पाउणंति ... कालं किच्चा उवरिमेसु गेवेज्जेसु देवत्ताए उववत्तारो भवंति, ... एक्कत्तीसं सागरोवमाइं ठिई। परलोगस्स अणाराहगा। सेसं तं चेव।

–औपपातिकसूत्र ४०/१९

२. से जे इमे ... परिव्वायगा भवंति, ... इमे अट्ठ-माहण-परिव्वायगा, ... इमे अट्ठखत्तिय-परिव्वायगा। ते णं परिव्वायगा ... चउण्हं वेयाणं सारगा, पारगा, धारगा,

अनिच्छापूर्वक ब्रह्मचर्यादि पालने वाली महिलाएँ भी अकामनिर्जरा से युक्त

इसी प्रकार वे महिलाएँ भी अकामनिर्जरा वाली होती हैं जो बाल-विधवा या परित्यक्ता हैं अथवा पति के गुम हो जाने से, पीहर या ससुरकुल में अनिच्छा से, लोकलाज से कष्ट सहती हैं, शृंगारादि से रहित रहती हैं, विकृतिजन्य खाद्य-पेय का त्याग करती हैं तथा अल्पइच्छा, अल्पारम्भ, अल्पपरिग्रह से युक्त हैं एवं वे अनिच्छा से ब्रह्मचर्य-पालन करती हैं। इन और इस प्रकार की नारियों का आचार-व्यवहार प्रायः कुरूढ़िगत एवं अज्ञानयुक्त होता है। फलतः उनका आचार सम्यग्ज्ञान-दर्शन-चारित्र-तप से युक्त मोक्षलक्षी न होने से उनके अकामनिर्जरा होती है। अतएव वे चौंसठ हजार वर्षों की स्थिति वाले व्यन्तर देवों में उत्पन्न होती हैं, किन्तु अनाराधक होती हैं।[1]

तथाकथित कान्दर्पिक श्रमण : अकामनिर्जरा से युक्त अनाराधक

इसके साथ ही अकामनिर्जरा के सन्दर्भ में यह भी सूचित किया गया है कि जो अमुक ग्राम, नगर आदि में प्रव्रजित तथाकथित श्रमण कान्दर्पिक (कामवासना-उत्तेजक), कौत्कुच्यकारी (भांड, नट या विदूषक) मौखर्यशील (अधिक बोलने वाले), गीतरतिप्रिय या नृत्यशील होते हैं, वे अपने इस प्रकार के व्यवहार से विचरण करते हुए, बहुत वर्षों तक श्रामण्य-पर्याय में रहते हैं, अन्तिम समय में अपने इन दोषों का आलोचना-प्रतिक्रमण किये बिना ही यथाकाल कालधर्म प्राप्त करके उत्कृष्टतः सौधर्मकल्प देवलोक में कान्दर्पिक देवों में उत्पन्न होते हैं। अपनी कर्ममुक्तिलक्षी आत्म-शुद्धि की दृष्टि से विहीन होने से ऐसे श्रमण अकामनिर्जरा कर पाते हैं, अनाराधक होते हैं।[2]

पिछले पृष्ठ का शेष–

वारगा सइंगवी, सट्ठितंत-विसारया संखाणे .... जोइसामयणे, अण्णेसु य बंभण्णएसु सत्थेसु सपरिणिट्ठिया यावि हत्था। ते णं परिव्वायगा दाणधम्मं सोयधम्मं च तित्थाभिसेयं च आघवेमाणा पण्णवेमाणा ... विहरंति। .... ते सिं परिव्वायगाणं णो कप्पइ .... सागरं वा ओगाहइत्तए; .... नडपेच्छं वा पेच्छित्तए .... हरियाणं .... उप्पाडणया वा करित्तए। इत्थि कहाइ वा ..... अणत्थदंडं करित्तए। .... करित्तए .... ते परिव्वायगा एयारूवेण विहारेणं विहरमाणा ... सेसं तं चेव। *–औपपातिकसूत्र ३७/१२*

१. संजाओ इमाओ .... जाव सन्निवेसेसु इत्थियाओ भवंति, तं.–अंतो अंतेउरियाओ गयपइयाओ, मयपइयाओ बालविहवाओ ..... ववगयमुप्फगंध-मल्लालंकाराओ अण्हाणसेय-जल्ल-मल-पंक-परितावियाओ ववगय-खीर-दहि-णवणीय-सप्पि-तेल्ल-गुल-लोण-महु-मज्ज-मंस-परिचत्त-कयाराहाराओ अपिच्छाओ अप्पारंभाओ अप्पपरिग्गहाओ ..... अकामबंभचेरवासेणं .... एयारूवेणं विहारेण विहरमाणीओ सेसं तं चेव .... (अणाराहगा)। *–वही ३७/८*

२. से जे इमे जाव सन्निवेसेसु पव्वइया समाणा भवंति, तं.–कंदप्पिया, कुक्कुइया, मोहरिया, गीय-रइप्पिया, नच्चणसीला ते णं एएणं विहारेणं विहरमाणा बहूइं वासाइं सामण्णपरियायं

प्रकृतिभद्र उपशान्त गृहस्थ भी अकामनिर्जरा के कारण अनाराधक

इसी प्रकार जो व्यक्ति नगर, ग्राम आदि में प्रकृति से भद्र, उपशान्त हैं, जिनकी कषायें भी मन्द (पतली) हैं, जो मृदु-मार्दव-सम्पन्न एवं विनीत हैं, माता-पिता की शुश्रूषा करते हैं, उनके वचनों का उल्लंघन नहीं करते, अल्प इच्छा, अल्प आरम्भ तथा अल्प परिग्रह से युक्त हैं, अल्प आरम्भ-समारम्भ से जीविका चलाते हैं, वे दीर्घायु होकर यथाकाल मृत्यु प्राप्त करके १४ हजार वर्ष की स्थिति वाले वाणव्यन्तर देवों में उत्पन्न होते हैं। परन्तु सम्यग्दृष्टि तथा मुक्तिलक्षी अध्यात्मदृष्टि न होने से वे अकामनिर्जरा ही कर पाते हैं और अनाराधक होते हैं।[1]

निर्जरा के दो प्रकार : अकामनिर्जरा का फलितार्थ

इन शास्त्रीय पाठों पर से फलित होता है कि सामान्य रूप से निर्जरा एक होते हुए भी दो प्रकार की है—अकामनिर्जरा और सकामनिर्जरा। 'काम' शब्द यहाँ कामना या वासना के अर्थ का द्योतक नहीं है। अपितु वह प्रयुक्त है—उद्देश्य, आशय, इच्छा या अभिलाषा अर्थ में। इस दृष्टि से अकामनिर्जरा का फलितार्थ होता है—आत्म-शुद्धि के आशय से या मोक्ष के उद्देश्य से रहित, निरुपायता से, अनिच्छा से, विवशतापूर्वक या अज्ञानपूर्वक कष्ट सहने या तप करने से या ब्रह्मचर्यव्रतादि का पालन करने से, मूढ़ता एवं स्वार्थपूर्वक तप आदि करने से या इहलोक-परलोक में कामसुखादि की वांछा से, स्वर्गादि की कामना से, निदानपूर्वक तप आदि करने से जो निर्जरा होती है, वह अकामनिर्जरा है अथवा कर्मस्थिति का परिपाक (उदय) होने पर आर्त्त-रौद्रध्यानपूर्वक कर्मफल भोगने के बाद कर्मों का झड़ जाना अकामनिर्जरा है। 'सर्वार्थसिद्धि' में कहा गया है—चारक (कारागार) में रोक रखने पर या रस्सी आदि से बाँध रखने पर जो भूख-प्यास सहनी पड़ती है, ब्रह्मचर्य पालना पड़ता है, भूमि पर सोना पड़ता है, मल-मूत्र को बरबस रोकना पड़ता है और उनसे संताप आदि होते हैं, ये सब अकाम हैं और अकाम (बिना

पिछले पृष्ठ का शेष—

पाउर्णति २ त्ता, तस्स ठाणस्स अणालोइय-अप्पडिक्कंता कालमासे कालं किच्चा उक्कोसेणं सोहम्मे कप्पे कंदप्पिएसु देवेसु देवत्ताए उववत्तारो भवंति।''' सेसं तं चेव''''।

—*औपपातिकसूत्र ३७/११*

१. से जे इमे जाव सन्निवेसेसु मणुया भवंति, तं.—पगइ-भद्दगा, पगइ-उवसंता, पगइ-पतणु-कोह-माण-माया-लोहा, मिउ-मद्दव-संपण्णा, अल्लीणा, विणीया अमाघिउ-सुस्सूसगा, अम्मा-पिईणं अणइक्कमणिज्ज-वयणा अप्पिच्छा अप्पपरिग्गहा अप्पेणं आरंभेण''''' वित्तिं कप्पेमाणा बहुइं वासाइं आउयं पालंति'''' चउद्दसवाससहस्साठिई।' —*वही ३७/७*

मोक्षाभिप्राय या अनिच्छा) से जो निर्जरा होती है, वह अकामनिर्जरा है। 'राजवार्तिक' के अनुसार–आत्म-शुद्धि या मोक्ष के अभिप्राय से विषय-कषायों के अनर्थ से न की हुई निवृत्ति अथवा न किये हुए त्याग से तथा परतंत्रतावश (परवश) होकर किये हुए भोग-उपभोग के निरोध से होने वाली निर्जरा अकामनिर्जरा है।[1]

सकामनिर्जरा का स्वरूप

इसके विपरीत जो निर्जरा आत्म-शुद्धि के लक्ष्य से, मोक्ष के आशय से सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञानपूर्वक किये जाने वाले बाह्य-आभ्यन्तर तप से, विविध रोगादि कष्टों-विपत्तियों, यातनाओं आदि के समय समभावपूर्वक सहन करने से, परीषह सहने, उपसर्गों पर विजय पाने से होती है अथवा आत्म-स्पर्शी उत्कृष्ट एवं कठोर धर्म (कर्मक्षयकारक संवर-निर्जरारूप धर्म) साधना से कर्मों का जो क्षय होता है, वह सकामनिर्जरा है।[2]

सकामनिर्जरा सर्वकर्ममुक्तिरूप मोक्षसाधक के लिए अभीष्ट

यहाँ सर्वकर्ममुक्ति के सन्दर्भ में सकामनिर्जरा ही अभीष्ट है, क्योंकि मुमुक्षु साधक का लक्ष्य सर्वकर्ममुक्तिरूप मोक्ष है। अकामनिर्जरा से कर्मक्षय तो होता है, किन्तु अज्ञान, मूढ़ता तथा मिथ्यादृष्टि के कारण आत्म-शुद्धि एवं मोक्ष का लक्ष्य न होने से, विषमभावपूर्वक अनिच्छा से व्रताचरण, तपश्चरण या कष्ट-सहन से नये कर्मों का बन्ध प्रायः अधिक हो जाता है; जबकि सकामनिर्जरा में कर्म का क्षय भले ही न्यूनाधिक होता हो, लेकिन वह होता है–सम्यग्ज्ञानपूर्वक आत्म-शुद्धि के लक्ष्यपूर्वक।

---

१. (क) चउहिं ठाणेहिं जीवा देवाउयत्ताए कम्मं पगरेंति, तं.–सरागसंयमा-संयमासंयमाऽकामनिर्जरा-बालतपांसिदेवस्य। –*तत्त्वार्थसूत्र, अ. ६, सू. २०*

(ख) सरागसंजमेणं संजमासंजमेणं बालतवोकम्मेणं अकामणिज्जराए।
–*स्थानांगसूत्र, स्था. ४, उ. ४, सू. ४७२*

(ग) जैनतत्त्वकलिका (स्व. आचार्य श्री आत्माराम जी म.), कलिका ५, पृ. १००

(घ) अकामश्चारक-निरोध-बंधन-वद्धेषु क्षुत्तृष्णा-निरोध-ब्रह्मचर्य-भूशय्या-मलधारण-परितापादिः। अकामेन निर्जरा अकामनिर्जरा। –*सर्वार्थसिद्धि ६/२०/३३५/१०*

(ङ) विषयानर्थनिवृत्तिंचात्माभिप्रायेणाकुर्वतः पारतंत्र्याद् भोगोपभोग-निरोधोऽकामनिर्जरा।
–*रा. वा. ६/१२/७/५२२/२८*

(च) देखें–सप्ततत्त्वप्रकरण, अ. ६ में देवानन्दसूरिकृत नवतत्त्वसाहित्यसंग्रह सकाम-अकाम-निर्जरा का स्वरूप

२. जैनतत्त्वकलिका (स्व. आचार्य श्री आत्माराम जी म.), कलिका ५, पृ. १००

सकामनिर्जरा : कहाँ-कहाँ, कैसे-कैसे ?

'बृहत्कल्पभाष्य' में कहा गया है–"अप्रमत्तसंयमी पापकर्मों से विरत (जाग्रत) साधक चाहे जान में (अपवाद स्थिति में) हिंसा करे या अनजान में, उसे अन्तरंग शुद्धि के अनुसार (कर्मों की सकाम) निर्जरा ही होगी, बन्ध नहीं।" 'विशेषावश्यकभाष्य' में कहा है–"उपयोगयुक्त शुद्ध व्यक्ति के सम्यग्ज्ञान में कुछ स्खलना आदि होने पर भी वह शुद्ध ही है। उसी प्रकार धर्मक्रियाओं में कुछ स्खलनाएँ होने पर भी उस शुद्धोपयोगी की सभी क्रियाएँ निर्जरा की हेतु होती हैं।" 'निशीथभाष्य' के अनुसार–"जो साधक यत्नाशील होते हैं, उनका कर्मबन्ध अल्प-अल्पतर होता जाता है और निर्जरा तीव्र-तीव्रतर। इस प्रकार वह शीघ्र ही मोक्ष प्राप्त कर लेता है।" क्योंकि राग की जैसी मंद, मध्यम और तीव्र मात्रा होती है, तदनुसार ही मंद, मध्यम और तीव्र कर्मबन्ध होता है। सकामनिर्जरा कहाँ और कैसे हो सकती है? इस सम्बन्ध में 'ओघनिर्युक्ति' में कहा गया है–"जो यतनावान् साधक अन्तरविशुद्धि से युक्त है और आगमविधि के अनुसार आचरण करता है, उसके द्वारा होने वाली विराधना भी कर्मनिर्जरा का कारण है।" 'समयसार' में भी कहा है–"सम्यग्दृष्टि आत्मा जो कुछ भी करता है, वह उसके कर्मों की निर्जरा के लिए ही होता है।" 'व्यवहारभाष्य' के अनुसार–"साधना में मनःप्रसाद–मन की प्रसन्नता या निर्मलता ही कर्मनिर्जरा का मुख्य कारण है।" साथ ही वहाँ कहा गया है–"आचार्य को कर्मों की निर्जरा के लिए (आत्म-शुद्धि के लिए) ही संघ का नेतृत्व सँभालना चाहिए।" 'स्थानांगसूत्र' के अनुसार–"एक धर्म (संवर-निर्जरारूप) ही ऐसा अनुष्ठान (प्रतिमा) है, जिससे आत्मा की विशुद्धि होती है।" "उस शुद्ध धर्म का उपदेश अन्न-पानी आदि के लिए नहीं करना चाहिए, अपितु अग्लान (प्रसन्न–प्रशान्त) भाव से, केवल कर्मनिर्जरा के लिए धर्म का उपदेश करना चाहिए।" ऐसा 'सूत्रकृतांग' का कथन है।[1]

---

१. (क) विरतो पुणजो जाणं कुणति अजाणं व अप्पमत्तो वा।
तत्थवि अज्झत्थ समा, संजायति णिज्जरा, ण चयो॥ –बृह. भा. ३९३९

(ख) उवउत्तस्स उ खलियाइयं पि सुद्धस्स भावओ सुत्तं।
साहइ तह किरियाओ, सव्वाओ निज्जरफलाओ॥ –विशेषा. भा. ८६०

(ग) अप्पो बंधो जयाणं, बहुणिज्जर, तेण मोक्खो तु। –निशीथभाष्य ३३३५

(घ) जति भाग-गया मत्ता, रागादीणं तहा चयो कम्मे। –वही ५१६४

(ङ) जा जयमाणस्स भवे, विराहणा सुत्तविहि-समग्गस्स।
सा होइ निज्जरफला, अज्झत्थ-विसोहि-जुत्तस्स॥ –ओघनि. ७६१

(च) जं कुणदि सम्मदिट्ठी, तं सव्वं णिज्जरणिमित्तं। –समयसार १९३

(छ) जो सो मणप्पसादो, जायइ सो निज्जरं कुणति। –व्यवहारभाष्य ६/१९०

ये सब शास्त्रीय प्रमाण सकामनिर्जरा के हैं, जिन्हें सम्यग्दृष्टि-सम्यग्ज्ञानी सहज भाव से आचरित कर सकता है।

विशिष्ट सकामनिर्जरा की व्याख्या

विशिष्ट सकामनिर्जरा की व्याख्या 'पंचास्तिकाय' के अनुसार इस प्रकार है– "जो भेदविज्ञानी जीव शुभाशुभ आस्रवों के निरोधरूप संवर और शुद्धोपयोगरूप योगों से युक्त होकर विविध बाह्य-आभ्यन्तर तपों द्वारा पुरुषार्थ करता है, वह नियमतः बहुत-से कर्मों की निर्जरा कर लेता है।" इस प्रकार से कर्मों का क्षय होना विशिष्ट सकामनिर्जरा है।[1]

सकामनिर्जरा और मोक्ष में अन्तर

प्रश्न होता है–फिर सकामनिर्जरा और मोक्ष में क्या अन्तर है? इसका समाधान 'स्थानांगसूत्र वृत्ति' में इस प्रकार किया गया है–"(यद्यपि दोनों की कर्ममुक्ति ही लक्ष्य है तथापि) देशतः कर्मक्षय होना (सकाम) निर्जरा है और सर्वतः कर्मक्षय होना मोक्ष है।" सकामनिर्जरा से कर्मक्षय होने से आत्मा के शुद्ध स्वरूप की उपलब्धि होती है। शुभाशुभ आस्रवों के निरोध से संवर होता है, जबकि शुभाशुभ कर्मबन्धों का आत्मा से पृथक् होने से निर्जरा होती है। किन्तु इन दोनों से आत्मा की सीमित स्वरूपोपलब्धि होती है, जबकि पूर्ण संवर और पूर्ण निर्जरा होती है, तब आत्मा की पूर्णरूपेण स्वरूपोपलब्धि हो जाती है। यही सर्वकर्ममुक्तिरूप मोक्ष है।[2]

●●

पिछले पृष्ठ का शेष–

(ज) कामाणं निज्जरट्ठा, एवं खु गणो भवे धरेयव्वो। –*व्यवहारभाष्य ३/४५*

(झ) एगा धम्म-पडिमा, जं से आया पज्जवजाए। –*स्थानांग १/१/४०*

(ञ) णो अन्न हेउं, ···· णो पाणस्स हेउं धम्ममाइक्खेज्जा।
अगिलाए धम्ममाइक्खेज्जा, कम्मनिज्जरट्ठाए धम्ममाइक्खेज्जा॥ –*सूत्रकृतांग २/१/१५*

१. संवर-जोगेहिं जुदो, तवेहिं जो चिट्ठदे बहुविहेहिं।
कम्माणं णिज्जरणं कुणदि सो नियदं॥ –*पंचास्तिकाय, गा. १४४*

२. (क) निर्जरा-मोक्षयोः कः प्रतिविशेषः? उच्यते-देशतः कर्मक्षयो निर्जरा, सर्वतस्तु मोक्षः इति। –*स्थानांगसूत्र वृत्ति, स्था. १*

(ख) 'जैनदर्शन : मनन और मीमांसा' (आचार्य महाप्रज्ञ) से भाव ग्रहण, पृ. ४४२

(ग) अत्र शुभाशुभ (निरोधरूप) संवरसमर्थः शुद्धोपयोगो भावसंवरः।
भावसंवराधारेण नवतर कर्मनिरोधो द्रव्यसंवरः॥ –*पंचा. वृत्ति १४२*

९

निर्जरा के विविध स्रोत

निर्जरा एक : अनेक रूप और अनेक प्रकार

सामान्यतया निर्जरा एक ही है, किन्तु यथाकाल और औपक्रमिक भेद से वह दो प्रकार की है। यथाकाल का अर्थ है–स्वकाल-पक्व और तप आदि द्वारा कर्मों को पकाकर (उदय में लाकर) की हुई निर्जरा औपक्रमिक कहलाती है। ज्ञानावरणीय आदि आठ मूल कर्म-प्रकृतियों को क्षीण करने की दृष्टि से वह आठ प्रकार की है।[1]

अकामनिर्जरा और सकामनिर्जरा की दृष्टि से निर्जरा के मुख्यतः दो भेद होते हैं। पिछले निबन्ध में हम अकामनिर्जरा के अनेक रूपों का तथा सकामनिर्जरा के कुछ रूपों और उनके स्वरूप का दिग्दर्शन करा आये हैं। 'द्रव्यसंग्रह टीका' में (सकाम) निर्जरा के दो प्रकार बताये हैं–भावनिर्जरा और द्रव्यनिर्जरा। जीव के जिन विशुद्ध परिणामों से कर्मपुद्गल झड़ते हैं, वे जीव के परिणाम भावनिर्जरा हैं और जो कर्म झड़ते (आत्मा से पृथक् होते) हैं, वे द्रव्यनिर्जरा हैं। 'पंचास्तिकाय' के अनुसार–कर्मशक्ति के निर्मूलन में समर्थ जीव का शुद्धोपयोग भावनिर्जरा है और उस शुद्धोपयोग के सामर्थ्य से निरसीभूत पूर्वोपार्जित कर्मपुद्गलों का संवरपूर्वक भाव से एकदेशतः क्षय होना द्रव्यनिर्जरा है। वस्तुतः कर्मों के रस (कषायजनित अनुभाव) को क्षीण करने के विभिन्न प्रकारों की अपेक्षा से (सकाम) निर्जरा के संख्यात, असंख्यात और अनन्त भेद हो सकते हैं।[2]

---

१. (क) एगा णिज्जरा। –*स्थानांग, स्था. १, सू. १५*

(ख) सामान्यादेकः निर्जरा? द्विविधा–यथाकालीपक्रमिकभेदात्। अष्टधा–मूलकर्म-प्रकृतिभेदात्। एवं संख्येयाऽसंख्येयानन्तविकल्पा भवन्ति कर्मरस-निर्हरण-भेदात्। –*राजवार्तिक १/७/१४/४०/१९*

(ग) तह कालेण तवेण य पच्चंति कदाणि कम्माणि। –*भगवती आ. १८४८*

२. (क) भावनिर्जरा सा का? येन भावेन जीवपरिणामेन सडति विशीर्यते पतति गलति कम्मपुग्गलं कर्मणोगलनं यच्च सा द्रव्यनिर्जरा। –*द्रव्यसंग्रह टीका ३६/१५०/१०*

पात्रों की स्थिति के अनुसार उत्तरोत्तर क्रमशः असंख्येयगुणी निर्जरा

मोक्षलक्षी दृष्टि की अपेक्षा से सकामनिर्जरा का प्रारम्भ चतुर्थ गुणस्थान (अविरत सम्यग्दृष्टि) से होता है। 'तत्त्वार्थसूत्र' में कहा गया है–"सम्यग्दृष्टि, देशविरत श्रावक, सर्वविरत मुनि, अनन्त-वियोजक (अनन्तानुबन्धी-विसंयोजक), दर्शनमोह-क्षपक, उपशमक, उपशान्तमोह, क्षपक, क्षीणमोह और जिन; इन सब को (अन्तर्मुहूर्त्त-पर्यन्त परिणामों की विशुद्धि की अधिकता से, आयुकर्म को छोड़कर) प्रतिसमय उत्तरोत्तर क्रमशः असंख्यात-असंख्यातगुणी निर्जरा होती है।" इस सूत्रोक्त सिद्धान्तानुसार सकामनिर्जरा के संख्यात, असंख्यात और अनन्त भेद तक हो जाते हैं।

निर्जरा का मूल हेतु प्रशस्त = शुद्ध परिणाम या अध्यवसाय है। परिणामों की उत्तरोत्तर विशुद्धि होने से क्रमशः निर्जरा भी असंख्येय-असंख्येय गुणी अधिक होती जाती है। सभी सम्यग्दृष्टि समान निर्जरा वाले होते हैं या उनकी निर्जरा में कुछ विशेषता = तरतमता होती है? इसके लिए अध्यवसाय-विशुद्धि के तारतम्य के आधार पर पूर्वोक्त दस अवस्थाओं में निर्जरा का तारतम्य बताया गया है। 'समवायांगसूत्र' में–"कर्मविशुद्धि-मार्गणा (कर्मनिर्जरा) की अपेक्षा से चौदह जीवस्थान (गुणस्थान) बताये गये हैं।"[1]

'सर्वार्थसिद्धि' में कहा गया है–"जिसे पूर्वोक्त काललब्धि आदि की सहायता मिली है और जो परिणामों की विशुद्धि द्वारा वृद्धि को प्राप्त हो रहा है, ऐसा भव्य पंचेन्द्रिय संज्ञी पर्याप्तक जीव क्रमशः अपूर्वकरण आदि सोपान-पंक्ति पर चढ़ता हुआ बहुतर कर्मों की निर्जरा करने वाला होता है। सर्वप्रथम वही प्रथम सम्यक्त्व (उपशम सम्यग्दर्शन) की प्राप्ति के निमित्त मिलने पर सम्यग्दृष्टि होता हुआ असंख्येयगुणी कर्मनिर्जरा वाला होता है।" इसका तात्पर्य 'मोक्षशास्त्र' (गुजराती टीका) में यों बताया गया है–

(१) यहाँ सर्वप्रथम सम्यग्दृष्टि की (चतुर्थ गुणस्थान की) दशा बताई गई है। यहाँ जो असंख्यातगुणी निर्जरा कही गई है, वह सम्यग्दर्शन प्राप्त होने से पहले

पिछले पृष्ठ का शेष–

(ख) कर्मशक्ति-निर्मूलन-समर्थः शुद्धोपयोगो भावनिर्जरा। तस्य शुद्धोपयोगस्य सामर्थ्येन निरसीभूतानां पूर्वोपार्जित-कर्मपुद्गलानां संवरपूर्वकभावेनैकदेश-संक्षयो द्रव्यनिर्जरेति सूत्रार्थः। *–पंचास्तिकाय ता. वृ. १४४/२०९/१६*

१. (क) सम्यग्दृष्टि-श्रावक-विरतानन्त-वियोजक-दर्शनमोह-क्षपकोपशमकोपशान्तमोह-क्षपक-क्षीणमोह-जिनाः क्रमशोऽसंख्येयगुण-निर्जराः। *–तत्त्वार्थसूत्र, अ. ९, सू. ४५*

(ख) कम्मविसोहि-मग्गणं पडुच्च चउदसजीवठाणा पण्णत्ता, तं.–मिच्छादिट्ठी ... अजोगीकेवली। *–समवायांग, समवाय १४*

की, बिलकुल निकट की आत्मा की दशा में होने वाली निर्जरा से असंख्यातगुणी निर्जरा समझना। प्रथम उपशम-सम्यक्त्व की उत्पत्ति से पहले तीन करण (यथाप्रवृत्ति, अपूर्व, अनिवृत्तिकरण) होते हैं। उनमें से अनिवृत्तिकरण के अन्तिम समय में प्रवर्तमान विशुद्धि से विशुद्ध सम्यक्त्व-सम्मुख हुआ मिथ्यादृष्टि के आयुकर्म के सिवाय शेष सात कर्मों की (अकाम) निर्जरा होती है, उसकी अपेक्षा असंख्यातगुणी (सकाम) निर्जरा अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान प्राप्त करते ही अन्तर्मुहूर्त्त पर्यन्त समय-समय में होती है। अर्थात् सम्यक्त्व-सम्मुख मिथ्यादृष्टि की निर्जरा की अपेक्षा सम्यग्दृष्टि के असंख्यातगुणी निर्जरा होती है।

(२) पुनः वही जीव चारित्रमोहनीय कर्म के एक भेद अप्रत्याख्यानावरण कर्म के क्षयोपशम के निमित्त से परिणामों की विशुद्धि का प्रकर्ष होने से पंचम गुणस्थानवर्ती श्रावक होता है, यानी उसमें जब श्रावकत्व प्रकट होता है, तब उसकी निर्जरा चतुर्थ गुणस्थान वाले से असंख्यातगुणी अधिक होती है।

(३) पुनः वही जीव (चारित्रमोहनीय कर्मवर्ती) प्रत्याख्यानावरण कर्म के क्षयोपशम निमित्तक परिणामों की विशुद्धिवश विरतसंज्ञा (सर्वविरत) को प्राप्त होता हुआ उससे असंख्येयगुणी निर्जरा वाला होता है। 'मोक्षशास्त्र' गुजराती टीका के अनुसार–पाँचवें गुणस्थान से असंख्यातगुणी निर्जरा सकल संयमरूप सप्तम अप्रमत्तसंयत गुणस्थान प्रकट होता है तब होती है। पाँचवें के बाद सातवाँ गुणस्थान प्रकट होता है और फिर विकल्प उठने पर छठा गुणस्थान (प्रमत्तसंयत) आता है। सूत्र में केवल 'विरत' शब्द है, अतः उसमें सातवें और छठे दोनों गुणस्थान वाले जीवों का समावेश हो जाता है।

(४) पुनः वही जीव जब अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ की विसंयोजना करता है, अर्थात् अनन्तानुबन्धी कषाय-चतुष्टय को शेष बारह कषायों तथा नौ नोकषायों के रूप में परिणमित कर देता है, तब परिणामों की विशुद्धि के प्रकर्षवश उन जीवों को अन्तर्मुहूर्त्त-पर्यन्त प्रतिसमय असंख्यातगुणी निर्जरा होती है। अनन्तानुबन्धी की यह विसंयोजना चौथे, पाँचवें, छठे और सातवें; इन चार गुणस्थानों में होती है। इन चारों गुणस्थानों में जो अनन्त वियोजक हैं, वे अपने-अपने गुणस्थान में अपने से पूर्व गुणस्थानों की निर्जरा की अपेक्षा असंख्यात-असंख्यातगुणी निर्जरा करते हैं।

(५) पुनः वही जीव दर्शनमोहनीयत्रिकरूपी तृणसमूह को भस्मसात् करता हुआ परिणाम-विशुद्धि के अतिशयवश दर्शनमोह-क्षपक (क्षायिक सम्यग्दृष्टि) संज्ञा को प्राप्त होता है, उसकी निर्जरा अनन्तानुबन्धी-विसंयोजक (अनन्तवियोजक) से असंख्यातगुणी अधिक होती है। सिद्धान्तानुसार क्रम ऐसा है कि पहले अनन्तानुबन्धी का विसंयोजन करने के पश्चात् ही दर्शनमोहत्रिक का क्षय करता है।

(६) दर्शनमोह के क्षपक की अपेक्षा उपशमक (उपशम श्रेणी वाले) के असंख्यातगुणी निर्जरा होती है। दर्शन मोहत्रिक क्षपक के बाद उपशमक की निर्जरा को अधिक बताने का कारण यह है कि क्षायिक सम्यग्दर्शन चौथे, पाँचवें, छठे और सातवें गुणस्थान में प्रकट होता है, जबकि चारित्रमोह का उपशम करने को उद्यत उपशम श्रेणी वाले जीव के आठवाँ, नौवाँ और दसवाँ गुणस्थान होता है।

(७) उपशमक जीव की अपेक्षा असंख्यातगुणी निर्जरा ग्यारहवें उपशान्तमोह गुणस्थान में होती है।

(८) उपशान्तमोह वाले जीव की अपेक्षा क्षपक (क्षपक श्रेणी वाले) जीव के असंख्यातगुणी निर्जरा होती है। इस जीव के भी आठवाँ, नौवाँ और दसवाँ गुणस्थान होता है।

(९) क्षपक श्रेणी वाले (क्षपक) जीव की अपेक्षा बारहवें क्षीणमोह गुणस्थान वाले के असंख्यातगुणी निर्जरा होती है।

(१०) बारहवें क्षीणमोह गुणस्थान की अपेक्षा 'जिन' (तेरहवें और चौदहवें गुणस्थान वालों) के असंख्यातगुणी निर्जरा होती है जिनके तीन भेद होते हैं– (१) स्वस्थान केवली, (२) समुद्घात केवली, और (३) अयोग केवली। इन तीनों में भी उत्तरोत्तर विशुद्धता के कारण असंख्यातगुणी निर्जरा है।[1]

दिगम्बर परम्परा में सविपाक-अविपाक निर्जरा : एक अनुचिन्तन

दिगम्बर परम्परा में निर्जरा के दो भेद बताये गये हैं–सविपाक और अविपाक अथवा विपाकजा और अविपाकजा। 'सर्वार्थसिद्धि' के अनुसार–क्रमशः परिपाककाल को प्राप्त हुए और अनुभव (फलभोग) रूपी उदयावली के स्रोत में प्रविष्ट शुभाशुभ कर्मों का फल देकर निवृत्त होना (छूट जाना) विपाकजा निर्जरा है तथा जिस प्रकार आम और कटहल को औपक्रमिक क्रिया-विशेष द्वारा अकाल में (काल परिपक्व होने से पहले) ही पका लेते हैं, उसी प्रकार जिसका विपाककाल अभी प्राप्त नहीं हुआ है तथा जो उदयावली से बाहर स्थित हैं, ऐसे कर्म को तप, संयम, परीषहादि-सहन आदि औपक्रमिक क्रिया-विशेष सामर्थ्य से उदयावली में प्रविष्ट कराकर समभाव से भोगा जाता है, वह अविपाकजा निर्जरा है। 'भगवती आराधना' के अनुसार–सविपाक निर्जरा तो केवल उदय-प्राप्त (परिपक्व) कर्मों की ही होती है। परन्तु अविपाक निर्जरा तो तप आदि द्वारा पक्व-अपक्व सभी कर्मों

१. (क) सर्वार्थसिद्धि ९/३५१/१५
(ख) 'मोक्षशास्त्र' (गुजराती टीका) (टीका संग्राहक एण्ड राम जी माणेकचन्द दोशी) से भाव ग्रहण, पृ. ७५९-७६१

की होती है। 'बारस अणुवेक्खा' में स्पष्ट कहा है–चारों ही गति के (मिथ्यादृष्टि, अज्ञानी, गाढ़-अगाढ़ कर्मलिप्त) सभी जीवों के सविपाक निर्जरा होती है, जबकि दूसरी (अविपाक) निर्जरा सम्यग्दर्शन-ज्ञानयुक्त जीवों एवं व्रतधारियों का ज्ञानियों के होती है। 'द्रव्यसंग्रह टीका' में कहा है–अविपाक निर्जरा ही मोक्ष की कारण है। यह निर्जरा (सकामनिर्जरा के समान) सम्यग्दृष्टि और सम्यग्ज्ञानी के ही होती है। सविपाक निर्जरा तो नरक, तिर्यञ्च आदि गतियों में मिथ्यादृष्टि एवं अज्ञानियों के होती हुई देखी जाती है। अज्ञानियों की वह निर्जरा गजस्नान के समान निष्फल होती है, क्योंकि अज्ञानी जीव थोड़े-से कर्मों की निर्जरा करता है और बहुत-से नये कर्म और बाँध लेता है। सविपाक निर्जरा को अकुशलानुबन्धा या अबुद्धिपूर्वा भी कहा गया है; जबकि समभावपूर्वक परीषह-सहन करने को अविपाक निर्जरा को कुशलमूला कहा गया है। अविपाक निर्जरा मिथ्यादृष्टि द्वारा इच्छा निरोध न होने से शुभानुबन्धा होती है, वही निर्जरा इच्छा-निरोध होने से सम्यग्दृष्टि के द्वारा निरनुबन्धा होती है।[1]

सरागसम्यग्दृष्टि या सरागसंयमी के अशुभ कर्मों की महानिर्जरा कैसे ?

इसलिए कर्ममुक्ति के इच्छुक साधक को अज्ञानी जनों द्वारा आचरित सविपाक या अकामनिर्जरा को नहीं अपनाकर, अविपाकजा या सकामनिर्जरा को ही अपनाना चाहिए। यद्यपि सम्यग्दृष्टि ज्ञानी जीवों में सरागसम्यग्दृष्टि या सरागसंयमी के जो निर्जरा होती है, उसमें अशुभ कर्मों का क्षय होता है, शुभ कर्मों का नहीं; फिर भी वह संसार की स्थिति को अल्प कर देती है और उसी भव में तीर्थंकर नामकर्म प्रकृति आदि विशिष्ट पुण्यबन्ध का कारण भी होती है; जोकि परम्परा से मोक्ष की कारण हैं। 'उत्तराध्ययनसूत्र' में बताया गया है कि वैयावृत्य (शास्त्रोक्त दशविध वैयावृत्य) से तीर्थंकर नामगोत्र कर्म (उत्कृष्ट पुण्य) का बन्ध होता है।

---

१. (क) क्रमेण परिपाककालप्राप्तस्यानुभवोदयावलिस्रोतोऽनुप्रविष्टस्यारब्धफलस्य या निवृत्तिः सा विपाकजा निर्जरा। यत्कर्माप्राप्त-विपाककालमौपक्रमिकक्रियाविशेष-सामर्थ्यादनुदीर्ण-बलादुदीर्णोदयावलिं प्रवेश्य वेद्यते आम्र-पनसादि-पाकवत् सा अविपाकजा निर्जरा।
–स. सि. ८/२३/३९९/९

(ख) सा द्वेधा अबुद्धिपूर्वा कुशलमूला चेति। तत्र नरकादिगतिषु कर्मफलविपाकजा अबुद्धिपूर्वा साऽकुशलानुबन्धा। परीषहजये कृते कुशलमूला। सा शुभानुबन्धा निरनुबन्धा चेति।
–वही ९/७/४१७/९

(ग) सव्वेसिं उदयसमागदस्स कम्मस्स णिज्जरा होइ।
कम्मस्स तवेण पुणो सव्वस्स वि णिज्जरा होइ॥
–भगवती आराधना १८४९

(घ) चादुगदीणं पढमा वयजुत्ताणं हवे बिदिया।
–बारस अणुवेक्खा ६७

दूसरी ओर 'स्थानांगसूत्र' में वैयावृत्य से महानिर्जरा और महापर्यवसान (समस्त कर्मों का या जन्म-मरणरूप संसार का अन्त) बताते हुए कहा गया है–"पाँच-पाँच कारणों (स्थानों) से श्रमण निर्ग्रन्थ महान् कर्मनिर्जरा और महापर्यवसान वाला होता है, जैसे–आचार्य, उपाध्याय, स्थविर, तपस्वी, ग्लान (रुग्ण या अशक्त), शैक्ष (नवदीक्षित), कुल (एक आचार्य के शिष्य-समूह), गण (अनेक कुल-समूह), संघ (अनेक गण-समूह) और साधर्मिक (समान धर्म एवं आचार वाले साधुवर्ग) की अग्लानभाव (प्रसन्न एवं शान्तभाव) से वैयावृत्य करता हुआ।[1] 'सूत्रकृतांग' में कहा है–"ग्लान साधु की अग्लानभाव से वैयावृत्य करे।"[2] स्पष्ट है कि सरागसम्यक्त्वी या सरागसंयमी भी उत्कृष्ट सकामनिर्जरा या अविपाक निर्जरा और उत्कृष्ट पुण्यबन्ध करके परम्परा से मोक्ष (सर्वकर्ममुक्ति) प्राप्त कर लेता है। किन्तु वीतराग सम्यग्दृष्टि तो उत्कृष्ट सकाम (अविपाक) निर्जरा से पुण्य और पाप (शुभाशुभ) दोनों कर्मों का सर्वथा क्षय करके उसी भव में मोक्ष प्राप्त कर लेता है।

'व्यवहारसूत्र' में स्पष्ट कहा है–"रुग्ण साथी की सेवा करता हुआ श्रमण महानिर्जरा और महापर्यवसान (महानिर्वाण) वाला होता है।"[3]

सकामनिर्जरा सम्यग्ज्ञानपूर्वक संवर सहित होती है

छह प्रकार के बाह्य और छह प्रकार के आभ्यन्तर तप की सम्यग्ज्ञान-सम्यग्दर्शनपूर्वक आत्म-शुद्धि के लक्ष्य से आराधना करने से सकामनिर्जरा होती है। इसके अतिरिक्त 'समवायांगसूत्र' में निर्जरा (सकामनिर्जरा) के पाँच स्थान (कारण) बताये गये हैं, यथा–प्राणातिपात (हिंसा) से विरति, मृषावाद (असत्य) से विरति, अदत्तादान (चौर्यकर्म) से विरति, मैथुन (अब्रह्मचर्य) से विरति और परिग्रह (ममता-मूर्च्छापूर्वक वस्तु ग्रहण = रक्षण) से विरति। सम्यग्दृष्टि एवं सम्यग्ज्ञानपूर्वक प्राणातिपात आदि पाँचों आस्रवों व बन्ध कारणों से विरत रहने से सकामनिर्जरा होती है। यहाँ एक प्रश्न उपस्थित होता है कि प्राणातिपात आदि

---

१. (क) देखें–द्रव्यसंग्रह टीका ३६/१५२/१ में निर्जरा सम्बन्धी नियम व शंकाएँ
(ख) वेयावच्चेणं तित्थयरनामगोत्तं कम्मं निबंधइ। –उत्तराध्ययन, अ. २९, पृ. ४३
(ग) पंचहिं ठाणेहिं समणे णिग्गंथे महाणिज्जरे महापज्जवसाणे भवति, तं.–अगिलाए आयरिय उवज्झाय थेर-तवस्सि गिलाण सेह कुल गण संघ साहम्मिय-वेयावच्चं करेमाणे। –स्थानांग, स्था. ५-५, उ. १, सू. ४४-४५

२. कुज्जा भिक्खू गिलाणस्स अगिलाए समाहिए। –सूत्रकृतांग

३. गिलाण-वेयावच्चं करेमाणे समणे निग्गंथे महाणिज्जरे महापज्जवसाणे भवति।
–व्यवहारसूत्र १०

आस्रवों के विरमण (निरोध) से तो संवर होता है, निर्जरा कैसे हो सकती है?[1] 'बारस अणुवेक्खा' में इसका समाधान दिया गया है कि "जिन परिणामों से संवर होता है, उनसे निर्जरा भी होती है। जैसे तप के द्वारा आस्रवों का निरोध होने से संवर होता है, किन्तु आत्म-विशुद्धि का परिणाम होने से निर्जरा भी होती है।" वास्तव में यथार्थरूप से सकामनिर्जरा संवरसहित ही होती है, संवररहित नहीं। इसी तथ्य को 'पंचास्तिकाय' में उजागर किया गया है–संवर से युक्त आत्म-साधना में प्रवृत्त जो साधक आत्मानुभव करके ज्ञान को नियत रूप से ध्याता है, वही कर्मरज को धुन डालता (कर्मनिर्जरा कर पाता) है। 'भगवती आराधना' में भी कहा है–जो साधक संवररहित है, उसकी कर्मों से मुक्ति (कर्मनिर्जरा) केवल तपश्चरण से नहीं हो सकेगी, ऐसा जिनवचन है। क्योंकि तालाब को सुखाने के लिए केवल अन्दर का कीचड़ और गंदगी ही बाहर निकाली जायेगी, परन्तु बाहर से आने वाले जलप्रवाह को पहले रोका नहीं जायेगा, तो तालाब कब सूखेगा? इसी प्रकार आत्मारूपी जलाशय में बाहर से आने वाले आस्रवों को पहले रोका नहीं जायेगा और केवल पहले की पड़ी हुई अशुद्धि को ही दूर करने का (कर्मनिर्जरण) कार्य किया जायेगा, तो आत्मा की शुद्धि कैसे हो सकेगी? इसलिए सम्यक्त्वसंवर आदि पंचविध संवरपूर्वक निर्जरा की जायेगी तो वह प्रशस्त और श्रेयस्कर होगी।[2]

सम्यग्ज्ञानसहित संवरपूर्वक सकामनिर्जरा के शास्त्रीय प्रमाण

'औपपातिकसूत्र' के अनुसार–जो अल्पारम्भी, अल्पपरिग्रही, धार्मिक यावत् जीव-अजीव-पुण्य-पाप-आस्रव-संवर-निर्जरा-क्रिया-अधिकरण-बन्ध-मोक्ष के तत्त्वज्ञान में कुशल हैं, निःशंकित, निष्कांक्ष हैं, निर्ग्रन्थ-प्रवचन के प्रति पूर्ण श्रद्धालु हैं, श्रावकव्रतधारी, सामायिक, पौषध आदि का तथा अतिथिसंविभागव्रत का सम्यक् अनुपालनकर्त्ता हैं, अन्तिम समय में भक्तप्रत्याख्यान करके समाधिपूर्वक यथाकाल कालधर्म प्राप्त करते हैं। वे उत्कृष्टता बाईस सागरोपम की स्थिति वाले

---

१. पंच निज्जरट्ठाणा पण्णत्ता, तं.–पाणाइवायाओ .... मुसावायाओ .... अदिन्नादाणाओ .... मेहुणाओ .... परिग्गहाओ वेरमणं। –*समवायांगसूत्र, समवाय ५, सू. ६*

२. (क) जेण हवइ संवरणं तेण दु णिज्जरणमिदि जाणे। –*बारस अणुवेक्खा ६६*
(ख) तपसा निर्जरा च। –*तत्त्वार्थ ९/३*
(ग) जो संवरेण जुत्तो अप्पट्ठ-पसाधगो हि अप्पाणं।
मुणिऊण झादि नियदं णाणं, सो संधुणोदि कम्मरयं॥ –*पंचास्तिकाय १४५*
(घ) तवसा चेव ण मोक्खो संवरहीणस्स होइ जिणवयणे।
ण हु सोत्ते पविसंते, किसिणं परिसुस्सदि तलायं॥ –*भगवती आराधना १८५४*

अच्युतकल्प देवलोक में उत्पन्न होते हैं, आराधक होते हैं।[1] क्योंकि वे सकामनिर्जरा से अपने बहुत-से अशुभ कर्मों का क्षय कर देते हैं। प्रशस्तराग के कारण वे उत्कृष्ट पुण्यबन्ध के फलस्वरूप उत्कृष्टतः बारहवें वैमानिक देवों में उत्पन्न होते हैं।

अम्बड़ परिव्राजक तथा उसके शिष्यों की सकामनिर्जराराधना

'औपपातिकसूत्र' में काम्पिल्यपुर निवासी अम्बड़ परिव्राजक की चर्या का विस्तृत वर्णन है। उसने स्थूल प्राणातिपात, मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन और परिग्रह से विरमणव्रत स्वीकार किया तथा भिक्षाचर्या के तथा आहार-विहार आदि चर्या के कई नियम तथा तीन गुणव्रतों व चार शिक्षाव्रतों का भी पालन करता था। वह तथा उसके शिष्यों का यह नियम था कि पिपासा होने पर किसी दाता के दिये बिना पानी न लेना, न सेवन करना। एक बार काम्पिल्यपुर से पुरिमताल नगर के लिए उन्होंने प्रस्थान किया। रास्ता काफी लम्बा था। बीच में बहुत लम्बा जंगल पार कर रहे थे, उस समय उनके पास पहले ग्रहण किया हुआ पानी पीते-पीते क्रमशः समाप्त हो गया था। फिर वे परिव्राजक परस्पर विचार करके चारों तरफ पानी की खोज करने लगे, गंगा महानदी के किनारे पहुँचे, पर उन्हें अपने नियमानुसार बिना दिये पानी लेना न था। बहुत खोज करने पर भी दाता कोई भी नहीं मिला। अतः उन्होंने सबने अपने त्रिदण्ड, कुण्डिका, छत्र, वाहन, पादुका, धातुरक्त, अतिरिक्त वस्त्र आदि एकान्त में रखे तथा गंगा महानदी के उस पार बालू छिपी हुई थी, उसी पर अपनी-अपनी सीमित जगह में आसन जमाया। पूर्वदिशाभिमुख होकर शक्रस्तव का पाठ किया और जो पाँच अणुव्रत थे, उनकी जगह महाव्रत के रूप में तथा अठारह पापस्थानों का तथा चारों आहारों का यावज्जीव प्रत्याख्यान भगवान की साक्षी से किया। इस प्रकार शरीर के प्रति सब प्रकार से ममत्व का त्याग करके वे पादोपगमन संलेखना-संथारा करके स्थित हो गये। आलोचनादि से आत्म-शुद्धि करके समाधिपूर्वक यथासमय कालधर्म प्राप्त कर वे ही परिव्राजक दस सागरोपम की स्थिति वाले ब्रह्मलोक नामक देवलोक में उत्पन्न हुए। उनका यह तप एवं परीषह-सहन समभावपूर्वक सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रपूर्वक था, इसलिए उनकी निर्जरा सकाम थी। वे सभी आराधक हुए।

---

१. देखें—औपपातिकसूत्र में २०वाँ सूत्र पाठ—
अप्पारंभा अप्पपरिग्गहा धम्मिया ' ' ' ' समणोवासगा भवंति ' ' ' ' अभिगयजीवाजीवा, उवलद्धपुण्ण-पावा, आसव-संवर-निज्जर-किरिया-अहिगरणबंधमोक्खकुसला ' ' ' ' आराहया, सेसं तहेव।

इसी तरह अम्बड़ परिव्राजक स्वयं भी सम्यग्दर्शन-ज्ञानपूर्वक अणुव्रत-गुणव्रत-शिक्षाव्रत आदि से युक्त था। वह भी अन्तिम समय में एक मास का संलेखना-संथारा करके यावत् ब्रह्मलोक कल्प में उत्पन्न हुआ। उसकी यह निर्जरा भी सकाम थी। अम्बड़ के भविष्य के बारे में बताया गया है कि वह महाविदेह क्षेत्र में सुसम्पन्न संस्कारी कुल में जन्म लेकर अनगार धर्म को प्राप्त करेगा। साधु-जीवन की चर्या का निरतिचारपूर्वक पालन करते हुए वह अनेक परीषहों-उपसर्गों को समभाव से सहकर मासिक संलेखना-संथारा ग्रहण करके इन औदारिकादि समस्त शरीरों को सदा के लिए छोड़कर सिद्ध-बुद्ध-मुक्त होगा। दृढ़-प्रतिज्ञ अनगार के रूप में अम्बड़ के जीव की यह महानिर्जरा थी।

निर्ग्रन्थ श्रमणों की महानिर्जरा महापर्यवसान के रूप में सर्वकर्ममुक्ति

इसी प्रकार अनारम्भ, अपरिग्रह, सुव्रत तथा पाँच महाव्रत, पाँच समिति, तीन गुप्ति के पालक, अठारह पापस्थानों से विरत, समस्त आरम्भ-समारम्भ से विरत, सावद्ययोगों से रहित श्रमण-निर्ग्रन्थ भी जिनकल्प या स्थविरकल्प भाव से श्रामण्य-पर्याय का पालन करते हुए कई श्रमणों को केवलज्ञान शीघ्र प्राप्त हो जाता है, कई श्रमणों को चिरकाल के पश्चात् श्रमणधर्माराधन करते हुए केवलज्ञान प्राप्त होता है और वे सब अन्तिम समय में सर्वकर्मों का क्षय करके सिद्ध-बुद्ध-मुक्त होते हैं। उनमें से जिनके कुछ कर्म अवशिष्ट रहते हैं, वे सर्वार्थसिद्ध में वैमानिक देव बनते हैं। आराधक होते हैं। जो मनुष्य सर्वकाम, सर्वस्नेह, सर्वसंग से अतीत तथा क्रोधादि कषायों से क्रमशः रहित होकर क्रमशः आठों ही कर्मों का क्षय कर देते हैं, वे सिद्ध-बुद्ध-मुक्त होकर लोकाग्र में स्थित हो जाते हैं।[1]

भोगों का सर्वथा त्याग महानिर्जरा का कारण कब ?

महानिर्जरा और महापर्यवसान कौन कर सकता है? इस सम्बन्ध में 'भगवतीसूत्र' का यह कथन कितना मार्मिक है-"भविष्य में किसी देवलोक में उत्पन्न होने योग्य छद्मस्थ मानव अपने अन्तिम समय में काया से क्षीण भोगी तथा उत्थानादि से भी विपुल भोग भोगने में असमर्थ एवं तपस्या या रोगादि के कारण काया से दुर्बल, क्षीण, किन्तु वचन एवं मन से भोग समर्थ होते हुए भी जो (स्वाधीन या अस्वाधीन) भोगों का त्याग करता है, तथैव वैसा ही क्षीणकाय, किन्तु वचन, मन से

---

१. (क) देखें-औपपातिकसूत्र ३८/१३ एवं ३९/१४ में अम्बड़ परिव्राजक तथा उसके सात सौ आराधक शिष्यों का वर्णन

(ख) देखें-औपपातिकसूत्र ४०/२०-२२ पाठ, जिसमें श्रमण निर्ग्रन्थों की महानिर्जरा की आराधना का विस्तृत वर्णन है।

भोग समर्थ अधोऽवधिक (नियतक्षेत्र विषयक अवधिज्ञानी), उत्कृष्ट (परम), अवधिज्ञानी (परमावधिक), चरमशरीरी तथा केवलज्ञानी भी तीनों भोगों से, स्वेच्छा से, मुमुक्षु बनकर भोगों का सर्वथा परित्याग करते हैं, वे भोगत्यागी मानव (सिद्धान्तानुसार) कर्मों की महानिर्जरा करते हैं, मुक्तिरूप (सर्वकर्मान्त, संसारान्त या सर्वकर्मों की मुक्तिरूप) महाफल प्राप्त करते हैं अथवा जो छद्मस्थ हैं, वे उक्त महानिर्जरा के साथ ही कुछ कर्म शेष रहने से उच्च देवलोक प्राप्त करते हैं।[1]

प्रशस्त त्रियोग से तीन-तीन मनोरथ से महानिर्जरा

'स्थानांगसूत्र' के अनुसार–तीन (मनोरथात्मक) कारणों से श्रमण निर्ग्रन्थ महानिर्जरा और महान् पर्यवसान वाला होता है; जैसे–(१) कब मैं अल्प या बहुत श्रुत (शास्त्र) का अध्ययन करूँगा? (२) कब मैं (अष्ट गुणों से युक्त होकर) (उच्च अध्यात्म-साधना के लिए) एकल विहार-प्रतिमा का अंगीकार करूँगा? (३) कब मैं अपश्चिम (अन्तिम समय की) मारणान्तिक संथारा की आराधना से युक्त होकर, भक्त-पान का प्रत्याख्यान (परित्याग) कर पादोपगमन संथारा अंगीकार करके मृत्यु की (अथवा इहलोक, परलोक जीवित-मरणादि की) आकांक्षा–आशंसा नहीं करता हुआ विचरूँगा? इस प्रकार प्रशस्त मन, वचन, काया से उक्त मंगलमयी श्रेयस्करी भावना करता हुआ श्रमण निर्ग्रन्थ महानिर्जरा व महापर्यवसान वाला होता है।

तीन कारणों से श्रमणोपासक महानिर्जरा और महापर्यवसान वाला होता है–

(१) कब मैं अल्प या बहुत परिग्रह (सजीव-निर्जीव पदार्थ के प्रति ममता-मूर्च्छा) का त्याग करूँगा?

(२) कब मैं (द्रव्यभाव से) मुण्डित होकर आगारधर्म से अनगारधर्म में प्रव्रजित होऊँगा?

(३) कब मैं अपश्चिम मारणान्तिक संलेखना की आराधना से युक्त होकर, भक्त-पान का त्याग कर, स्वेच्छा से पादोपगमन संथारा स्वीकार करके मरण की आकांक्षा नहीं करता हुआ विचरूँगा?

---

१. (क) छउमत्थे ···· मणुस्से जे भविए अन्नयरेसु देवलोएसु देवत्ताए उववज्जित्तए, ···· से खीणभोगी, नो पभू उट्ठाणेणं कम्मेण बलेणं वीरिएणं पुरिसक्कार-परक्कमेणं विउलाई भोगभोगाई भुंजमाणे विहरित्तए; (परन्तु) पभू णं से उट्ठाणेण वि जाव पुरिसक्कार-परक्कमेण वि अन्नयराई विउलाई भोगभोगाई भुंजमाणे विहरित्तए; तम्हा (एरिसो) भोगीभोगे परिच्चयमाणे महाणिज्जरे महापज्जवसाणे भवति।

–भगवतीसूत्र, श. ७, उ. ७, सू. २०

(ख) एवं आहोहिए, परमाहोहिए वि जहा छउमत्थे मणुस्से जाव महापज्जवसाणे भवति। केवली मणुस्से वि जहा परमाहोहिए जाव महापज्जवसाणे भवति।

–वही, श. ६, उ. ७, सू. २१-२३

इस प्रकार प्रशस्त मन-वचन-काया से उक्त सुमनोरथ करते हुए श्रमणोपासक महानिर्जरा और महापर्यवसान वाले होते हैं।[1]

वाचनारूप स्वाध्याय से महानिर्जरा और महापर्यवसान : क्यों और कैसे ?

'उत्तराध्ययनसूत्र' में कहा गया है–"वाचना (शास्त्र या श्रुत को स्वयं पढ़ना अथवा शास्त्र की वाचना देना, पढ़ाना अथवा गुरु या श्रुतधर से शास्त्राध्ययन करना) से जीव कर्मों की निर्जरा करता है। शास्त्र की बार-बार अनुवर्तना (आवृत्ति) होने, (शास्त्र का सदैव पठन-पाठन होने) से शास्त्राध्येता श्रुत की आशातना से दूर रहता है। इस प्रकार श्रुताध्ययन प्रणाली का व्यवच्छेद न होने से एवं श्रुत की अनाशातना में प्रवृत्त जीव तीर्थधर्म (प्रवचनधर्म = स्वाध्याय करना, गणधरधर्म = शास्त्र परम्परा को अविच्छिन्न रखना तथा श्रमणसंघधर्म = शास्त्रोक्त आचारधर्म) का अवलम्बन (आश्रय) लेता है। फलतः श्रुतरूप तीर्थधर्म के स्वाध्यायरूप धर्म के आश्रित होता हुआ जीव महानिर्जरा और महापर्यवसान वाला होता है।[2]

सकामनिर्जरा के विभिन्न स्रोत

पूर्व पृष्ठों में सम्यग्ज्ञानपूर्वक तपश्चरण, परीषह-उपसर्ग-सहन, गुप्ति-समितिपालन, क्षमादि दशविध धर्मों तथा व्रतों-महाव्रतों के आचरण, त्याग, नियम, प्रत्याख्यानचारित्र, संवर आदि के विधिवत् आचरण से सकामनिर्जरा के अल्पनिर्जरा, महानिर्जरा आदि के रूप में विविध शास्त्रीय प्रमाण प्रस्तुत किये गये हैं।

---

१. (क) तिहिं ठाणेहिं समणे णिग्गंथे महाणिज्जरे महापज्जवसाणे भवति, तं.–(१) कयाणं अहं अप्पं वा बहुयं वा सुयं अहिज्जिस्सामि? (२) कयाणं अहं एकल्लविहारपडिमं उवसंपज्जित्ताणं विहरिस्सामि? (३) कयाणं अहं अपच्छिम-मारणंतिय-संलेहणा-झूसणा-झूसिते भत्त-पाण-पडियाइक्खिते पाओवगते काले अवकंखमाणे विहरिस्सामि?

(ख) तिहिं ठाणेहिं समणोवासए महाणिज्जरे महापज्जवसाणे भवति, तं.–(१) कयाणं अहं अप्पं वा बहुं वा परिग्गहं परिच्चइस्सामि? (२) कयाणं अहं मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइस्सामि? (३) कयाणं अहं अपच्छिम-मारणंतिय-संलेहणा-झूसणा-झूसिते अन्नपाण पडियाक्खिते पाओवगते कालं अवकंखमाणे विहरिस्सामि?

एवं समणसा सवयसा सकायसा पागडेमाणे समणे समणोवासए य महाणिज्जरे महापज्जवासणे भवति। *–स्थानांग, स्था. ३, उ. ४, सू. ४९६-४९७*

२. वायणाए णं निज्जरं जणयइ। सुयस्स य अणुसज्जणाए अणासायणाए वट्टए। सुयस्स अणुसज्जणाए अणासायणाए वट्टमाणे तित्थधम्मं अवलंबइ। तित्थधम्मं अवलंबमाणे महाणिज्जरे महापज्जवसाणे भवइ। *–उत्तराध्ययन, अ. २९, सू. १९*

इन सबके अतिरिक्त संवरपूर्वक सकामनिर्जरा के और भी विभिन्न स्रोत आगमों में यत्र-तत्र मिलते हैं।

'उत्तराध्ययनसूत्र' में ज्ञानावरणीय आदि कर्मों की निर्जरा के निम्नलिखित स्रोत बताये हैं–

"स्वाध्याय (पंच अंगों से युक्त) से ज्ञानावरणीय कर्म का क्षय (निर्जरा) होता है।"

"काल प्रतिलेखना से भी ज्ञानावरणीय कर्म का क्षय (सकामनिर्जरा) होता है।"

आशय यह है कि आगम विहित जो प्रादोशिक या प्राभातिक स्वाध्यायकाल है अथवा शास्त्रोक्त विधि के अनुसार स्वाध्याय, ध्यान, शयन, जागरण, प्रतिलेखन, प्रतिक्रमण, भिक्षाचर्या या आहार आदि के लिए जो काल नियत है, उसका प्रतिलेखन करना यानी पूरा ध्यान रखना, प्रमादरहित होकर उपयोगपूर्वक समय विभाग के अनुसार प्रत्युपेक्षणा करने से ज्ञानावरणीय कर्म की निर्जरा होती है। इसी प्रकार "श्रुत (शास्त्र, सिद्धान्त) की आराधना भलीभाँति अध्ययन, मनन, लेखन-सम्पादन आदि) से जीव अज्ञान (श्रुतजन्य विशिष्ट बोध के अज्ञान) का क्षय करता है, यानी तज्जन्य ज्ञानावरणीय कर्म क्षीण हो जाता है। अज्ञान नष्ट होने से (राग-द्वेष-जन्य) आन्तरिक क्लेश भी शान्त हो जाता है।"[1]

इसी प्रकार "श्रोत्रेन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय और स्पर्शेन्द्रिय के निग्रह से उस-उस इन्द्रिय के मनोज्ञ-अमनोज्ञ शब्दादि विषयों के प्रति होने वाले राग-द्वेष का निग्रह हो जाता है। फिर उस-उस इन्द्रिय-निमित्तक नये कर्मों का बन्ध नहीं होता, साथ ही पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा हो जाती है।"[2]

इसी तरह क्रोध, मान, माया और लोभ के विजय से जीव क्रोधवेदनीय, मानवेदनीय, मायावेदनीय और लोभवेदनीय कर्म का बन्ध नहीं करता और तत्तत्-कषाय से पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा कर देता है।[3]

---

१. (क) सज्झाएणं नाणावरणिज्जं कम्मं खवेइ।
(ख) कालपडिलेहणयाएणं नाणावरणिज्जं कम्मं खवेइ।
(ग) सुयस्स आराहणयाएणं अन्नाणं खवेइ, न य संकिलिस्सइ।
–उत्तराध्ययन, अ. २९, सू. १८, १५, २४

२. सोइंदिय···· चक्खुंदिय···· घाणिंदिय···· जिब्भिंदिय···· फासिंदिय निग्गहेण···· सद्देसु···· रूवेसु, गंधेसु···· रसेसु···· फासेसु रागदोस-निग्गहं जणयइ। तप्पच्चइयं कम्मं न बंधइ, पुव्वबद्धं च निज्जरेइ। –वही, अ. २९, सू. ६२-६६

३. कोहविजएणं··· माणविजएणं··· मायविजएणं···· लोभविजएणं (कमेण) कोहवेयणिज्जं··· माणवेयणिज्जं···· मायावेयणिज्जं···· लोभवेयणिज्जं कम्मं न बंधइ, पुव्वबद्धं च निज्जरेइ।
–वही, अ. २९, सू. ६७-७०

"संवेग (मोक्ष के प्रति उत्कण्ठा) से जीव .... अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ का क्षय कर देता है और (मिथ्यात्वजनित) नये कर्म का बन्ध नहीं होता। तन्निमित्तक मिथ्यात्वविशुद्धि करके वह दर्शनाराधक हो जाता है।"[1]

"मनः समाधारणता (मन को समाधि में स्थापित करने) से जीव ज्ञानपर्यायों को प्राप्त करके सम्यक्त्व-विशुद्धि करता है और मिथ्यात्व कर्म की निर्जरा करता है।" 'परिपृच्छना' से सूत्र, अर्थ एवं तदुभयार्थ की विशुद्धि कर लेता है। फलतः वह कांक्षामोहनीय कर्म को व्युच्छिन्न कर डालता है।" "आलोचना से .... ऋजुभाव (सरलता) को प्रतिपन्न जीव अमायी होकर स्त्रीवेद और नपुंसकवेद कर्म नहीं बाँधता, तज्जनित पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा करता है।" तपश्चरण से व्यवदान (पूर्वबद्ध कर्मों का क्षय) करके आत्म-शुद्धि प्राप्त कर लेता है। सुखशात (विषयजन्य सुखों का त्याग करने) से (परम्परा से) चारित्रमोहनीय कर्म का क्षय कर देता है।[2]

सकामनिर्जरा के विभिन्न रूप

"विनिवर्त्तना (विषयवासना से निवृत्ति = विरति) से जीव पापकर्मों को नहीं बाँधता और पूर्व में बँधे हुए कर्मों की निर्जरा कर देता है। तदनन्तर वह चतुर्गतिक संसार-कान्तार (भव-अटवी) को पार कर जाता है।" "विविक्त-शयनासन से जीव चारित्रगुप्ति (चारित्ररक्षा) कर लेता है। तदनन्तर वह विविक्त (विकृतिरहित) आहारकर्त्ता, दृढ़चारित्री, एकान्तसेवी तथा मोक्षभाव प्रतिपन्न साधक अष्टविध कर्मग्रन्थि की निर्जरा करता है।"

मन-वचन-काय के योगों के प्रत्याख्यान से जीव अयोगत्व को प्राप्त कर लेता है। अयोगी जीव नया कर्म नहीं बाँधता, पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा करता है।

---

१. संवेगेणं .... अणंताणुबंधि-कोह-माण-माया-लोभे खवेइ। नवं च कम्मं न बंधइ। तप्पच्चइयं च णं मिच्छत्त-विसोहिं काऊण दंसणाराहए भवइ ....। —*उत्तराध्ययन* २९/१

२. (क) मणसमाहरणयाए .... एगग्गं .... नाणपज्जवे जणइत्ता सम्मत्तं विसोहेइ मिच्छत्तं च निज्जरेइ। —*वही* २९/५६

(ख) पडिपुच्छणयाए सुत्तत्थ-तदुभयाइं विसोहेइ। कंखामोहणिज्जं कम्मं वोच्छिंदइ। —*वही* २९/२०

(ग) आलोयणाए .... उज्जुभाव पडिवन्ने य जीवे अमाई इत्थीवेय-नपुंसकवेयं च न बंधइ, पुव्वबद्धं च णिज्जरेइ। —*वही* २९/५

(घ) तवेणं वोदाणं जणयइ। —*वही* २९/२७

(ङ) सुहसाएणं .... चारित्त-मोहणिज्जं कम्मं खवेइ। *वही* २९/२९

मार्दव (मृदुता) से जीव अनुत्सुकता अर्जित करता है। उससे मृदु-मार्दव-सम्पन्न जीव मद के आठ स्थानों का क्षय कर देता है। मद मानकषाय के अन्तर्गत है। मानकषाय के क्षय करने से चारित्रमोहनीय कर्म की निर्जरा होती है।

भक्त-प्रत्याख्यान से अर्थात् आजीवन अनशनव्रत से अनेक सैकड़ों जन्मों को रोक देता है, अर्थात् जन्म-मरण-रूप संसार को अत्यन्त घटा देता है, यह सकामनिर्जरा है।

गर्हणा से आत्म-नम्रता को प्राप्त जीव अप्रशस्त योगों से निवृत्त होता है और प्रशस्त योग से युक्त होता है, जिसके कारण अनन्त घाति पर्यायों (अनन्त दर्शन-ज्ञानादि के घातक ज्ञानावरणीयादि कर्म-पर्यायों का क्षय कर डालता है। अर्थात् घातिकर्मों की निर्जरा करके भविष्य में शीघ्र ही सर्वकर्ममुक्तिरूप मोक्ष प्राप्त कर लेता है।

इसी प्रकार निन्दना (आत्म-निन्दा) से पश्चात्तापयुक्त होकर वैराग्य प्राप्त करता हुआ करणगुणश्रेणी (क्षपकश्रेणी) प्राप्त करके वह अनगार मोहनीय कर्म का क्षय (निर्जरा) कर डालता है।[1]

सकामनिर्जरा के अन्य स्रोत

'भगवतीसूत्र' में भगवान महावीर से प्रश्न पूछा गया है–"भगवन् ! तथारूप (चारित्रादि श्रमण गुणों से युक्त) श्रमण अथवा माहन को प्रासुक (अचित्त) एवं एषणीय चतुर्विध आहार द्वारा प्रतिलाभित करने वाले श्रमणोपासक को किस फल की प्राप्ति होती है?" उत्तर में कहा गया–"वह (ऐसा करके) एकान्तरूप से निर्जरा

---

१. (क) विनियट्टयाए पावकम्माणं अकरणयाए अब्भुट्ठेइ। पुव्वबद्धाण य निज्जरणयाए तं नियत्तेइ। तओ पच्छा चाउरंतं संसारकंतारं वीइवयइ।
–उत्तराध्ययन, अ. २९, सू. ३२

(ख) विवित्तसयणासणयाए चरित्तगुत्तिं जणयइ। चरित्तगुत्ते य णं जीवे विवित्ताहारे दढचरित्ते एगंतरए मोक्खभावपडिवन्ने अट्ठविह-कम्मगंठि निज्जरेइ। –वही २९/३१

(ग) जोग-पच्चक्खाणेणं अजोगत्तं जणयइ। अजोगी णं जीवे नवं कम्मं न बंधइ, पुव्ववद्धं निज्जरेइ। –वही २९/३७

(घ) महवयाए णं अणुस्सियत्तं जणयइ। अ. तेण जीवे मिउमद्दवसंपन्ने अट्ठमयट्ठाणाइं निट्ठावेइ। –वही २९/४९

(ङ) भत्तपच्चक्खाणेणं अणेगाइं भवसयाइं निरुंभइ। –वही २९/४०

(च) गरहणयाए ···· अपुरक्कारगए णं जीवे अप्पसत्थेहिंतो जोगेहिंतो नियत्तेइ, पसत्थे य पडिवज्जइ। पसत्थजोगपडिवन्ने य णं अणगारे अणंतघाइ-पज्जवे खवेइ। –वही २९/७

(छ) निंदणयाए णं ···· पच्छाणुतावेणं विरज्जमाणे करणगुणसेढिं ···· पडिवन्ने य णं अणगारे मोहणिज्जं कम्मं उग्घाएइ। –वही २९/६

करता है, वह पापकर्म का उपार्जन नहीं करता।" इसी प्रकार का एक सूत्र है– "भगवन् ! तथारूप श्रमण या माहन को (किसी अत्यन्त कारण होने पर) अप्रासुक एवं अनैषणीय आहार देता है, उस श्रमणोपासक को किस फल की प्राप्ति होती है?" उत्तर दिया गया–"उसके बहुत-सी निर्जरा होती है, पापकर्म अल्पतर (बहुत ही कम) होता है।"[1]

इन दोनों स्थितियों में है तो सकामनिर्जरा ही, किन्तु भिन्न स्थिति होने के कारण दोनों की निर्जरा में तारतम्य है। प्रथम स्थिति में पापकर्म तो बिलकुल नहीं होता, पुण्य का बन्ध होते हुए भी निर्जरा प्रचुरतम है; जबकि दूसरी स्थिति में पापकर्म अल्पतर है, पुण्य बहुतर है और निर्जरा भी बहुतर है।

तथारूप श्रमण-माहन को आहारादि देने से निर्जरा कैसे हुई ?

यहाँ एक प्रश्न उपस्थित होता है कि पूर्वोक्त दो पाठों में तथारूप श्रमण या माहन को प्रासुक एवं एषणीय तथा (अपवादमार्ग में) अप्रासुक या अनैषणीय आहार देने वाले श्रमणोपासकद्वय के क्रमशः एकान्तनिर्जरा तथा बहुत-सी निर्जरा का लाभ बताया, किन्तु तथारूप श्रमण-माहनादि उत्कृष्ट सुपात्र को आहारादि देने से तो पुण्यलाभ होता है और पुण्य से शुभ कर्म का बन्ध होता है, जबकि (सकाम) निर्जरा से तो अशुभ कर्म का क्षय होता है। सिद्धान्तानुसार पुण्य नौ प्रकार के दानादि से, शुभ योगों से होता है, जबकि निर्जरा बारह प्रकार के तप से होती है। अतः पूर्वोक्त दोनों पाठों में तथारूप श्रमण एवं माहन को आहार देने में कौन-सा तप हुआ, जिसके कारण उन्हें आहार देने से एकान्त निर्जरा या बहुत निर्जरा कही जा सके? इसका समाधान इस प्रकार है–

पहली बात–श्रमण तथा माहन को दान से सर्वप्रथम विनयतप होता है। श्रमणोपासक श्रमण को आहार देने से पहले भावना भाता है, फिर श्रमण को आहारादि दान देने के भाव से ७-८ कदम सम्मुख जाकर वन्दना-नमस्कार करके बहुमान से सविनय आहार देता है। इसलिए सर्वप्रथम विनय नामक आभ्यन्तर तप हुआ, जिससे अनेक कर्मों की निर्जरा होती है।

---

१. (क) (प्र.) समणोवासगस्स णं भंते ! तहारूवं समणं वा माहणं वा फासुएसणिज्जेणं असण-पाण-खाइम-साइमेणं पडिलाभेमाणस्स किं कज्जति?

(उ.) गोयमा ! एगंतसो से निज्जरा कज्जइ; नत्थि य से पावे कम्मे कज्जति।

(ख) (प्र.) समणोवासगस्स णं भंते ! तहारूवं समणं वा माहणं वा अफासुएणं अणेसणिज्जेण असण-पाण···· जाव पडिलाभेमाणस्स किं कज्जइ?

(उ.) गोयमा ! बहुतरिया से निज्जरा कज्जइ, अप्पतराए से पावे कम्मे कज्जइ।

–भगवती, श. ८, उ. ६, सू. १-२

दूसरी बात–'प्रश्नव्याकरणसूत्र' के तीसरे संवरद्वार में तथा 'स्थानांगसूत्र' के दशम स्थान में दस प्रकार का वैयावृत्य तप बताया है। साधु जैसे दूसरे साधु के लिए आहारादि लाकर वैयावृत्य कर सकता है, वैसे ही श्रावक भी श्रमण और श्रमणभूत श्रावक या व्रतबद्ध श्रावक की केवल निर्जरा की दृष्टि से आहारादि से वैयावृत्य कर सकता है। वैयावृत्य आभ्यन्तर तप का ही एक भेद है। 'भगवतीसूत्र' में कहा गया है–"वैयावृत्य से एकान्त निर्जरा होती है।"

तीसरी बात–श्रावक का बारहवाँ व्रत है–अतिथिसंविभागव्रत। अतः श्रमणोपासक श्रमण अथवा श्रमणभूत माहन या प्रतिमाधारी श्रावक को दान देकर अतिथिसंविभागव्रत तभी निष्पन्न कर सकता है, जब अपने लिए बनाये हुए भोजन में से श्रमणादि को अमुक भाग देकर, बचे हुए थोड़े-से भोजन से निर्वाह कर ले, स्वयं ऊनोदरी कर ले। अतः श्रमणादि को आहारादि दान देने से ऊनोदरी नामक बाह्य तप हुआ, साथ ही विनय-वैयावृत्य नामक आभ्यन्तर तप एवं व्रत-पालन से बहुत-से कर्मों की निर्जरा संभवित है।[1]

चौथी बात–'भगवतीसूत्र' में बताया गया है–"तथारूप श्रमण या माहन को यावत् प्रासुक (अचित्त) और एषणीय अशनादि चतुर्विध आहार से प्रतिलाभित करता हुआ (विधिपूर्वक शुद्ध कल्पनीय द्रव्य देता हुआ) श्रमणोपासक श्रमण या माहन के (जीवन में) समाधि उत्पन्न करता है। उन्हें समाधि प्राप्त कराने वाला श्रमणोपासक उसी समाधि को स्वयं प्राप्त करता है।"

"ऐसा श्रमणोपासक जीवित (जीवनरक्षा के लिए अत्युपयोगी कारणभूत जीवितवत् अन्नादि द्रव्य) का त्याग करता है; दुस्त्यज वस्तु का त्याग करता है, दुष्कर कर्म करता है, दुर्लभ वस्तु का लाभ लेता है; अतः उसे बोधि (सम्यग्दर्शन का) लाभ मिलता है, उसके कारण निर्जरा होती है। वह परम निर्जरा

---

१. (क) प्रश्नोत्तर मोहनमाला (गुजराती), भा. ३ (पू. श्री मोहनलाल जी म.) से भाव ग्रहण, पृ. १५२

(ख) नवविहे पुन्ने प. तं.–अन्नपुन्ने ···· नमोक्कारपुन्ने। *–स्थानांग, स्था. ९, सू. ८८५*

(ग) तपसा निर्जरा च। *–तत्त्वार्थसूत्र, अ. ९, सू. ३*

(घ) छव्विहे बाहिरे तवोकम्मे पन्नत्ते ···· छव्विहे अब्भिंतरे तवोकम्मे पन्नत्ते ····।
–समवायांग, समवाय ६, सू. २०

(ङ) देखें–अन्तकृद्दशांगसूत्र में देवकी महारानी द्वारा ६ मुनियों को विधिवत् आहार देने का वर्णन

(च) प्रश्नव्याकरणसूत्र, द्वितीय संवर द्वार

(छ) स्थानांगसूत्र, स्था. १०

(ज) देखें–श्रावकधर्म, भा. २ (आचार्य श्री जवाहरलाल जी महाराज)

करता हुआ सिद्ध, बुद्ध, (सर्वकर्म) मुक्त हो जाता है, यावत् सर्वदुःखों का अन्त कर देता है।"[1]

श्रमण-माहन को दान देने से कौन-सी समाधि प्राप्त होती है ?

इसके अतिरिक्त पूर्वोक्त शास्त्र पाठ में यह बताया गया है कि "श्रमण-माहन को समाधि उपजाने के कारण उक्त श्रमणोपासक वैसी ही समाधि प्राप्त करता है।" इसका आशय यह है कि 'दशवैकालिकसूत्र' में चार प्रकार की समाधि बताई है– (१) विनयसमाधि, (२) श्रुतसमाधि, (३) तपःसमाधि, और (४) आचारसमाधि। इन चारों प्रकार की समाधि श्रमणोपासक द्वारा आहारादि देने से श्रमण पाता है, वैसे ही आहारादि का दाता श्रमणोपासक भी चारों प्रकार की समाधि प्राप्त करता है। प्रथम विनयसमाधि है, जो प्रथम विकल्प के अनुसार श्रावक श्रमण को आहारदान देते समय विनय नामक आभ्यन्तर तप प्राप्त कर लेता है। दूसरी श्रुतसमाधि है। उसे भी श्रमणोपासक पंचविध स्वाध्याय के माध्यम से प्राप्त कर लेता है। श्रमण गुरुदेव की सेवा-सुश्रूषा, विनय आदि करने से श्रमणोपासक को उनसे सूत्र की वाचना लेना, प्रश्नादि जिज्ञासु बुद्धि से पूछना, बार-बार शास्त्र की या सिद्धान्त ज्ञान की पर्यटना = आवृत्ति करना, सूत्र के अर्थ पर या तथ्य या सिद्धान्त पर अनुप्रेक्षण–चिन्तन-मनन करना और गुरुगम से मिले हुए ज्ञान पर से धर्मकथा या धर्मचर्चा करना। यों पाँच प्रकार का स्वाध्याय भी आभ्यन्तर तप है। स्वाध्याय पंचक से वह श्रमणोपासक भी श्रुतसमाधि पाता है। श्रमणोपासक श्रमण-माहन को आहारादि देता है, तब प्रायः स्वयं ऊनोदरी तप करता है। उसे इससे बाह्यतप होता है। अब रही चौथी आचारसमाधि। श्रमणोपासक के श्रावकधर्म को ज्ञातासूत्र में विनयमूल धर्म बताया है। विनयमूल धर्म का आचरण करने वाले श्रावक को (श्रमण-माहन आहारादि से सेवन करने से उक्त श्रावक के प्रति उपकृत होने से) श्रावकव्रत की नैतिक-आध्यात्मिक आचार, धर्मध्यान आदि को स्वरूप बताते हैं। अतः उक्त आचारसमाधि से श्रमणोपासक ध्यान, कायोत्सर्ग ध्यान आदि आभ्यन्तर तपरूप समाधि प्राप्त करता है, जिससे आचारसमाधि में परिगणित

---

१. (क) गोयमा ! समणोवासए णं तहारूवं समणं वा माहणं वा फासुएणं एसणिज्जेणं असण-पाण-खाइम-साइमेणं पडिलाभेमाणे तहारूवस्स समणस्स वा माहणस्स वा समाहिं उप्पाएति, समाहिकारए णं तमेव समाहिं पडिलभति।

(ख) गोयमा ! (समणोवासए णं तहारूवं समणं वा माहणं वा जाव पडिलाभेमाणे) जीवियं चयति, दुच्चयं चयति, दुक्करं करेति, दुल्लहं लभति, बोहिं बुज्झति ततो पच्छा सिज्झति जाव अंतं करेति। –*भगवतीसूत्र, श. ७, उ. १, सू. ९-१०*

(ग) देखें–व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र, खण्ड २ के श. ७, उ. १ में 'चयति' क्रिया के विशेषार्थ (आ. प्र. स., ब्यावर), पृ. ११३

किया जाता है। अतः इस चार प्रकार की समाधि से श्रमणोपासक विभिन्न तपश्चरणों के माध्यम से श्रमणोपासक (सकाम) निर्जरा के फल को प्राप्त करता है। निष्कर्ष यह है कि श्रमण-माहन दान लेकर तथा श्रावक दान देकर दोनों समाधि चतुष्टय प्राप्त करके एकान्त निर्जरा का तथा द्वितीय सूत्र पाठानुसार बहुत निर्जरा करके कर्मों से हल्के होने का फल प्राप्त कर लेते हैं।

पाँचवीं बात—उपर्युक्त सूत्र के द्वितीय पाठ में बताया गया है कि तथारूप श्रमण-माहन को आहार आदि से प्रतिलाभित करता (देता) श्रमणोपासक कर्मों की दीर्घ स्थिति का त्याग कर (कम कर) डाला है। दीर्घकाल तक भोगने के जो कर्म थे, उनका क्षय करके (निर्जरा करके) ह्रस्व थोड़े काल की स्थिति कर लेता है तथा दुष्कर्मों के पूर्वकृत संचय को दूर कर देता है वह भी निर्जरा ही है तथा ग्रन्थिभेद करता है, यावत् अपूर्वकरण तथा अनिवृत्तिकरण गुणस्थान प्राप्त करते हुए क्षायिक सम्यक्त्वरूप = बोधिबीजरूप सम्यग्दर्शन प्राप्त करके क्षपक श्रेणी पर आरूढ़ होकर अन्त में शास्त्रपाठानुसार वह कार्य की सर्वथा निर्जरा करके सिद्ध, बुद्ध, मुक्त होकर यावत् सर्वदुःखों का अन्त करता है। अतः तथारूप श्रमण को दान देने से ये सब फल प्राप्त होते हैं और वह ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तपरूप फल की प्राप्ति होने से देशतः तथा सर्वतः निर्जरा होनी सम्भव है, इस दृष्टि से भगवान ने एकान्त निर्जरा या बहुतर निर्जरा प्रतिपादित की है।[1]

पापकर्म से दुःख और उसकी निर्जरा करने से सुख

पहले कहा जा चुका है कि पापकर्म के बन्ध से दुःख और निर्जरा से सुख प्राप्त होता है और निर्जरा पूर्वबद्ध कर्मों को भोग लेने से होती है। सकाम और अकाम दोनों प्रकार की निर्जरा में सकामनिर्जरा ही सर्वकर्ममुक्ति के लिए उपादेय है। सकामनिर्जरा में कुछ विशेष नहीं करना पड़ता, केवल दृष्टि बदलने की आवश्यकता है। परन्तु इतना होते हुए भी मनुष्य बन्ध को तोड़कर सकामनिर्जरा नहीं कर पाता।[2]

कर्मनिर्जरा करने में सफल कौन, असफल कौन ?

रामकृष्ण परमहंस ने अपने शिष्यों को इस सम्बन्ध में एक रूपक द्वारा समझाया—संसार में चार प्रकार की मछलियाँ हैं। कुछ मछलियाँ ऐसी हैं, जो बन्धन को बन्धन ही नहीं समझतीं, वे उसी बन्धन में पड़ी रहना चाहती हैं। दूसरे प्रकार

---

१. प्रश्नोत्तर मोहनमाला (गुजराती), भा. ३, पृ. १५२-१५४

२. नेरइयाणं जाव वेमाणियाणं पावे कम्मे जे य कडे, जे य कज्जइ, जे य कज्जिस्सइ सव्वे से दुक्खे, जे निज्जिन्ने से सुहे। —भगवतीसूत्र, श. ७, उ. ९, सू. २९४

की मछलियाँ बन्धन को बन्धन समझती हुई थीं, अपने सदृश दूसरी मछलियों की तरह बन्धन से छूटने का थोड़ा-सा भी प्रयत्न नहीं करती हैं। अतः बन्धन से मुक्त नहीं हो पातीं। तीसरे प्रकार की मछलियाँ बन्धन से छूटने का प्रयास करती हैं, परन्तु वे एक बन्धन को तोड़ती हैं, किन्तु दूसरे बन्धन में फँस जाती हैं। इस प्रकार बन्धन से पूर्णतया मुक्त नहीं हो पातीं। चौथे प्रकार की मछलियाँ बन्धन को भलीभाँति जानती हैं, उन्हें तोड़ने का पूर्ण प्रयत्न करती हैं और जब भी मौका मिलता है, बन्धन को तोड़कर मुक्त हो जाती हैं। इन चार मछलियों की तरह कर्मबन्ध को तोड़ने में सफल-असफल व्यक्ति भी चार प्रकार के हैं। कई अभव्य या असंज्ञी जीव ऐसे हैं, जो बन्धन को बन्धन ही नहीं समझते और बन्धन में पड़े रहना ही चाहते हैं। दूसरे प्रकार के व्यक्ति बन्धन को बन्धन समझकर भी तोड़ने का प्रयास नहीं करते। वे दुःख भोगते हैं, कष्ट सहते हैं, थोड़ी-सी निर्जरा करते हैं, किन्तु अधिकतर नये कर्म बाँध लेते हैं। तीसरे प्रकार के व्यक्ति बन्धन से छूटने के लिए इच्छापूर्वक प्रयत्न करते हैं, वे सम्यग्दृष्टि-सम्पन्न हैं, किन्तु सराग संयम होने के कारण वे निर्जरा के साथ शुभ रागवश पुण्यबन्ध भी करते जाते हैं। चौथे प्रकार के साधक ऐसे हैं, जो बन्धन को भलीभाँति समझकर उसके उदय में आने पर कष्ट को समभाव से, शान्ति से, प्रतिक्रिया व्यक्त न करते हुए भोगकर पूर्ण प्रशस्त सकामनिर्जरा करते हुए उक्त बन्धन को तोड़ डालते हैं।

सकामनिर्जरा : कर्मफल भोगने की कला

सकामनिर्जरा कर्मफल भोगने की प्रशस्त कला है। पूर्वबद्ध कर्म शुभ हो या अशुभ, दोनों के ही उदय में आने पर सुख या दुःख को समभाव रखकर भोगने से सकामनिर्जरा का परम लाभ मिलता है। प्रायः हम देखते हैं कि मनुष्य धर्मस्थान, मन्दिर, प्रार्थनागृह आदि में जाता है, वह कुछ परम्परागत क्रियाएँ करता है, धर्मग्रन्थ श्रवण करता है, उस समय पूर्वबद्ध कर्मों के उदय के समय दुःख को समभाव से भोग लेने की प्रेरणा मिलती है। परन्तु घर आते ही पूर्व संस्कारवश वह भावना काफूर हो जाती है। वह स्वाध्याय भी करता है, अच्छी पुस्तकें भी पढ़ता है, कभी एक दिन या कुछ घण्टों के लिए उग्र क्रोधादि कषाय न करने के लिए नियमबद्ध भी होता है, परन्तु उक्त पीरियड समाप्त होते ही वह निर्जरा के अवसर आने पर भी समभाव से उक्त सुखरूप या दुःखरूप फल को न भोगकर उग्रकषायवश, अज्ञानतापूर्वक भोगता है, अतः नये कर्म बाँध लेता है। कुछ माई के लाल तो नियमबद्ध होकर कर्मफल भोग के समय समभाव रखने का अभ्यास करना ही बेकार समझते हैं। परन्तु श्रमणोपासक गृहस्थवर्ग तथा निर्ग्रन्थ श्रमणवर्ग सम्यग्दृष्टि-सम्पन्न सम्यग्ज्ञानयुक्त होते हुए भी पूर्ण संस्कारवश उग्र कषायों के–

राग-द्वेष के प्रवाह में बह जाते हैं। यद्यपि कुछ आत्मार्थी-साधक अपने उस दोष को परिमार्जित एवं परिष्कृत करने के लिए आलोचना, प्रतिक्रमण, प्रायश्चित्त, तपश्चरण, प्रत्याख्यान आदि करके आत्म-शुद्धि कर लेते हैं; परन्तु कई महानुभाव निर्जरा के अवसरों को चूक जाते हैं, जीवन के अन्तिम क्षणों में भी जब सब कुछ यहाँ छोड़कर परलोक के लिए विदा होने का अवसर आता है, उस समय भी जीवन में की गई भूलों, अपराधों और दोषों की आलोचना, प्रतिक्रमण, पश्चात्ताप तथा प्रायश्चित्त, क्षमापना, वन्दना, भावना, अनुप्रेक्षा एवं आहार-कषाय आदि की संलेखना करके विशुद्ध निर्जरा करने का अवसर चूक जाते हैं। और तो और गृहस्थ-साधक हो या श्रमण-साधक सभी के लिए अपनी साधना के दौरान अम्बड़ परिव्राजक के शिष्यों की तरह या कामदेव आदि श्रमणोपासकों[1] की तरह कई परीषह या उपसर्ग अपने द्वारा स्वीकृत व्रत, नियम आदि से विचलित करने के लिए आते हैं, उस समय भी अनायास आये हुए निर्जरा के अवसर को न चूककर यदि समभाव से सह लेते हैं, धैर्य और शान्ति से उस कष्ट को भोग लेते हैं तो अनेक कर्मों की विशुद्ध निर्जरा हो सकती है। 'आचारांगसूत्र' में इसीलिए कहा गया है–"मज्झत्थो निज्जरापेही।"[2]–निर्जरा की प्रेक्षा-अनुप्रेक्षा या अपेक्षा करने वाला साधक राग और द्वेष दोनों में या कषायों के प्रसंग में मध्यस्थ रहे।" परीषह एक प्रकार से साधक को अपने स्वीकृत धर्मपथ से च्युत न होने–पीछे न हटने–विचलित न होने तथा कर्मनिर्जरा का सुन्दर अवसर उपस्थित करने हेतु आते हैं। 'तत्त्वार्थसूत्र' में उनका सप्रयोजन लक्षण यों बताया गया है–"(रत्नत्रयरूप) मोक्षमार्ग से च्युत–विचलित न होने तथा कर्मों की निर्जरा के लिए सम्यक् प्रकार से समभावपूर्वक सहने योग्य (बाईस) परीषह हैं।" इनके सिवाय देवकृत, मनुष्यकृत या तिर्यंचकृत उपसर्गों को भी समभाव से सहकर उन पर विजय प्राप्त करने से अनेक कर्मों की निर्जरा होती है।

सकामनिर्जरा के विविध अवसर आने पर निर्जरा कैसे करें ?

'स्थानांगसूत्र' में अनुकूल या प्रतिकूल परीषह या उपसर्ग को समभाव से सहने का मनोविज्ञान-सम्मत ऑटो सजेशन (स्वयं प्रेरणा) से युक्त सुन्दर उपाय बताया

---

१. (क) देखें–औपपातिकसूत्र १३/३८ में अम्बड़ परिव्राजक के ७०० शिष्यों का पिपासा परीषह को अविचलभाव से सहन करने का वर्णन (सुत्तागमे, खण्ड २, पृ. २८-२९ में)
   (ख) देखें–उपासकदशांगसूत्र में पौषधव्रत के दौरान कामदेव श्रावक पर आये हुए देवकृत उपसर्ग का वर्णन

२. (क) आचारांगसूत्र, श्रु. १, अ. ८, उ. ८
   (ख) देखें–आचारांगसूत्र, प्रथम श्रुतस्कन्ध का ८वाँ अध्ययन

गया है–"पाँच कारणों (उपायों) से छद्मस्थ व्यक्ति उदीर्ण (उदय-प्राप्त या उदीरणा-प्राप्त) परीषहों और उपसर्गों को सम्यक् प्रकार से–समभाव से (अविचलभाव से) सहता है, खमता है (क्षान्ति रखता है), तितिक्षा रखता है या उनसे प्रभावित नहीं हो पाता। जैसे कि (१) यह पुरुष उदीर्णकर्मा है (इसके पूर्वबद्ध कर्म उदय में आये हैं) इसलिए यह उन्मत्तक (पागल) जैसा हो रहा है, इसी कारण मुझ पर आक्रोश करता है, मुझे गाली देता है या मेरा उपहास करता है या मुझे बाहर निकालने की धमकी देता है अथवा मेरी निर्भर्त्सना करता है या मुझे बाँधता या रोकता है या मेरा छविच्छेद (अंगभंग) करता है या पमार (मूर्च्छित) करता है या उपद्रुत करता (डाँटता-फटकारता या डराता) है अथवा मेरे वस्त्र, पात्र (बर्तन), कम्बल, पादप्रोंछन आदि छेदन-विच्छेदन (फाड़ता-तोड़ता) है, चीरता है या भेदन (टुकड़े-टुकड़े) करता है अथवा अपहरण करता है।"[1]

(२) "यह व्यक्ति निश्चय ही यक्षाविष्ट (भूत, प्रेत आदि से ग्रस्त) है, इसलिए वह मुझ पर आक्रोश करता है, गाली देता है या मेरा उपहास करता है या मुझे बाहर निकालने की धमकी देता है या मेरी निर्भर्त्सना करता है या मुझे बाँधता या रोकता है या छविच्छेद करता, मूर्च्छित करता या मुझ पर उपद्रव करता है या वस्त्र, पात्र, कम्बल या पादप्रोंछन आदि का छेदन-विच्छेदन-भेदन या अपहरण करता है।"

(३) "इस भव में मेरा वेदन करने (भोगने) योग्य कर्म उदय में आ रहा है, इसीलिए तो वह व्यक्ति मुझ पर आक्रोश करता है, यावत् अपहरण करता है।"

(४) "यदि मैं इन्हें सम्यक् प्रकार से अविचलभाव से नहीं सहूँगा, क्षान्ति और तितिक्षा नहीं रखूँगा तथा उनसे प्रभावित हो जाऊँगा तो मुझे .... एकान्ततः पापकर्म का बंध होगा।"

(५) "यदि मैं इन्हें सम्यक् प्रकार से अविचलभाव से सहन कर लूँगा, क्षान्ति और तितिक्षा रखूँगा तथा उनसे प्रभावित नहीं होऊँगा, तो मुझे .... एकान्तरूप से (सकाम) निर्जरा होगी।"

उपर्युक्त पाँच चिन्तन (अनुप्रेक्षण) उपायों से जो छद्मस्थ व्यक्ति परीषहों या उपसर्गों को समभाव से अविचल मन से सह लेता है, उसके निश्चित ही सकामनिर्जरा होती है।[2] इसी प्रकार का विधायक चिन्तन परीषहों और उपसर्गों के समय किया जाए तो अनायास ही सकामनिर्जरा हो सकती है।

---

१. (क) मार्गाच्यवन-निर्जरार्थं परिषोढव्याः परीषहाः। –तत्त्वार्थ, अ. ९, सू. ८-९
(ख) सम्मं सहमाणस्स .... णिज्जरा कज्जति। –स्थानांग, स्था. ५, उ. १

२. पंचहिं ठाणेहिं छउमत्थे णं उदिण्णे परिस्सहोवसग्गे समं सहेज्जा, खमेज्जा, तितिक्खेज्जा, अहियासेज्जा, तं.–(१) उदिण्णकम्मे खलु अयं पुरिसे उम्मत्तगभूते; तेण मे एस पुरिसे

बुद्ध शिष्य का उपसर्ग को समभाव से सहने का विधायक चिन्तन

इसी प्रकार का एक चिन्तनोपाय जातककथा में तथागत बुद्ध के एक शिष्य का मिलता है। तथागत बुद्ध के एक शिष्य के त्रिपिटक आदि का अध्ययन पूर्ण हो जाने पर अपनी आत्मा को कष्ट-सहिष्णु बनाने तथा अनार्य जनों को बोध देकर धर्मपथ पर लाने हेतु तथागत बुद्ध से सुमेरूपरान्त देश में जाने की आज्ञा माँगी। बुद्ध ने उसकी परीक्षा करने के लिए पूछा–"तुम जहाँ जा रहे हो, वहाँ के लोग असभ्य हैं, वे तुम्हें गाली देंगे, तुम्हारी निन्दा करेंगे तो तुम वहाँ कैसे टिकोगे?" भिक्षु बोला–"मैं उनकी सज्जनता की प्रशंसा करूँगा कि उन्होंने मुझे मारा-पीटा नहीं।" बुद्ध ने कहा–"यदि उन्होंने तुम्हें मारा-पीटा तो?" "मुझे उनका दयाभाव देखकर प्रसन्नता होगी कि उन्होंने मुझे जान से तो नहीं मारा।" –भिक्षु ने उत्तर दिया। बुद्ध ने कहा–"अगर उन्होंने तुम्हें जान से मार डाला तो?" शिष्य–"भगवन् ! यह संसार दुःख, शोक, संताप से भरा है, यह शरीर रोग का घर है, मेरी आत्मा ने भी न मालूम कितने पाप किये होंगे। आत्मा को पूर्वकृत पापकर्मों से छुड़ाने के लिए मैं जी रहा हूँ। यदि वे मुझे जान से मारने पर उतारू हुए तो मैं उन्हें धन्यवाद दूँगा कि उन्होंने मुझे समभाव से मरणान्त कष्ट सहकर आत्मा को (कर्मनिर्जरा करने) पापों से मुक्त करने का अवसर दिया।" यह सुनकर बुद्ध ने कहा–"तुमने सच्चा अध्यात्मज्ञान पाया है। तुम जहाँ विचरण करना चाहो, विचरण करो, मेरा आशीर्वाद है।"[1]

यह है, कष्टों को समभाव से, विधायक चिन्तन के रूप में सहकर कर्मनिर्जरा करने का उपाय !

वीतराग केवली द्वारा निर्जरा का प्रस्तुत आदर्श : कैसे और क्यों ?

यद्यपि केवली भगवान या अर्हन्त तीर्थंकर चार घातिकर्मों का सर्वथा क्षय करके वीतराग हो जाते हैं। अतः उनके पूर्वबद्ध कर्मों के फलस्वरूप वेदनीय कर्म उदय में आता है, तब किसी न किसी उदयागत परीषह या उपसर्ग के आ पड़ने

पिछले पृष्ठ का शेष–

अक्कोसति वा अवहसति वा, णिच्छोडेति वा, णिब्भंछेति वा बंधेति वा सभंति वा छविच्छेदं करेति वा, पमारं वा णेति, उद्दवेइ वा, वत्थं वा पडिग्गहं वा कंबलं वा पायपुंछणमच्छिंदति वा विच्छिंदति वा भिंदति वा अवहरति वा। (२) जक्खाइट्ठे खलु अंयं पुरिसे तेण मे एस पुरिसे अक्कोसति वा तहेव जाव अवहरति वा। (३) ममं च णं तब्भववेयणिज्जे कम्मे उदिण्णे भवति ते ण मे एस पुरिसे अक्कोसति वा तहेव जाव अवहरति वा। (४) ममं च णं सम्ममसहमाणस्स अखममाणस्स अतितिक्खमाणस्स अणहियासमाणस्स किं मण्णे कज्जति? एगं तसो मे पावे कम्मे कज्जति। (५) ममं च णं सम्मं सहमाणस्स जाव अहियासेमाणस्स किं मण्णे कज्जति? एगंतसो मे णिज्जरा कज्जति।

—स्थानांगसूत्र, स्था. ५, उ. १, सू. ७३

१. 'जातकट्ठकथा' से भाव ग्रहण

पर राग-द्वेषरहित होने से उनके पापकर्म का बंध तो कतई नहीं होता, किन्तु वे उदयागत परीषहों या उपसर्गों को समभावपूर्वक सहने के लिए किस प्रकार का विधायक चिन्तन करते हैं, इसकी झाँकी भी 'स्थानांगसूत्र' के पूर्वोक्त सूत्रपाठ से अगले ही सूत्रपाठ में दी गई है। उनका विधेयात्मक चिन्तन इस प्रकार है–यह पुरुष निश्चय ही विक्षिप्तचित्त (शोक, उद्विग्नता आदि से बेभान) है .... हृष्टचित्त (उन्मादयुक्त) है .... या यक्षाविष्ट है .... इसलिए मुझ पर आक्रोश करता है, मुझे गाली देता है, मेरा उपहास करता है, मुझे बाहर निकालने की धमकी देता है या मेरी निर्भर्त्सना करता है या मुझे बाँधता या रोकता है या छविच्छेद करता है या वधस्थान में ले जाता है या उपद्रुत करता (डराता या डाँटता-फटकारता) है या वस्त्र, पात्र, कम्बल या पादप्रोंछन का छेदन, भेदन या अपहरण करता है। ये तीन प्रकार के विधायक चिन्तन और चौथा चिन्तन-अनुप्रेक्षण होता है–"इस भव में वेदन करने (भोगने) योग्य मेरे (असातावेदनीय) कर्म उदय में आ रहे हैं, इसीलिए यह पुरुष मुझ पर आक्रोश करता है, यावत् अपहरण करता है। साथ ही उनका पाँचवाँ अनुप्रेक्षण यह भी होता है–

"मुझे सम्यक् प्रकार से अविचलभाव से (उदयागत) परीषहों और उपसर्गों को सहन करते हुए, तितिक्षा और क्षान्ति रखते हुए तथा उनसे प्रभावित न होते हुए देखकर बहुत-से अन्य छद्मस्थ श्रमण निर्ग्रन्थ उदयागत परीषहों और उदयागत उपसर्गों को सम्यक् प्रकार से अविचलभाव से सहन करेंगे, क्षान्ति और तितिक्षा रखेंगे तथा उनसे प्रभावित नहीं होंगे।"[1]

'भगवद्गीता' में कहा गया है कि "श्रेष्ठ पुरुष जो-जो आचरण करता है, सामान्य जन भी उसी का अनुसरण करते हैं; वह व्यक्ति जिस आचरण को (अपने जीवन में स्वयं आचरित करके) प्रमाणित कर देता है, लोग भी फिर उसी के अनुसार चलते हैं–आचरण करते हैं।"[2] इसलिए केवलज्ञानी वीतराग पुरुष

---

१. पंचहिं ठाणेहिं केवली उदिण्णे परिसहोवसग्गे सम्मं सहेज्जा जाव (खमेज्जा, तितिक्खेज्जा) अहियासेज्जा, तं.–(१) खित्तचित्ते .... (२) दित्तचित्ते .... (३) जक्खाइट्ठे .... खलु अयं पुरिसे। तेण मे एस पुरिसे अक्कोसति वा तहेव जाव (अवहसति वा, णिच्छोडेति वा, बंधेति वा, संभंति वा छविच्छेदं करेति वा, पमारं वा णेति, वत्थं वा पडिग्गहं वा, कंबलं वा पायपुंछणमच्छिंदति वा विच्छिंदति वा भिंदति वा) अवहरति वा। (४) ममं च तब्भववेयणिज्जे कम्मे उदिण्णे भवति। तेण मे एस पुरिसे अक्कोसति वा ... जाव अवहरति वा। (५) ममं च णं सम्मं सहमाणं खममाणं तितिक्खमाणं अहियासेमाणं पासेत्ता बहवे अण्णे छउमत्था समणा णिग्गंथा उदिण्णे-उदिण्णे परिसहोवसग्गे एवं सम्मं सहिस्संति खमिस्संति तितिक्खिस्संति अहियासिस्संति वा। –*स्थानांग, स्था. ५, उ. १, सू. ७४*

२. यद्यदाचरतिश्रेष्ठस्तदतदेवेतरोजनः। स यत् प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते।
–*भगवद्गीता ३/२१*

कृतकृत्य होते हुए भी छद्मस्थ (अल्पज्ञ) जनों के लिए स्वयं निर्जरा का आचरण करके आदर्श का निदर्शन प्रस्तुत करते हैं।

चतुर्थ सुखशय्या : परीषह-उपसर्ग-सहन से होने वाली एकान्त निर्जरा

इस प्रकार के आदर्श की प्रतिक्रिया और उसी का अनुसरण श्रमण निर्ग्रन्थों के जीवन में किस प्रकार उत्कृष्ट निर्जरा के रूप में अवतरित होता है, इसका वर्णन 'स्थानांगसूत्र' में प्रतिपादित चतुर्थ सुखशय्या के रूप में देखिये–"चौथी सुखशय्या यह है कि कोई व्यक्ति मुण्डित होकर आगारधर्म से अनगारधर्म में प्रव्रजित होता है, तब उसके मन में एक अध्यवसाय होता है कि अर्हन्त भगवान यदि हृष्ट-पुष्ट, निरोग, बलिष्ठ और स्वस्थ होकर भी कर्मों का क्षय (निर्जरा) करने के लिए (भगवान महावीर की तरह) उदार, कल्याण, विपुल, प्रयत, प्रगृहीत, महानुभाग तथा कर्मक्षय (निर्जरा) करने के कारणरूप तपःकर्मों (बाह्याभ्यन्तर तपश्चरणों) को स्वीकार करते हैं, तब मैं आभ्युपगमिकी (स्वेच्छापूर्वक स्वीकृत) तथा औपक्रमिकी (सहसा आई हुई प्राणघातक) वेदना को क्यों न सम्यक् प्रकार से सहूँ? क्यों न क्षमा धारण करूँ? और क्यों न वीरतापूर्वक वेदना के समय अविचलित (स्थिर) रहूँ? यदि मैं उभयवेदनाओं को सम्यक् प्रकार से नहीं सहूँगा या स्थिर नहीं रहूँगा, तो मुझे .... एकान्तरूप से पापकर्म होगा। इसके विपरीत यदि मैं इन दोनों वेदनाओं को समभाव से सहन करूँगा, यावत् स्थिर रहूँगा तो एकान्तरूप से मेरे कर्मों की निर्जरा होगी।"[1]

राजर्षि उदायी ने उपसर्ग समभाव से सहकर महानिर्जरा की

सिन्धुसौवीर आदि सोलह देशों के राजा उदायी ने वीतभयपट्टणनगर में भगवान महावीर का उपदेश सुना। संसार से विरक्त होकर अपने भागिनेय केशी को समस्त राज्य सौंपकर भगवान महावीर से आर्हती मुनि दीक्षा अंगीकार की। दीक्षा लेने के पश्चात् उन्होंने समस्त अंगशास्त्रों का अध्ययन किया और मासखमण तप प्रारम्भ किया। तदनन्तर विशिष्ट अध्यात्म-साधना के लिए राजर्षि उदायी मुनि

---

१. .... अहावरा चउत्था सुहसेज्जा–से णं मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइए; तस्स णं एवं भवति–जइ ताव अरहंता भगवंतो हट्ठा अरोगा, बलिया कल्लसरीरा अण्णयराइं ओरालाइं कल्लाणाइं विउलाइं पयताइं पग्गहिताइं महाणुभागाइं तवोकम्माइं पडिवज्जंति, (किमंग पुण अहं अब्भोवगमि ओवक्कमियं वेयणं णो सम्मं सहामि खमामि तितिक्खेमि अहियासेमि? ममं च णं अब्भोवगमि ओवक्कमियं वेयणं सम्मं सहमाणस्स अखममाणस्स अतितिक्खेमाणस्स अणहियासेमाणस्स .... एगंतसो मे पावे कम्मे कज्जति। ममं च णं अब्भोवगमिओवक्कमियं वेयणं सम्मं सहमाणस्स जाव अहियासेमाणस्स .... एगंतसो मे णिज्जरा कज्जति।

–स्थानांग, स्था. ४, उ. ३, सू. ४५१

एकलविहारप्रतिमा स्वीकार करके अभिग्रहधारक बन गये। उत्कट तपश्चर्या के कारण उन्होंने शरीर और आत्मा का भेदविज्ञान उपलब्ध कर लिया। एक बार विचरण करते हुए वे वीतभयनगर में पधारे। नगर के बाहर उद्यान में ठहरे। नगर की जनता बरसाती नदी की तरह उनके दर्शनों को उमड़ पड़ी। भागिनेय केशी राजा को जब राजर्षि उदायी मुनि के नगर में पदार्पण के समाचार मिले तो उसके मन में कुशंका पैदा हुई–"मेरे सभी राज्याधिकारी मुनिदर्शन करने गये हैं। कहीं ऐसा न हो कि वे उदायी मामा को सिखाकर या आग्रह करके राजसिंहासन पर बिठा दें।" यों अकारण ही भयभीत होकर राजा ने नगर में डोंडी पिटवा दी–"जो उदायी मुनि को अपने स्थान में ठहरायेगा या उन्हें आहार-पानी देगा, वह राज्य का गुनहगार समझा जायेगा, उसे राज्य से निर्वासित कर दिया जायेगा।" इस अप्रत्याशित और अन्यायपूर्ण घोषणा को सुनकर नगर की सारी जनता, यहाँ तक कि श्रावकगण भी आश्चर्य में पड़ गये। उन्होंने बरबस राजाज्ञा के पालन में ही अपना हित समझा।

राजर्षि उदायी मुनि को राजा के इस अनैतिक आदेश का मालूम नहीं था। अचानक मुनि को तीव्र ज्वर ने आ घेरा। शरीर में बेचैनी थी, इसलिए उन्हें विश्रान्ति की भी आवश्यकता थी। यह सोचकर वे नगर में ठहरने के लिए स्थान की तथा आहार की तलाश में पधारे। मगर राजाज्ञा के भय से किसी ने उन्हें ठहरने को स्थान न दिया और न ही आहार दिया। पूर्वबद्ध अशुभ कर्मों के उदय के कारण राजर्षि उदायी मुनि को न तो उदरपूर्ति के लिए आहार मिला और न ही ठहरने के लिए झोंपड़ी तक मिली। राजर्षि अपने अशुभ कर्मों का उदय जानकर समभाव में विचर रहे थे। इतना तीव्र परीषह आने पर भी उनके मन में लेशमात्र भी उद्विग्नता, रोष या विषमता नहीं आई। उन्होंने आगन्तुक कष्टों और परीषहों को कर्मनिर्जरा का कारण समझकर शान्तिपूर्वक सहन किया। आखिर एक कुम्भकार ने ज्वरग्रस्त मुनि को दूर से ही देखकर अत्यन्त भक्तिभाव से अपने यहाँ ठहरा दिया। लोगों ने कुंभकार को बहकाया–"राजा, तेरा घरबार या धनमाल सब छीन लेगा या शूली पर चढ़वा देगा। फिर तू इन्हें स्थान देकर क्यों मूर्खता करता है?" साहसी एवं निर्भीक कुम्भकार ने उत्तर दिया–"यदि इस धर्मपालन के लिए मेरा धन, मकान या प्राण भी चले जायें तो भी मैं अपना सौभाग्य समझूँगा।" केशी राजा को पता चला तो उसने कुंभकार का कुछ भी न छीनकर उदायी मुनि को जान से मारने का षड्यन्त्र रचा। एक वैद्य को लोभ देकर विषमिश्रित औषध देने को कहा। वैद्य ने जब उदायी मुनि को विनयपूर्वक औषध लेने को कहा, तो उन्होंने कहा–आप (बाह्य) रोग को मिटा सकते हैं, किन्तु रोग की जड़ (कर्म) को नहीं मिटा सकते। किन्तु चालाक वैद्य ने किसी घर में आहार को विषमिश्रित करके

उदायी मुनिवर को दिलवा दिया। मुनिराज सब मर्म समझ गये। उन्होंने समभाव नहीं त्यागा। सोचा–"केशी राजा ने मुझे कर्मनिर्जरा करने का सुन्दर अवसर देकर मुझ पर महान् उपकार किया है।" यों समभावपूर्वक उस भयंकर कष्ट और उपसर्ग को सहन किया। फिर अठारह पापस्थान तथा चारों ही आहार का त्याग करके सबसे क्षमायाचना करके आजीवन संथारा ग्रहण कर लिया। उसके प्रभाव से प्रचुर कर्मनिर्जरा हुई, चार घातिकर्मों का क्षय हुआ। केवलज्ञान-दर्शन प्राप्त कर लिया और थोड़े ही समय में समस्त कर्मों का क्षय करके वे सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हो गये। यह थी समभावपूर्वक परीषह-उपसर्ग को सहने से सर्वकर्मनिर्जरा।[1]

महापापी दृढ़प्रहारी निर्जरापेक्षी सर्वकर्ममुक्त हो गया

हत्यारे और लुटेरे दृढ़प्रहारी का कठोर दिल गाय और बछड़े को मरणान्तक कष्ट से छटपटाते देखकर द्रवित हो उठा। वह मन ही मन तीव्र पश्चात्ताप करने लगा–"हाय ! मैंने कितने घोर पापकर्म किये हैं ? इनसे कैसे छुटकारा होगा ?" यों वैराग्यरस में डूबा हुआ दृढ़प्रहारी साधु बनकर वन की ओर चल पड़ा। किन्तु फिर मन में विचार आया–वन में मुझे कर्मनिर्जरा का अवसर कहाँ मिलेगा ? जिनका मैंने सर्वस्व लूटा है या जिनके सम्बन्धियों का वियोग किया है, वे सब तो नगर में हैं। अगर मैं नगर के प्रत्येक द्वार पर क्रमशः ध्यानस्थ एवं शान्त खड़ा रहूँ तो नगरजन मुझे देखकर अपना प्रतिशोध लेंगे। मुझे तरह-तरह से मनचाहा कष्ट देंगे। उन कष्टों को समभावपूर्वक सहन करने से मुझे अपने पापकर्मों की निर्जरा करने का अवसर मिलेगा।" यों विचार कर दृढ़प्रहारी मुनि नगर के पूर्व द्वार पर ध्यानस्थ खड़े हो गये। लोग पहले तो कुपित होकर उसे विविध प्रकार से ताड़ना, तर्जना, भर्त्सना करने और यातना देने लगे। डेढ़ महीने तक तिरस्कृत किया। जब हार-थककर चले गये तो मुनि वहाँ से पश्चिम के द्वार पर ध्यानस्थ खड़े हो गये। वहाँ भी उनकी ऐसी हालत हुई। जब थककर चले गये तो मुनि क्रमशः उत्तर और दक्षिण दिशा के द्वार पर भी ध्यानस्थ खड़े हो गये। यों चारों दिशाओं के द्वार पर डेढ़-डेढ़ महीने तक क्षमाधारी होकर ध्यानस्थ खड़े रहकर परीषह और उपसर्गों को समभावपूर्वक सहन किया तथा इस अनुप्रेक्षा के साथ वे शान्तभाव से स्थिर रहे कि मुझ पर चढ़ा हुआ ऋण (कर्ज) उतारने का यह शुभ अवसर है। इस प्रकार छह महीने में दृढ़प्रहारी मुनि ने समभाव से कष्ट सहकर सर्वकर्मों की निर्जरा की, वह भी प्रशस्त सकामनिर्जरा की। नागरिकों का रोष शान्त हुआ। महामुनि से उन्होंने क्षमा माँगी। दृढ़प्रहारी महामुनि को केवलज्ञान-केवलदर्शन प्राप्त हुआ। अन्त में वे

१. देखें–भगवतीसूत्र, श. १३, उ. ६ में राजर्षि उदायी मुनि का जीवनवृत्त, उत्तराध्ययन की भावविजयगणि की टीका में तथा आवश्यक चूर्णि उत्तरार्द्ध में

समस्त कर्म क्षय करके सिद्ध, बुद्ध, मुक्त हो गये। यह है-स्वेच्छा से सम्यग्दर्शन-ज्ञानपूर्वक परीषह-उपसर्ग को समभावपूर्वक सहन करने से हुई प्रशस्त महानिर्जरा का ज्वलन्त उदाहरण।[1]

कष्ट और आत्म-शुद्धि की अपेक्षा से चौभंगी

भगवान महावीर ने अनेकान्तदृष्टि से कहा था-"मैं शरीर को अधिक कष्ट देने को धर्म या अधर्म नहीं कहता, मैं प्रशस्त (सकाम) निर्जरा (आत्म-शुद्धि) को ही धर्म कहता-बताता हूँ। नरक के नारक कष्ट अधिक सहते हैं, किन्तु आत्म-शुद्धि अल्पतर होती है। उच्च-भूमिकारूढ़ समभावी साधक अल्प कष्ट सहकर महान् आत्म-शुद्धि कर लेते हैं। सम्यक् तपश्चरणरत साधक महान् कष्ट सहते हैं, शुद्धि भी महान् कर लेते हैं। जबकि सर्वोच्च देव अल्प कष्ट सहते हैं, उनकी शुद्धि भी अल्प होती है।" निर्जरा के इन सभी पहलुओं पर विचार करके सकामनिर्जरा के अवसरों को न चूककर आत्मा को उज्ज्वल-समुज्ज्वल बनाने का पुरुषार्थ करना चाहिए।

●●

---

१. (क) 'आवश्यक कथा' से संक्षिप्त
(ख) 'मोक्षमाला' (श्रीमद् राजचन्द्र) से भाव ग्रहण, पृ. ५०

१०

सकामनिर्जरा का एक प्रबल कारण : सम्यक्तप

ये चीजें तपने पर ही सारभूत, परिष्कृत और उपयोगी बनती हैं

आकाश में चमकने वाला सूर्य पृथ्वी को तपाता है। पृथ्वी जब तपकर पक्की हो जाती है, तभी वर्षा होने पर, उस पर बोये जाने वाले बीजों से अन्न आदि उत्पन्न होते हैं, संजीवनी औषधियाँ उत्पन्न होती हैं, वृक्षों में मधुर रसीले फल, फूल आदि लगते हैं। सूर्य के तपने से यह समग्र सृष्टितंत्र व्यवस्थित रूप से चलता है।

इसी प्रकार जीवन का यह तंत्र भी तपने से तेजस्वी एवं सुख-शान्ति और आनन्द के मधुर फल प्राप्त करता है। तप के द्वारा संचालित जीव का तन, मन, बुद्धि, हृदय आदि सभी ओजस्वी, तेजस्वी, सक्रिय एवं प्राणवान् बनते हैं, ऊर्जा-शक्ति बढ़ती है।

तपाने से वस्तुएँ गर्म होती हैं, उनका संशोधन होता है, उनमें से कचरा, गंदगी या निःसार वस्तुएँ निकल जाती हैं। वे सारभूत और सुदृढ़ (ठोस) बन जाती हैं, उनका मूल्य और स्तर भी बढ़ जाता है। वस्तुओं की तरह व्यक्ति भी तन, मन, इन्द्रियों या अंगों को विधिपूर्वक तपाने यानी समभावपूर्वक कष्ट सहने से परिष्कृत, सुघड़ एवं सुदृढ़ बनता है।

कच्ची मिट्टी से बनी ईंटों से निर्मित मकान वर्षा के पानी से गलकर ढह जाता है, इसीलिए समझदार गृहस्थ आग में पकी हुई ईंटों से मकान बनाता है, जो वर्षों तक चलता है। चूना और सीमेंट तभी पक्के बनते हैं, जब कंकड़-पत्थरों के चूरे को आग में पकाते हैं। इन्हें पकाये जाने पर ही उनमें ईंटों को पकड़ लेने तथा भवन को चिरस्थायी बनाने की शक्ति पैदा हो जाती है। खान में से धातुएँ मिट्टी मिली हुई कच्ची अवस्था में निकलती हैं। उन्हें भट्टी में तपाया जाता है, तभी ताँबा, लोहा, पीतल आदि धातुएँ शुद्ध बनती हैं और विविध उपयोगों में आती हैं। लोहे को अधिक मजबूत बनाने के लिए उसे अत्यधिक तेज आँच से तपाया जाता है।

निर्विकारता के लिए तपश्चर्या का ताप

रसायनशास्त्री स्वर्णभस्म, प्रवालभस्म, अभ्रकभस्म, लौहभस्म आदि कई प्रकार के गुणकारी, रोगनाशक भस्में बनाते हैं, यह उन वस्तुओं को तपाने और गरमाने का ही प्रतिफल है। पानी गर्म करके भाप तैयार की जाती है, उससे रेलगाड़ी का इंजन तथा कई मशीनें चलाई जाती हैं। सामान्य पानी को औषधोपयोगी बनाने–डिस्टिल्ड वाटर के रूप में परिणत करने के लिए उसे भट्टी पर चढ़ाकर भाप बनाकर निकाला जाता है। दूध को गर्म करने पर घी उपलब्ध होता है। सोने को आग में तपाकर ही विविध आभूषण तैयार किये जाते हैं। अन्य धातुओं से औजार या बर्तन आदि उपकरण तभी बनते हैं, जब उन्हें अग्नि में डालकर, तपाकर कोमल बनाया जाता है। इसी प्रकार मनुष्य की जड़ता, कठोरता एवं क्रोध, मान आदि कषाय-नोकषायों की विकारता को सद्बौद्धिकता, सुकोमलता और निर्विकारता में बदलने तथा उसे अमुक साँचे में ढालने के लिए विविध तपश्चरण का ताप आवश्यक होता है। इसीलिए 'निशीथचूर्णि' में कहा गया है–"तवस्स मूल धिति।"–तप का मूल धैर्य, साहस और सहिष्णुता है।[1]

जीवन में तप की आवश्यकता और उपयोगिता

भारतीय विद्यार्थी प्राचीनकाल में गुरुकुलों के कठोर और कष्टकारक अनुशासन में रहकर सम्यक्तप के रूप में नहीं, फिर भी तपोमय एवं काफी कष्टसाध्य जीवनयापन करता था। विद्याध्ययन करने के साथ-साथ वहाँ तन को सुदृढ़, मन को सहनशील और बुद्धि को क्षमता-परायण बनाने की साधना का प्रशिक्षण भी दिया जाता था, ताकि वह विद्यार्थी आगे चलकर अपने जीवन में स्वावलम्बी, तेजस्वी, श्रम-परायण बन सके। विद्यार्थी की तरह किसान, पहलवान, श्रमजीवी, व्यवसायी या कलाकार को भी बाल्य-चपलता से दूर रहकर अपने-अपने कर्त्तव्य-कर्म में सर्दी, गर्मी, भूख, प्यास आदि का कष्ट सहना पड़ता था, दूसरे के अनुशासन में तपकर नियंत्रण में रहना पड़ता था, अपनी स्वच्छन्दता, विषयलोलुपता, निरंकुश मौज-शौक, उद्दण्डता और अकर्मण्यता से दूर रहकर जीवन को तपाना, घड़ना और कष्ट-सहिष्णु बनाना पड़ता था। तभी उन्हें तथा अन्य लोगों को अपने जीवन के सभी क्षेत्रों में सफलता और सुख-शान्ति मिलती थी। यद्यपि ये लोग तपस्वी नहीं कहलाते थे, फिर भी इन्हें अपने जीवन की सफलता के लिए आरामतलबी, शारीरिक सुख-सुविधा और मटरगश्ती, मानसिक चंचलता, नास्तिकता तथा स्वच्छन्दतापूर्ण मर्यादाहीनता में कटौती करनी पड़ती थी। परन्तु उस कष्ट-सहिष्णुता के पीछे जीवन की उज्ज्वल संभावनाएँ,

---

१. निशीथचूर्णि ८४

सुख-शान्ति की गारंटी विद्यमान थी। उस युग का लोकमानस सहज संयम, सरलता और सादगी से ओतप्रोत था। छलकपट, मायाचार, वंचना, धनार्जन की लालसा आदि से प्रायः दूर था।

धीरे-धीरे समय की अलक्षित गति के साथ मनुष्य का मानस बदला। वह जीवनानन्द के बदले स्वच्छन्दता, सुख-सुविधा और विलासिता में सुख मानने लगा। प्रायः आरामतलबी, सुख-सुविधा और विषयसुख-लालसा उसके जीवन में व्याप्त हो गई। विलासिता और स्वच्छन्द विषयोपभोग-लालसा की पूर्ति के लिए उसका लक्ष्य येन-केन-प्रकोरण धन कमाना और उससे विषयोपयोग की विविध साधन-सामग्री जुटाना हो गया। जीवन में आने वाले तूफानों और झंझावातों के बीच अविचलित–अकम्प खड़े रहने की क्षमता को वह खो बैठा। बिना घबराए और बिना काँपे वह जीवन-नैया को तूफानों में खेने में असमर्थ हो गया। वह इन्द्रियों का गुलाम बनकर इन्द्रिय-विषयसुख में ही शान्ति को खोजता रहा। पौरुष का धनी पुरुष तपःपूत जीवन से कतराकर अपनी रक्षा के लिए परमुखापेक्षी बन गया। अपनी आध्यात्मिक-शक्तियों से वह अनभिज्ञ और वंचित हो गया। आरामतलबी और सुख-सुविधा से भरे वातावरण में रहने वाले लोग तन-मन-बुद्धि एवं शक्ति से अक्षम एवं अविकसित स्थिति में पड़े रहे। विविध क्षमताओं का उनमें विकास के बजाय ह्रास होता गया। उस्तरे पर धार रखते रहने से ही उसमें पैनापन और चमक कायम रहती है, किन्तु यदि उसे ऐसे ही पड़ा रहने दिया जाए तो धीरे-धीरे उस पर जंग चढ़ती जाती है और एक दिन वह गल-सड़कर समाप्त हो जाता है। उसी प्रकार तपःपूत जीवन से कतराने वाले सुख-सुविधाभिलाषी लोग अपना पुरुषार्थ खोते जाते हैं। अकर्मण्यता, जीवन से निराशा और असहिष्णुता के कारण उनके जीवन से तेजस्विता, तीक्ष्णता और क्षमताएँ विदा हो जाती हैं। फलतः उनके तन, मन, बुद्धि, हृदय आदि सभी अन्तःकरण और प्राणबल दुर्बल होते जाते हैं। बात-बात में चिन्ता, उद्विग्नता, आधि, व्याधि, उपाधि में वृद्धि तथा जरा-से कष्ट में घबराहट होती जाती है।

समस्याओं पर विजय पाने का एकमात्र उपाय : सम्यक्तप

इन सब दुश्चिन्ताओं, दुर्बलताओं एवं उद्विग्नताओं से उबरने, सच्ची सुख-शान्ति पाने और शारीरिक, मानसिक और आत्मिक-समाधि एवं क्षमताएँ बढ़ाने का एकमात्र उपाय है–तपःसाधना। अर्थात् स्वेच्छा से इच्छानिरोधपूर्वक ज्ञानबल से दुःखों, कष्टों, परीषहों, उपसर्गों आदि को सहना, उन पर विजय प्राप्त करना। 'भगवती आराधना' में कहा गया है–"संसार में कोई भी ऐसा पदार्थ नहीं है, जो निर्दोष तप से प्राप्त न होता हो। जैसे–प्रज्वलित अग्नि तृण (घास) को जला

डालती है, वैसे ही तपरूप अग्नि कर्मरूप तृण को जला देती है। तप से समस्त उत्तम पदार्थों की प्राप्ति होती है।" 'राजवार्तिक' के अनुसार–"तप सर्वार्थ-साधक है। इससे ऋद्धियाँ प्राप्त होती हैं। तपस्वियों की चरणरज से पवित्र स्थान ही तीर्थ बने हैं। जिसके जीवन में तप नहीं, वह तिनके से भी लघु है। उसको समस्त गुण छोड़ देते हैं। वह संसार से मुक्त नहीं हो पाता।" 'आत्मानुशासन' में कहा गया है–"सम्यक्तप इस लोक में आत्मा के साथ लगे रहने वाले क्रोधादि विभाव-रिपुओं पर विजय प्राप्त कर लेता है और जिन्हें वह प्राणों से भी बढ़कर चाहता है, वे क्षमा, शान्ति, नम्रता, ऋजुता आदि सद्गुण प्राप्त हो जाते हैं। साथ ही पुरुषार्थसिद्धि उस तपोधनी की अनुगामिनी हो जाती है। अतएव वह परलोक में भी (उत्तम गति–योनि प्राप्त कराने में) हितसाधक है। ऐसा विचार करके उभयलोक के संताप का हरण करने वाले तप में विवेकीजन क्यों नहीं रमण करते? 'पद्मनन्दि पंचविंशतिका' के अनुसार–"जो क्रोध आदि कषायों और पंचेन्द्रिय विषयोंरूपी उद्भट अनेक चोरों का समूह बड़ी कठिनता से जीता जा सकता है, वह तपरूपी सुभट के द्वारा बलपूर्वक प्रताड़ित होने से विघटित हो जाता है, भाग जाता है। अतएव उस सम्यक्तप से तथा धर्मरूपी लक्ष्मी से युक्त होकर साधक मुक्तिनगरी के मार्ग पर सब प्रकार की विघ्न-बाधाओं से रहित होकर सुखपूर्वक गमन कर विचरण करता है।" 'आराधनासार' में कहा गया है–"निकाचितरूप से बाँधे हुए कर्म भी तब तक भस्म नहीं हो पाते, जब तक प्रवचन (निर्ग्रन्थ धर्म) में कही हुई तपरूपी अग्नि प्रज्वलित (दीप्त) नहीं होती।"

तप दुःखात्मक है, मोक्षांग नहीं : आक्षेप का समाधान

तप के सम्बन्ध में कतिपय मतवादियों का आक्षेप है कि जितने भी तप हैं, वे सब शारीरिक-मानसिक दुःखात्मक हैं। अर्थात् अनशनादि तप से शरीर और मन को असाता और पीड़ा होती है। अतः तप दुःखात्मक–दुःखोत्पादक होने से मोक्ष का अंग न होकर असातावेदनीय आदि कर्मों के उदयरूप (विपाकरूप) हैं; क्योंकि अनशनादि तप से क्षुधा, पिपासा आदि परीषह (दुःख) उत्पन्न होते हैं, जोकि आपके (जैनों के) आगमानुसार वेदनीयादि कर्मों के उदय से प्राप्त होते हैं। जैसे बैल आदि पशुओं को भूख, प्यास आदि लगने, विवश होकर बोझ ढोने आदि दुःख उनके द्वारा पूर्वबद्ध वेदनीय आदि कर्म उदय से प्राप्त होते हैं, वैसे ही तप से क्षुधादि दुःख भी वेदनीयादि कर्मों के उदयरूप मानने चाहिए। अतः तपोजन्य दुःख कर्मोदयरूप है, वह कर्मक्षयकारक मोक्ष का अंग नहीं है।

जैन-कर्मसिद्धान्त का प्रत्याक्षेप है–आपके मतानुसार यदि तप दुःखरूप माना जाए तो जो-जो दुःखी होते हैं या जिन जीवों को अत्यधिक दुःख प्राप्त होता है, उन्हें विशिष्ट तपस्वी माना जाना चाहिए। इस दृष्टि से तो नरक के नारक तथा

तिर्यंच पशु-पक्षी आदि या अधिक दुःखी मानवों को विशिष्ट तपस्वी–महातपस्वी मानना चाहिए और जिन योगियों एवं आध्यात्मिक पुरुषों के जीवन में शम, सन्तोष, वैराग्य, शान्ति आदि सुख प्रचुर मात्रा में हैं, उन्हें दुःखात्मक तप के अभाव के कारण अतपस्वी कहना चाहिए। परन्तु यह सब कपोलकल्पना युक्ति, आगमोक्ति और अनुभूति के विरुद्ध है।

सम्यक्तप असातावेदनीय-बंधकारक व दुःखोत्पादक नहीं

'राजवार्तिक' के अनुसार–क्रोधादि के आवेश के कारण द्वेषपूर्वक होने वाले स्व, पर और उभय के दुःखादि पापास्रव के हेतु होते हैं, न कि स्वेच्छा से आत्म-शुद्ध्यर्थ किये जाने वाले तप आदि। जैसे अनिष्ट द्रव्य के सम्पर्क से द्वेषपूर्वक दुःख उत्पन्न होता है, उसी तरह बाह्य-आभ्यन्तर तप की प्रवृत्ति में धर्मध्यान परिणत साधक के अनशन आदि करने-कराने में द्वेष की संभावना नहीं है, अतः असाता का बन्ध नहीं होता।''' अनादिकालीन सांसारिक जन्म-मरण की वेदना को नष्ट करने की इच्छा से तप आदि उपायों में प्रवृत्ति करने वाले साधक के कार्यों में स्व-पर-उभय में दुःखहेतुता दीखने पर भी क्रोधादि का अभाव होने से (असातावेदनीयरूप) पापकर्म का बन्ध नहीं होता। 'पद्मनन्दि पंचविंशतिका' के अनुसार–लोक में मिथ्यात्व आदि के निमित्त से जो तीव्र दुःख प्राप्त होने वाला है, उसकी अपेक्षा तप से उत्पन्न होने वाला दुःख इतना अल्प होता है, समुद्र के सम्पूर्ण जल की अपेक्षा, उसकी एक बूँद के बराबर। उस तप से सब कुछ प्राणबल प्राप्त हो जाता है। इसलिए हे जीव ! कष्ट से प्राप्त होने वाली मनुष्य-पर्याय प्राप्त होने पर भी यदि तुम तप से स्खलित होते (बिदकते) हो तो फिर तुम्हारी कितनी हानि होगी ? (सारी शक्ति पर-भावों और पुद्गलों की आसक्ति और गुलामी में नष्ट हो जायेगी।)''[1]

---

१. (क) तं णत्थि जं ण लब्भइ तवसा, सम्मं कएण पुरिसस्स।
अग्गीव तणं जलिओ कम्मतणं डहदि य तवग्गी॥ –*भगवती आराधना १४७२*

(ख) तपः सर्वार्थसाधनम्। तत एव ऋद्धयः संजायते। तपस्विभिरध्युषितानि एव क्षेत्राणि तीर्थतामुपगतानि। तद्यस्य न विद्यते, स तृणवल्लघुर्लक्ष्यते। मुंचति तं सर्वे गुणाः। नाऽसौ मुंचति संसारम्। –*रा. वा. ९/६/२७*

(ग) इहैव सहजान् रिपून् विजयते प्रकोपकादिकान्।
गुणाः परिणमन्ति यानसुधिरध्वयं वांछति॥
पुरश्च पुरुषार्थसिद्धिरचिरात् स्वयं यायिनी।
नरो न रमते कथं तपसि तापसंहारिणि॥ –*आत्मानुशासन ११४*

(घ) कषाय-विषयोद्भट-प्राचुरतस्करौघो।
हठात् तपःसुभटताडितो विघटते यतो दुर्जयः॥
अतोहि निरुपद्रवश्चरति तेन धर्मश्रिया।
यतिः समुपलक्षितः पथि विमुक्तिपुर्याः सुखम्॥ –*पद्मनन्दि पंचविंशतिका १/९९*

सम्यक्तप से योगों और इन्द्रियों को हानि नहीं होती

भगवान महावीर आदि सभी तीर्थंकरों, वीतरागपुरुषों ने स्वयं जिस तपस्या को दीर्घकाल तक आचरित और अनुभूत किया है और जिस तप को मोक्षमार्ग का अंग बताया है तथा उस तपश्चर्या का बाह्य और आभ्यन्तररूप से स्वेच्छा से और प्रसन्नतापूर्वक करने का निर्देश किया गया है, उससे सकामनिर्जरा बताई गई है। उस बाह्य-आभ्यन्तर तप से तन, मन, वचन और इन्द्रियों की कोई हानि नहीं होती, बल्कि तीनों योग तथा इन्द्रियाँ सुदृढ़, सशक्त एवं कष्ट सहने में सक्षम बन जाती हैं। इस दृष्टि से तप दुःखकारक नहीं, किन्तु पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा होने से सुखकारक और आत्मा के लिए उपकारक है। इस प्रकार के सम्यक्तप से कषाय उपशान्त होते हैं, राग-द्वेष, काम, मोह आदि विकार भी शान्त होते हैं, अशुभ कर्मों का क्षय होने से तथा शुभ कर्मों (पुण्यराशि) के बढ़ने से रोग, दुःख, कष्ट आदि भी मिट जाते हैं। जीवन में तेजस्विता, क्षमता और सहिष्णुता बढ़ती है। निराहार रहने से शरीर को कसकर सुदृढ़ बनाने हेतु विविध योगासनों से शीतातपादि

पिछले पृष्ठ का शेष–

(इ) निकाचितानि कर्माणि तावद् भस्मी भवन्ति न।
यावत्प्रवचने प्रोक्तस्तपोवह्निर्न दीप्यते॥ –*आराधनासार* ७/२९

(च) दुःखात्मकं तपः केचिन्मन्यन्ते तन्न युक्तिमत्।
कर्मोदयस्वरूपत्वाद् बलीवर्दादि-दुःखवत्॥१॥
सर्व एव च दुःख्येवं तपस्वी संप्रसज्यते।
विशिष्ट स्तदविशेषेण सुधनेन धनी यथा॥२॥
महातपस्विनश्चैवं त्वन्नीत्या नारकादयः।
शम-सौख्यप्रधानत्वाद् योगिनस्त्वतपस्विनः॥३॥
युक्त्यागमबहिर्भूतमतस्त्याज्यमिदं बुधैः।
अशस्तध्यान जननात् प्राय आत्मापकारकम्॥४॥

(छ) तदविरोधे च दुःखादीनामसद्वेद्यास्रवस्यायुक्तिरिति, तत्र, किं कारणम्? यथा–अनिष्ट द्रव्य-सम्यकाद् द्वेषोत्पत्ती दुःखोत्पतिः, न तथा बाह्याभ्यन्तरतपःप्रवृत्ती धर्मध्यानपरिणतस्य यतेरवशनः केशलुंचनादि-करण-कारणापादित-कायक्लेशेऽस्ति द्वेषसम्भवः, तस्मान्नासद्वेद्य-बन्धोऽस्ति। क्रोधाद्यावेशे सति स्व-परोभय-दुःखादीनां पापास्रवहेतुत्वमिष्टं, न केवलानाम्। ' ' तथाऽनादि-सांसारिक-जाति-मरण-वेदना-जिघांसां प्रत्यागूर्णो यतिः तदुपायेप्रवर्तमानः स्वपरस्य दुःखादिकृतुत्वे सत्यपि क्रोधाद्यभावात् पापस्यावन्धकः। –*राजवार्तिक* ६/११/१६-२०/५२१/१९

(ज) मिथ्यात्वादेर्यदिह भविता दुःखमग्नं, तपोभ्यो।
जावं तस्मादुदक-कणिकेकेव सर्वाब्धि नीरात्॥
स्तोकं तेन प्रभवमखिलं कृच्छ लब्धे नरत्वे।
मद्येतत्तर्हि स्खलति तदहो का क्षतिर्जीव ते स्यात्? –*प. वि.* १/१००

सहिष्णुता से तथा इन्द्रिय-विषयासक्ति निरोध से, यानी बाह्यतप के कार्यकलापों से रोग, शोक, चिन्ता, भय, उद्वेग आदि नष्ट हो जाते हैं। शारीरिक शुद्धि, रक्तवृद्धि, मानसिक शुद्ध चिन्तन, मानसिक विकारों का पलायन, मनःशुद्धि आदि सब लाभ विवेकपूर्वक तप करने से मिलते हैं। अतः बाह्यतप को कष्टसाध्य, असमाधिकारक अथवा शक्तिक्षयकारक नहीं समझना चाहिए।[1]

स्थूलशरीर को तपाने से तैजस्-कार्मण शरीर पर अचूक प्रभाव

जब भी तपस्या की बात चलती है, तब जैन-समाज में ही नहीं, अन्य समाजों, धर्म-सम्प्रदायों में भी स्थूलशरीर को भूखे-प्यासे रखकर या विविध प्रकार से कष्ट देकर तपाने की बात सोची जाती है, परन्तु यह चिन्तन एकांगी है। यह ध्यान रखना चाहिए कि आत्मा और स्थूलशरीर के बीच में दो शरीर और हैं, जिन्हें जैनदर्शन ही नहीं, अन्य दर्शनों ने भी माने हैं। जैनदर्शन स्थूलशरीर को औदारिक अर्थात् स्थूल और सघन पुद्गलों से बना हुआ मानता है। इसे सभी धर्मों, दर्शनों, मतों और मान्यताओं वाले मानते-जानते हैं, क्योंकि यह शरीर दृश्य है। इसका घटना-बढ़ना, छोटा-बड़ा होना आबाल-वृद्ध-वनिता आदि सबको दिखाई देता है। किन्तु इसके भीतर दो शरीर और हैं जो सूक्ष्म और सूक्ष्मतर हैं; जो इन चर्मचक्षुओं से दिखाई नहीं देते। जो इस शरीर की चीरफाड़ करने पर भी नहीं दीखते। जो अन्तर्दृष्टि से देख सकते हैं, उन महान् पुरुषों ने पूर्वापर कार्यकारण-सम्बन्धों से देखा तो कहा–इस स्थूलशरीर के भीतर भी दो शरीर और हैं–तैजसशरीर और कार्मणशरीर। वैदिक ऋषियों ने इन्हें सूक्ष्मशरीर और कार्मणशरीर कहा। पाश्चात्य लोगों ने तथा थियोसोफिस्टों ने इन्हें क्रमशः इथेरिक बॉडी (Etheric Body) और एस्ट्रल बॉडी (Astral Body) माना है। जीवों के स्थूलशरीर में जो भी हलचल, स्पन्दन, क्रियाएँ, प्राणों का व नस-नाड़ियों का संचार, ऊर्जा-शक्ति होती है, वह विद्युत्, प्राण या ऊर्जा का शरीर तैजसशरीर है। स्थूलशरीर में जो भी क्रिया, गति-प्रगति, शक्ति, बौद्धिक क्षमता, हलन-चलन, भोजन-पाचन आदि तैजसशरीर के कारण है। पक्षाघात हो जाने पर शरीर निष्क्रिय हो जाता है, तब तैजसशरीर से सम्बन्ध कट हो जाता है। स्थूलशरीर का वह भाग जड़ या शून्य हो जाता है।[2] तैजसशरीर से भी सूक्ष्म एक शरीर है–कार्मणशरीर–कर्ममयशरीर या वासनाशरीर। तैजसशरीर को कम या

---

१. (क) मन-इन्द्रिय-योगानामहानिश्च उदिता बुधैः।
यतोऽत्र कर्थन्वस्य युक्ता स्याद् दुःखरूपता॥
–*अभिधान राजेन्द्रकोष, भा. ४, पृ. २२०१*

(ख) 'जैन-आचार : सिद्धान्त और स्वरूप' से भाव ग्रहण, पृ. ५३५

२. 'महावीर की साधना का रहस्य' (आचार्य महाप्रज्ञ) से भाव ग्रहण, पृ. २५८-२५९

अधिक शक्ति प्रदान करने वाला कार्मणशरीर है। इसी से स्थूलशरीर को और तैजस्शरीर को यथायोग्य शक्ति मिलती है।

दु:ख-दर्द उत्पन्न होता है–कर्मशरीर में, प्रकट होता है–स्थूलशरीर में

कर्मशरीर ही जीवन में होने वाली अच्छी-बुरी घटनाओं का मूलाधार है। स्थूलदृष्टि वाले लोग सहसा कह देते हैं, शरीर में रोग उत्पन्न हुआ या पेट में पीड़ा हुई, छाती में दर्द हुआ, आँखें दुखने लगीं आदि। परन्तु कर्मविज्ञानमर्मज्ञ सम्यग्दृष्टिपूर्वक अन्तर्दृष्टि से विचार कर कहते हैं–रोग, पीड़ा, दर्द या दु:ख शरीर, पेट, छाती और नेत्र में उत्पन्न कदापि नहीं होता, वह उत्पन्न होता है–कार्मणशरीर में, किन्तु बाद में दिखाई देता है, प्रकट होता है–स्थूलशरीर में। जैसे बल्ब में बिजली का प्रकाश पैदा नहीं होता, विद्युत् पैदा होती है–दूसरी जगह, यानी पावरहाउस में, किन्तु बल्ब आदि में प्रकट होती है। इसी प्रकार रोग आदि बहुत पहले से जीव के पूर्वकृतकर्मवश उत्पन्न होते हैं–कार्मण (कर्म) शरीर में, किन्तु वह केवल प्रगट होता है–स्थूलशरीर में या उसके विभिन्न अंगोपांगों या इन्द्रियों में।

स्थूलशरीर के माध्यम से कर्मशरीर को तपाया जाता है

निष्कर्ष यह है कि सारे अच्छे-बुरे घटनाचक्रों का मूल है–कर्मशरीर। राग-द्वेष, मोह या कषायों की खुराक जब कर्मशरीर को मिलती है, तब आत्मा के साथ कर्म का बन्ध होता है, उसका कटु-फल तन, मन, इन्द्रिय, बुद्धि आदि सबको मिलता है, वह स्थूलशरीर के माध्यम से प्रगट होता है तथा मन, बुद्धि आदि के माध्यम से भी प्रगट होता है। इस अनिष्ट और अवांछित कर्मफल की स्थिति को रोकने के लिए ही तपश्चरण का प्रयोग है।

आप यह मत सोचिये कि स्थूलशरीर को विविध बाह्य तपश्चरणों से तपाने का परिणाम केवल स्थूलशरीर पर ही होगा। सच बात तो यह है कि स्थूलशरीर द्वारा तपस्या के माध्यम से जब कर्मक्षय करने की सक्रियता पैदा की जाती है तो उसका सर्वप्रथम प्रभाव होता है–कर्मशरीर पर, फिर होता है तैजस्शरीर पर और अन्त में प्रभाव पड़ता है–स्थूलशरीर पर। यदि विवेकपूर्वक स्थूलशरीर और इन्द्रियों तथा मन को राग-द्वेषादि विकल्प से अशुभ में जाने से रोकते हैं, तो इस प्रकार के तप का प्रभाव कर्मशरीर पर पड़ता है। कर्मशरीर को खुराक मिलनी बंद हो जाती है, तो वह या तो वहीं स्थगित हो जाता है, आगे नहीं बढ़ पाता या वह फल भुगवाकर नष्ट हो जाता है। 'अनगार धर्मामृत' में भी कहा गया है–अनशनादि बाह्य तप इसलिए है कि इन तपश्चरणों के होने पर शरीर और इन्द्रियाँ उद्विक्त नहीं हो सकतीं, वे कृश हो जाती हैं। दूसरे, इनके द्वारा सम्पूर्ण अशुभ कर्म अग्नि

के द्वारा ईंधन की तरह भस्म हो जाते हैं। तीसरे, ये आभ्यन्तर प्रायश्चित्त आदि तपों की वृद्धि में कारण बनते हैं। बाह्य तपों द्वारा शरीर का कर्षण हो जाने से इन्द्रियों का मर्दन हो जाता है। इन्द्रियदलन से मन अपना पराक्रम किस तरह प्रगट कर सकता है? कैसा भी योद्धा हो, प्रतियोद्धा द्वारा उसकी बाँह कट जाने पर या घोड़ा मारा जाने पर अवश्य ही निर्बल हो जाएगा। इसी प्रकार कर्म भी बाह्य तप से प्रकारान्तर से निर्बल हो जाते हैं।[1]

यदि स्थूलशरीर द्वारा तप करने पर उसका प्रभाव कर्मशरीर पर न पड़े, वह क्षीण नहीं होता है तो भगवान महावीर की भाषा में वह सम्यक्तप नहीं होता। जो सम्यग्दृष्टिविहीन व्यक्ति अज्ञानपूर्वक केवल स्थूलशरीर को तपाता है, उसे दण्डित करता है, कर्मशरीर सम्यक् रूप से क्षीण नहीं होता है, तो भगवान महावीर ने उसे बालतप–अज्ञानतप कहा है।

अज्ञानतप और सम्यक् (सज्ञान) तप में भारी अन्तर

अज्ञानपूर्वक तप, सम्यक्तप नहीं, सकामनिर्जराकारक तपश्चरण नहीं, वह केवल कष्ट है, देहदण्ड है, क्योंकि वह अज्ञानतप केवल स्थूलशरीर को तपाता है, उसके पीछे हिंसा-अहिंसा का कोई विवेक नहीं होता, कर्मक्षय करने का लक्ष्य नहीं होता, इससे कर्मशरीर नहीं तपता। जहाँ हिंसा, प्रपंच, आसक्ति, राग-द्वेष आदि दूर नहीं हो रहे हैं, वहाँ भले ही बेचारे स्थूलशरीर को तपा लिया जाए, कर्मशरीर नहीं तपेगा; प्रत्युत हिंसा आदि से कर्मशरीर को ही बल मिलेगा जहाँ कर्मशरीर अधिकाधिक फले-फूले, वहाँ स्थूलशरीर को तपाने–कष्ट देने मात्र से सम्यक्तप नहीं माना जाता। केवल स्थूलशरीर को कष्ट देना धर्म नहीं, न ही तप है। सम्यक्तप वह है–जो स्थूलशरीर को तपाने के साथ-साथ कर्मशरीर को भी तपाए।[2]

सम्यक्तप का उद्देश्य स्थूलशरीर के माध्यम से कर्मशरीर को तपाना है

भगवान महावीर ने 'आचारांगसूत्र' में स्पष्ट कहा है–"धुणे कम्मसरीरगं।" अर्थात् कर्मशरीर को धुन डालो, उसे प्रकम्पित कर दो। नमिराजर्षि ने भी इन्द्र को आध्यात्मिक संग्राम का रहस्य समझाते हुए कहा है–"तपरूपी बाण से युक्त धनुष

---

१. (क) 'महावीर की साधना का रहस्य' से भाव ग्रहण, पृ. २६४-२६५
(ख) देहाक्ष-तपनात्-कर्मदहनादान्तरस्य च।
तपसो वृद्धिहेतुत्वात् स्यात्तपोऽनशनादिकम्॥५॥
(ग) बाह्यैस्तपोभिः कायस्य कर्शनादक्षमर्दने !
छिन्नबाहो भट इव विक्रामति कियन्मनः॥८॥ —अनगार धर्मामृत ७/५, ८

२. 'महावीर की साधना का रहस्य' से भाव ग्रहण, पृ. २६६

से कर्मरूपी कवच का भेदन कर (जीतने योग्य कर्मों को आन्तरिक युद्ध में जीतकर) संग्राम से विरत मुनि भव (संसार के जन्म-मरण) से परिमुक्त हो जाता है।'' अतः सम्यक्तप वह है, जो स्थूलशरीर को तपाने के साथ-साथ कर्मशरीर को अवश्य तपाए। उसे क्षीण और प्रकम्पित कर डाले। एक आचार्य ने कर्मों से मुक्त होने के लिए दो ठोस उपाय बताते हुए कहा है–''एक ओर से तुम (उत्कट बाह्य) तप करो, जिससे तुम सैकड़ों पूर्व-भवों में बद्ध कर्मों को तपा सको, दूसरी ओर से तुम संयम और यम (व्रत, नियम, त्याग, प्रत्याख्यान के माध्यम से संवर) करो; ताकि पापकर्म अर्जित न हो।''[1]

निष्कर्ष यह है कि स्थूलशरीरजनित ताप की आँच सूक्ष्मशरीर को प्रभावित करे तभी वह ताप सम्यक् और कर्मक्षयकारी तप होता है, मोक्ष की ओर ले जाता है। यदि स्थूलशरीर को तपाने से केवल कष्ट ही हुआ है, उसकी आँच कर्मशरीर तक नहीं पहुँची है; यानी उससे कर्मशरीर प्रकम्पित या परितप्त नहीं हुआ है, तो उसे केवल कायकष्ट-मात्र ही समझना चाहिए।

कर्मविज्ञान का यह स्पष्ट मन्तव्य है कि सम्यक्तप का उद्देश्य स्थूलशरीर को केवल कष्ट देना या तपाना मात्र ही नहीं है। न ही स्थूलशरीर या उसके अंगभूत मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ, चित्त आदि को सिर्फ कष्ट देना या दुःख का वेदन करना तप है। जहाँ इनके तपाने से कर्मशरीर तक ताप नहीं पहुँचता, वहाँ उसे सम्यक्तप नहीं समझना चाहिए। यह भी ध्यान में रहे कि कर्मशरीर को तपाने में कष्ट होना अवश्यम्भावी नहीं है। कष्ट हो भी सकता है और नहीं भी। सीधे आभ्यन्तर तप द्वारा कर्मशरीर को तपाने में शारीरिक कष्ट नहीं भी हो सकता है। अतः तत्त्व यह है कि केवल कष्ट होना तप नहीं है, न ही अज्ञानपूर्वक कष्ट सहने वाला सम्यक् तपस्वी हो सकता है। किन्तु कष्ट का दुःख आ पड़ने पर उसे समभाव से, शान्ति से, प्रसन्न मन से या तत्त्वज्ञानबल से सहा जाए तो उसका ताप सीधे कर्मशरीर तक पहुँच जाएगा और वह बाहर का कष्ट भी आभ्यन्तर तप बन जाएगा। इस प्रकार किसी शारीरिक-मानसिक कष्ट के बिना भी, राग-द्वेष किये बिना, समभाव रखकर, मन्दकषायपूर्वक तथा आभ्यन्तर तप के सम्यक् आचरण द्वारा भी कर्मशरीर को तपाया जा सकता है।[2]

---

१. (क) आचारांगसूत्र, श्रु. १, अ. २, उ. ६
(ख) तव-नाराय-जुतेण भित्तूण कम्मकंचुयं।
मुणी विगय-संगामो, भवाओ परिमुच्चए॥ –*उत्तराध्ययन, अ. ९, गा. २२*
(ग) कुणसु तवं, जेण तुमं तावेसि कम्मं भव-सय-निबद्धं।
होसु य संजम-जमिओ, जेण ण अज्जेसि तं पावं॥

२. 'महावीर की साधना का रहस्य' से भाव ग्रहण, पृ. २६४-२६६

सम्यक्तप का निर्युक्त, अर्थ, लक्षण और उद्देश्यात्मक परिभाषा

सम्यक्तप की परिभाषा को समझने से भी यह तथ्य स्पष्ट हो जाएगा। 'आवश्यकसूत्र मलयवृत्ति' में कहा है–"जो आठ प्रकार के कर्मों को तपाता है, उन्हें भस्म करने में समर्थ है, वह तप है।" 'निशीथचूर्णि' में कहा गया है–"जिस साधना से पापकर्म तप्त हो जाते हैं–कर्मरूप हिमखण्ड उत्तप्त होकर पिघल जाते हैं, वह तप है। 'सर्वार्थसिद्धि' के अनुसार तप का लक्षण है–"कर्मक्षय करने के लिए तन, मन, इन्द्रियादि जिससे तप्त होते हैं, वह तप है।" 'राजवार्तिक' में कहा है–"कर्मों को तपाया जाय–दहन किया जाता है, इस कारण इसे तप कहते हैं।" 'उत्तराध्ययनसूत्र' में सम्यक्तप की उद्देश्यमूलक परिभाषा इस प्रकार की गई है–"राग और द्वेष से अर्जित पापकर्मों का तप से जिस प्रकार क्षय किया जाता है, उसे तू एकाग्रचित्त होकर सुन।"

इससे भी परिष्कृत लक्षण 'मोक्ष-पंचाशत्' में दिया गया है–"वीर्य (शक्ति) का उद्रेक होने के कारण से इच्छाओं के निरोध को तप कहा गया है।" 'अनगार धर्मामृत' में कहा गया है–"तप शब्द का निर्वचन है–मन, तन और इन्द्रियों को तपाना (विपरीत मार्ग में जाने से) रोकना तप है। इसका फलितार्थ है–रत्नत्रय का आविर्भाव (प्रकटीकरण) करने के लिए इष्टानिष्ट इन्द्रिय-विषयों की आकांक्षा का निरोध करना तप है।" 'आचार्य अभयदेवसूरि' ने 'तप' का निर्वचन (शाब्दिक अर्थ) करते हुए कहा है–जिस साधना के द्वारा रस, रक्त, माँस, मेद, अस्थियाँ, मज्जा एवं शुक्र आदि तपाये–सुखाये जाते हैं तथा जिसके कारण अशुभ कर्म तपकर भस्म हो जाते हैं, यह तप का निरुक्त है। 'सोमदेवसूरि' के अनुसार–"इन्द्रियों और मन पर नियंत्रण करने, वश में करने या अंकुश लगाने का अनुष्ठान तप है।"[1]

---

१. (क) तापयति अष्टप्रकारं कर्म इति तपः। –*आवश्यक मलयवृत्ति, खण्ड २, अ. १*
तापयति कर्मदहतीति तपः। –*पंचाशक वि. १६*
(ख) तप्यते अणेण पावं कम्ममिति तपो। –*निशीथचूर्णि ४६*
(ग) कर्मक्षयार्थं तप्यते इति तपः। कर्मदहनात्तपः।
–*सर्वार्थसिद्धि ९/६/४१२/११; राजवार्तिक ९/१९/१८/६१९*
(घ) जहा हु पावयं कम्मं राग-दोस-समज्जियं।
खवेइ तवसा भिक्खू तमेगग्गमणो सुण॥ –*उत्तरा., अ. ३०, गा. १*
(ङ) तस्माद्वीर्य-समुद्रेकादिच्छा-निरोधस्तपो विदुः।
बाह्यं वाक्काय-सम्भूतमान्तरं मानसं स्मृतम्॥ –*मोक्ष-पंचाशत् ४८*
(च) तपो मनोऽक्ष-कायाणां तपनात् सनिरोधनात्।
निरुच्यते दृगाद्याविर्भावायेच्छानिरोधनम्॥ –*अनगार धर्मामृत ७/२/६५९*

सम्यक्तप का फल है–व्यवदान = कर्ममल को दूर करना

तुंगिया नगरी के तत्त्वज्ञ श्रावकों ने भगवान पार्श्वनाथ के श्रमणों से तत्त्वचर्चा के दौरान पूछा–"भंते ! आप तप क्यों करते हैं? (सम्यक्) तप का क्या फल है?" तब उत्तर में श्रमणों ने कहा–"तप का फल है–व्यवदान। आदान का अर्थ है–ग्रहण करना और व्यवदान का अर्थ होता है–छोड़ना, दूर हटाना। फलितार्थ हुआ–तप के द्वारा पूर्वबद्ध कर्मों को दूर हटाना = क्षय करना = निर्जरा करना तप का फल है।"[1]

सम्यक्तप तन, मन को तपाकर आत्म-शुद्धि करता है

कर्म शुद्ध आत्मा पर लगी हुई गंदगी है, मैल है, अशुद्धि है। सम्यक्तप उस गन्दगी या मैल को, तन-मन को तपाकर आँच पहुँचाकर उसी प्रकार दूर कर (निकाल) देता है, जिस प्रकार तपेती को तपाकर उसमें रखे हुए मक्खन को आँच पहुँचाकर उसके साथ मिले हुए मैल (कीट, छछेडु आदि) को दूर कर (निकाल) देता है एवं घृत को शुद्ध कर देता है। यहाँ बाह्य-आभ्यन्तर तप की आँच से तन-मन को तपाकर आत्मा के साथ चिपके हुए शुभाशुभ कर्मों को तथा उन कर्मों के कारणभूत राग-द्वेष, कषाय, काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर, अहंकार आदि विकारों को दूर कर (निकाल) दिया जाता है। जिससे आत्मा शुद्ध निष्कलंक हो जाती है। तप एक प्रकार की अग्नि है। 'आचारांगसूत्र' में विधान है कि जिस प्रकार अग्नि पुराने जीर्ण-शीर्ण काष्ठ को शीघ्र ही जला डालती है, इसी प्रकार तपरूपी अग्नि भी आत्मा में निहित पुराने बँधे हुए और संचित पड़े हुए कर्मरूपी कचरे तथा राग-द्वेषादि विकारों को जला डालती है। अतः आत्म-समाधिवान् निःसंग साधक तप से अपनी आत्मा (कषायात्मा तथा कर्मशरीर) को कृश कर दे, जीर्ण कर दे।"[2]

'राजवार्तिक' में कहा गया है–जैसे अग्नि संचित तृणादि को भस्म कर देती है, उसी तरह अनशनादि तप भी अर्जित मिथ्यादर्शनादि जनित कर्मों को भस्म कर

पिछले पृष्ठ का शेष–

(छ) रस-रुधिर-मांस-मेदाऽस्थि-मज्जा-शुक्राण्यनेन तप्यन्ते।
कर्माणि वा ऽशुभानीत्यतस्तपो नाम निरुक्तः॥ *–स्थानांग. वृत्ति, स्था. ५*

(ज) इन्द्रिय-मनसो नियमानुष्ठानं तपः। *–नीतिवाक्यामृत १/२२*

१. (प्र.) तवे किं फले?
(उ.) तवे वोदाणफले। *–भगवतीसूत्र, श. २, उ. ५*

२. कसेहि अप्पाणं जरेहि अप्पाणं। जहा जुण्णाइं कट्ठाइं हव्ववाहो पमत्थति, एवं अत्तसमाहिए अणिहे। *–आचारांगसूत्र, श्रु. १, अ. ४, उ. ३*

डालते हैं तथा देह इन्द्रियों की विषम प्रवृत्ति रोककर उन्हें तपा देते हैं, इसलिए ये तप कहे जाते हैं।[1] इसलिए तप से निर्जरा और संवर दोनों होते हैं।[2]

जैसे अग्नि सोने को शुद्ध करती है, फिटकरी मैले जल को स्वच्छ कर देती है, सोड़ा या साबुन और जल मलिन वस्त्र को उज्ज्वल बना देता है, उसी प्रकार तप आत्मा को शुद्ध, निर्मल और उज्ज्वल बनाता है। आचार्य भद्रबाहु ने कहा है–"जैसे मैला कपड़ा, सोड़ा, साबुन और जल आदि शोधक द्रव्यों से उज्ज्वल हो जाता है, वैसे ही भावतप के द्वारा आत्मा अपने में प्रविष्ट कर्ममल से मुक्त होकर शुद्ध, पवित्र और उज्ज्वल बन जाती है।"

सम्यक्तप का उद्देश्य और लाभ : वही उसका लक्षण

आत्मा के साथ अनन्त-अनन्त कर्मदल श्लिष्ट होकर उसे मलिन बना रहे हैं, आत्मा के अनन्त ज्ञानादि निजगुणों तथा उसके शुद्ध ज्योतिर्मय स्वरूप को आवृत, कुण्ठित और विकृत कर रहे हैं। सम्यक्तप उन प्राचीन कर्मदलों का निर्जरण करके (झाड़कर) आत्मा की शुद्ध ज्योति को अनावृत, निर्मल और शुद्ध कर देता है। आत्मा को विशुद्ध बनाना ही सम्यक्तप का लक्षण है, उद्देश्य है। इस दृष्टि से 'तप को आत्म-शुद्धिकारक कहा है।[3]

सम्यक् निर्निदान तप से आत्मा की परिशुद्धि कैसे-कैसे ?

भगवान ने बताया है कि 'तप से आत्मा परिशुद्ध होती है', 'सम्यक्त्व शुद्ध होता है', आत्मा के ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि गुण निर्मल-निर्मलतर होते जाते हैं। 'दशाश्रुतस्कन्ध' में कहा है–"तपस्या से लेश्याओं को संवृत करने वाले साधक का दर्शन (सम्यक्त्व) परिशुद्ध–निर्मल होता है।"

'मैत्रायणी आरण्यक' नामक वैदिक ग्रन्थ में भी कहा गया है–"तप से सत्त्व (मन पर विजय प्राप्त करने का बल) प्राप्त होता है, सत्त्व से मन अपने काबू में आ जाता है। मन वश में आ जाने से दुर्लभ आत्म-तत्त्व की प्राप्ति हो जाती है। शुद्ध आत्म-तत्त्व की प्राप्ति हो जाने पर यह आत्मा कर्मबन्धनों से सर्वथा निवृत्त = मुक्त हो जाती है।"[4]

---

१. यथाग्निः संचितं तृणादि दहति, तथा कर्म मिथ्यादर्शनाद्यर्जितं निदेहतीति तप इति निरुच्यते।
–राजवार्तिक ९/१९/६१९

२. तपसा निर्जरा च। –तत्त्वार्थसूत्र ९/३

३. सोहओ तवो। –आवश्यकनिर्युक्ति

४. (क) जह खलु मइलं वत्थं सुज्झए उदगाहिएहिं दव्वेहिं।
एवं भावुवहाणेण सुज्झए कम्मट्ठविहं॥ –आचारांगनिर्युक्ति २८२

सम्यक्तप से आत्म-शुद्धि की प्रक्रिया

प्रश्न होता है–सम्यक्तप आत्मा के साथ लगे हुए; एक जन्म नहीं, करोड़ों जन्मों में आत्मा के द्वारा कृत एवं संचित कर्मों को कैसे क्षय-निर्जरण कर देता है और उससे आत्म-शुद्धि कैसे हो जाती है? इसकी प्रक्रिया एक रूपक द्वारा 'उत्तराध्ययनसूत्र' में बताई गई है–जैसे किसी महासरोवर में नया जल आने के मार्ग को रोकने से, उसमें पहले पड़े हुए पानी, कीचड़, गंदगी, कचरा आदि को विविध साधनों से उलीचकर बाहर निकालने से एवं सूर्य के प्रचण्ड ताप से उस महासरोवर का जल क्रमशः सूख जाता है, वैसे ही नये पापकर्मों के आस्रव को रोकने पर तथा पुराने पड़े हुए पापकर्ममलों को व्रत, प्रत्याख्यान, त्याग, संयम, तप आदि से निकाल देने पर एवं विविध (चारित्र-पालन परीषह-सहन आदि के) ताप से उन्हें (कर्मों को) सुखा देने पर संयमी या तपःसाधक के पुराने करोड़ों भवों के संचित पापकर्म भी सम्यक्तप द्वारा क्षीण हो जाते हैं।[1]

मन, इन्द्रियाँ स्वस्थ और समाधिस्थ रहें, वहीं तक तप करना हितावह है

यद्यपि जैनागमों में लम्बे-लम्बे बाह्यतप का विधान है तथा ऐसे कई तपस्वियों के उदाहरण भी मिलते हैं, जिन्होंने एक मास, दो मास से लेकर छह मास तक अनशन (उपवास) किया है अथवा जिन्होंने एक मास या इससे अधिक का या दो मास या इससे अधिक दिनों तक का अनशन करके संलेखना-संथारापूर्वक समाधिमरण प्राप्त किया है। परन्तु जिनके मन में असमाधि उत्पन्न हुई है, तन में कोई भंयकर व्याधि या वमनादि रोग उत्पन्न हो गया हो, आर्त्तध्यान या रौद्रध्यान उत्पन्न हुआ हो, उन्हें बाह्य हो चाहे आभयन्तर तप, आगे बढ़ने का निषेध किया है। 'तपोऽष्टक' में स्पष्ट कहा है–"तप वही करना चाहिए, जिससे मन में दुर्ध्यान (आर्त्त-रौद्रध्यान) न हो, मन-वचन-काया के योगों (प्रवृत्तियों की हानि न हो और

पिछले पृष्ठ का शेष–

(ख) तवेण परिसुज्झइ। *–उत्तराध्ययन २८/३५*

(ग) तवं संपडिवज्जेत्ता कुज्जा सिद्धाण संथवं। *–वही २६/५२*

(घ) तवसा अवहट्ठ-लेसस्स दंसणं परिसुज्झइ। *–दशाश्रुतस्कन्ध ५/६*

(ङ) तपसा प्राप्यते सत्त्वं, सत्त्वात् सम्प्राप्यते मनः।
मनसा प्राप्यते त्वात्मा, ह्यात्मापत्त्या निवर्तते॥ *–मैत्रायणी उपनिषद् (आरण्यक) १/४*

१. जहा महातलायस्स सन्निरुद्धे जलागमे।
उस्सिंचणाए तवणाए कमेणं सोसणा भवे॥५॥
एवं तु संजयस्सावि पावकम्म-निरासवे।
भवकोडि-संचियं कम्मं तवसा निज्जरिज्जइ॥६॥ *–उत्तराध्ययन ३०/५-६*

न ही इन्द्रियाँ क्षीण हों।"[1] तपस्या करने वाले मुमुक्षु साधक को अपनी शक्ति आदि को तौलते हुए ही दीर्घ तप में प्रवृत्त होने का विधान है। 'दशवैकालिकसूत्र' में कहा है–"अपना बल, क्षमता, श्रद्धा, आरोग्य (स्वास्थ्य), क्षेत्र (स्थान) और काल (समय या परिस्थिति) देखकर ही स्वयं को किसी साधना में लगाना चाहिए।"[2] जहाँ इनका विचार किये बिना ही देखादेखी, प्रतिस्पर्धापूर्वक या दूसरे के चढ़ाने से अविवेकपूर्वक किसी तप को किया जाता है, वहाँ आर्त्तध्यान का अवसर आता है, वह तप बालतप बन जाता है, हठपूर्वक कर्ममुक्ति के लक्ष्य के बिना जो तप किया जाता है, उससे भयंकर अनिष्ट होने की भी आशंका रहती है। आचार्य जिनसेन ने इस तथ्य को स्पष्ट करते हुए लिखा है–"मुमुक्षु तपःसाधकों को न तो इस शरीर को अत्यन्त कृश, क्षीण और निढाल बना देने का सोचना चाहिए और न ही रसयुक्त स्वादिष्ट एवं पौष्टिक पदार्थों का सेवन करके इस शरीर को अधिकाधिक पुष्ट बनाने का सोचना चाहिए।" साधक दोषों–विकारों को दूर करके कर्मक्षय करने के लिए अनशन आदि तप करता है। उक्त तपःसाधना में समाधि न रहे, उत्साह, श्रद्धा, मनोबल प्रबल न रहे, आर्त्त-रौद्रध्यान होने लगे तो वह तप के बदले ताप बन जाता है। शास्त्र में बताया है कि साधक का आहारग्रहण भी सम्यक्, संयम-साधना के लिए होता है और आहारत्याग भी संयम-यात्रा के लिए होता है।[3]

भगवान महावीर ने तो तप ही क्या, प्रत्येक साधना के साथ दो बातों का निर्देश किया है–'जहासुहं' और 'मा पडिबंधं करेह', जिस प्रकार से जैसे भी सुख-समाधि हो वह साधना स्वीकार करो, परन्तु किसी साधना के लिए तुम्हारे मन में उत्साह जग गया है, मनोबल प्रबल है, शरीर में भी समाधि है तो उस साधना को करने में विलम्ब या शिथिलता हर्गिज न करो। "अपनी बाह्य एवं आन्तरिक शक्ति को छिपाओ मत और न ही शक्ति के उपरान्त कोई साधना करो।" एक आचार्य ने भी कहा है–वही अनशन तप श्रेष्ठ है, जिससे मन में अमंगल

---

१. तदेव हि तपः कार्यं दुर्ध्यानं यत्र नो भवेत्।
येन योगा न हीयन्ते, क्षीयन्ते नेन्द्रियाणि च॥ –तपोऽष्टक (उपाध्याय यशोविजय जी)

२. बलं थामं च पेहाए, सद्धामारुग्गमप्पणो।
खेत्तं कालं च विण्णाय तहप्पाणं निउंजए॥ –दशवैकालिक, अ. ८, गा. ३५

३. न केवलमयं कायः कर्शनीयो मुमुक्षुभिः।
नाऽत्युत्कटरसैः पोष्यो मृष्टैरिष्टैश्च वल्लभैः॥
दोष निर्हरणायेष्टा उपवासाद्युपक्रमाः।
प्राणसंधारणायाऽयम् आहारः सूत्रदर्शितः॥ –महापुराण पर्व २०/५/७

विचार-तरंगें पैदा न हों, इन्द्रियों की भी हानि न हो और न ही धार्मिक क्रियाएँ करने में बाधा पहुँचे।[1]

इस प्रकार जैनधर्म ने तप का सही और संतुलित दृष्टिकोण प्रस्तुत कर दिया है।

सम्यक्तप का उद्देश्य सिद्धियों के चक्कर में फँसना नहीं है

तप से अनेक लब्धियाँ, उपलब्धियाँ और सिद्धियाँ भी प्राप्त होती हैं। तप से चक्रवर्ती पद भी प्राप्त होता है, इन्द्रपद भी प्राप्त हो जाता है, यहाँ तक कि भवनपति, वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक देवों में तथा नौ ग्रैवेयक देवों तक में उत्पत्ति भी तप के प्रभाव से होती है। यह हम निर्जरा से सम्बन्धित निबन्ध में बता आए हैं। तप से वचनसिद्धि, शाप-वरदान देने की सिद्धि, अपूर्व ऋद्धि, तेजस्विता आदि प्राप्त होती है। तप से इहलौकिक-पारलौकिक लाभ, प्रसिद्धि, प्रशंसा, यशकीर्ति, अर्थलाभ आदि अनेक भौतिक लाभ भी प्राप्त होते हैं। परन्तु सम्यक्तप का उद्देश्य इन ऋद्धियों, भौतिक लब्धियों और सिद्धियों के चक्कर में फँसना नहीं है।[2]

इहलोक-परलोक-प्रशंसा-पूजादि के लिए तप न करो

भगवान महावीर से पूछा गया–"भगवन् ! तपस्या क्यों और किस उद्देश्य से करनी चाहिए?" उन्होंने कहा–"केवल अपने कर्मों की (सकाम) निर्जरा (अर्थात् कर्मक्षय करके आत्म-शुद्धि) के लिए तपस्या करो। इहलोक के किसी लौकिक या भौतिक लाभ या स्वार्थ के लिए तप मत करो, न ही परलोक के किसी स्वार्थ या लोभ से तप करो और न कीर्ति, प्रशंसा, श्लाघा या प्रसिद्धि के लिए तप करो।" भगवान महावीर का यह संकेत लौकिक या सांसारिक किसी भी प्रयोजन के लिये सम्यक्तप का न होकर एकमात्र उत्कृष्ट अध्यात्मभाव द्वारा मोक्ष (सर्वकर्म क्षयरूप मुक्ति) प्राप्त करने की ओर है। इसके गर्भ में आत्मा की शुद्धि, कष्ट-सहिष्णुता, अनुद्विग्नता, आस्तिक्य तथा आत्म-शक्तियों का सम्यक् विकास निहित है।[3] भगवान ने तपस्या को उत्कृष्ट मंगलमय धर्म तथा मोक्ष का मार्ग बताया है।

---

१. सो नाम अणसणतवो, जेण मणो अमंगलं न चिंतेइ।
जेण न इंदियहाणी, जेण य जोगा न हायंति॥

२. इन तथ्यों की विशेष जानकारी के लिये देखें–'निर्जरा : अनेक रूप और स्वरूप' शीर्षक लेख

३. नो इहलोगट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा, नो परलोगट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा, नो कित्ति-वण्ण-सद्द-सिलोगट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा; नन्नत्थ निज्जरट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा।

–दशवैकालिकसूत्र, अ. ९, उ. ४

तप निर्जरा का कारण कैसे और कब ?

उपर्युक्त तथ्यों से स्पष्ट है कि सम्यक्तप मोक्ष का मार्ग है, निर्जरा का कारण है। इसके सन्दर्भ में 'राजवार्तिक' में एक प्रश्न उठाकर समाधान दिया गया है कि "जो तप देव आदि स्थानों की प्राप्ति का कारण है, वह निर्जरा (कर्मक्षय) का कारण कैसे हो सकता है? इसका समाधान यह है कि जैसे एक ही अग्नि से पाक (आहार पकाने) तथा भस्म करने आदि अनेक कार्य होते हैं, उसी प्रकार एक ही तप से अनेक उपलब्धियाँ हो सकती हैं। यह तो उपयोग करने वाले पर निर्भर है कि वह तपस्या का उपयोग किस प्रयोजन से करता है? जैसे किसान मुख्यतया धान्य के लिए खेती करता है, पराल आदि तो उसे यों ही मिल जाते हैं, उसी प्रकार तपःक्रिया तो मुख्यतया कर्मक्षय (निर्जरा) के लिये (भगवान ने बताई) है; अभ्युदय आदि की प्राप्ति तो उसका आनुषंगिक (गौण) फल है।"[1]

अल्पतम सिद्धि के लिए महान् साध्य को मत खोओ

इस पर से वीतराग तीर्थंकरों का स्पष्ट संकेत है कि जो सम्यक्तप मोक्ष का उपाय है, पवित्र साधन है, उसे अगर कोई भौतिक या सांसारिक लाभ, पूजा-प्रतिष्ठा, सिद्धियों-लब्धियों की उपलब्धियों के लिए करना चाहे तो उसका यह मूढ़तापूर्ण कार्य तुच्छ लाभ के लिए महान् पदार्थ को खोना है। यह तो मानव-बुद्धि की नादानी है कि वह तुच्छ लाभ के लिए महान् आध्यात्मिक लाभ को खो देता है। इसी दृष्टि से भगवान महावीर ने कहा–"अल्प (तुच्छ) सिद्धि के लिए महान् साध्य को मत खोओ। तप से पूजा-प्रतिष्ठा आदि की कामना मत करो।"[2]

सम्यक्तप का एकमात्र उद्देश्य : आत्म-शुद्धि और मोक्ष-प्राप्ति

वास्तव में, जब कोई दृष्टिमूढ़ व्यक्ति अपने दुःखों, विपदाओं, संकटों आदि को मिटाने के लिए तथा स्वर्गादि सुख पाने की कामना से तप करता है तो वह यह भूल जाता है, जिन कर्मों के उदय से मुझे दुःख, संकट आदि प्राप्त हुए हैं, उनके निवारण का यह उपाय नहीं है, यह तो कर्मक्षय के बदले नये कर्मबन्ध का कारण

---

१. (क) धम्मो मंगलमुक्किट्ठं अहिंसा संजमो तवो। –*दशवैकालिकसूत्र, अ. १, गा. १*
(ख) नाणं च दंसणं चेव चरित्तं च तवो तहा।
एस मग्गुत्ति पन्नत्तो, जिणेहिं वरदंसिहि॥ –*उत्तराध्ययन, अ. २८, गा. २*
(ग) तपसोऽभ्युदयहेतुत्वान्निर्जरांगत्वाभावः, इति चेन्न, एकस्यानेककार्यारम्भ दर्शनात्।
गुणप्रधान फलोपपत्तेः कृषीवलवत्। –*राजवार्तिक ९/३/४-५/५९३*

२. (क) मा अप्पेण लुंपहा बहु। –*सूत्रकृतांग, श्रु. १, अ. ३, उ. ४*
(ख) नो पूयणं तवसा आवहेज्जा। –*वही, श्रु. १, अ. ७, गा. २७*

है। अतः वह यदि दीर्घदृष्टि से या सद्गुरु प्रेरणा से एकमात्र कर्मों का क्षय करने (सकामनिर्जरा करने) हेतु तप करे तो उक्त कर्मों का क्षय होने से उसे अनायास ही सर्व दुःखों से छुटकारा मिल सकता है। इसलिए कर्मों की निर्जरा करके आत्म-विशुद्धि या मोक्ष-प्राप्ति करना ही सम्यक्तप का उद्देश्य समझना चाहिए।

सम्यक्तप के साथ निदान से आत्म-शुद्धि की साधना नष्ट हो जाती है

सम्यक्तप का लक्ष्य आत्म-शुद्धि है। बाह्य-आभ्यन्तर तप द्वारा आत्मा को उज्ज्वल एवं पवित्र बनाकर आत्म-स्वरूप दशा को प्राप्त करना ही उसका अनन्तर फल है। तप का फल अचिन्त्य एवं असीम है। करोड़ों भवों में संचित कर्म तप से क्षय हो जाते हैं, झड़ जाते हैं। किन्तु कभी-कभी तप करने वाला साधक आत्म-शुद्धि एवं कर्मों की सकामनिर्जरा का लक्ष्य चूककर तप से भौतिक, सांसारिक समृद्धि एवं सुखों की कामना करने लग जाता है। सांसारिक लोगों के वैभव, सुख एवं समृद्धि को देखकर उत्कट सम्यक् तपस्या करने वाला तपस्वी साधक भी ऐसा संकल्प करने लगता है—"मेरी तपस्या का कुछ फल हो या प्रभाव हो तो, मुझे भी ऐसा लाभ मिले अथवा मैं भी इसी प्रकार का यशस्वी, वैभवशाली, सत्ताधीश, दिव्यऋद्धि-सम्पन्न या सम्पत्तिशाली बनूँ। मेरे तप के प्रभाव से मुझे भी ऐसा घर, ऐसी पत्नी, ऐसा परिवार, ऐसा राज्य और ऐसी सुख-समृद्धि मिले, ये और इस प्रकार की कामना या तीव्र आकांक्षा करके साधक तप को दाव पर लगाने के लिए अधीर हो उठता है।" इसे ही जैन-आगमों में निदान या नियाणा कहा है। सम्यक्तप के साथ इस प्रकार का तुच्छ भौतिक संकल्प पैदा होना—'तप का शल्य' माना गया है। ऐसा निदान करने वाला मूर्ख साधक अक्षय मोक्ष सुख प्रदान करने वाले तप को, संसार के तुच्छ इन्द्रिय-विषयों एवं कामभोगों के क्षणिक एवं नश्वर सुखों के लिए बेच देता है। ऐसा करना हीरे को कंकर के मोल बेच देना है। मोहनीय कर्म के उदय से साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका द्वारा अपने चित्त में दुःसंकल्प करना कि मेरी तपस्या से मुझे अमुक फल प्राप्त हो, इसे निदान (नियाणा) कहते हैं।

'स्थानांगवृत्ति' में निदान शब्द की पैरिभाषा इस प्रकार की गई है—"अक्षय-मोक्षसुखरूप आनन्दरस से ओतप्रोत, ज्ञान, तप आदि की आराधनारूपी लता, जिस इन्द्र, चक्रवर्ती आदि के भोगों की अभिलाषारूप कुल्हाड़ी से काट दी जाती है, उस भोगाभिलाषारूप कुल्हाड़ी को 'निदान' कहते हैं।" निदान शब्द का अर्थ होता है—निश्चय अथवा बाँध देना। 'आवश्यकसूत्र वृत्ति' के अनुसार—"किसी देवता या वैभवशाली राजा या धनिक आदि मनुष्य की ऋद्धि या सुखों को देखकर या सुनकर उसकी प्राप्ति के लिए निश्चय (संकल्प) करना कि मेरे ब्रह्मचर्यादि या

तप की साधना के फलस्वरूप मुझे भी ऐसी ऋद्धि या वैभव प्राप्त हो। इस प्रकार अमुक वस्तु या व्यक्ति को पाने की उत्कट लालसा, गाढ़ आसक्ति और तीव्र आकर्षण के फलस्वरूप तीव्र रागवश अपने सम्यक्तप या संयम-नियमादि की साधना को बेच देना, नष्ट कर देना निदान है।"

निदानकरण से कितनी हानि, कितना लाभ ?

निदान प्रारम्भ में बहुत ही सरस और सुखोत्पादक लगता है, किन्तु जब उसका फल मिलता है, तब घोर पश्चात्ताप होता है। निदान करने वाले तपःसाधक को भविष्य में सम्यक् बोधिलाभ प्राप्त होना दुर्लभ हो जाता है। निदान की ललक मन में जागते ही साधक अपनी साधना से पतित और भ्रष्ट हो जाता है। वह मन में किये हुए भोगलालसा के निदानरूप पाप की आलोचना करके प्रायश्चित्त ग्रहण करके शुद्ध न होने पर तप आदि साधना का विराधक हो जाता है, धर्म से भी पतित और अस्थिर हो जाता है।[1] 'स्थानांगसूत्र' में बताया गया है कि जैसे बार-बार बोलने से–वाचालता से सत्य वचन का तेज क्षीण हो जाता है, बार-बार लोभ करने से निःस्पृहता का प्रभाव नष्ट हो जाता है, वैसे ही बार-बार निदान करने से तप का तेज क्षीण हो जाता है। निदान करने से तप का उत्तम फल नष्ट हो जाता है। इसलिए निदान करना मोक्षमार्ग का पलिमत्थू (विघ्नकारक = बाधक) है। भगवान ने सर्वत्र निदानरहित तप करने को श्रेष्ठ बताया है।[2]

भगवान महावीर ने श्रमण-श्रमणियों को निदान से विरत किया

इस सम्बन्ध में 'दशाश्रुतस्कन्ध' में एक प्रसंग का उल्लेख है–"एक बार राजगृहनगर में भगवान महावीर स्वामी अनेक श्रमण-श्रमणियों सहित समवसरण

---

१. (क) भवकोडिसंचियं कम्मं तवसा निज्जरिज्जइ। –उत्तराध्ययन
(ख) 'जैनधर्म में तप : स्वरूप और विश्लेषण' में 'तप का पलिमंथु : निदान' से भावांश ग्रहण, पृ. १०५
(ग) तीन प्रकार के शल्य हैं–मायाशल्य, निदानशल्य और मिथ्यादर्शनशल्य। शल्यतेऽनेनेतिशल्यम्। –आवश्यक हारि. वृत्ति
(घ) दिव्य-मानुष-ऋद्धि-सन्दर्शन-श्रवणाभ्यां तदभिलाषाऽनुष्ठाने। –आवश्यक ४
(ङ) स्वर्ग-मर्त्यादि-ऋद्धिप्रार्थने। –स्थानांग वृत्ति १०
(च) भोग-प्रार्थनायाम्। –व्यवहारभाष्य वृत्ति
(छ) निदायते लूयते ज्ञानाद्याराधना-लता आनन्द-रसोपेत-मोक्षफला, येन परशुनेव देवेन्द्रादिगुणर्द्धि-प्रार्थनाऽध्यवसायेन तन्निदानम्। –स्थानांग वृत्ति १०

२. मोहरिए सच्चवयणस्स पलिमंथू ···· भिज्जा णिदाणकरणे मोक्खमग्गस्स पलिमंथू। सव्वत्थ भगवया अणियाणया पसत्था। –स्थानांग ६/३

में विराजमान थे। उस समय महाराजा श्रेणिक अपनी महारानी चेलणा आदि राजपरिवार के सहित उन्हें वन्दन करने के लिए आए। राजा श्रेणिक और रानी चेलणा को अपूर्व रूप, लावण्य एवं समस्त मानवीय भोगों से समृद्ध देखकर कई श्रमणों ने मन में निदान किया कि हमारे तप, संयम और ब्रह्मचर्य आदि की साधना का फल हमें मिले तो हम भविष्य में राजा श्रेणिक जैसे बनें; इसी प्रकार कई श्रमणियों ने मन में निदान किया कि हम आगामी जन्म में चेलना जैसी भाग्यशालिनी रानी बनें।" सर्वज्ञ भगवान महावीर ने उसी समय उन श्रमण-श्रमणियों को सम्बोधित करते हुए कहा—राजा-रानी युगल की समृद्धि एवं रूप-लावण्य को देखकर तुम लोगों ने जो निदान दुःसंकल्प मन ही मन किया है, उसका पापरूप फलविपाक बहुत ही भयंकर होगा। दीर्घकाल तक आचरित सम्यक्तप, नियम, संयम, ब्रह्मचर्य आदि के आचरण के बदले में तुम्हें अति तुच्छ एवं अल्पफल मिलेगा। अपने कृत निदान के फलस्वरूप तुम्हें उसका वांछित अल्पफल तो मिल जाएगा, लेकिन इसके कारण फिर तुम अपने धर्म से तथा सम्यक्त्व से भ्रष्ट हो जाओगे। लाख प्रयत्न करने पर भी केवलिप्ररूपित धर्म का श्रवण न कर सकोगे, कदाचित् धर्मश्रवण कर लिया, तो भी उसके प्रति श्रद्धा, प्रतीति, रुचि आदि नहीं कर सकोगे। दीर्घकाल तक दुर्लभबोधि बनकर संसार-चक्र में परिभ्रमण करते रहोगे। अतः इन कामभोगों की आसक्ति से मुक्त होकर, सर्वसंग का परित्याग करो, व्रतों की शुद्ध आराधना करो, निदान का प्रायश्चित्त करो, ताकि तुम अपने शुद्ध आत्म-स्वरूप का दर्शन कर सको; कर्मावरणों का क्षय करके अनन्त ज्ञानादि चतुष्टय रूप आत्म-गुणों से परिपूर्ण होकर अनन्त अव्याबाध सुखरूप (सर्वदुःख-सर्वकर्ममुक्तिरूप) मोक्ष को प्राप्त कर सको।"

भगवान की सर्वकल्याणकारिणी वाणी सुनकर समस्त श्रमण-श्रमणी अपने द्वारा किये हुए निदान का प्रायश्चित्त लेकर शुद्ध हो गए।[1]

'राजवार्तिक' में भी कहा गया है—"तप में दृष्ट-फल-निरपेक्षता (निदानरहितता) होनी आवश्यक है, इसीलिए शास्त्र में जहाँ-जहाँ तप शब्द आया है, वहाँ-वहाँ सर्वत्र 'सम्यक्' शब्द की अनुवृत्ति करनी चाहिए।"[2]

---

१. तत्थेगइयाणं निग्गंथाणं निग्गंथीण य सेणियं रायं चेल्लणं च देविं पासित्ता णं इमे एयारूवे अज्झत्थिए जाव संकप्पे समुप्पज्जित्था ..... जइ इमस्स सुचरियस्स तव-नियम-संजम-बंभचेरगुत्ति-फलवित्ति-विसेसे अत्थि, तया वयमवि आगमेस्साणं इमाइं ताइं उरालाइं एयारूवाइं माणुस्सगाइं भोगभोगाइं भुंजमाणा विहरामो। से तं साहु। ..... एयमट्ठं सोच्चा निसम्म तस्स ठाणस्स आलोयंति पडिक्कमंति जाव अहारिहं पायच्छित्तं तवोकम्मं पडिवज्जंति।

—दशाश्रुतस्कन्ध, दशा. १०, सू. २३७-२४०, २६७

२. इत्यतः सम्यग्-ग्रहणमनुवर्तते तेन दृष्ट-फल-निवृत्तिः कृता भवति सर्वत्र।

—राजवार्तिक ९/१९/१६/६१९

'कार्तिकेयानुप्रेक्षा' में भी इसी तथ्य का समर्थन करते हुए कहा गया है– "सम्यग्ज्ञानयुक्त साधक को बारह प्रकार के तप से तभी निर्जरा (सकामनिर्जरा) होती है, जब वह निदानरहित हो, निरहंकारी हो तथा वैराग्यभावना (अथवा सांसारिक भोगों के प्रति विरक्तिभाव और बारह प्रकार की भावना = अनुप्रेक्षा) से युक्त हो।"[1] तप करके जो निदान करता है, मद करता है, दूसरों को नीचा-हलका मानता है, ख्याति, लाभ, पूजा, इन्द्रिय-विषयभोगों की आकांक्षा करता है, उसके कर्म टूटने के बजाय उलटे बँध जाते हैं।

नौ प्रकार के निदान में कितनी अध्यात्म हानि, कितना भौतिक लाभ ?

इस अवसर पर भगवान महावीर ने सर्वकर्ममुक्तिरूप मोक्ष में अत्यन्त बाधक तथा तप, संयम, नियम, ब्रह्मचर्य आदि की साधना को दूषित करने वाले नौ प्रकार के निदानों और उनके कारण मिलने वाले फल आदि का निरूपण किया। वह संक्षेप में इस प्रकार है–

प्रथम निदान–केवलिप्रज्ञप्त धर्म में उपस्थित होकर कोई निर्ग्रन्थ परीषहों और उपसर्गों से पराजित होकर कामभोगों से समृद्ध, किन्हीं सुख-सुविधा-संपन्न पुरुषों को देखकर वैसे ही कामभोगों से सम्पन्न पुरुष होने का (अपने तपादि के फलस्वरूप) निदान करता है। उसका आलोचन, प्रतिक्रमण न करने से वह देवलोक में उत्पत्ति के बाद आगामी जन्म में वैसे कुल में पुत्ररूप में उत्पन्न होता है। निदान के अनुसार वैसे ही कामभोगों से सम्पन्न पुरुष बनता है। उसे तथारूप श्रमण या माहन केवलि-प्रज्ञप्त धर्म का उपदेश देते हैं, किन्तु वह उक्त धर्म को श्रवण करने के योग्य नहीं होता। वह महारम्भी, महापरिग्रही तथा महती इच्छाओं से युक्त होकर आगामी भवों में भी अधार्मिक और दुर्लभबोधि होता है।

दूसरा निदान–इसी प्रकार निर्ग्रन्थधर्म में दीक्षित कोई निर्ग्रन्थी अपने तपश्चरणादि के फलस्वरूप किसी कामभोगसुखों से सम्पन्न महिला को देखकर वैसी ही बनने का निदान करती है। अन्तिम समय में उसकी आलोचना आदि न करके विराधक होती है। आगामी जन्म में निदानानुसार वैसी ही भोगसुख-सम्पन्ना बनती है। पूर्ववत् धर्मश्रवण नहीं करती .... दुर्लभबोधि बनती है।

तीसरा निदान–पूर्ववत् निर्ग्रन्थधर्म में दीक्षित होकर कोई निर्ग्रन्थ पुरुषपर्याय को दुःखरूप जानकर पूर्ववत् कामसुख-सम्पन्न स्त्रीपर्याय का निदान करता है। वहाँ से मरकर देव बनता है और फिर मनुष्य-भव पाकर स्त्रीपर्याय प्राप्त करता है।

---

१. बारसविहेण तवसा णियाणरहियस्स णिज्जरा होदि।
वैराग-भावणादो णिरहंकारस्स णाणिस्स। –*कार्तिकेयानुप्रेक्षा १०२*

भोगसुखनिमग्न होकर पापफल विपाकरूप निदान के कारण केवलिप्रज्ञप्त धर्म का श्रवण नहीं कर पाता, दुर्लभबोधि बनता है।

चौथा निदान–पूर्ववत् निर्ग्रन्थधर्म में दीक्षित निर्ग्रन्थी स्त्रीपर्याय को दुःखरूप मानकर पुरुषपर्याय का निदान करती है। आलोचनादि न करने से विराधक बनी हुई वह निर्ग्रन्थी देवलोक के अनन्तर पुरुषपर्याय को प्राप्त होकर भोगसुखों में डूबकर सद्धर्मश्रवण नहीं कर पाती।

पाँचवाँ निदान–पूर्ववत् कई निर्ग्रन्थ या निर्ग्रन्थी मानवीय कामभोगों को अनित्य, असार एवं अवश्य त्याज्य घृणित जानकर दिव्यकामभोगों का निदान करके अपनी तथा अन्य देव-देवियों की विकुर्वणा करके कामभोग भागने का दुःसंकल्प करते हैं। फलतः प्रायश्चित्तादि न करके विराधक बने हुए वे निदानानुरूप फल प्राप्त कर लेते हैं और तथारूप श्रमण या माहन से सद्धर्म श्रवण भी कर लेते हैं, मगर उस पर श्रद्धा, प्रतीति और रुचि नहीं कर पाते।

छठा निदान–पूर्ववत् कई निर्ग्रन्थ या निर्ग्रन्थी मानवीय कामभोगों को अरुचिकर जानकर दिव्य कामभोगों का उनमें भी अपने ही देवी-देवों को वैक्रिय करके भोगने का निदान करते हैं। तथैव फल पाते हैं। किन्तु जिनधर्म को सुन-समझकर भी अन्य धर्मों में रुचि रखते हैं।

सातवाँ निदान–ऐसे निर्ग्रन्थ या निर्ग्रन्थी, जो दिव्य कामभोगों का निदान करते हैं, उसमें भी बिना वैक्रिय किये अपने ही देवी-देव परस्पर परिचारणा करने का दुःसंकल्प करते हैं। वे उक्त निदान के फलस्वरूप अविरति सम्यग्दृष्टि बन सकते हैं, किन्तु शील-गुण-अणुव्रत तथा प्रत्याख्यान-पौषध-उपवास आदि स्वीकार नहीं कर सकते।

आठवाँ निदान–कई श्रमण निर्ग्रन्थ या तपस्वी साधक दिव्य और मानवीय दोनों प्रकार के कामभोगों से विरत होकर ऐसा निदान करते हैं कि हमारे तप-संयमादि के फलस्वरूप हम अगले जन्म में उग्रकुल आदि में पुत्ररूप में जन्म लेकर नवतत्त्व-ज्ञाता श्रमणोपासक बनें। इस निदान की आलोचनादि न करने के कारण वे देव बनकर फिर अगले जन्म में मनुष्य बनते हैं और निदानानुसार केवलिप्रज्ञप्तधर्म का श्रवण, श्रद्धा, प्रतीति, रुचि करके बारह व्रतधारी श्रावक तो बन जाते हैं, किन्तु अनगारधर्म में प्रव्रजित नहीं हो पाते, यह उक्त निदानरूप पापफल का विपाक है।

नौवाँ निदान–कतिपय निर्ग्रन्थ या निर्ग्रन्थी दिव्य एवं मानुष्य कामभोगों से विरक्त होकर निर्ग्रन्थधर्म में प्रव्रजित होकर इस प्रकार का निदान करते हैं कि हमें अपने तप, संयम आदि का फल प्राप्त हो तो हमारा आगामी जन्म किसी समृद्ध–

सम्पन्न कुल में न होकर अन्त, प्रान्त, तुच्छ, दरिद्र, कृपण या भिक्षुक कुल में से किसी कुल में हो, ताकि हमें अनायास ही भोगों से विरक्ति हो सके और हम निर्ग्रन्थधर्म में प्रव्रजित हो सकें। इस प्रकार का निदान करके वे निर्ग्रन्थ या निर्ग्रन्थी उसकी आलोचना-प्रतिक्रमण न करके पूर्वोक्त निदानानुरूप अन्त-प्रान्तादि में से किसी कुल में जन्म लेकर भोगों से विरक्त होकर दीक्षा ग्रहण करते हैं, पंचमहाव्रत, समितिगुप्ति आदि का निर्दोष पालन करके, अन्तिम समय में संलेखना-संथारा करते हैं, आलोचना-प्रतिक्रमण कर समाधिमरण प्राप्त करते हैं, कालधर्म पाकर देवलोक में उत्पन्न होते हैं, किन्तु उक्त निदान के पापफल विपाक के कारण उसी भव में सिद्ध-बुद्ध-मुक्त होकर सर्वदुःखों का अन्त नहीं कर सकते।

सर्वत्र निदानरहित तप आदि साधना प्रशस्त एवं विहित

ये हैं विभिन्न प्रकार के नौ निदान, जो उच्च साधक-साधिकाओं के लिए अध्यात्म-विकास में बाधक और श्रावक-श्राविकाओं के लिए भी महाहानिकर कई निदानों में दुर्लभबोधिरूप तथा धर्मश्रवण, व्रतग्रहण में भी बाधक ! ये सभी निदान पापकर्म के फलदायक होने से द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से मोक्ष-प्राप्ति की दूरी बढ़ाने वाले हैं। भगवान महावीर द्वारा निदान के ये स्वयं अनुभूत, केवलज्ञान के प्रकाश में ज्ञात और लोकजीवन में इसी रूप में घटित होने वाले तथ्य हैं।[1]

---

१. (I-II) जं पासित्ता निग्गंथे/निग्गंथी नियाणं किच्चा तस्स ठाणस्स अणालोइय-अपडिक्कंते ... जइ इमस्स तव-नियम-संजम-बंभचेरवासस्स .... तं चेव साहु। ... तस्स णं पुरिसजायस्स तहारूवे समणे वा माहणे वा उभओ कालं केवलिपन्नत्तं धम्ममाइक्खेज्जा, ... अभविए णं से तस्स धम्मस्स सवणयाए। से य भवइ महिच्छे महारंभे महापरिग्गहे अहम्मिए जाव दाहिणगामी नेरइए; आगमिस्साणं दुल्लहबोहिए या वि भवइ। .... एवं खलु समणाउसो ! तस्स नियाणस्स इमेयारूवे पावफलविवागे जं णो संचाएइ केवलिपन्नत्तं धम्मं पडिसुणित्तए। (III) जं पासित्ता निग्गंथे नियाणं करेइ दुक्खं खलु पुमत्ताए ... इत्थियत्तं साहू .... (सेसं तं चेव)। (IV) जं पासित्ता निग्गंथी नियाणं करेइ, दुक्खं खलु इत्थित्तं, ... पुमत्तयणं साहू ..... (सेसं तं चेव)। (IV) निग्गंथे वा निग्गंथी वा .... माणुसग्गा कामभोगा अणितिया ..... (जाव) विप्पजहणिज्जा। .... दिव्वाइं कामभोगाइं भुंजमाणा विहरामो। एवं नियाणं किच्चा .... (सेसं तं चेव) (णवरं) .... तहारूवे समणे वा माहणे वा जाव पडिसुणिज्जा ... जं णो संचाएइ केवलिपण्णत्तं धम्मं सद्दहित्तए पत्तिइत्तए वा रोइत्तए वा। (VI) अण्णरुई रुइमादाय से य भवइ। से जे इमे आरण्णिया आवसहिया गामंतिया कण्हुइ रहस्सिया, णो बहुसंजया, णो बहुविरया .... (सेसं तं चेव)। (VII) निग्गंथो वा निग्गंथी वा नियाणं किच्चा .... से णं दंसणसावए भवइ। .... तस्स नियाणस्स इमेयारूवे पावए फलविवागे, जं णो संचाएइ सीलव्वयवेरमणपच्चक्खाण-पोसहोववासाइं पडिवज्जित्तए। (सेसं तं चेव सव्वं)। (VIII) माणुसग्गा इव दिव्वा वि खलु कामभोगा अधुवा अणितिया ..... (जाव) अवस्सं विप्पजहणिज्जा। ... पुमत्ताए पच्चायंति, तत्थ णं समणोवासए भविस्सामि ... से णं .... जाव पडिसुणिज्जा, सद्दहेज्जा जाव रोएज्जा। ..... सीलव्वयं जाव पोसहोववासाइं पडिवज्जेज्जा ... तस्स णियाणस्स इमेयारूवे पावफलविवागे, जे णं णो संचाएइ सव्वओ

निदान से सम्बन्धित तथ्यों से स्पष्ट है कि दिव्य एवं मानवीय भोगों से विरक्त निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थी और श्रावक-श्राविका भी यदि अपने तप-त्याग-संयम आदि के फल के बदले में श्रावकत्व, साधुत्व, तीर्थंकरपद या दरिद्र कुल में उत्पन्न होकर मुनिपद पाने का भी निदान करते हैं, तो वह भी आगे की अध्यात्म-साधना में ब्रेक लगा देता है, वहीं तक साधना को ठप्प कर देता है, निदानकरण के बाद पुनर्जन्म अवश्यम्भावी है, इसलिए सर्वकर्ममुक्तिरूप मोक्ष में भी वह निदान बाधक बनता है। चरमशरीरीपद, तीर्थंकरपद और दरिद्रकुलोत्पन्न होकर मुनिपद की अभिलाषायुक्त निदान में पुनर्जन्म की अभिलाषा तथा तीर्थंकरपद के अतिशयों तथा लोक में यश, कीर्ति, वैभव आदि की अभिलाषा छिपी है। इसलिए 'पंचाशक' में कहा है– "इहलौकिक या पारलौकिक निमित्तक निदान हो, चाहे तीर्थंकरपद का हो या चरमशरीरी बनने का हो सभी निदान त्याज्य हैं, भगवान ने सर्वत्र सर्वावस्थाओं में अनिदानत्व को ही प्रशस्त कहा है।" अतः अनशनादि समस्त तपश्चरण की तथा महाव्रतादि की साधना सर्वत्र अनिदानभाव–निष्कामभाव से ही करनी चाहिए, वही सकामनिर्जरा तथा मोक्ष की परिपोषक होगी।[9]

ऐसे बाह्यतप को बालतप नहीं कहा जा सकता : क्यों और कैसे ?

'अनुत्तरोपपातिकसूत्र' में काकन्दीनगरी-निवासी धन्ना अनगार की उत्कट बाह्य तपस्या का वर्णन है, जिसमें पैर से लेकर मस्तक तक सभी अंगों के तपस्या से सूख जाने, रूक्ष और कृश हो जाने, यहाँ तक कि शरीर अस्थिपंजरमात्र रह जाने का उल्लेख है। इतना ही नहीं, मगध-नरेश श्रेणिक राजा द्वारा भगवान महावीर से यह पूछे जाने पर कि उनके १४ हजार श्रमणों में अत्यन्त दुष्करकारक तथा महानिर्जराकारक कौन श्रमण हैं? भगवान ने इसके उत्तर में धन्ना अनगार की भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए उसे महादुष्करकारक और महानिर्जराकारक बताया।

पिछले पृष्ठ का शेष–

सम्मत्ताए मुंडे भविता आगाराओ अणगारियं पव्वइत्तए। (IX) ''' जइ इमस्स तवनियम जाव वयमवि आगमेस्साणं जाई इमाइं अंत''' पंत''' तुच्छ''' दरिद्द''' किवण''' भिक्खागकुलाणि वा''' पुसत्ताए एस मे परियाए सुणीहडे भविस्सइ।''' तस्स णियाणस्स इमेयारूवे फलविवागे जं णो संचाएइ तेणेव भवग्गहणेणं सिज्झित्तए जाव सव्वदुक्खाणमंतं करित्तए। *–दशाश्रुतस्कन्ध, दशा १०, सू. २४१-२६३*

१. (क) सव्वत्थ भगवया अनियाणया पसत्था। *–स्थानांग ६, व्यवहार ६, भगवतीसूत्र*

(ख) इह-पर-लोगनिमित्तं अवि तित्थकरत्तं चरिमदेहत्तं।
सव्वत्थेसु भगवता अणिदाणं पसत्थं तु॥ *–पंचाशक विवरण, गा. २५८ तथा टीका*

(ग) 'जैनधर्म में तप : स्वरूप और विश्लेषण' (मरुधरकेसरी जी) से भाव ग्रहण, पृ. ११३-११४

आगमों में तथा प्राचीन ग्रन्थों में अनेक श्रमण-श्रमणियों के बाह्य उत्कट तप का वर्णन मिलता है।

सम्यक्तप और बालतप में बहुत अन्तर : समुचित समाधान

बाह्य तपःसाधना की इस पद्धति में उन श्रमण-श्रमणी तपस्वी-तपस्विनियों के द्वारा स्थूलशरीर को सुखा डालने, कृश करने, उसे तपाकर अस्थिपंजरमात्र कर डालने को देखकर स्थूलदृष्टि वाले लोग सहसा कह बैठते हैं कि 'औपपातिकसूत्र' आदि में वर्णित तापसों, परिव्राजकों आदि द्वारा किये जाने वाले विकट तप को जब बालतप (अज्ञानतप) कहा गया है तो धन्ना अनगार आदि विविध श्रमण निर्ग्रन्थों तथा काली, महाकाली आदि साध्वियों द्वारा एवं भगवान महावीर द्वारा साढ़े बारह वर्ष तक किये जाने वाले विविध उग्र बाह्यतप को और भगवान ऋषभदेव द्वारा अभिग्रहपूर्वक एक वर्ष तक किये जाने वाले समौन बाह्यतप को बालतप क्यों नहीं कहा जाए?[9] इसका समाधान यह है कि बालतप करने वाले

---

१. (क) तएणं से धण्णे अणगारे, जं चेव दिवसं मुंडे भवित्ता जाव पव्वइए तं चेव दिवसं ... समणेणं भगवया महावीरेणं अब्भणुण्णाए समाणे ..... जावज्जीवाए छट्ठं छट्ठेणं अणिक्खित्तेणं आयंबिलपरिग्गहिएणं तवोकम्मेणं अप्पाणं भावेमाणे विहरइ। छट्ठस्स वि य पारणगंसि आयंबिलं पडिग्गाहेइ ... संसट्ठं ... उज्झिय धम्मियं जाव आहारं ... अदीणे अविमणे अकलुसे अविसादी अपरितंतजोगी ... पडिगाहेइ। ... तएणं से धण्णे अणगारे तेणं ओरालेणं तवोकम्मेणं ... जहा खंदओ जाव चिट्ठइ। .... धण्णस्स णं अणगारस्स ... (जाव) से जहानामए इंगाल-सगडियाइ वा जहा खंदओ तहा जाव हुयासणे इव भासरासि-पलिच्छण्णे तवेण तेएण तवतेयसिरीए उवसोभेमाणे चिट्ठइ। ... एवं खलु सेणिया ! इमासिं इंदभूइपामोक्खाणं चोद्दसण्हं समणसाहस्सीणं धण्णे अणगारे महादुक्करकारए चेव महाणिज्जरयराए चेव ... ।

—अनुत्तरोपपातिकसूत्र, वर्ग ३, अ. १

(ख) से जे इमे गंगाकूलगा वाणपत्था तावसा भवंति, तं-होतिया, पोतिया ... जण्णई .... मूलाहारा, बीयाहारा ... पंचग्गि तावेहिं इंगालसोल्लियं कडुसोल्लियं पिव अप्पाणं करेमाणा ... अणाराहगा .... । —उववाईसुत्तं, सू. १०

से जे इमे ... संखा, जोई, कविला भिउच्चा हंसा परमहंसा बहुउदया कुडिव्वया कण्ह-परिवायगा ... । —वही, सू. ११

तथा इससे पूर्व का निर्जरा सम्बन्धी लेख।

(ग) परमट्ठम्हि दु अट्ठिदो जो कुणदि तवं वदं च धारेई।
तं सव्वं बालतवं बालवदं विंति सव्वण्हू॥ —समयसार १५२

(घ) बालतपो मिथ्यादर्शनोपेतमनुपाय-कायक्लेशप्रचुरं निकृतिबहुलं व्रतधारणम्।
—सर्वार्थसिद्धि ६/२०/३३६/१

(ङ) यथार्थ-प्रतिपत्त्यभावादज्ञानिनो बाला मिथ्यादृष्ट्यादयस्तेषां तपः बालतपः अग्नि-प्रवेश-कारीष-साधनादि प्रतीतम्। —राजवार्तिक ६/१२/७/५१२/२८

तापस आदि के तप के पीछे न तो सम्यग्दृष्टि है और न सम्यग्ज्ञान है और न ही उनमें हिंसा-अहिंसा का, हिताहित का तथा पुण्य-पाप व धर्म (संवर-निर्जरा) तत्त्व का विवेक है। न उनके तप के पीछे परमार्थ, आत्म-शुद्धिरूप पुरुषार्थ या मोक्ष (सर्वकर्ममुक्तिरूप) का लक्ष्य है। इसी दृष्टि से 'समयसार' में कहा गया है–"जो जीव परमार्थ में स्थित नहीं है, वह जो भी तप और व्रत करता है, उसके उन सब तपों और व्रतों को सर्वज्ञ वीतरागदेव बालतप और बालव्रत कहते हैं। 'सर्वार्थसिद्धि' के अनुसार–"मिथ्यात्व के कारण मोक्षमार्ग में अनुपयोगी कायक्लेश (केवल कायकष्टबहुल) तथा मायाबहुल तपों और व्रतों का धारण करना बालतप कहा जाता है।" 'राजवार्तिक' में भी बालतप का लक्षण बताया गया है– "यथार्थज्ञान के अभाव में अज्ञानी मिथ्यादृष्टियों के अग्नि-प्रवेश, पंचाग्नितप आदि तप को बालरूप कहा गया है।" 'समयसार' (आत्मख्याति टीका) में कहा है–"अज्ञानपूर्वक किये गए व्रत, तप आदि कर्मबन्ध के कारण हैं, इसलिए उन तपःकर्मों को 'बाल' संज्ञा देकर उनका निषेध किया गया है।" तात्पर्य यह है कि उनके द्वारा किये गए तप के पीछे या तो साम्प्रदायिक अन्धपरम्परा या मान्यता की पकड़ (पूर्वाग्रह) होती है अथवा होती है–प्रशंसा, प्रसिद्धि, वाहवाही या यशकीर्ति आदि की लालसा, आसक्ति या इह-पारलौकिक फलाकांक्षा अथवा नामना-कामना अथवा उनके तप के पीछे किसी स्वार्थ, लोभ, लालसा, भय, ईर्ष्या, प्रतिस्पर्द्धा, अहंकार, मद, मत्सर, प्रतिशोध, वैर-विरोध, द्वेष, दूसरों को नीचा दिखाने, बदनाम करने या किसी प्रकार के निदान (कामभोगों आदि की आकांक्षा) इत्यादि की बलवती प्रेरणा होती है। इसलिए उनका वह तप सम्यक्तप न कहलाकर बालतप कहलाता है। 'दर्शनपाहुड' में भी कहा है–"सम्यक्त्वरहित मानव अच्छी तरह उग्र तपश्चरण करोड़ों वर्षों तक करें तो भी उन्हें बोधिलाभ प्राप्त नहीं होता।" 'नियमसार' में कहा गया है–"जो श्रमण समतारहित है, उसके द्वारा किये गए कायक्लेशरूप अनेक प्रकार के उपवास, वनवास, अध्ययन, मौन आदि क्या करते हैं? कुछ भी लाभ नहीं करते।"

पिछले पृष्ठ का शेष–

(च) अज्ञानकृतयोर्व्रत-तपःकर्मणोः बन्धहेतु त्वाद् बालव्यपदेशेन प्रतिसिद्धत्वे सति।
–समयसार (आ.) १५२

(छ) समत्तविरहियाणं सुट्ठु वि उग्गं तवं चरंताणं।
ण लहंति बोहिलाहं, अविवास-सहस्सकोडीहिं॥ *–दर्शनपाहुड ५*

(ज) किं काहदि वणवासो कायकिलेसो विचित्त उववासो।
अज्झय-मोण-पहुदी समदारहियस्स समणस्स॥ *–नियमसार १२४*

इसके विपरीत श्रमण निर्ग्रन्थों, सर्वविरति-देशविरति साधु-श्रावकवर्ग अथवा नवतत्त्वज्ञ सम्यग्दृष्टि श्रावक के या अविरति सम्यग्दृष्टि के अथवा अरिहन्त भगवन्तों के तप के पीछे सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान होते हैं, उन्हें हिंसा-अहिंसा आदि का, हेय-उपादेय का आत्महित-अहित का तथा पुण्य-पाप और धर्म आदि तत्त्वों का विवेक होता है। वे स्वर्ग आदि की या प्रशंसा एवं प्रसिद्धि आदि की कामना से अथवा किसी प्रकार के निदान (नियाणा), स्वार्थ, लोभ, मोह आदि से या राग-द्वेष, मोह, कषाय से युक्त किसी प्रेरणा से प्रेरित होकर तप नहीं करते। उनका तप कर्मक्षय (निर्जरा) की, आत्म-शुद्धि की एवं मोक्षलक्षी दृष्टि से होता है। इसलिए उनका तप सम्यक्तप कहलाता है, बालतप नहीं। धन्ना अनगार ने तो उत्कट तप प्रारम्भ करने से पूर्व सम्यग्दर्शना, ज्ञानयुक्त सर्वविरति चारित्र अंगीकार करके सामायिक आदि एकादश अंगशास्त्रों का अध्ययन कर लिया था। इसलिए उनके या अन्य निर्ग्रन्थ श्रमणों, सम्यग्दृष्टि, तत्त्वज्ञ, देशविरत या अविरत श्रावकों के द्वारा सम्यग्ज्ञानपूर्वक किये गए तप को बालतप कैसे कहा जा सकता है?

बालतप संसारवृद्धि का कारण : क्यों और कैसे ?

भगवान पार्श्वनाथ और महावीर के युग में हजारों तापस एवं परिव्राजक विविध प्रकार से बालतप करते थे। उनके तप का जनमानस पर प्रभाव भी था, किन्तु भगवान महावीर और पार्श्वनाथ ने उक्त बालतप की अयथार्थता का प्रतिपादन करते हुए कहा था–"तुम तप से केवल शरीर को कृश करने का प्रयत्न मत करो, (कर्मों के कारणभूत) कषायों को कृष करो।" 'निशीथभाष्य' में भी कहा गया है–"हम तपस्वी साधक के केवल अनशन आदि से कृश (दुर्बल) हुए शरीर के प्रशंसक नहीं हैं। वास्तव में तप के द्वारा इन्द्रिय-विषयासक्ति, कषाय और अहंकार को कृश करना चाहिए।" आचार्य भद्रबाहु ने 'दशवैकालिक निर्युक्ति' में कहा है–"जिस तपस्वी ने कषायों को निगृहीत नहीं किया, उसके तपरूप में किये गए सभी कायकष्ट गजस्नान की तरह व्यर्थ हैं।" तपस्या से यदि (कर्मों के कारणभूत) कषाय जीर्ण नहीं हुए हैं, तो केवल शरीर को जीर्ण करने से क्या लाभ है? क्योंकि केवल शरीर को कष्ट देने से तो कर्मक्षय नहीं हो सकता। जब कर्मबन्धन से मुक्त नहीं हो सकता, तब तप का लक्ष्य सिद्ध नहीं हो सकता। यही कारण है कि आचार्य भद्रबाहु ने 'आचारांग निर्युक्ति' में कहा है–"बालतप से मोक्ष (सर्वकर्मक्षयरूप मुक्ति) नहीं हो सकता है।" क्योंकि तप साधन है, मोक्षरूप साध्य का। 'उत्तराध्ययनसूत्र' में भगवान ने सम्यक्तप को मोक्षमार्ग (कर्ममुक्ति का साधन) बताया है। जिस तपःसाधना से मोक्षरूप साध्य की उपलब्धि न हो, उस साधना को करने से क्या लाभ? भले ही बालतप से स्वर्गीय वैभव प्राप्त हो जाय, पर वह तो

संसारवृद्धि का ही कारण हुआ। उससे वह बालतपस्वी न तो कर्मबन्धन से सर्वथा मुक्त हो पाता है, न ही उसे आत्म-दर्शन या परमात्मपद की प्राप्ति हो सकती है। कदाचित् बालतप से निदान (सांसारिक भोगाकांक्षा) द्वारा कुछ लब्धियाँ (भौतिक सिद्धियाँ) प्राप्त हो जाएँ, किन्तु प्रायः उन विविध लब्धियों के मद में उन्मत्त होकर या शाप, क्रोध, आवेश, विषयासक्ति, अहंकार आदि के चक्कर में पड़कर फिर नये अशुभ कर्मों का बन्ध कर लेता है। लब्धियों के अज्ञानपूर्वक प्रयोग से दुर्गति के द्वार पर ही वह दस्तक देता है। यही कारण है 'उत्तराध्ययनसूत्र' में सम्यक् (ज्ञान) तप और बालतप के साधक के अन्तर को स्पष्ट किया गया है–"जो तपस्वी है, शरीर से कृश है, इन्द्रियों का निग्रह करता है, शुद्ध व्रतबद्ध है तथा उग्रतप करके जिसने कषायों को उपशान्त करके आत्म-शान्ति (तपःसमाधि) प्राप्त कर ली है, उसे हम माहन (ब्राह्मण) कहते हैं।" ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती ने सम्भूति मुनि के भव में उत्कट तप द्वारा अनेक लब्धियाँ प्राप्त कर लीं, किन्तु चक्रवर्ती पद का निदान करके उसने सम्यक्तप को बालतप के रूप में परिणत कर डाला। चक्रवर्ती पद पाकर भी वह मोहमूढ़ होकर हिंसादि घोर पापों में रत रहा और अन्त में नरक का मेहमान बना।[9] जिस सम्यक्तप से वह सर्वकर्मक्षयरूप मोक्ष प्राप्त कर सकता था, उसे बालतप में परिणत करके घोर संसारवृद्धि की।

निष्कर्ष यह है, तप यदि सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञानपूर्वक विवेकयुक्त नहीं है तो वह तप अज्ञान (बाल) तप है। 'प्रवचनसार' में कहा गया है–"अज्ञानी-साधक लाखों-करोड़ों वर्षों तक उत्कट तप करके जितने कर्मों का क्षय करता है, उतने कर्मों को तीन गुप्ति (मन-वचन-काय संयम) से युक्त ज्ञानी-साधक एक क्षण (उच्छ्वासमात्र

---

१. (क) कसेहि अप्पाणं (कसायप्पाणं) जरेहि अप्पाणं (कम्मसरीरगं)।
–आचारांग, श्रु. १, अ. ४, उ. ३

(ख) इंदियाणि कसाए य गारवे य किसे कुरु।
णो वयं ते पसंसामो किसं साहु-सरीरगं॥ –निशीथभाष्य ३७५८

(ग) जस्स वि अ दुप्पणिहिआ होंति कसाया तवं चरंतस्स।
सो बालतवस्सी वि व गय-ण्हाण-परिस्समं कुणइ॥ –दश. नि. ३००

(घ) न हु बालतवेण मुक्खुत्ति। –आचारांग नि. २/४

(ङ) एस मग्गुत्ति पण्णत्तो, जिणेहिं वरदं सिहिं। –उत्तरा. २८/२ गा.

(च) 'जैन आचार : सिद्धान्त और स्वरूप' (आचार्य देवेन्द्र मुनि) से भाव ग्रहण, पृ. ५३६

(छ) तवसियं किसं दंतं अवचिय मंससोणियं।
सुव्वयं पत्तनिव्वाणं तं वयं बूम माहणं॥ –उत्तरा. २८/२ गा.

(ज) देखें–उत्तराध्ययनसूत्र का चित्तसंभूतीय नामक १३वाँ अध्ययन

समय) में नष्ट कर डालता है।"[1] अतः बालतप से स्थूलशरीर को कष्ट देकर भी अज्ञानी-साधक मोक्ष लाभ नहीं कर सकता।

बाह्य-आभ्यन्तर तप से असमाधि या समाधि ? : एक अनुचिन्तन

सम्यक्तप के सम्बन्ध में फिर शंका होती है कि धन्ना अनगार, स्कन्दक अनगार आदि अनेक तपस्वियों की तपःसाधना से जब उनका शरीर सूख जाता है, माँस, रक्त भी अत्यल्प हो जाता है, शरीर केवल अस्थिपंजर रह जाता है, ऐसी स्थिति में स्थूलशरीर को सुखाने, तपाने, अत्यन्त क्षीण करने से तन-मन कैसे शान्त एवं समाधिस्थ रह सकता है? शरीर जब अस्वस्थ एवं अशान्त हो तो ऐसे तप से समाधि कैसे प्राप्त हो सकती है? शरीर स्वस्थ और शान्त हो, तभी समाधि मिल सकती है, ऐसा शरीरशास्त्रियों का मत है। उनका यह आक्षेप है–"आहार से रहित देह में धातु क्षोभ उत्पन्न होता है। आहार के अभाव में प्रबल सत्त्वशाली व्यक्ति का भी चित्तभ्रंश हो जाता है।"

उपर्युक्त आक्षेप अनुभवरहित है। यह कथन परमार्थ से अनभिज्ञ व्यक्तियों का है। जो व्यक्ति सम्यग्दृष्टि एवं सम्यग्ज्ञान से रहित हैं, जिन्होंने आगमों का श्रवण-वाचन-मनन नहीं किया है या नवतत्त्वों के रहस्य से अज्ञात हैं तथा जिनका लक्ष्य कर्मों से मुक्ति पाना नहीं है, जो भूख-प्यास के या अन्य कष्टों को सहन करने से घबराते हैं अथवा भूख-प्यास आदि या अन्य कष्ट भी अनिच्छा से या स्वर्गादि के लोभ से अथवा कषायवश होकर सहते हैं, वे ही ऐसा आक्षेपात्मक प्ररूपण करते हैं।

आहारग्रहण से शक्ति और ऊष्मा के उपरांत उत्तेजना भी होती है

इतना तो शरीरशास्त्री भी मानते हैं कि आहारग्रहण करने से दो कार्य निष्पन्न होते हैं–शक्ति-प्राप्ति और ताप-उत्पत्ति। यानी आहार से शरीर में शक्ति और गर्मी प्राप्त होती है। किन्तु इन दो के अतिरिक्त भी आहार शरीर के अन्तर्गत विभिन्न केन्द्रों में उत्तेजना भी पैदा करता है, उनमें सक्रियता लाता है। शरीर में जितने भी काम-वासनाकेन्द्र, इच्छाकेन्द्र, कषायादि आवेगकेन्द्र अथवा स्मृतिकेन्द्र हैं तथा पाँचों इन्द्रियों तथा मन से होने वाले ज्ञान के केन्द्र हैं, आहार के कारण ये सब केन्द्र उत्तेजित–विकारग्रस्त हो जाते हैं। यदि शरीर को आहार (भोजन) न मिले तो ये सब केन्द्र मन्द, शिथिल और शान्त हो जाते हैं। इन्द्रियों और मन को मनोज्ञ विषयरस प्राप्त नहीं होता है, तब उनमें उत्तेजना या सक्रियता अथवा विकारवशता नहीं होती। मन शान्त होता है, तब राग-द्वेष, कषाय आदि विकार भी अतिमन्द हो

---

१. जं अण्णाणी कम्मं, खवेदि भवसय-सहस्स-कोडीहिं।
तं णाणी तिहिं गुत्तो, खवेइ उस्सासमेत्तेण॥ –प्रवचनसार ३/३८

जाते हैं।[1] 'भगवद्गीता' में भी कहा है–निराहार से शरीरधारी के इन्द्रिय-विषय छूट जाते हैं, किन्तु विषयों का रस नहीं छूटता। उनका रस परम (शुद्ध आत्मा = परमात्मा) को देखकर निवृत्त होता है। स्थूलशरीर द्वारा प्रतिसंलीनता नामक बाह्यतप से इनका रस छूट सकता है। इसके लिए इन्द्रिय-विषयों और पदार्थों के प्रति आसक्ति का त्याग जरूरी है।[2]

स्थूलशरीर को ही क्यों तपाया जाए ?

एक प्रश्न रह-रहकर कुछ लोगों को कुरेदता है कि यदि कर्मशरीर को ही धुनना, प्रकम्पित करना, प्रतप्त करना या क्षीण करना है तो कोई अन्य उपाय नहीं है, जिसके माध्यम से कर्मशरीर को सीधे ही (Direct) प्रकम्पित या प्रतप्त किया जा सके? बेचारे स्थूलशरीर को ही क्यों तपाया या कष्ट दिया जाए? उससे हमारा क्या विरोध है? उसने हमारा क्या बिगाड़ा है?

स्थूलशरीर को तपाने से कितना लाभ, कितनी हानि ?

इसका एक समाधान तो यह है कि तैजस् और कार्मणशरीर इतने सूक्ष्म और सूक्ष्मतर हैं कि अतीन्द्रिय ज्ञानी के सिवाय अन्य व्यक्तियों को इन चर्मचक्षुओं से दिखाई नहीं देते, इसलिए वे पकड़ में नहीं आते, जबकि स्थूलशरीर प्रत्यक्ष है, दृश्यमान है, इसलिए सब की पकड़ में आ जाता है। इसी कारण कर्ममुक्ति के साधक द्वारा सर्वप्रथम स्थूलशरीर को ही तपाया जाता है, ताकि वह सूक्ष्मतम (कार्मणशरीर) को तपा सके और कर्मक्षय करके आत्मा को परिशुद्ध कर सके।

कर्ममुक्ति के साधक द्वारा स्थूलशरीर को तपाने का दूसरा समुचित कारण यह है कि वह कर्मविज्ञान द्वारा यह जानता है कि संसार की सजीव-निर्जीव वस्तुओं तथा इन्द्रिय-विषयों पर प्रियता-अप्रियतायुक्त या राग-द्वेष से या कषाय से युक्त चिन्तन करता है–मन; उससे कर्मबन्ध होता है, उसका फल भोगना पड़ता है–स्थूलशरीर को। काम, क्रोध, मान, माया, लोभ, मद, मत्सर, ईर्ष्या आदि मनोजनित पापकर्मों का कटुफल भी स्थूलशरीर को भोगना पड़ता है–दुःखवेदन या शरीरादि अंगोपांगों में विकलता, बुद्धि-मन्दता आदिरूप में। हिंसा, असत्य भाषण, चौर्यकर्म, ब्रह्मचर्यभंग, परिग्रहवृत्ति आदि सब पापकर्मों का चिन्तन करता है–मन, किन्तु

---

१. (क) 'महावीर की साधना का रहस्य' से भाव ग्रहण, पृ. २६२-२६३
(ख) आहारवर्जिते देहे धातुक्षोभः प्रजायते।
तत्र काऽधिकसत्त्वोऽपि चित्तभ्रंशं समश्नुते। –अभिधान रा. कोष, भा. ४, पृ. २२०१

२. विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः, रसवर्जं, रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते।
–भगवद्गीता

इनका आचरण करता है–स्थूलशरीर। पंचेन्द्रिय-विषयों की अभिव्यक्ति होती है–स्थूलशरीर में। विषय-चिन्तन राग-द्वेष आदि करता है या विषयों को ग्रहण करने की प्रेरणा करता है–मन। किन्तु स्थूलशरीर द्वारा विषयग्रहण होने के कारण उनका दण्ड (कर्मफल के रूप में) भोगना पड़ता है स्थूलशरीर को ही। स्थूलशरीर के द्वारा कषाययुक्त साम्परायिक क्रियाएँ होती हैं, उनसे सूक्ष्म (कर्म) शरीर को बल मिलता है। सूक्ष्मशरीर (कर्मशरीर) स्थूलशरीर से ऐसी-ऐसी अशुभ प्रवृत्ति करवाता है, जिससे स्वयं (सूक्ष्मशरीर) को शक्ति प्राप्त हो सके। जिन कर्मक्षयकारक प्रवृत्तियों से सूक्ष्मशरीर को बल नहीं मिलता, उनको वह पसंद नहीं करता। बुरी बातें सोचता है–मन, शक्ति मिलती है–सूक्ष्मशरीर (कर्मशरीर) को, किन्तु क्रियाकलाप सारा होता है–स्थूलशरीर द्वारा। अतः स्थूलशरीर को सब ओर से मार पड़ती है। स्थूलशरीर को इस मार से बचाने के लिए उसके द्वारा छह प्रकार के बाह्यतप कराये जाते हैं ताकि सूक्ष्म (कर्म) शरीर को तपाया जा सके, उसे क्षीण करके निर्जरित और पृथक् किया जा सके; बँधे हुए कर्म-पुद्गलों को समभाव से तप करके नष्ट किया जा सके। एक दृष्टि से देखें तो कर्मशरीर स्थूलशरीर का प्रतिपक्षी है, शत्रु है; क्योंकि जब भी दाव लगता है, कर्मशरीर स्थूलशरीर द्वारा बुरे कार्य करवाता है; जिसकी सजा भी उसे ही देता है या मिलती है। अतः स्थूलशरीरधारक अन्तर्मुखी अन्तरात्मा सम्यग्दृष्टि मुमुक्षु-साधक स्थूलशरीर से बाह्यतप करवाकर उसे कर्मों के चंगुल से छुड़ाता है, कर्मनिर्जरण (कर्मक्षय) कराकर कर्मों की कैद से उसे छुड़ाता है। कर्मशरीर द्वारा उसे (स्थूलशरीर को) मिलने वाले विविध दण्डों और दुःखों से बचाता है। इसी दृष्टि से 'दशवैकालिकसूत्र' में कहा गया है–"देहदुक्खं महाफलं।"–शरीर को (तप से) होने वाला दुःख महाफलदायक है।[1]

तप के पैंतीस प्रकार : कौन-से और कैसे-कैसे ?

यों तो तप अनेक प्रकार के कहे हैं। परन्तु 'उत्तराध्ययनसूत्र' में जो बाह्य-आभ्यन्तर बारह प्रकार के सम्यक्तप हैं, वे ही कर्ममुक्ति (निर्जरा) और मोक्ष के लिए उपादेय हैं। उनमें छह बाह्यतप हैं–(१) अनशन, (२) ऊनोदरी (अवमौदर्य), (३) वृत्ति-परिसंख्यान या भिक्षाचरी, (४) रस-परित्याग, (५) कायक्लेश, और (६) प्रतिसंलीनता। छह आभ्यन्तरतप ये हैं–(१) प्रायश्चित्त, (२) विनय, (३) वैयावृत्य, (४) स्वाध्याय, (५) व्युत्सर्ग, और (६) ध्यान। इनके अतिरिक्त शास्त्रों और ग्रन्थों में २३ अन्य तपों का भी उल्लेख मिलता है–

---

१. (क) 'महावीर की साधना का रहस्य' (आचार्य महाप्रज्ञ) से भाव ग्रहण, पृ. २६४
(ख) दशवैकालिकसूत्र, अ. ८, गा. २७

(१) उग्रतप, (२) दीप्ततप, (३) तप्ततप, (४) महातप, (५) घोरतप, (६) लब्धितप, (७) संभावी (समभावी) तप, (८) निर्जरातप, (९) सकामतप, (१०) अकामतप, (११) ज्ञानतप, (१२) अज्ञानतप, (१३) आशीतप, (१४) निराशीतप, (१५) निदानतप, (१६) स्वार्थीतप, (१७) कीर्तितप, (१८) सरागीतप, (१९) वैतालीतप, (२०) सरागीतप, (२१) क्लेशीतप, (२२) मायीतप, और (२३) आसुरीभावनातप।

सम्यग्ज्ञानयुक्त तप भगवदाज्ञा में और अज्ञानयुक्त तप आज्ञाबाह्य

इनमें से जो सम्यग्ज्ञानयुक्त २३ प्रकार के तप हैं, वे भगवदाज्ञा में हैं और शेष १२ प्रकार के जो तप अज्ञान-मिथ्याज्ञान-मिथ्यादर्शनयुक्त हैं, वे भगवद्-आज्ञाबाह्य हैं। पूर्वोक्त २३ प्रकार के सम्यक्तपों में से उग्रतप, दीप्ततप, तप्ततप, महातप और घोरतप, ये पाँच तप गौतमस्वामी जैसी उत्कृष्ट करणी करने वालों के लिए कहे गये हैं। इनके अतिरिक्त सम्यग्ज्ञानयुक्त तप, लब्धितप, संभावी (समभावी) तप, निर्जरातप, सकामतप, निराशीतप, ये छह तप पूर्वोक्त तपों सहित ६ + ५ = कुल ११ तप पूर्वोक्त जिनप्ररूपित १२ बाह्य-आभ्यन्तर तपों में समाविष्ट हो जाते हैं। इनके अतिरिक्त अकामतप, अज्ञानतप, आशीतप, निदानतप, स्वार्थीतप, कीर्तितप, सरागीतप, वैतालीतप, सरागी (तामसी) तप, क्लेशीतप, मायीतप और आसुरीभावनातप; ये १२ प्रकार के तप आत्मा के लिए अहितकर, आत्म-गुणों की हानि करने वाले तथा कर्मों की निर्जरा और मुक्ति से दूर रखने वाले हैं; कर्मबन्ध कर्त्ता हैं, इसलिए भगवद्-आज्ञाबाह्य हैं, जबकि पूर्वोक्त २३ प्रकार के सम्यग्ज्ञानयुक्त जिनोक्त सम्यक्तप आत्म-हितकर, आत्म-गुणवर्द्धक, आत्मा को निर्मल करने वाले, कर्मनिर्जराकारक और मोक्ष (सर्वकर्ममुक्तिरूप) फलदायक हैं। 'कार्तिकेयानुप्रेक्षा' में कहा गया है–जो साधक इहलौकिक और पारलौकिक सुखभोग से निरपेक्ष होकर, सुख-दुःख, शत्रु-मित्र, तृण-मणि, निन्दा-प्रशंसा आदि द्वन्द्वों पर राग-द्वेषरहित होकर समभावपूर्वक धर्मपालन हेतु कायकष्ट को सहते हैं, उनका वह तपो-धर्म शुद्ध और निर्मल है। यह समभावीतप है।[1]

अज्ञानतप : संवर, निर्जरा और मोक्ष में बाधक : क्यों और कैसे ?

पूर्वोक्त १२ प्रकार के अज्ञानतप संवर, निर्जरा और मोक्ष में बाधक तथा आत्मा-गुणों की हानि करने वाले क्यों हैं? इसके लिए इनके अर्थों पर दृष्टिपात करने से स्पष्ट प्रतीत हो जाएगा। जो व्यक्ति अनिच्छा से, कर्ममुक्ति के लक्ष्य से

---

१. इह-परलोक-सुखानां, निरपेक्षः, यत्करोति समभावः।
विविधं कायक्लेशं तपोधर्मो निर्मलस्तस्य॥ —*कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गा. ४००*

रहित होकर बरबश कष्ट सहन करके अकामतप करता है, जो तप का अर्थ, स्वरूप, प्रयोजन या विधि समझे बिना अज्ञानपूर्वक, हिंसा-अहिंसा, हिताहित के अविवेकपूर्वक अज्ञानतप करता है, जो इहलोक में धन, पुत्र, प्रसिद्धि, सत्ता, स्वास्थ्य या शारीरिक-मानसिक दुःख-निवारण आदि किसी आशा से अथवा परलोक में दिव्यऋद्धि, सुख, देवांगना आदि की प्राप्ति की आशा से आशीतप करता है या इहलौकिक-पारलौकिक कामभोगों की इच्छा से नियाणा करके निदानतप करता है अथवा यश, कीर्ति, प्रतिष्ठा, शोभा, प्रशंसा आदि के लिए कीर्तितप करता है या फिर अपने किसी निकृष्ट तुच्छ स्वार्थ की सिद्धि के लिए स्वार्थीतप करता है अथवा कोई व्यक्ति अपने विरोधी या शत्रु पर द्वेष या ईर्ष्या से प्रेरित होकर तप के प्रभाव से उसका अनिष्ट करता है या अनिष्ट मंत्र, तंत्र, मूढ़ आदि प्रयोग करके दूसरों के जानमाल को नष्ट करते हुए वैतालीतप करता है या अज्ञानतावश प्रति क्षण दिल में जलता रहता है, द्वेष, ईर्ष्या या क्रोध से प्रज्वलित रहता है, क्रोध, अहंकार, लोभ एवं आवेश में अन्धा हो जाता है, इस प्रकार की बात-बात में सरापीभावना श्राप देने को तैयार रहता है, उसका तप सरापी (तामसी) तप है अथवा मन में आर्त्त-रौद्रध्यानवश संक्लेशवश हर जगह झगड़े, कलह, फूट, द्वेष कराता है या उद्विग्नता, तनाव आदि के कारण संक्लेशतप करता है या फिर माया, कपट सहित मायीतप करता है या जन्म-जन्मान्तर तक चले, ऐसा रोष, द्वेष, कलह करके, दयारहित होकर दूसरों को संताप देने वाला आसुरीभावनायुक्त तप करता है;[1] तो ये सभी तप पापकर्मबन्धक होने से आत्मा के ज्ञान, दर्शन, सुख और शक्ति को, शान्ति को नष्ट कर देते हैं।

अशुद्ध तप और शुद्ध तप का विवेक

इसी प्रकार पूजा-श्लाघावश तप करना भी अज्ञानतप है। कहा भी है–"जो अल्पबुद्धि वाला व्यक्ति पूजा, लाभ या प्रसिद्धि के लिए तप करता है, वह केवल शरीर को ही सुखाता है, उसे तपश्चर्या का वास्तविक फल नहीं मिलता। विवेकरहित तप करने से केवल शरीर को ही ताप होता है। वह केवल अज्ञानकष्ट है। उससे संसारवृद्धि के सिवाय अधिक कोई शुभ फल नहीं मिलता।"[2]

---

१. अणुबंध-रोस-विग्गह-संसत्त-तवो णिमित्त-पडिसेवी।
णिक्किव-णिराणुतावी आसुरियं भावणं कुणइ॥ —भगवती आराधना, गा. ८८

२. पूजालाभप्रसिद्ध्यर्थं तपस्तप्येद् योऽल्पधीः।
शीष एव शरीरस्य, न तस्य तपसः फलम्॥
विवेकेन विना यच्च, तत्तपस्तनुतापकृत्।
अज्ञानकष्टमेवेदं, न भूरि फलदायकम्॥

'सूत्रकृतांगसूत्र' में कहा है–जो महामुनि महान् कुलों में जन्म लेकर मुनिदीक्षा लेकर चारित्रवान् होकर पूजा, सत्कार के लिए तप करते हैं, उनका तप निष्फल और अशुद्ध जानना। इसके विपरीत जो महामुनि अन्य कोई गृहस्थादि जान न पाए, इस प्रकार से तप करते हैं तथा अपनी प्रशंसा एवं श्लाघा स्वयं नहीं करते, उनका तप[1] शुद्ध और आत्म-हितकर जानना।[2]

बाह्यतप के छह प्रकार और उनका स्वरूप

स्थूलशरीर से होने वाले बाह्यतप के छह प्रकार हैं–(१) अनशन, (२) अवमौदर्य या ऊनोदरिका, (३) वृत्ति-संक्षेप, (४) रस-परित्याग, (५) संलीनता या प्रतिसंलीनता, और (६) कायक्लेश। इन छह प्रकार के बाह्यतपों को हम तीन भागों में वर्गीकृत कर सकते हैं–(१) अनशन, अवमौदर्य, वृत्ति-संक्षेप और रस-परित्याग, इन चारों का समावेश एक वर्ग में; दूसरे वर्ग में कायक्लेश और तीसरे वर्ग में प्रतिसंलीनता का समावेश हो जाता है। (१) अशन का अर्थ है–अशन (ऐ भरा जा सके, ऐसे अन्नादि खाद्य पदार्थ), पान (जल आदि पेय पदार्थ), खादिम वा, मिष्टान्न आदि) और स्वादिम (मुख को सुवासित करने वाले इलायची आदि पदार्थ) अशन से ये चारों प्रकार के भोज्य-पदार्थ। अनशन का अभिप्राय है–इन चारों प्रकार के भोज्य पदार्थों का त्याग। अनशन भी तभी तप कहलाता है, जब किसी लौकिक या सांसारिक प्रयोजन से रहित होकर एकमात्र कर्मनिर्जरा (आत्म-शुद्धि) का लक्ष्य हो। अन्यथा वह लंघन या भोजन-त्याग कहलाता है। इसके मुख्य दो भेद हैं–इत्वरिक (थोड़े समय के लिए) उपवास, बेला आदि तप हैं। यावत्कथिक अनशन में यावज्जीव चारों आहार और शरीरपरिकर्म का त्याग किया जाता है। (२) अवमौदर्य (ऊनोदरी) तप का अर्थ है–भूख से कम खाना। ऊनोदरी का वास्तविक अभिप्राय कम करना है। वह कभी भोजन, वस्त्र, उपकरण तथा मन-वचन-काया के योगों की चपलता में की जाती है। यह द्रव्य-ऊनोदरी है। भाव-ऊनोदरी में क्रोधादि चार कषायों–राग, द्वेष, क्लेश तथा वचन में अल्पता की जाती है। (३) वृत्ति-परिसंख्यान या वृत्ति-संक्षेप का अर्थ है–भोज्य-द्रव्यों को संक्षिप्त–सीमित करना, सीमा बाँधना। १४ नियमों का चिन्तन भी इसी तप के अन्तर्गत आता है। साधु के लिए भिक्षाचरी तप कहा गया है, जिसमें विभिन्न प्रकार के अभिग्रहपूर्वक भिक्षा की जाती है। वास्तव में वृत्ति-संक्षेप का

---

१. तेसिं पि तवो ण सुद्धो, निक्खंता जे महाकुला।
जं नेवन्ने वियाणंति, न सिलोगं पवेज्जए॥ –सूत्रकृतांग, श्रु. १, अ. ८, सू. २४

२. 'प्रश्नोत्तर मोहनमाला, भा. ८' (प्रयोजक–पू. श्री मोहनलाल जी म.) से भाव ग्रहण, पृ. ४४०-४४७

अभिप्राय–लालसा कम करना या विभिन्न वस्तुओं के प्रति अपनी इच्छाओं को कम या सीमित करना है। (४) रस-परित्याग का अर्थ है–जीभ को स्वादिष्ट लगने वाली तथा इन्द्रियों को उत्तेजित करने वाली भोज्य-वस्तुओं का त्याग करना या स्वादवृत्ति पर विजय पाना। इसमें मुख्यतया घी, तेल, दूध, दही, मिष्ट पदार्थ इन विकृतियों तथा मिर्च, मसाले आदि चटपटी चीजों का त्याग करना होता है। इस तप के अन्तर्गत आयम्बिल, नीवी आदि तप आते हैं। (५) प्रतिसंलीनता का अर्थ है–अब तक इन्द्रिय, योग आदि जो बाह्य प्रवृत्तियों में लीन थे, उन्हें आत्मा में संलीन करना–अन्तर्मुखी बनाना, आत्मा की ओर मोड़ना। इसके मुख्यतः चार प्रकार हैं– (१) इन्द्रिय-प्रतिसंलीनता, (२) कषाय-प्रतिसंलीनता (कषायोपशान्तता), (३) योग-प्रतिसंलीनता (मन-वचन-काय योगों की चपलता का निरोधी, और (४) विविक्त शय्यासन–एकान्त, शान्त, विविक्त (पवित्र), बाधारहित स्थान में सोना-बैठना। (६) कायक्लेश का अर्थ है–शरीर को इतना कस लेना, अनुशासित कर लेना, साध लेना या अभ्यास कर लेना कि वह सर्दी, गर्मी आदि द्वन्द्वों, विभिन्न परीषहों, उपसर्गों, कष्टों, भयों–प्रलोभनों आदि प्रतिकूल परिस्थितियों में भी स्थिर, अडिग, अव्यथित व स्थितप्रज्ञ रह सके। कायक्लेश तप में विविध आसन, प्राणायाम, यौगिक साधनाओं, आतापना, केश-लोच, उग्र विहार आदि किये जाते हैं, समय आने पर धर्म-पालन के लिए रोगादि विविध कष्टों को समभाव से सहा जाता है। शरीर को चंचलतारहित, वचन को अचपल एवं मन को एकाग्र करने का अभ्यास ही इसका प्रयोजन है।[1]

स्थूलशरीर द्वारा बाह्यतप क्या और कर्मशरीर पर उसका प्रभाव कैसे ?

बाह्यतप के प्रकारों और उनके स्वरूप को देखते हुए स्पष्ट प्रतीत होता है कि देह और इन्द्रियों के निग्रह एवं नियंत्रण के लिए की जाने वाली पूर्वोक्त सभी क्रियाएँ जो कर्मक्षय का कारण बनती हैं, वे बाह्यतप हैं। 'समवायांगसूत्र वृत्ति' में बाह्यतप का लक्षण इस प्रकार दिया गया है–"जिससे बाह्य (स्थूल) शरीर के परिशोषण द्वारा जो कर्मक्षय का हेतु हो, वह बाह्यतप है।"

जब अल्पाहार, निराहार या स्वादरहित आहार किया जाता है, तब कर्मशरीर को स्थूलशरीर द्वारा पहले जो शक्ति मिल रही थी, उसका स्रोत सूखने लग जाता है, फलतः शरीर, इन्द्रियाँ, मन सभी शान्त हो जाते हैं, शिथिल हो जाते हैं, (कषाय या राग-द्वेष की) उत्तेजना और सक्रियता के जो निमित्त, उपाय या साधन

---

१. (क) समावायांगसूत्र, समवाय ६, सू. २०
(ख) 'तत्त्वार्थसूत्र विवेचन' (उपाध्याय केवल मुनि जी) से भाव ग्रहण, पृ. ४२२-४२४

थे, वे पूरे समाप्त नहीं तो अत्यन्त मन्द एवं अल्प हो जाते हैं। स्वेच्छा से आहार का परित्याग या व्युत्सर्ग (प्रत्याख्यान) होने से कर्मबन्ध का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है। यह अनशनादि चारों के प्रथम वर्ग द्वारा कर्मशरीर पर प्रभाव है।[1]

कायक्लेश में आसनादि द्वारा शरीर के विशेष स्थानों, चक्रों या मर्मस्थानों को जाग्रत किया जाता है, जिनका मूल कर्मशरीर में है, किन्तु स्थूलशरीर को आसनादि प्रक्रिया द्वारा साधे जाने से, कसे जाने से, सुदृढ़ और स्थिर हो जाने से वे परीषहादि कष्टों को समभाव से सहने में सक्षम हो जाते हैं, फलतः कर्मशरीर को शक्ति नहीं मिलती। फिर प्रतिसंलीनता से इन्द्रियों और मन आदि को बहिर्मुखी बनने से रोग देने और अन्तर्मुखी-अन्तर्लीन कर देने से कर्मशरीर को खुराक मिलनी बंद हो जाती है।

निष्कर्ष यह है कि स्थूलशरीर के द्वारा किये जाने वाले इन तीनों वर्गों के तप-विशेष का प्रभाव कर्मशरीर तक पड़ता है। कर्मनिर्जरा (कर्मक्षय) हो जाती है। यदि इन तीनों का प्रभाव कर्मशरीर पर नहीं पड़ता तो ये सम्यक्तप की कोटि में नहीं आते। तपाने की प्रक्रिया बाहर की ओर से होती है, इसलिए इन्हें बाह्यतप कहा गया है।[2]

तप से होने वाले परम लाभ के मुकाबले में कष्ट नगण्य

यद्यपि अनशनादि तथा कायक्लेश और प्रतिसंलीनतारूप बाह्यतप से शरीर, इन्द्रियों, अंगोपांगों तथा मन की इच्छाओं पर काफी नियंत्रण किया जाता है। इनसे होने वाले कष्टों का सहन प्रारम्भ में बहुत ही अखरता है। शारीरिक और मानसिक सुख-सुविधाओं और इच्छाओं में काफी कटौती करनी पड़ती है, परन्तु शान्ति और धैर्यपूर्वक इन कष्टों को सह लेने से स्थूलशरीर कर्मशरीर द्वारा मिलने वाले दण्ड एवं दुःखों से बच जाता है और कर्मनिर्जरा करके आध्यात्मिक शुद्धि एवं विकास में उपयोगी बनता है। जैसे किसी दुःसाध्य रोगी को शल्य-चिकित्सा (ऑपरेशन) कराने में तथा रोग की पीड़ा मिटाने हेतु विविध उपचार लेने में काफी कष्ट तथा शरीर और मन को सन्ताप होता है, परन्तु स्वास्थ्य-लाभ होने तथा शरीर के सशक्त एवं स्वस्थ होने से दुःख, निश्चिन्तता, शान्ति और प्रसन्नता मिलती है,

---

१. देखें-आचारांग में स्वादवृत्ति पर विजय की प्रेरणा-
से अणासादमाणे लाघवियं आगममाणे।
तवे से अभिसमण्णागए भवति॥ —आचारांग, श्रु. १, अ. ८, उ. ६, सू. २२३

२. (क) बाह्यशरीर-परिशोषणेन कर्मक्षपणहेतुत्वात् इति। —समवायांगसूत्र, समवाय ६ वृत्ति
(ख) 'तत्त्वार्थसूत्र विवेचन' (उपाध्याय श्री केवल मुनि जी) से भाव ग्रहण
(ग) 'महावीर की साधना का रहस्य' से भावांश ग्रहण, पृ. २६३

धर्म-पालन के लिए उत्साह जगता है, उसके मुकाबले में वह पीड़ा या दुःख कुछ भी नहीं है। किसान को बीज बोने से लेकर फसल काटने तक में सर्दी, गर्मी, वर्षा आदि के कितने कष्ट सहने पड़ते हैं। मगर अनाज की फसल प्राप्त करने पर उसे जो आल्हाद मिलता है, उसके सामने वह इन प्रकृतिकृत दुःखों को नगण्य मानता है। सार्थवाह वणिक् सुदूर परदेश में जाकर वहाँ उत्पन्न माल लाते हैं और जहाँ वे चीजें नहीं पैदा होतीं, वहाँ ले जाकर बेच देते हैं। उन्हें दूर-सुदूर यात्रा में बड़े-बड़े भयंकर जंगलों, नदियों, पहाड़ों से गुजरकर जाना पड़ता है। रास्ते में कई जगह पड़ाव डालने पड़ते हैं। कभी-कभी चोरों, लुटेरों आदि से बचने के लिए रात्रि-जागरण भी करना पड़ता है। मगर अर्थलाभ का जो सुख प्राप्त होता है, उसके समक्ष इन कष्टों को वे कुछ भी नहीं गिनते।[1] रत्न आदि के व्यवसायियों को एक जनपद से दूसरे जनपद में माल बेचने हेतु जाने में काफी जोखिम, भय, भूख, प्यास आदि का दुःख उठाना पड़ता है। परन्तु अभीष्ट सिद्धि के सामने वे इन दुःखों को भूल जाते हैं। माता अपने पुत्र के पालन-पोषण में होने वाले कष्ट को बिलकुल भूलकर वात्सल्य रस का आनन्द पाती है। इसी प्रकार अनशनादि बाह्यतप तथा प्रायश्चित्त आदि आभ्यन्तर तप सम्यग्ज्ञानपूर्वक करने वाले भी अपने कर्ममुक्तिरूप मोक्ष-लक्ष्य की अभीष्ट सिद्धि के लिए विविध सम्यक्तप करने में शारीरिक, मानसिक कष्टों को प्रसन्नतापूर्वक सहते हैं। उन आत्मार्थी मुमुक्षु साधकों को कर्मनिर्जरा करने में आनन्द की अनुभूति होती है। कर्मरूपी महारोग का, भव-भ्रमण का दुःख तथा पुनः-पुनः जन्म, जरा, मृत्यु एवं व्याधि के दुःखों के समाप्त होने तथा करोड़ों वर्षों से संचित कर्मों के क्षय होने से आत्मा की उज्ज्वलता एवं पवित्रता का तथा आत्मा के निजी गुणों के अनावरण (प्रकट) होने से एवं भगवद्वचनानुसार सम्यक्तप से पूर्वबद्ध कर्मों का नाश तथा आत्म-विशुद्धि का परम लाभ मिलने से तपश्चरण से होने वाले विविध शारीरिक-मानसिक दुःखों को वे याद भी नहीं करते।[2]

किस बाह्यतप से क्या-क्या प्रयोजन सिद्ध होते हैं ? : एक आकलन

स्थूलशरीर द्वारा बाह्यतप से कर्मशरीर को तपाने, क्षीण करने पर आत्म-शुद्धि की दृष्टि से क्या प्रयोजन सिद्ध होता है? इस विषय में भी विचार कर लेना

---

१. 'अखण्ड ज्योति, जनवरी १९७६' से भाव ग्रहण

२. याऽपि चाशनादिभ्यः कायपीड़ामनाक् किंचित्।
व्याधिक्रियासमा सोऽपि, नेष्टसिद्ध्याऽत्र बाधिनी॥
दृष्टा चेष्टार्थसंसिद्धौ कायपीड़ा ह्यदुःखदा।
रत्नादि वणिगादीनां तद्वदत्राऽपि भाव्यताम्॥ —*अभिधान राजेन्द्रकोष, भा. ४, पृ. २२०१*

चाहिए। 'उत्तराध्ययनसूत्र' में स्पष्ट कहा गया है–"(कर्ममुक्ति का साधक) संसार से ऊर्ध्व (मोक्ष के लक्ष्य) को लेकर चलने वाला हो, उसे कदापि बाह्य (आत्म-बाह्य पर-भावों या विषयों) की आकांक्षा नहीं करनी चाहिए। वह (कर्ममुक्ति-साधक) पूर्वकृत कर्मों के क्षय के लिए ही इस देह को धारण करे।"

अतः साधक पूर्व-संचित कर्मों का क्षय करके आत्म-शुद्धि को उपलब्ध होकर मन, वचन, काया, इन्द्रियाँ आदि की प्रवृत्तियों पर बाह्यतप द्वारा नियंत्रण करता है। उनसे निम्नोक्त प्रयोजन सिद्ध होता है और आध्यात्मिक लाभ भी प्राप्त होता है–

अनशनतप से–संयम-प्राप्ति, शरीर के प्रति राग (आसक्ति और मोह) का नाश, कर्ममल-विशोधन, सुध्यान की योग्यता एवं स्वस्थ शरीर से शास्त्राध्ययन आदि प्रयोजन सिद्ध होने सम्भव हैं।

ऊनोदरीतप से–संयम में सावधानी, जागृति, आत्म-चिन्तन में उत्साह, वातादि दोषों का शमन, ज्ञान, ध्यान, स्वाध्याय आदि प्रयोजन सिद्ध हो सकते हैं।

वृत्ति-संक्षेप या वृत्ति-परिसंख्यान से–भोजन-सम्बन्धी आसक्ति पर नियंत्रण, आहार के लिए अभिग्रहयुक्त प्रयोग, त्याग-प्रत्याख्यान की शक्ति और दृढ़ता, चिन्ता, उद्विग्नता आदि पर या आवेगों पर नियंत्रण आदि प्रयोजन सिद्ध होते हैं।

रस-परित्याग से–पंचेन्द्रिय-निग्रह, स्वादवृत्ति पर विजय, निद्रा-विजय, स्वाध्याय, ध्यान, आत्म-चिन्तन में एकाग्रता आदि प्रयोजन सिद्ध होते हैं।

कायक्लेश से–शारीरिक कष्ट-सहिष्णुता, मनोवृत्ति में उदारता, शारीरिक सुखवाञ्छा से मुक्ति, शरीर कष्ट के लिए सध जाता है, अव्यथित रहता है, सुख-दुःख में समभाव आदि प्रयोजन सिद्ध होते हैं।

प्रतिसंलीनता से–पंचेन्द्रिय-संयम, इन्द्रियों और मन की अन्तर्मुखता, आत्म-सेवा संलग्नता, बाधाओं से मुक्ति, ब्रह्मचर्यसिद्धि, स्वाध्याय, ध्यान आदि में संलीनता[1] एकाग्रता आदि प्रयोजन सिद्ध होते हैं।

देहासक्ति तोड़ने के लिए स्थूलशरीर द्वारा बाह्यतप करना आवश्यक

कर्ममुक्ति के लिए सर्वाधिक प्रभावशाली तत्त्व है–तप। कर्मों को दूर करने–नष्ट करने में बाधक तत्त्व है–लोभ। लोभकषाय के अन्तर्गत वासना, तृष्णा, ममता,

---

१. (क) बहिया उड्ढमादाय, नावकंखे कयाइ वि।
पुव्वकम्मखयट्ठाए, इमं देहं समुद्धरे॥ –उत्तराध्ययन, अ. ६, गा. १४
(ख) 'जैन भारती, मई १९८९' में प्रकाशित 'तप : क्या, क्यों?' लेख से साभार ग्रहण, पृ. २७५

मूर्च्छा, अहंता, लालसा, लिप्सा, गृद्धि, आसक्ति, ये सब आ जाते हैं। स्थूलशरीर द्वारा बाह्यतप का प्रमुख कारण शरीर और शरीर से सम्बन्धित सजीव-निर्जीव पर-पदार्थों और विभावों के प्रति आसक्ति और मूर्च्छा को तोड़ना है। आहार और शरीर तथा शरीर से सम्बन्धित पर-पदार्थों के प्रति आसक्ति देहासक्ति है। अतः अनशन, ऊनोदरी, रस-परित्याग, वृत्ति-संक्षेप, कायक्लेश और प्रतिसंलीनता, ये छहों बाह्यतप पूर्वोक्त देहासक्ति पर सीधा प्रहार करते हैं। आहार के प्रति जब आसक्ति होती है, तब मनुष्य कर्म से मुक्त होने की दृष्टि से न सोचकर देह के प्रति ममत्ववश मन ही मन यह सोचता है कि आहार नहीं करूँगा तो दुर्बल हो जाऊँगा, कार्य न कर सकूँगा, आहार-त्याग करने पर मेरा शरीर थक जाएगा। यह भ्रान्ति देह को सरस, स्वादिष्ट, मसालेदार, तामसी, राजसी, आहार देने की लिप्सा दोनों देहासक्ति को जगाती हैं, किन्तु उपवासादि तप का अभ्यासी व्यक्ति आहार के बिना भी स्वस्थ, सशक्त रह सकता है। मनुष्य सुबह से लेकर रात को सोने तक न जाने कितने-कितने कषाययुक्त क्रियाकलाप शरीर के लिए करता है? शरीर को टिकाने के लिए थोड़ा-सा सात्त्विक आहार चाहिए, पर वह शरीर को पुष्ट करने, जिह्वेन्द्रिय के वश होकर तथा शरीर के प्रति आसक्ति रखकर नाना प्रकार के स्वादिष्ट, चटपटे व्यंजन, मिष्टान्न तथा विकृतिपूर्ण आहार करता है; बदले में कर्मबन्ध अधिकाधिक होता जाता है, पाँचों इन्द्रियों पर जरा भी संयम करने को कहा जाए तो वह तैयार नहीं होता। उसका कारण है, शरीर के प्रति गाढ़ आसक्ति। इसी गाढ़ आसक्ति के फलस्वरूप जब वह किसी उदर-पीड़ा, मस्तिष्क-पीड़ा, कैंसर आदि भयंकर रोग की पीड़ा से आक्रान्त होता है, तब जरा-सी भी पीड़ा को सहन नहीं कर पाता, वह रोता है, चिल्लाता है, भयंकर आर्त्तनाद करता है, भगवान, देवी-देव तथा अन्य कतिपय निमित्तों को कोसता है। देहासक्तिवश इस प्रकार वह भयंकर कर्मबन्ध कर लेता है।

बाह्यतप से देहासक्ति कैसे छूटती है, कैसे नहीं ?

अगर व्यक्ति सम्यग्ज्ञानपूर्वक अनशनादि चार आहार-सम्बन्धी तप तथा कायक्लेश और प्रतिसंलीनता तप से अभ्यस्त होता तो शान्ति से शरीरादि कष्ट को सहन करता, स्वकृत कर्मों का परिणाम समझकर अन्तरात्मा में संलीन हो जाता, आत्म-स्वरूप का चिन्तन करके उसमें लीन हो जाता। ऐसी स्थिति में वह अपने आप को अशुभ कर्मबन्ध से तभी रोक पाता तथा पूर्वबद्ध कर्मों के उदय में आने पर निर्जरा भी तभी कर पाता, जब वह पूर्वोक्त अनशनादि चार बाह्यतपों से, विशेषतः कायक्लेश द्वारा कष्ट-सहिष्णुता से और प्रतिसंलीनता से इन्द्रिय, काय

और अंगोपांगों को आत्म-बाह्य जानकर भेदविज्ञान से अभ्यस्त होता तथा "न सा महं नो वि अहं पि तीसे।" (मैं उस सजीव-निर्जीव वस्तु का नहीं हूँ और न वह मेरी है।) 'दशवैकालिकसूत्र' के इस भेदविज्ञान मूलक बोधसूत्र को हृदयंगम कर लेता एवं 'आचारांगसूत्र' के 'एगो अहमंसि, ण मे अत्थि कोइ, णवाऽहमवि कस्सइ।" (मैं अकेला हूँ, मेरा कोई नहीं है, न मैं किसी का हूँ।) इस प्रकार का अध्यवसाय परिपक्व हो जाता। इस प्रकार प्रतिसंलीनता तप के अभ्यास से अभ्यस्त हो जाता और शरीर तथा शरीर से सम्बद्ध सजीव-निर्जीव पर-पदार्थों में एवं कषायादि विभावों में उसकी लीनता छूटकर आत्म-संलीनता हो जाती। किन्तु यह सब स्थूलशरीर से अनशनादि षट् बाह्यतपों द्वारा देहासक्ति को ताड़ने, काया को कष्टसहिष्णुता से अभ्यस्त करने तथा बहिरात्मभाव को छोड़ने से ही हो पाता है, साथ ही स्थूलशरीर द्वारा बाह्यतप से कर्मशरीर तप सकता है, क्षीण और निर्जरित हो सकता है।[1]

समाधिमरण-संलेखना के लिए भी अनशनादि बाह्यतप का अभ्यास

'आचारांगसूत्र' में स्पष्ट कहा गया है कि जब शरीर अत्यन्त ग्लान हो जाए या किसी दुःसाध्य रोग या पीड़ा से ग्रस्त हो जाए, आवश्यक क्रियाएँ करने में तथा नित्य क्रियाएँ करने में बिलकुल अक्षम हो जाए तो उसे भक्त-प्रत्याख्यान, इंगितमरण या पादपोपगमन, यों समाधिमरण (यावज्जीव संलेखनापूर्वक अनशन संथारे) के इन तीन प्रकारों में से अपनी योग्यता, क्षमता, शक्ति और मनोबल के अनुसार किसी एक का चयन करके उसकी तैयारी के लिए सर्वप्रथम संलेखना के तीन अंगों का अभ्यास करना आवश्यक है–(१) आहार को क्रमशः कम करना, (२) कषायों का अल्पीकरण एवं उपशमन, तथा (३) शरीर को समाधिस्थ, शान्त और स्थिर रखने का अभ्यास। साथ ही समाधिमरण के अभ्यास के लिए अनशन (यावज्जीव अनशन) तप अत्यावश्यक है; ताकि शास्त्र के निर्देश के अनुसार समाधिमरण-साधक प्रति क्षण विनश्वर शरीर के प्रति ममता–मूर्च्छा का त्याग करके तथा नाना प्रकार के परीषहों और उपसर्गों पर विजय प्राप्त करके सर्वज्ञों द्वारा प्ररूपित शरीर और आत्मा की पृथक्ता के प्रतिपादक भेदविज्ञान पर पूर्ण विश्वास के साथ इस घोर अनशन का शास्त्रीय विधि के अनुसार अनुपालन करे। इस प्रकार के यावज्जीवन अनशन की आराधना भी तभी कर सकता है, जब पहले अनशनादि बाह्यतपों से अभ्यस्त हो।

---

१. (क) दशवैकालिकसूत्र, अ. २, गा. ४
(ख) आचारांगसूत्र, श्रु. १, अ. ८, उ. ६, सू. २२२

समाधिमरण का सुपरिणाम और उससे सर्वकर्मक्षयरूप मोक्ष-प्राप्ति

शास्त्रकार ने समाधिमरण का माहात्म्य बतलाते हुए कहा है–"यह त्रिविध समाधिमरण मोहमुक्त साधकों का आयतन (आश्रय) है, यह हितकर, सुखकर, क्षमारूप, निःश्रेयस्कर और भवान्तर में भी अनुगामी है।" अर्थात् इसका फल भवान्तर में भी मिलने वाला है। यह सत्य है, इसे स्वीकारने वाला सत्यवादी, दृढ़प्रतिज्ञ, सांसारिक प्रपंचों से रहित परीषह–उपसर्गों से अनाकुल, इस अनशन पर दृढ़ विश्वास होने से भयंकर उपसर्ग आने पर भी अनुद्विग्न, कृतकृत्य एवं संसारसागर का पारगामी तथा समाधिमरण द्वारा जीवन को सार्थक करके प्रायः चरम लक्ष्य = समस्त कर्मक्षयरूप मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। समभाव और धैर्यपूर्वक साधना से साधक त्रिविध शरीर से तो मुक्त (विमोक्ष) होता है, अनेक मुमुक्षुओं और विमोक्ष साधकों के लिए प्रेरक बन जाता है।

यही कारण है कि अन्तकृद्दशांगसूत्र, भगवतीसूत्र, औपपातिकसूत्र आदि आगमों में वर्णित उच्च साधक-साधिकाओं का समाधिमरण के लिए अंगीकृत यावज्जीव अनशन तथा उपासकदशांग आदि आगमों में वर्णित श्रमणोपासकों के द्वारा अंगीकृत संलेखना-संथारापूर्वक समाधिमरण अनेक मुमुक्षु और कर्ममुक्ति-साधकों के लिए प्रेरणादायक हैं।[1]

यावज्जीव-अनशन में आहारादि-त्याग के साथ-साथ देहासक्ति-त्याग अत्यावश्यक

यह तो स्पष्ट है कि इस प्रकार के यावज्जीव अनशन के लिए देहासक्ति का सर्वतोभावेन परित्याग करने हेतु चारों प्रकार के आहार का, शरीर का तथा शरीर

---

१. (क) जस्स णं एवं भवति, से गिलामि च खलु इमंसि समए इमं सरीरगं अणुपुव्वेण परिवहित्तए, से अणुपुव्वेण आहारं संवट्टेज्जा, २ त्ता, कसाए पतणुए किच्चा समाहियच्चे फलगावयट्ठी ···· तणाइं संथरेत्ता एत्थ वि समए इत्तिरियं कुज्जा। ···· भेदुरं कायं संविधुणिय विरूवरूवे परीसहोवसग्गे अस्सिं विस्सं भणयाए भेखमणुचिण्णे। तत्था वि तस्स काल-परियाए। से वि तत्थ वियंतिकारए।
इच्चेयं विमोहायतणं हितं सुहं खमं निस्से सं आणुगामियं त्ति बेमि।
–आचारांग, श्रु. १, अ. ८, उ. ६, सू. २२४

(ख) आचारांगसूत्र, श्रु. १, अ. ८, उ. ६, सू. २२४ के विवेचन से (आ. प्र. समिति, ब्यावर), पृ. २७९-२८१

(ग) तं सच्चं सच्चवादी ओए तिण्णे छिण्णकहंकहे आतीतट्ठे अणातीते चिच्चाण ····।
–वही, अ. ८, उ. ६

(घ) देखें–अन्तकृद्दशांग में संलेखना-संथारा करने वाले चरमशरीरी साधक-साधिकाओं का वृत्तान्त
देखें–उपासकदशांग में आनन्द, कामदेव आदि श्रमणोपासकों के द्वारा गृहीत संलेखना-संथारा का वृत्तान्त

से सम्बद्ध समस्त सजीव-निर्जीव पदार्थों पर ममत्व-त्याग, अठारह पापस्थानों का परित्याग, आलोचना-प्रायश्चित्तादि द्वारा आत्म-शुद्धि एवं सर्वजीवों से क्षमापना करके एकमात्र शुद्ध आत्म-चिन्तन एवं परमात्म-स्मरण करना आवश्यक होता है।

इसलिए संलेखना-संथारा द्वारा समाधिमरण की साधना करने वाले यावज्जीव अनशन तपोव्रती साधक को सर्वप्रथम देहासक्ति छोड़ना आवश्यक होता है। देहासक्ति छूटे बिना उसके जीवन में समाधि लाने वाले चार कषायों तथा अठारह पापस्थानों का छूटना अवश्य ही कठिन है। जिनकी देहासक्ति नहीं छूटती, ऐसे संलेखना-संथारा के साधक आहार के बिना तो प्रायः नहीं घबराते, परन्तु देह से सम्बन्धित अन्यान्य बातों की स्मृति से रह-रहकर उनके मन में राग-द्वेष के या कषायों के बादल गर्जने लगते हैं, उनके सम्बन्धी या धर्म-संघ के सदस्य-सदस्याएँ भी कई बार पुनः-पुनः उक्त बातों को याद दिलाकर उनकी कषायों की स्मृति को सतेज करते रहते हैं। अतः साधक का मन, बुद्धि, चित्त, अन्तःकरण, देह और देह से सम्बद्ध 'जीवन की आशा और मरण के भय से विप्रमुक्त' नहीं हो पाता। या तो वह अत्यन्त सत्कार, सम्मान, जयनाद एवं प्रशंसात्मक वाक्य सुनकर अधिक जीने की आकांक्षा मन ही मन करता रहता है या गर्व-स्फीत हो जाता है अथवा शरीर में अधिक पीड़ा, चिन्ता, विषाद या भयवृत्ति हो तो शीघ्र ही मृत्यु की वांछा करता है और यह भी सत्य है कि देहासक्ति-परायण व्यक्ति को मृत्यु का संकेत प्राप्त होने पर भी या मरणासन्न स्थिति होने पर भी वह जीने का मोह नहीं छोड़ सकता। अतएव संलेखना-संथारा, जोकि अनेक पूर्वबद्ध कर्मों को काटने में सक्षम है, अंगीकार नहीं कर पाता और अन्त में, इन बाह्य अनशनादि तप से महानिर्जरा के चांस को खो बैठता है।[1]

संलेखना-संथारे के समय देहासक्ति का पूर्णतः त्याग करने का पाठ

यही कारण है कि यावज्जीव अनशन व्रती साधक के लिए संलेखना-संथारा के पाठ में देहासक्ति या शरीरमोह को तोड़ना या छोड़ना अनिवार्य बताते हुए कहा गया है–"जो यह मेरा शरीर इष्ट, कान्त, प्रिय, मनोज्ञ, मनाम, धैर्यशील, विश्वसनीय, सम्मत, अनुमत, बहुमान्य, भाण्ड-करण्डक के तुल्य रहा है (इसके प्रति आसक्ति के कारण मैं इसकी रक्षा के लिए चिन्तित रहता था कि) इसे सर्दी,

---

१. (क) कसाए पयणू किच्चा अप्पाहारे तितिक्खए।
अहभिक्खू गिलाएज्जा, आहारस्सेव अंतियं॥
जीवियं नाभिकंखेज्जा, मरणं नावि पत्थए।
दुहओ वि न सज्जिज्जा, जीविए मरणे तहा॥ —आचारांग, श्रु. १, अ. ८, उ. ५

(ख) जीवियास-मरणभय-विप्पमुक्को।

गर्मी, भूख, प्यास न लगे, इसे सर्प न काट ले, इसे चोर-लुटेरे आतंकित न करें, इसे डांस, मच्छर न काटें, इसे वात-पित्त-कफजनित या सान्निपातिक विविध रोग आतंक तथा परीषहों या उपसर्गों का स्पर्श न हो, इस (प्रकार की देहासक्ति) का भी मैं अन्तिम श्वासोच्छ्वास-पर्यन्त व्युत्सर्ग करता हूँ।"[1]

देहासक्ति-त्याग के लिए इन आशंसाओं और अतिचारों से बचना आवश्यक

साथ ही इस संलेखना (शरीर और कषायों को कृश करने की) साधना द्वारा देहासक्ति के त्यागपूर्वक समाधिमरण के ५ अतिचारों = दोषों = भूलों (इस लोक सम्बन्धी आशंसा, परलोक सम्बन्धी आशंसा, जीवन और मरण की आशंसा, कामभोग सम्बन्धी लिप्साओं एवं समस्त निदानों) से रहित होकर निर्दोष अनशन द्वारा समाधिमरण स्वीकारता हूँ। 'तत्त्वार्थसूत्र' में संलेखनाव्रत के पाँच अतिचार बताए हैं–(१) जीविताशंसा, (२) मरणाशंसा, (३) मित्रानुराग (मित्रों या हितैषियों, सगे-सम्बन्धियों, स्वजनों के प्रति स्नेहबन्धन), (४) सुखानुबन्ध (अनुभूत सुखों का स्मरण करके उन्हें ताजा बनाना), और (५) निदानकरण। 'स्थानांगसूत्र' में दस प्रकार के आशंसा प्रयोग बताए हैं, जिनका त्याग करना संलेखना-संथारा के समय अतिआवश्यक है–(१) इहलोकाशंसा-प्रयोग, (२) परलोकाशंसा-प्रयोग, (३) द्विधा-लोकाशंसा-प्रयोग, (४) जीविताशंसा-प्रयोग, (५) मरणाशंसा-प्रयोग, (६) कामाशंसा-प्रयोग, (७) भोगाशंसा-प्रयोग, (८) लाभाशंसा-प्रयोग, (९) पूजाशंसा-प्रयोग, और (१०) सत्काराशंसा-प्रयोग। यावज्जीव अनशन तप या बाह्य-आभ्यन्तर किसी भी प्रकार के तप में आत्म-शुद्धि और सर्वकर्ममुक्तिरूप मोक्ष के लक्ष्य की दृष्टि से इन आशंसाओं तथा देहासक्ति के दूषणों से बचना अत्यावश्यक है। तभी वह तप शुद्ध और सम्यक्तप होगा, कर्मनिर्जरा और मोक्ष-प्राप्त कराने में सहायक होगा।[2]

●●

---

१. जं पि य इमं सरीरं इट्ठं कंतं पिय मणुण्णं मणामं थेज्जं (धिज्जं), विसासियं समयं बहुमयं अणुमयं भंडकरंडगसमाणं, मा णं सीयं, मा णं उण्हं, मा णं खुहा, मा णं पिवासा, मा णं वाला, मा णं चोरा, मा णं दंसा, मा णं मसगा, मा णं वाइय-पित्तिय संनिवाइय-विविहा रोगायंगा, परीसहो वसग्गा फासा फुसंतु ति कट्टु। एयं पि णं चरिमेहिं उसास-णीसासेहिं वोसिरामो ति कट्टु संलेहणा-झूमणा-झूलिया भत्तपाणपडिया इक्खिया पाओवगया कालं से अणवकंखमाणा विहरंति। —*औपपातिकसूत्र १३/३८*

२. (क) देखें–आवश्यकसूत्र में इहलोगासंसप्पओगे आदि संलेखना के ५ अतिचार
(ख) देखें–स्थानांगसूत्र, स्था. १० में दस प्रकार के आशंसा-प्रयोग
(ग) जीवित-मरणाशंसा-मित्रानुराग-सुखानुबन्ध-निदानकरणानि।
—*तत्त्वार्थसूत्र, अ. ७, सू. ३२*

११

आभ्यन्तरतप के सन्दर्भ में–

प्रायश्चित्त : आत्म-शुद्धि का सर्वोत्तम उपाय

सम्यक्तप की महिमा

सम्यक्तप मनुष्य-जीवन का सर्वश्रेष्ठ वरदान है। यह सर्वश्रेष्ठ धर्म और मोक्षपुरुषार्थ का साधक है। 'आत्मानुशासन' के अनुसार–"इस लोक में आत्मा के साथ लगे हुए क्रोधादि या राग-द्वेषादि विभावरिपुओं पर सम्यक्तप विजय दिलाता है। इसी लोक में वह क्षमा, मार्दव, निर्लोभता, आर्जव, विनय, शान्ति, सन्तोष आदि गुणों को प्राप्त कराता है तथा परलोक में मोक्षपुरुषार्थ को सिद्ध कराता है, अतएव वह परलोक में भी हित-साधक है। इस प्रकार विचार करके जो विवेकी मानव हैं, वे उभयलोक के संताप को दूर करने वाले सम्यक्तप में अवश्य प्रवृत्त होते हैं।[1]

तपःसमाधि कब और कब नहीं ?

'भगवती आराधना' में तपोधर्म-पालन का प्रयोजन बताते हुए कहा गया है–"जो मानव शक्ति के अनुसार बाह्य-आभ्यन्तरतप में सम्यक् प्रकार से प्रवृत्त नहीं होता, मानना चाहिए, वह अपनी आत्मा को विषयासक्ति, अविरति एवं प्रमाद तथा कषायों में फँसाता है और अपनी शक्ति को भी छिपाता है। सुखासक्त होने से उस जीव का अनेक भवों में तीव्र दुःखदायक असातावेदनीय कर्म का बन्ध होता है।"[2] 'समाधिशतक' में भी कहा गया है–"सम्यक्तपःसमाधि वही प्राप्त कर सकता है, जो अविनाशी आत्मा को शरीर से भिन्न जानता है, अन्यथा घोर तपश्चरण करके भी मोक्ष को नहीं प्राप्त कर सकता।"[3] इसी तथ्य का समर्थन 'योगसार' में किया

---

१. इहैव सहजान् रिपून् विजयते प्रकोपकादीन्।
गुणाः परिणमन्ति यातसुभिरप्ययं वांछति॥
पुरश्च पुरुषार्थ-सिद्धिरचिरात् स्वयं वामिनी।
नरो न रमते कथं तपसि तापसंहारिणि॥ –*आत्मानुशासन ११४*

२. अप्पा य वंचिओ तेण, होई विरियं च गूहियं भवदि।
सुह सीलदाए जीवो बंधदि हु असादवेयणीयं। –*भगवती आराधना १४५३*

३. यो न वेत्ति परं देहादेवमात्मानमव्ययम्।
लभते स न निर्वाणं तप्त्वाऽपि परमं तपः॥ –*समाधिशतक ३३*

गया है–"जो शुद्ध आत्म-स्वरूप को नहीं जानता है, वह चाहे बाह्य-आभ्यन्तर दोनों प्रकार के तप करे अथवा दोनों में से किसी एक प्रकार का करे, कर्मों की (सकाम) निर्जरा नहीं कर सकता।"[1] 'परमात्मप्रकाश' के अनुसार–"घोर तपश्चरण करता हुआ भी और सब शास्त्रों को जानता हुआ भी जो परम समाधि से रहित है, वह शान्तरूप शुद्ध आत्मा को प्राप्त नहीं कर सकता।"[2]

बाह्य-आभ्यन्तर दोनों तपश्चरणों का लक्ष्य : आत्म-शुद्धि

यही कारण है कि सम्यक्तप को बाह्य और आभ्यन्तर इन दो भागों में विभक्त करके भी शास्त्रकारों ने दोनों प्रकार के तपों का लक्ष्य आत्म-शोधन बताया है। बाह्यतप में शारीरिक क्रिया की प्रधानता होने के बावजूद भी उसमें अन्तर्मन का मिलना आवश्यक बताया है। स्पष्ट शब्दों में कहें तो बाह्यतप की प्रक्रिया में समस्त शरीर (स्थूलशरीर, तैजस् = प्राणशरीर और कार्मणशरीर) तथा इन शरीरों को प्राप्त होने वाले बाह्य साधन और उपकरण–फिर वे चाहे सुन्दर हों या असुन्दररूप हों, मधुर हों या कठोर शब्द हों, सुगन्ध हों या दुर्गन्ध, खट्टे, मीठे, कड़वे या चरपरे रस हों, कोमल या कठोर स्पर्श हों, ये सब के सब मिलकर बाह्यतप की स्थिति का निर्माण करते हैं। इसमें पाँचों इन्द्रियों, मन, बुद्धि, चित्त और हृदय का भी योग होता है। इन समस्त स्थितियों का पूर्ण विश्लेषण करके उन सब को एक साथ जोड़ने से क्या परिणाम आता है? इसका विवेक करके बाह्यतप का साधक आत्म-शुद्धि में बाधक तत्त्वों (राग-द्वेष-कषायादि) को छोड़कर साधक तत्त्व को अपनाता है। तभी वह वास्तविक रूप से षड्विध बाह्यतप का रूप लेता है। इससे स्पष्ट है कि बाह्यतप में भी आत्म-शुद्धि के लक्ष्य को ओझल नहीं किया जाता।

बाह्यतप : आभ्यन्तरतप का प्रवेश द्वार

वैसे देखा जाय तो बाह्यतप के अन्तर्गत 'कायक्लेश' और 'प्रतिसंलीनता' ये दोनों आभ्यन्तरतप में प्रवेश करने के द्वार हैं। 'कायक्लेश' तप का रहस्यार्थ समझ जाने पर कायोत्सर्ग और व्युत्सर्गतप अनायास ही सध जाता है और 'प्रतिसंलीनता' तप का तात्पर्य जान लेने पर विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय और ध्यान ये आभ्यन्तरतप सहज ही साधक के जीवन में समाविष्ट हो जाते हैं।

बाह्यतप और आभ्यन्तरतप का जो वर्गीकरण किया गया है, वह साधक को समझाने की दृष्टि से है। स्थूलशरीर को सीधा प्रभावित करने वाला तप बाह्यतप है

---

१. बाह्यमाभ्यन्तरं द्वेधा प्रत्येकं कुर्वता तपः।
न नो निर्जीयते शुद्धमात्मतत्वमजानता॥ –योगसार ६/१०

२. घोर करंतु वि तवचरणु, सयल वि सत्थ मुणंतु।
परमसमाहि विवज्जियउ ण वि देक्खइ सिउ संतु। –परमात्मप्रकाश १९१

और सूक्ष्मशरीर को सीधा प्रभावित करने वाला तप आभ्यन्तरतप है। बाह्यतप नाम इसलिये रखा गया है कि यह बाहरी सामग्री से सम्बन्ध रखता है तथा बाह्य शरीर को तपाता है, शरीरगत माँस, मज्जा, अस्थि, रक्त आदि को सुखाता है, ताकि शरीर का ध्यान कम होकर आत्मा के प्रति ध्यान बढ़े, शरीर और आत्मा का भेदविज्ञान हृदयंगम हो जाए, कायोत्सर्गतप करने में आसानी हो।

बाह्य तथा आभ्यन्तरतप का लक्षण

बाह्य और आभ्यन्तरतप का लक्षण करते हुए 'सर्वार्थसिद्धि' और 'अनगार धर्मामृत' में कहा गया है–बाह्यतप बाह्य द्रव्यों के अवलम्बन से होता है और दूसरों के देखने में आता है इसलिए इसे बाह्यतप कहते हैं, जबकि मन का नियमन करने वाले होने से प्रायश्चित्त आदि को आभ्यन्तरतप कहते हैं। प्रायश्चित्तादि तपों में बाह्य द्रव्य की अपेक्षा नहीं रहती, उनमें अन्तरंग परिणामों की मुख्यता रहती है तथा इनका स्वयं ही संवेदन होता है, ये दिखने में प्रायः नहीं आते, इस कारण इनसे अनभिज्ञ लोग इन्हें धारण नहीं कर पाते। इस कारण इन्हें अन्तरंग तप कहा जाता है।[1]

रुचि, क्षमता और योग्यता के अनुसार : बाह्याभ्यन्तरतप

तात्पर्य यह है कि संसार में विभिन्न रुचि और क्षमता के लोग होते हैं। कुछ लोग उपवास आदि बाह्यतप आसानी से कर लेते हैं, कुछ नहीं कर सकते। वे ध्यान, आत्म-चिन्तन में अधिक समय तक बैठ सकते हैं। इसलिए योग्यता, क्षमता और रुचि के अनुसार बाह्य और आभ्यन्तर ये दो प्रकार बताने के अतिरिक्त इनके प्रत्येक के ६-६ भेद भी बताए हैं। आम आदमी प्रायः स्थूलदृष्टि होते हैं, वे देखना चाहते हैं–मूर्त्तरूप। यानी अमुक तप करने से क्या बना, क्या हुआ? देहासक्ति घटी या नहीं? भेदविज्ञान सधा या नहीं? सूक्ष्मरूप की ओर उनका ध्यान सहसा नहीं जाता। ऐसे लोग प्रायः बाह्यतप का अवलम्बन लेते हैं किन्तु जो तत्त्वज्ञानी और आत्मदर्शी होते हैं, वे प्रायः आभ्यन्तरतप का आलम्बन लेते हैं, वे सीधे ही कर्मशरीर को प्रभावित करने के लिए तप के सूक्ष्म रूप को पकड़ते हैं। इसलिए भगवान महावीर ने तप के सर्वग्राही दृष्टिकोण को प्रगट करने हेतु इसकी बारह प्रकार की साधना-पद्धतियाँ बताई हैं।

---

१. (क) बाह्यद्रव्यापेक्षत्वात् परप्रत्यक्षत्वात् च बाह्यत्वम्। ..... कथमस्याभ्यन्तरत्वम्? मनो-नियमनार्थत्वात्। –*सर्वार्थसिद्धि* ९/१९-२०/४३९/३, ६

(ख) बाह्यद्रव्यानपेक्षत्वात् स्व-संवेद्यत्वतः परैः।
अनध्यासात्तपः प्रायश्चित्ताद्यभ्यन्तरं भवेत्॥ –*अनगार धर्मामृत* ७/३३

बाह्यतप का महत्त्व आभ्यन्तरतप से कम नहीं

अतः बाह्यतप का भी महत्त्व उतना ही है, जितना आभ्यन्तरतप का है। दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं। जो यह समझते हैं कि आभ्यन्तरतप के समक्ष बाह्यतप बिलकुल नगण्य है, उन्हें यह सोचना चाहिए कि बाह्यतप के द्वारा पहले तन, मन, वचन, इन्द्रियों और अंगोपांगों को साधा नहीं जाएगा, कष्ट सहिष्णु नहीं बनाया जाएगा, तो वे आभ्यन्तरतप के द्वारा आत्म-शुद्धि और कर्मफल को धोने में तथा कर्मों की निर्जरा करने में सहायक या साधक न होकर बाधक बन जायेंगे। जैसे अनशनादि चार बाह्यतपों में शरीर को भूख, प्यास आदि सहने में सक्षम बनाया जाता है, उसी प्रकार इन्द्रियों को भी विषयों में राग-द्वेषरूपी भावरसों का मन से भी परित्याग करने, मन से भी इच्छा न करने के लिए तैयार किया जाता है, प्रतिसंलीनता तप द्वारा इन्द्रिय, कषाय, त्रिविधयोग तथा विविक्त शयनासनसेवनरूप प्रतिसंलीनता का–यानी बाह्याभिमुखता से रोककर आत्माभिमुख बनाने–अन्तर्लीन करने का कार्य नहीं किया जाएगा तो आगे अनभ्यस्त–अनघड़ या असंस्कृत मन प्रायश्चित्त विनय, वैयावृत्य आदि में तथा स्वाध्याय, ध्यान एवं कायोत्सर्ग आदि आभ्यन्तरतपों में भी इन्द्रियाँ, मन बाहर भटकते रहेंगे, इसीलिए इन्द्रिय प्रतिसंलीनता का अर्थ है–पाँचों इन्द्रियों की ओर दौड़ने से रोकना, विषयों की ओर उन्मुख नहीं होना तथा सहजरूप में आवश्यकतानुसार विषयों से इन्द्रियाँ जब-जब जुड़ जाएँ, तब-तब उन-उन विषयों के प्रति राग-द्वेष करना। इसी प्रकार चारों कषायों की प्रतिसंलीनता का अर्थ है–उदय में आए हुए (उत्पन्न हुए) क्रोधादि कषायों को विफल बनाना, मार्गान्तरीकरण करना और क्रोधादि के उदय को ही शान्त करना। यानी उदय में आने से पहले ही शान्ति (उपशम), दम, क्षमा, मृदुता, नम्रता, ऋजुता आदि का अभ्यास करना। तीनों योगों–मन-वचन-काया को भी अन्तर्लीन बनाना योगप्रतिसंलीनता है तथा जनता की भीड़ जुटाने, प्रशंसा और प्रसिद्धि पाने तथा धुँआधार प्रचार करने की लालसा को–इच्छा को रोककर एकान्तशान्त, निरावाध स्थान में आत्म-चिन्तन, ध्यान, मौन आदि के अभ्यास के लिए प्रतिसंलीन होना विविक्तशय्यासन-प्रतिसंलीनता है। इससे तपःसाधक व्यर्थ के क्लेश, झंझटों, प्रपंचों तथा दुनियाँदारी के दाँवपेंचों से बचकर कर्मबन्ध होने से आत्मा को बचा लेता है। कायक्लेशरूप बाह्यतप आभ्यन्तरतप में कैसे सहायक-साधक होता है? इसके सम्बन्ध में पहले हम बता आए हैं। ऊनोदरीतप के द्रव्य-भाव यों दो भेद करके 'उववाईसूत्र' में भावऊनोदरी के विषय में बताया गया है–क्रोध, मान, माया, लोभ को कम करना, शब्दों का प्रयोग तथा कलह कम करना, यह है भाव-उनोदरी। अतः ऊनोदरीतप भी आभ्यन्तरतप में सहायक है।

आभ्यन्तर तपश्चरण के साथ बाह्यतप भी आवश्यक

यही कारण है कि भगवान महावीर ध्यान, कायोत्सर्ग आदि आभ्यन्तरतप के साथ-साथ बाह्य तपश्चरण भी करते थे। इसीलिए 'स्वयम्भू स्तोत्र' में कहा गया है–"भगवन् ! आपने आध्यात्मिक तप-परिवृद्धि के लिए परम दुश्चर बाह्यतप किया है और आप आर्त्त-रौद्र दो कलुषित ध्यानों का निराकरण करके उत्तरवर्ती दो सातिशय ध्यानों में प्रवृत्त हुए हैं।" 'भगवती आराधना' में कहा गया है–"अनशनादि बाह्यतप आभ्यन्तर परिणाम-शुद्धि का चिह्न (निशानी) है। जैसे–किसी मनुष्य के मन में क्रोध उत्पन्न होता है, तब बाह्यचिह्न के रूप में उसकी भौंहें तन जाती हैं, इसी प्रकार बाह्य-आभ्यन्तरतपों में लिंग-लिंगीभाव समझना चाहिए।" 'मोक्षमार्ग प्रकाश' में दोनों तपों को आवश्यक बताते हुए कहा गया है–बाह्य (तपरूप) साधन होने पर अन्तरंग तप की वृद्धि होती है, इसलिए उपचार से उसे तप कहते हैं। जैसे–सोने को पहले तपाकर शुद्ध किया जाता है, उसके पश्चात् उस पर पॉलिश की जाती है, इसी प्रकार बाह्यतप से शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक और ऐन्द्रियक शुद्धि हो जाती है, फिर आभ्यन्तरतप से उस साधना में निखार आता है। बाह्यतप का महत्त्व इस दृष्टान्त से भी समझा जा सकता है–मान लो, किसी को घी, मक्खन आदि गर्म करके पिघलाकर शुद्ध करना है, उसका मैल निकालना है तो वह सीधा घी या मक्खन आग पर नहीं रखेगा, किन्तु किसी बर्तन में उन्हें रखकर ही गर्म करेगा और उनमें जो मैल है, उसे दूर करके शुद्ध कर सकेगा। यही बात बाह्यतप के विषय में समझनी चाहिए। बाह्यतपरूपी बर्तन को गर्म करने पर ही आन्तरिक तप द्वारा आत्मारूपी घृत या नवनीत से कर्मफल दूर होने से ही वह आत्मा शुद्ध होकर चमक उठेगी। यहाँ जो महत्त्व बर्तन का है, वही महत्त्व बाह्यतप का है। आभ्यन्तरतप के साथ बाह्यतप सहज या असहज रूप में होने पर सम्यक्तप की परिपूर्णता में कोई सन्देह नहीं रह जाता।[1]

बाह्यतप और आभ्यन्तरतप दोनों एक-दूसरे के पूरक

वैसे देखा जाए तो बाह्यतप और आन्तरिकतप दोनों एक-दूसरे से परस्पर जुड़े हुए हैं कि दोनों अलग-अलग नहीं किये जा सकते। दोनों परस्पर पूरक हैं। दोनों

---

१. (क) बाह्यं तपः परमदुश्चरमाचरंस्त्वमाध्यात्मिकस्य तपसः परिबृंहणार्थम्।
ध्यानं निरस्य कलुषद्वयमुत्तरस्मिन् ध्यानद्वये ववृत्तिषेऽतिशयोपपन्ने॥
–स्वयंभू स्तोत्र ८३

(ख) लिंगं च होदि आब्भंतरस्स सोधीए बाहिरा सोधी।
भिउडीकरणं लिंगं जहसंतो जदकोधस्स॥ –भ. आ. १३५०

(ग) मोक्षमार्ग प्रकाश ७/३४०/१

को पृथक्-पृथक् करके बताना तो केवल हमारे समझाने के लिए है। जैसे संतरा और उसका छिलका अलग-अलग नहीं हैं। दोनों एक-दूसरे के पूरक और सहायक हैं। छिलका न हो तो संतरे की रक्षा नहीं हो सकती। उसमें रस बनने तक सुरक्षित रखने में छिलका उसका सहायक है और केवल छिलका हो तो उसे कोई संतरा नहीं कहेगा, न ही उसका उतना मूल्य होगा। बाहर छिलका होता है, तभी संतरे के भीतर में कुछ हो सकता है। इसलिए संतरा और छिलका दोनों परस्पर जुड़े हुए हैं कि हम उन्हें पृथक्-पृथक् करके वास्तविक मूल्यांकन नहीं कर सकते। भीतर में कुछ बनता है तो उसका प्रभाव बाहर के छिलके पर भी पड़ता है, वह भी संतरे की सुगन्ध और किंचित् गुण को पा जाता है, इसी प्रकार बाह्यतप और आन्तरिकतप, ये दोनों एक-दूसरे से कटे हुए नहीं, सटे हुए होते हैं। जो बाह्यतप करता है, उसके साथ आन्तरिकतप भी होगा, तथैव प्रायश्चित्तादि आन्तरिकतप करेगा, उसके साथ भी उपवास आदि बाह्यतप भी होगा।

बाह्य और आभ्यन्तर दोनों तप अन्योन्याश्रित तथा सापेक्ष हैं

प्रश्न होता है जब बाह्य और आभ्यन्तर ये दोनों तप एक हैं, परस्पर अन्योन्याश्रित हैं, सटे हुए हैं, अनुबद्ध हैं, तब इनका विभाजन क्यों किया गया? इसका समाधान यह है कि निश्चयनय की दृष्टि से तो तप के ये दो या बारह भेद भी अभूतार्थ सिद्ध होंगे। 'द्रव्यसंग्रह' के अनुसार–आत्मा को निज शुद्ध स्वरूप में अवस्थित करना–प्रतपन करना–विजय प्राप्त करना–निश्चयतप है। व्यवहारनय की दृष्टि से व्यवहारतप के ये दो या बारह भेद किये गए हैं। इस दृष्टि से बाह्यतप वहाँ होता है जहाँ दृश्यमान स्थूलशरीर के स्तर पर तपःसाधना होती है और जहाँ मानसिक स्तर पर तपःसाधना होती है, वहाँ होता है–आन्तरिकतप। नय की दृष्टि से दोनों तप सापेक्ष होते हैं–एक को मुख्य और दूसरे को गौण समझा जाता है। आत्मिक विकास एवं आत्म-शक्ति की प्राथमिक भूमिका में मुख्यतया स्थूलशरीर के आधार पर तपःसाधना की जाती है। उसके फलस्वरूप तपःसाधक की योग्यता स्थूलशरीर को साधने के साथ-साथ प्राण (तैजस्) शरीर को भी साध लेने की हो जाती है। तैजसशरीर विकसित होने के साथ-साथ मानसशरीर इतना विकसित नहीं हो पाता। मानसिक स्तर की साधना जरा कठिन भी है। किन्तु जैसे ही स्थूलशरीर और तैजस् (प्राण) शरीर की साधना आगे बढ़ती है, मानसशरीर में भी विकास का प्रारम्भ होने लगता है। इसके लिए बाह्यतप के साथ-साथ आभ्यन्तरतप की साधना जरूरी हो जाती है। अन्यथा आभ्यन्तरतप निरपेक्ष केवल बाह्यतप शरीर को सुखाकर रह जाएगा, मानसिक विकास का प्रारम्भ नहीं होगा, मन नहीं सध पाएगा। उदाहरणार्थ, कोई व्यक्ति अनशनादि बाह्यतप करता है, किन्तु सम्भव है

उसमें अभी सरलता, नम्रता-निरभिमानता, मृदुता, निर्लोभता, एकाग्रता, अनुत्सुकता, इच्छानिरोधवृत्ति, त्यागवृत्ति न भी हो, माया, अहंकार, मद, मात्सर्य, लोभ, तुच्छ स्वार्थ, व्यग्रता, चंचलता, अविरक्ति आदि तीव्रतर या तीव्र मात्रा में हो। ऐसी स्थिति में माया होगी तो आलोचनासहित प्रायश्चित्ततप नहीं हो सकेगा। अहंकार या मद होगा तो ज्ञानादि के प्रति विनयभाव न हो सकेगा, नम्रता-मृदुता न होगी तो वैयावृत्यतप नहीं हो सकेगा। एकाग्रता या योगों की चपलता होगी तो स्वाध्याय एवं ध्यानतप न हो सकेगा। अविरक्ति या समता (ममता-त्याग) न होगी तो व्युत्सर्ग या कायोत्सर्गतप नहीं हो सकेगा।

मन की दुष्प्रवृत्तियों को सुप्रवृत्तियों में बदलना ही आभ्यन्तरतप

बाह्यतप से मुख्यतया तन और वचन को साध लेने पर भी तथा प्राणशरीर का विकास कर लेने पर अनादिकालीन मन के संस्कार सहसा नहीं बदलते। मन का मुख्यतया दो बातों पर अत्यधिक झुकाव रहता है-(१) चंचलता की ओर, और (२) सुखलिप्सा की ओर। मन इतना चंचल है कि प्रतिसंलीनतातप द्वारा अन्तर्मुखी करने का अभ्यास करने पर भी वह कल्पना के घोड़े पर सवार होकर क्षणभर में आकाश-पाताल की सैर कर लेता है। इस व्यर्थ के भटकाव में उसकी अधिकांश शक्ति नष्ट हो जाती है। उसे रोककर उपयोगी लक्ष्य में-आत्मा की शुद्धि और आध्यात्मिक विकास में केन्द्रित करने का अभ्यास आभ्यन्तरतप के ही माध्यम से हो सकता है। यही कारण है कि आभ्यन्तरतप मानसिक स्तर पर किया जाता है। अभीष्ट लक्ष्य में मन को केन्द्रित करने का ही परिणाम है कि उससे अनेक उपलब्धियाँ, सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं। आभ्यन्तरतप द्वारा मन को आत्मिक क्षेत्र में लगा देने से, यानी बाहर भटकते हुए मन को आन्तरिक क्षेत्र में लगा देने से, बहिर्मुखी मन को अन्तर्मुखी कर देने से ज्ञान-दर्शन-चारित्रतप की अनेक सुषुप्त शक्तियों का जागरण होने लगता है। जो मन पहले राग-द्वेषादि या कषायादि विकारों से आविष्ट होकर शुभ-अशुभ कर्मों का बंध करता था, वह अन्तर्मुखी होकर भावसंवर और भावनिर्जरा के द्वारा कर्मों से, दुर्गति से मुक्ति पाने का पुरुषार्थ करने लगता है। चंचलता की वृत्ति से छुटकारा पाकर एकाग्रता के लिए-आत्म-शुद्धि एवं आत्म-गुणों के विकास की धारा में बहने के लिए लगाया हुआ अतएव सधा हुआ मन कितने चमत्कारिक परिणाम उत्पन्न करता है, इसे अनुभूति द्वारा ही जाना जा सकता है।

मन का दूसरा झुकाव है-सुखलिप्सा की ओर। सुखोपभोग की लालसा की पूर्ति इन्द्रियों के मनोज्ञ विषयों द्वारा मन करता है, विभिन्न इन्द्रिय-विषयों में सुख के आस्वाद की कल्पना करने तथा साधन जुटाने के ताने-बाने बुनने में उसकी

अधिकांश शक्ति लगी रहती है। मन की अधिकांश शक्तियाँ वैषयिक सुखों के उपभोग में शरीर और इन्द्रियों के माध्यम से लगकर क्षीण हो जाती हैं। अहंकार का पोषण करने के लिए मन दूसरों को प्रभावित करने वाले कई तरह के ठाट-बाट रचता है। प्रशंसा और प्रसिद्धि तथा यशकीर्ति के लिए वह नाना प्रकार के अहंता-ममता-पोषक वातावरण बनाता है। मन संग्रह और स्वामित्त्व के भी नाना प्रयत्न करता है। तृष्णा और लालसा की दौड़ विभिन्न रूपों में मन ही लगाता है। जहाँ भी अहंता पर चोट पहुँची कि मन में प्रतिशोध की उत्तेजना पैदा होती है। कामवासना की तृप्ति की ललक उठते ही मन उसके लिए प्रयत्न में लग जाता है। काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मत्सर इन छह आन्तरिक शत्रुओं को बहिर्मुखी तथा सुखलिप्सु अनघड़ मन पालता-पोसता रहता है। भौतिक-सुख प्राप्त करने की इस अनेक रूपों में परिलक्षित होने वाली मन की पतनोन्मुखी बहिर्मुखी लिप्सा से आत्मा को असीम हानि उठानी पड़ती है। जीवन-सम्पदा इन्हीं उलझनों में नष्ट-भ्रष्ट हो जाती है।

सम्यक् आभ्यन्तरतप : लक्ष्य और उससे आध्यात्मिक गुणों का लाभ

मन की इस दुष्परिणति को शुद्ध परिणति में सम्यग्ज्ञानपूर्वक बदल देने का नाम ही सम्यक् आभ्यन्तरतप है। वैसे अनन्त सुख (आनन्द) तो आत्मा का निजी गुण है, पर वह इस मनःकल्पित भौतिक-सुख से बहुत ऊँचा, अव्याबाध और उत्कृष्ट है। उस आत्मिक-सुख को मोक्ष सुख कहते हैं। वह कैसे प्राप्त होता है? इसके लिए 'उत्तराध्ययनसूत्र' में कहा गया है–"समस्त ज्ञान को प्रकाशित (अनावृत) करने से, अज्ञान और मोह को सर्वथा नष्ट कर देने से तथा राग और द्वेष का सम्यक् प्रकार से क्षय कर देने से एकान्त (अव्याबाध) सुख रूप मोक्ष-सुख (सर्वकर्ममुक्तिरूप आनन्द) प्राप्त होता है।[1]

प्रशम-सुख में लीन होना ही सम्यक्तप का उद्देश्य

मन की तृप्ति वासना, तृष्णा, अहंता-ममता आदि की पूर्ति में होती है; मन का यह अज्ञानपूर्ण लक्ष्य–भोग-सुख है। परन्तु आत्मा को उच्चस्तरीय आदर्शों के पालन में आनन्द आता है, उसे प्रशम-सुख कहते हैं। भोग-सुख पराधीन है, जबकि प्रशम-सुख स्वाधीन है। सम्यक्तप से मन को भोग-सुखों से विरत करके प्रशम-सुख में लीन करना होता है। जैसा कि 'प्रशमरति' में कहा गया है–"ऐसे भोग-सुखों से क्या लाभ, जो नाशवान हैं, अनेक भयों से परिपूर्ण हैं, जिनके लिए बार-बार व्यर्थ इच्छाएँ उठती हैं, किन्तु उनका पाना अपने अधीन नहीं है; जबकि प्रशम

---

१. नाणस्स सव्वस्स पगासणाए, अन्नाण-मोहस्स विवज्जणाए।
रागस्स दोसस्स उ संखएण, एगंतसोक्खं समुवेई मोक्खं॥ –उत्तराध्ययन, अ. ३२, गा. १

(सम्यक्तप, वैराग्य, त्याग और समता आदि) से प्राप्त होने वाला सुख नित्य है, भयों से रहित है, अपने अधीन है। इसलिए साधक को इस स्वाधीन सुख के लिए प्रयत्न करना चाहिए।"

मुमुक्षु के लिए बाह्याभ्यन्तरतप द्वारा साधना अनिवार्य

परन्तु मन को इस प्रशम-सुख की ओर मोड़ने के लिए पहले बाह्य और फिर आभ्यन्तरतप द्वारा इस प्रकार साधा जाता है, जिस प्रकार सरकस के पशु-शिक्षक उन प्राणियों की अनगढ़ आदतों तथा आक्रमणकारिता को छुड़ाने तथा नये प्रकार की उपयोगी प्रवृत्तियों से अभ्यस्त करने में भारी माथापच्ची करते हैं। तभी सिंह आदि जैसे उन आक्रमणकारी पशुओं को वे आज्ञाकारी, स्वामिभक्त एवं उपयोगी बनाने में सफलता प्राप्त करते हैं। उन्हें मार और प्यार की दोहरी भूमिका निभानी पड़ती है। इसी प्रकार कर्ममुक्ति के अभिलाषी मानव को भी मन की चंचलता और सुखलिप्सा वाली अनगढ़ आदतों को छुड़ाने और निर्जरोपयोगी प्रवृत्तियों में संलग्न होने के अभ्यास हेतु बाह्य और आभ्यन्तर सम्यक्तप का कठोरता से पालन कराना पड़ता है। वास्तव में बाह्य-आभ्यन्तरतप में तितिक्षा का, अर्थात् शारीरिक, मानसिक, ऐन्द्रियक एवं आध्यात्मिक असुविधाओं को समभावपूर्वक शान्ति से सहने का अभ्यास इसलिए कराया जाता है कि तन, मन, बुद्धि, इन्द्रिय और आत्मा की अनगढ़ कुसंस्कारिता, मिथ्यादृष्टि, अज्ञानता आदि के कारण होने वाली चंचलता, भोग-सुखलिप्सा एवं स्वार्थ-परायणता को छुड़ाया जा सके। उन्हें पतनोन्मुखी बाह्य ललकों से विरत करके उच्चस्तरीय आत्म-शुद्धि एवं आत्मा के अनन्त चतुष्टय की अभिव्यक्ति की जा सके।[1]

षड्विध आभ्यन्तरतप से मन का सर्वांगीण परिवर्तन

आभ्यन्तरतप की सारी प्रक्रिया मन को–मन के अनघड़ स्वभाव को बदलने की है। जब मन की इतनी योग्यता बढ़ जाती है कि उसमें सहज रूप से सरलता, मृदुता, समर्पणवृत्ति, निरभिमानता आदि गुण आ जायें, तब ग्रन्थि-मोक्ष, मोह-विमोक्ष तथा कषाय-विमोक्ष होने लगता है। मन के सर्वांगीण परिवर्तन की दृष्टि से आभ्यन्तरतप के छह प्रकार बताए हैं–(१) प्रायश्चित्त, (२) विनय, (३) वैयावृत्य, (४) स्वाध्याय, (५) ध्यान, और (६) व्युत्सर्ग। ये छह आभ्यन्तरतप जीवन में परिनिष्ठित होने पर कर्मों की निर्जरा और महानिर्जरा तक होती है।[2]

---

१. भोगसुखैः किमनित्यैर्भयबहुलैः कांक्षितैः परायत्तैः।
नित्यमभयमात्मस्थं प्रशमसुखं तत्र यतितव्यम्॥ –*प्रशमरति, श्लो.* २२२

२. अब्भिंतरए तवे छव्विहे प. तं.–पायच्छित्तं, विणओ, वेयावच्चं, सज्झाओ, झाणं, विउसग्गो।
–उववाइसुत्तं, सू. १९

आभ्यन्तरतप में प्रायश्चित्त को ही प्राथमिकता क्यों ?

आभ्यन्तरतपों में पहला तप है–प्रायश्चित्त। पूर्वबद्ध अशुभ कर्मों से मुक्ति और आत्म-शुद्धि के लिए प्रायश्चित्ततप अकसीर उपाय है। प्रायश्चित्ततप को आभ्यन्तरतप में सर्वप्रथम स्थान इसलिए दिया गया है कि मुमुक्षु जीवन का उद्देश्य कर्ममलों को निकालकर आत्मा को अपने स्वरूप में अवस्थित करना, अपने अनन्तज्ञानादि गुणों को प्रगट करना है। वह तभी हो सकता है जब पहले आत्मा में जो भी पाप दोष लगे हों या लग रहे हों, उनकी विशुद्धि की जाये। इसीलिए आभ्यन्तरतपःसाधना द्वारा आध्यात्मिक उत्कर्षण या आत्मिक-शक्ति, आत्मिक-आनन्द एवं आत्म-ज्ञान प्राप्त करने से पूर्व सर्वप्रथम प्रायश्चित्त को स्थान दिया गया है। जैसे हठयोग में शरीर शोधन के लिए नेति, धोती, वस्ति, न्यौली, वज्रौली, कपालभाति, कुंजरक्रिया आदि का विधान है, राजयोग में यम-नियम आदि का विधान है। आयुर्वेदिक उपचार में कायाकल्प करने से पूर्व वमन, विरेचन, स्वदेन, स्नेहन आदि क्रियाओं द्वारा पहले मल-शोधन कर लिया जाता है। इसमें जितनी सफलता मिलती है, उसी अनुपात में जीर्ण-रोगी आरोग्य लाभ करता है। रक्त विकार जैसे रोगों के निवारण के लिए कुशल वैद्य पेट साफ करने के बाद ही अन्य रक्तशोधक उपचार प्रारम्भ करते हैं। ठीक इसी प्रकार आध्यात्मिक क्षेत्र में प्रगति एवं स्वरूप-स्थिति के लिए आत्मा में जमे हुए मलों, विकारों, दूषणों तथा अवरोधों एवं काषाय-कल्मषों का निवारण करना अत्यावश्यक हो जाता है। दुष्कर्मों–दोषों और अपराधों–पापों के रहते आध्यात्मिक प्रगति के मार्ग में पद-पद पर कठिनाई आती है। जिस प्रकार फूटे और गंदे बर्तन में दूध डालने से उसका कुछ भी सदुपयोग नहीं हो सकता, वह दूध व्यर्थ ही चला जाता है, उसी प्रकार दुष्कर्मों–पापों एवं दोषों के छिद्रों से अशुद्ध एवं सछिद्र बनी हुई आत्मा में किसी प्रकार का आत्म-साधनारूपी दूध डालना निरर्थक चला जाता है। उससे वह साधना भी दूषित होती जाती है। छिद्र वाली नौका में पानी भर जाता है, उस पानी को नहीं उलीचने से वह डूब जाती है। इसी प्रकार पापों और दोषों के जीवन-नौका में घुस जाने पर उन्हें प्रायश्चित्त द्वारा तुरन्त बाहर न निकाला जाय तो उक्त पापों–दोषों के छिद्र वाली जीवन-नौका में अशुभ आस्रवों–पापकर्मों के जल के तेजी से भर जाने से वह अधिकाधिक भारी हो जाती है और शीघ्र ही पतन की खाई में गिर पड़ती है। उसमें आत्म-साधना को झेलने की शक्ति नहीं रहती। ज्ञान-दर्शन-चारित्र में अशुद्धियों के रहते मोक्षमार्ग की ओर गति-प्रगति ठप्प हो जाती है, आत्मा की शुद्धि हुए बिना वह परमात्मपद को कैसे प्राप्त कर सकती है ?

अभिवर्धन से पहले आत्म-शोधन करना अनिवार्य

यदि तपःसाधक वर्तमान में तथाकथित गुरुओं द्वारा बताये हुए बिना सम्यग्ज्ञान के ही परम्परागत युगबाह्य क्रियाकाण्डों या आसन उपासना-पद्धतियों को अपना लेता है या सिद्धियों, लब्धियों के चक्कर में पड़कर आत्मिक-परिशोधन की बात को तथा तप से सर्वकर्ममुक्तिरूप मोक्ष के लक्ष्य को भूल जाता है, अर्थात् आत्मिक-अभिवृद्धि से पूर्व आत्मिक-परिशुद्धि के सिद्धान्त की उपेक्षा कर बैठता है तो उसे अपनी आत्म-गुणों की प्राप्ति की साधना में निराशा ही पल्ले पड़ती है। शीघ्र सफलता प्राप्त करने की धुन में प्रायश्चित्त द्वारा आत्म-शुद्धि की प्रक्रिया पूरी न करके जो तपःसाधक आतुरतापूर्वक बाह्याभ्यन्तरतप करता जाता है, उसका वह लक्ष्यहीन पुरुषार्थ सफलता प्राप्त नहीं कराता, व्यर्थ चला जाता है। जो किसान बीज बोने से पहले भूमि को भलीभाँति जोतकर समतल, मुलायम नहीं बनाता, उसमें पड़े हुए कंकड़-पत्थर नहीं हटाता तथा खरपतवार उखाड़कर नहीं निकालता, भूमि को सींचकर नरम नहीं बनाता या यथायोग्य खाद नहीं देता, अर्थात् भूमि-शोधन करने का पुरुषार्थ न करके सीधे ही उसमें बीज डाल देता है या शीघ्र फसल पाने के लोभ में भूमि-शोधन के श्रम को निरर्थक समझता है, तो उस किसान को उस भयंकर भूल का नतीजा भी मिलता है। बाद में उसे बीज भी व्यर्थ गँवा देने की निराशा पल्ले पड़ती है। यही बात आत्मा के अभिवर्धन से पूर्व आलोचना, प्रतिक्रमण, निन्दना (पश्चात्ताप), गर्हणा आदि प्रायश्चित्त तपश्चरण द्वारा आत्मा की विशुद्धि अर्थात् कर्मनिर्जरा द्वारा आत्म-शोधन की प्रक्रिया पूरी न करने वाले और उतावल में अन्यान्य आत्म-साधना करने वाले साधक के विषय में समझनी चाहिए। अतः आत्म-गुणों के अभिवर्धन से पूर्व आत्म-परिशोधन के लिए प्रायश्चित्त तपश्चरण अनिवार्य है।

प्रायश्चित्त का अर्थ और स्वरूप

प्रायश्चित्त का अर्थ है–पापों की विशुद्धि करना। धर्मसंग्रह में प्रायश्चित्त की परिभाषा इस प्रकार की गई है–

"प्रायः पापं विनिर्दिष्टं, चित्तं तस्य विशोधनम्।"

प्रायः का अर्थ है–पाप और चित्त का अर्थ है–उसका विशोधन करना। अतः प्रायश्चित्त की परिभाषा हुई–पाप की शुद्धि करने की क्रिया। एक अन्य आचार्य ने कहा है–प्रायः अपराध का नाम है और चित्त है–उसकी शुद्धि। जिस क्रिया से अपराध की शुद्धि हो, उसे प्रायश्चित्त कहते हैं। प्राकृत भाषा में उसे 'पायच्छित्त' कहा जाता है। उसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार की गई है–

"पावं छिंदइ जम्हा पायच्छित्तं ति भण्णइ तेण।"

पाय नाम है पाप का। जो पाप का छेदन करता है, दूर करता है, उसे कहते हैं–'पायच्छित्त।'

एक आचार्य के अनुसार प्रायश्चित्त की व्युत्पत्ति इस प्रकार है–

"पापं छिनत्ति यस्मात्, प्रायश्चित्तमिति भण्यते तस्मात्।
प्रायेण वाऽपि चित्तं विशोधयति तेन प्रायश्चित्तम्।"

–जिससे पाप का छेदन हो अथवा जो प्रायः चित्त की विशोधि करता हो, उसे प्रायश्चित्त कहते हैं। इस प्रकार प्रायश्चित्त की मुख्यतया तीन परिभाषाएँ हुईं– (१) अतिचार (दोष) की विशुद्धि के लिए किया जाने वाला प्रयत्न प्रायश्चित्त है। (२) जिससे पाप का छेदन होता है, वह प्रायश्चित्त है। (३) जिससे अपराध का शोधन होता है, वह प्रायश्चित्त है।[1]

अन्तःकरण की शुद्धि के बिना आत्म-साधना में सिद्धि सम्भव नहीं

प्रायश्चित्त मन, बुद्धि, चित्त और हृदय आदि अन्तःकरणों की शुद्धि के लिए है। शरीर शुद्ध कर लिया, परन्तु अन्तःकरण में काम, क्रोध, मोह, मद, मत्सर, ईर्ष्या, द्वेष, वैरभाव, अहंकार आदि हानिकारक आत्म-विघातक विकारों का मल (गंदगी) भरा पड़ा है तो उसके कारण साधना में अभिवृद्धि नहीं हो पायेगी। आत्मा अशुद्ध है तो उसकी प्रतिक्रिया बाह्य परिस्थितियों और पारिपार्श्विक व्यक्तियों पर पड़ती है। जिसके फलस्वरूप अगणित समस्याएँ और विपदाएँ पैदा होती हैं। लालटेन का शीशा अगर मलिन हो तो उसमें चाहे जितना तेल भरा हो, बत्ती अच्छी हो और प्रकाश चाहे जितना तेज हो, वह बाहर नही पड़ सकता, इसी प्रकार अन्तरात्मा के मनरूपी शीशे पर पापों और दोषों की कालिमा जम गई हो तो अन्तरात्मा चाहे जितनी शक्तिशाली हो, इन्द्रियाँ भी सशक्त और अवकिल हों। अन्तरात्मा का प्रकाश या प्रभाव बाहर नहीं पड़ सकेगा।

इसलिए मनरूपी शीशे को प्रायश्चित्ततप द्वारा साफ कर लेने पर ही अन्तरात्मा का प्रकाश बाहर पड़ सकेगा और तभी सर्वकर्ममुक्तिरूपी मोक्ष की साधना अबाधगति से हो सकेगी। अतः प्रायश्चित्त मन को निर्मल, पवित्र, सक्षम और शुद्ध बनाने वाला तप है। अन्तःकरण के, हृदय के परिवर्तन का ही दूसरा

---

१. (क) धर्मसंग्रह अधिकार ३
(ख) पंचाशक सटीक, विवरण १६/३
(ग) 'जैनभारती, अक्टूबर १९९१' से उद्धृत

नाम प्रायश्चित्ततप है। प्रायश्चित्ततप के आचरण से पापी से पापी तथा अनेक दोषों और अपराधों से भरे व्यक्ति का जीवन धर्मात्मा के रूप में परिवर्तन हो जाता है। मन में प्रादुर्भूत होने वाले राग-द्वेषादि कालुष्यों को धो डालने की प्रक्रिया प्रायश्चित्ततप में निहित है।

अन्तर मल को प्रायश्चित्ततप द्वारा शीघ्र दूर करना आवश्यक

पापों और दोषों से मन-वचन-काया द्वारा कृत अपराधों से आत्मा मलिन एवं दूषित हो रही हो, उस समय मुमुक्षु व्यक्ति को प्रायश्चित्त तपश्चरण द्वारा प्रमाद किये बिना शीघ्रातिशीघ्र उस मलिनता को दूर करना आवश्यक है। पैर में काँटा चुभ जाये तो सारे शरीर में बेचैनी होती है, नींद नहीं आती। जब तक उसे बाहर नहीं निकाला जाता, तब तक मन को शान्ति नहीं मिलती। फोड़े में मवाद पड़ गई हो, तो रोगी को उसे फौरन निकालना अनिवार्य हो जाता है, अन्यथा उसका जहर सारे शरीर में फैलकर रोगी के लिए जानलेवा बन सकता है। इसी प्रकार आत्मा के कहीं माया, निदान और मिथ्यादर्शनशल्यरूप तीखा काँटा चुभ गया हो तो उसे शीघ्रातिशीघ्र निकालना अनिवार्य है; वह प्रायश्चित्त द्वारा ही निकाला जा सकता है। इसी प्रकार कहीं प्रमादवश पाप या दोषरूप फोड़ा अनेक अनिष्टकारी मवादों से भर गया हो, तब उसको प्रायश्चित्त प्रक्रिया द्वारा तुरन्त निकालने में लापरवाही बरती जाये तो वह भी सारे आध्यात्मिक जीवन में व्याप्त होकर साधना का सर्वनाश कर देगा।

भगवान महावीर ने बताया है कि "जिस प्रकार भारवाहक के सिर से बोझ उतर जाने पर वह स्वयं को हलका-फुलका, स्वस्थ और आश्वस्त महसूस करता है, इसी प्रकार प्रायश्चित्त द्वारा अन्तरात्मा पर से पाप-दोषों का भार उतर जाने पर आत्मा भी स्वयं को स्वस्थ, आश्वस्त और हलकी-फुलकी महसूस करती है।" अतः साधक को अब्बल तो पाप-दोषों से सावधान रहना चाहिए, किन्तु छद्मस्थ होने के कारण कदाचित् ज्ञान, दर्शन, चारित्र एवं तप की साधना में कोई गलती, भूल, दोष, अपराध या त्रुटि हो जाये तो उसे तुरन्त सँभलकर प्रायश्चित्त द्वारा आत्म-शुद्धि कर लेनी चाहिए। प्रायश्चित्त द्वारा पापों का परिमार्जन कर लेने पर उसके तन-मन में स्वस्थ, शान्ति और स्फूर्ति महसूस होने लगेगी। यदि उपेक्षा की जायेगी तो पाप-दोष बढ़ते जायेंगे। कोई भी आत्म-साधना शुद्ध रूप में न हो सकेगी और न कर्मनिर्जरा हो सकेगी।

भगवान महावीर ने प्रायश्चित्तकरण का महालाभ बताते हुए कहा-"प्रायश्चित्त करने से जीव की पाप-विशुद्धि हो जाती है। (उसके सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय) भी निरतिचार (दोषरहित) हो जाते हैं। सम्यक्रूप से प्रायश्चित्त स्वीकार करने पर

मार्ग (सम्यग्दर्शन) और मार्गफल (सम्यग्ज्ञान) को विशुद्ध कर लेता है। तदनन्तर वह आचार (पंचाचाररूप चारित्र) और आचारफल की आराधना (सम्यक् साधना) कर पाता है।"[1]

पाप-शोधनरूप प्रायश्चित्त न करने पर जन्म-मरणादि का भयंकर दुःख

अतः पाप-शोधनरूप प्रायश्चित्त न किया तो इहलोक और परलोक में जीव को स्वकृत दुष्कर्म के फल के रूप में नाना दुःख भोगने पड़ेंगे। पापकर्मजनित पीड़ा कितनी भयंकररूप में मिलती है। इसे 'मार्कण्डेय-पुराण' के शब्दों में पढ़िये–

पादन्यास-कृतं दुःखं कण्टकोत्थं प्रयच्छति।
तत्-प्रभूततर-स्थूल-शंकु-कीलक-सम्भवम्॥२५॥
दुःखं यच्छति तद्वच्च शिरोरोगादि-दुःसहम्।
अपथ्याशन-शीतोष्ण-श्रम-तापादि-कारकम्॥२६॥

इनका भावार्थ यह है कि पैर में काँटा लगने पर तो उस काँटे से होने वाली पीड़ा (दुःख) तो एक ही जगह होती है, इससे भी बढ़कर दुःख स्थूल शंकु और कील से होता है और उससे भी बढ़कर अपथ्य भोजन, ठण्ड, गर्मी, श्रम, तप आदि से कृत दुःसह मस्तक-रोगादि दुःख होते हैं, मगर पापकर्मों के फलस्वरूप प्राप्त होने वाले असह्य दुःख तो तन और मन में निरन्तर शूल उत्पन्न करते रहते हैं। वास्तव में, विभिन्न योनियों और गतियों में जन्म-मरणादि का दुःख तो इनसे भी अनन्त गुना भयंकर है। ये दुःख तभी दूर हो सकते हैं, जब स्वेच्छा से शुद्ध अन्तःकरणपूर्वक प्रायश्चित्ततप स्वीकार किया जाये। तभी आत्म-शुद्धि होगी।[2]

प्रायश्चित्त, प्रक्रिया के चार मुख्य चरण

प्रश्न होता है, प्रायश्चित्त आत्म-शुद्धि का ध्रुव-मार्ग है और उस पर स्वयं साधक द्वारा चलना अनिवार्य है, तब उसकी सर्वमान्य और ठोस प्रक्रिया क्या है? इसके उत्तर में आचार्य अमितगति ने 'सामायिक पाठ' में कहा है–"प्रभो ! मन, वचन, काया तथा कषायों द्वारा मैंने संसार के दुःखों के कारणभूत जो कुछ भी पापाचरण किया हो, उन सब पापों को मैं आलोचना, निन्दना और गर्हणा के द्वारा

---

१. (क) देखें–स्थानांगसूत्र, स्था. ४, उ. ३, सू. ३६२ (आश्वाससूत्र)
(ख) पायच्छित्तकरणेणं पावकम्मविसोहिं जणयइ। निरइयारे यावि भवइ। सम्मं च णं पायच्छित्तं पडिवज्जमाणे मग्गं च मग्गफलं च विसोहेइ। आयारं च आयारफलं च आराहेइ।
–उत्तराध्ययन, अ. २९, सू. १६

२. मार्कण्डेय-पुराण, श्लो. २५-२६

उसी प्रकार नष्ट कर रहा हूँ, जिस प्रकार कुशल वैद्य मंत्र प्रयोगों द्वारा अंग-अंग में व्याप्त समस्त विष को दूर कर देता है तथा उन दोषों की शुद्धि के लिए प्रतिक्रमण करता हूँ।"[1]

पापनाश से चित्त-शुद्धि के लिए चार प्रक्रियाएँ

स्पष्ट है–पापनाश से आत्म-शुद्धिरूप प्रायश्चित्त के लिए यहाँ चार प्रक्रियाएँ मुख्यतया बताई हैं–(१) आलोचना, (२) निन्दना, (३) गर्हणा, तथा (४) प्रतिक्रमण। आलोचना शब्द अपने में कई अर्थों को समेटे हुए है–अपने पापों, दोषों, भूलों, अपराधों या त्रुटियों को स्वयं समस्त गृहीत व्रतों-नियमों-आचारों पर अन्तर्दृष्टि फिराते हुए देखना, ढूँढ़ना, टटोलना तथा अपनी गलती (अपराध या दोष) को स्वयं महसूस करना, अपनी भूलों को कबूल करना, अपनी भूल को भूल समझकर स्वीकारना तथा अपने नियम, व्रत, आचार, संयम आदि में जो कोई दोष या अतिचार लग गया हो, उसे आप्त गुरुजन के समक्ष निष्कपट मन से प्रगट कर देना, दोष को प्रकटरूप से स्वीकार कर लेना।

आलोचना के दो रूप और आत्मालोचना की प्रक्रिया

वैसे तो आलोचना के अनेक प्रकार हैं, किन्तु उसके प्रयोग के दो रूप मुख्य हैं–आत्मालोचना और गुरु आदि विश्वस्त के समक्ष आलोचना। गुरु आदि का योग न हो, वहाँ निष्पक्ष होकर आलोचना पाठ या प्रतिक्रमण द्वारा अपने दोषों-पापों-अपराधों का निरीक्षण-परीक्षण करना और उससे निवृत्त होना। आत्मालोचना में प्रतिक्रमण और निन्दना (पश्चात्ताप) दोनों का समावेश है। आलोचना का दूसरा रूप है–जो भी, जैसे भी पाप–दोष लगे हों, उन्हें निष्कपट होकर सरलभाव से गुरु या महान् के समक्ष प्रगट कर देना।

आत्मालोचन की प्रक्रिया आवश्यक (वर्तमान में प्रचलित 'प्रतिक्रमण') के समय होती है। साधक दिन, रात, पक्ष या चातुर्मास आदि में अपने से प्रमादवश जाने-अजाने हुई भूलों, दोषों, अपराधों, अतिचारों या विराधनाओं को स्वयं आत्म-निरीक्षण करके टटोलता है, उसके पश्चात् स्वयं अपनी गलती को गलती महसूस करता है और जहाँ-जहाँ जिस-जिस व्रत या नियम में भूल, दोष या गलती हुई हो, उससे वापस लौटता है, प्रतिक्रमण करता है, उस दोष या अपराध के प्रति

---

१. (क) विनिन्दनाऽऽलोचन-गर्हणैरहं, मनो-वचः-काय-कषाय-निर्मितम्।
निहन्मि पापं भवदुःख-कारणं, भिषग् विषं मंत्रगुणैरिवाखिलम्॥
–सामायिक पाठ, श्लो. ७

(ख) प्रतिक्रमं तस्य करोमि शुद्धये। –वही, श्लो. ८

मन में पश्चात्ताप होता है, साधक वचन से आत्म-निन्दा (निन्दना) करता है और कोई गुरुतर या भयंकर दोष या अपराध हुआ हो तो गर्हणा (गुरु या समाज के समक्ष जाहिर में प्रकट) करता है। इस प्रकार का स्वयं आलोचना (आत्म-निरीक्षण) पश्चात्ताप और प्रकटीकरण करना प्रायश्चित्त की एक प्रक्रिया है। वास्तव में, ऐसी आत्मालोचन की प्रक्रिया प्रतिक्रमण के अन्तर्गत आ जाती है। साधक स्वयं मन ही मन या प्रतिक्रमण के पाठों के सहारे कहता है–"पडिक्कमामि (आलोएमि), निंदामि, गरिहामि।" (अर्थात् मैं प्रतिक्रमण करता हूँ–आलोचना, निन्दना और गर्हणा करता हूँ)।[1]

प्रतिक्रमण का माहात्म्य, उद्देश्य, स्वरूप और त्रिकालविषयत्व

प्रतिक्रमण स्वयं प्रायश्चित्ततप का प्रवेशद्वार है। प्रतिक्रमण के माध्यम से साधक दिन में या रात्रि में कभी भी, किसी साधना में हुई अपनी भूल या त्रुटि को निष्पक्ष और तटस्थ होकर देखता है, अपने जीवन को जाँचता–परखता है, मन का कोना-कोना छान डालता है। वह अपने अन्तर की गहराई में उतरकर निरीक्षण करता है कि कहीं दोषों का कूड़ा-करकट तो नहीं जमा हो गया है। इस प्रकार वह ज्ञान, दर्शन, चारित्र, व्रत, समिति, गुप्ति, दशविध धर्म, श्रुत-स्वाध्याय आदि किसी भी साधना में कहीं भी हुई जरा-सी भी भूल या विराधना को बारीकी से पकड़ता है। यानी पद-पद पर हुई भूलों को याद करके, प्रतिक्रमण द्वारा उन्हें फिर से न करने का निश्चय करता है। प्रतिक्रमण केवल वर्तमानकाल की क्रिया नहीं है, वह त्रैकालिक है। 'भगवतीसूत्र' में काल के भेद से प्रतिक्रमण तीन प्रकार का बताते हुए कहा गया है–"साधक भूतकाल में लगे हुए दोषों का आलोचनारूप प्रतिक्रमण करता है, वर्तमानकाल में लगने वाले दोषों का निरोधरूप संवर करता है–उनसे बचता है और भविष्य में लगने वाले दोषों के प्रत्याख्यान (त्याग) द्वारा उन्हें रोकता है, इस प्रकार प्रतिक्रमण त्रिकालविषयक है।" वस्तुतः 'आवश्यकसूत्र' के अनुसार–प्रतिक्रमण अशुभ योगों से निवृत्त होने = वापस शुभ योग में लौटने के अर्थ में है। पश्चात्ताप (आत्म-निन्दना) द्वारा अतीतकाल के अशुभ योगों से निवृत्ति अतीत प्रतिक्रमण है, संवर द्वारा वर्तमानकालिक अशुभ योगों से निवृत्ति वर्तमान प्रतिक्रमण है और प्रत्याख्यान द्वारा भविष्यत्-कालिक अशुभ योगों से निवृत्ति भविष्यत्-प्रतिक्रमण है। इस प्रकार प्रतिक्रमण क्रिया का उद्देश्य पूर्वकृत दोषों को दूर करना, वर्तमान में वैसे दोषों को जीवन में प्रविष्ट होने से रोकना और भविष्य में फिर वैसे ही दोषों को न करने के लिए सावधान

---

१. पडिक्कमामि निंदामि, गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि। —आवश्यकसूत्र

हो जाना है, ताकि कर्मों के आम्रव और बंध से मुक्त होकर आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप में अवस्थित हो सके।[1]

द्रव्य और भाव से प्रतिक्रमण का आशयार्थ एवं फलितार्थ

'गोमट्टसार' में प्रतिक्रमण का अर्थ दिया गया है–प्रमादवश दैवसिक, रात्रिक आदि में लगे हुए दोषों का जिसके द्वारा निराकरण किया जाये, उसे प्रतिक्रमण कहते हैं। भाव-प्रतिक्रमण का अर्थ 'भगवती आराधना' में इस प्रकार किया गया है–"आर्त्त-रौद्र आदि अशुभ परिणाम तथा पुण्यास्रव के कारणभूत शुभ परिणाम भाव कहलाते हैं, इन शुभाशुभ भावों से निवृत्त होकर शुद्ध परिणामों में स्थित होना भाव-प्रतिक्रमण है।" अथवा चैतन्ययात्री आत्म-भावों से हटकर पर-भावों में रमण करता-करता पुनः सँभलकर आत्म-भावों में रमण करने लगता है, वही आत्मा के लिए प्रतिक्रमण है अथवा जो-जो बातें आत्म-गुणों या आत्म-भावों के प्रतिकूल हैं, उनसे निवृत्त होकर पुनः अपने आत्म-गुणों या आत्म-भावों में प्रवृत्त हो जाना भी भाव-प्रतिक्रमण है। इसके अतिरिक्त विराधना को छोड़कर आराधना में, अनाचार को छोड़कर आचार में, उन्मार्ग का त्याग करके वीतराग-प्ररूपित सन्मार्ग में, मिथ्यात्व को छोड़कर सम्यक्त्व में, त्रिविध शल्यभाव को निःशल्यभाव में, आर्त्त-रौद्रध्यान को छोड़कर धर्मध्यान-शुक्लध्यान में तथा अगुप्तिभाव को छोड़कर त्रिविध-गुप्तिभाव में प्रवृत्त होना भी भाव-प्रतिक्रमण है। इससे तीव्र गति से असंख्यातगुणी कर्मनिर्जरा होती है।[2]

भाव-प्रतिक्रमण से सर्वकर्ममुक्तिरूप मोक्ष-प्राप्ति

प्रसन्नचन्द्र राजर्षि ने हिंसादि पर-भावों में प्रवृत्त होकर पुनः तीव्रतम पश्चात्तापपूर्वक आत्म-निन्दनारूप प्रतिक्रमण किया–आत्म-भावों में लौट आये,

---

१. (क) 'समतायोग' (रतन मुनि) से भाव ग्रहण, पृ. २३७
(ख) अइयं पडिक्कमेइ, पडुपन्नं संवरेइ, अणागयं पच्चक्खाइ। –भगवतीसूत्र
(ग) 'समतायोग' से भाव ग्रहण, पृ. २०२
(घ) प्रति-प्रतिवर्तनं वा शुभेषु योगेषु मोक्षफलदेषु, निःशल्यस्य यतेर्यत्तद् वाङ्मयं प्रतिक्रमणम्। –आवश्यक हारि. वृत्ति
(ङ) स्वकृतादशुभयोगात् प्रतिनिवृत्तिः प्रतिक्रमणम्। –भगवती आराधना

२. (क) प्रतिक्रम्यते प्रमादकृत-दैवसिकादि-दोषो निराक्रियतेऽनेनेति प्रतिक्रमणम्। –गोमट्टसार
(ख) आर्त्त-रौद्रमित्यादयोऽशुभपरिणामाः पुण्यास्रवभूताश्च शुभपरिणामा इह भावशब्देन गृह्यन्ते, तेभ्यो निवृत्तिः भावप्रतिक्रमणमिति।
–भगवती आराधना (वि.) ११६/२७५/१४

जिससे उनके समस्त घातिकर्मों का क्षय हो गया, केवलज्ञान प्रकट हुआ, वे सर्वकर्म क्षय करके सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हो गये।

प्रतिक्रमण से आत्मा निर्दोष एवं समाधियुक्त हो जाती है

प्रतिक्रमण से महालाभ बताते हुए भगवान महावीर ने कहा–"प्रतिक्रमण से जीव स्वीकृत व्रतों के छिद्रों (दोषों) को बन्द कर देता है। व्रत छिद्रों को बन्द कर देने वाला साधक आस्रवों का निरोध (संवर) करता है। उसका चारित्र असबल (अतिचार के धब्बों से रहित) होता है। वह अष्ट-प्रवचन-माताओं के आराधन में उपयुक्त (सावधान) रहता है तथा संयम-योग में अपृथक्त्व (एकरस = तल्लीन) हो जाता है एवं सम्यक् समाधियुक्त होकर विचरण करता है।"[1]

पंचविध प्रतिक्रमण

वैसे आगमों में प्रतिक्रमण के मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय और अशुभ योगरूप पाँच प्रकार तथा 'स्थानांगसूत्र' के अनुसार–आस्रवद्वार-प्रतिक्रमण, मिथ्यात्व-प्रतिक्रमण, कषाय-प्रतिक्रमण, योग-प्रतिक्रमण और भाव-प्रतिक्रमण, यों पाँच प्रकार भी बताये हैं।[2]

ऐर्यापथिक प्रतिक्रमण क्या और कैसे ?

इनके सिवाय गमनागमन आदि प्रवृत्तियों में लगे हिंसादि दोषों से निवृत्त होने के लिए ऐर्यापथिक प्रतिक्रमण भी बताया गया है। जिसमें दिन या रात्रि में गमनागमन, भाषण-सम्भाषण, लेखन-प्रेक्षण, वाचनादि पंचविध स्वाध्याय, अध्ययन, भिक्षा या आजीविकादि चर्या में, उठने-बैठने, सोने-जागने, भोजन करने, मलमूत्रादि-विसर्जन में तथा प्रमार्जन प्रतिलेखन आदि किसी भी चर्या या प्रवृत्ति के समय एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक के किसी भी जीव को मन-वचन-काया द्वारा, हिंसादि द्वारा क्षति पहुँचाई हो, उनकी विराधना की हो, कराई हो या अनुमोदन किया हो तो हार्दिक पश्चात्ताप (निन्दना) पूर्वक उन जीवों से क्षमा माँगकर, मेरा यह पाप-दोष = दुष्कृत निष्फल (मिथ्या) हो (मिच्छामि दुक्कडं), इस प्रकार वचन से कहा जाता है।[3] साधक के द्वारा अपनी चर्या के दौरान अनजान

---

१. पडिक्कमणेणं वयछिद्दाइं पिहेइ। पिहिय-वयछिद्दे पुण जीवे निरुद्धासवे, असबलचरित्ते अट्ठसु पवयण-मायासु उवउत्ते अपुहत्ते सुप्पणिहिए विहरइ। –उत्तराध्ययन, अ. २९, सू. १२

२. (क) देखें–आवश्यकसूत्र में मिथ्यात्वादि पंचप्रतिक्रमण का उल्लेख
(ख) स्थानांगसूत्र, स्था. ५, उ. ३, सू. २२२

३. (क) इरियावहियं पडिक्कमामि, ... इच्छामि पडिक्कमिउं इरियावहियाए विराहणाए गमणागमणे पाणक्कमणे ..... जे मे जीवा विराहिया एगिंदिया बेइंदिया तेइंदिया चउरिंदिया पंचिंदिया अभिहया ..... जीवियाओ ववरोविओ तस्स मिच्छामि दुक्कडं।
–आवश्यकसूत्र में इरियावहिया पाठ

में, भ्रमवश, लाचारी से अथवा 'प्रवचनसारोद्धार' ग्रन्थ में प्रतिपादित अष्टविध प्रमाद में से किसी प्रमादवश किसी भी जीव की विराधना होने पर 'मिथ्या दुष्कृत' नामक प्रतिक्रमण किया जाता है।[1]

'सर्वार्थसिद्धि' में भी मिथ्या दुष्कृत के रूप में ऐर्यापथिक प्रतिक्रमण का समर्थन करते हुए कहा है–"मिथ्या दुष्कृत कहकर अपने मन में कृत पापों के प्रति पश्चात्ताप या आत्म-निन्दा के रूप में मनःस्थित प्रतिक्रिया व्यक्त करना भी प्रतिक्रमण है।"[2] यह वाचिक प्रतिक्रमणरूप प्रायश्चित्त साधक को उक्त कर्मों से होने वाले आस्रवों या बन्धों से बचा लेता है, व्रत-नियमों की साधना में लगने वाले अतिचारों (दोषों) से आत्मा की रक्षा करता है और साधक की निरहंकारी आत्मा को आराधक और शुद्ध बनाता है। 'भगवती आराधना' के अनुसार–"हाँ ! मैंने यह दुष्कृत (पाप) किया है, यह प्रतिक्रमण है, प्रतिक्रमण के सूत्रों का उच्चारण करना वाक्य-प्रतिक्रमण है और शरीर के द्वारा किये हुए दुष्कृत्यों का आचरण न करना काय-प्रतिक्रमण है।"

अतिचारों का प्रतिक्रमण : पाठ द्वारा

आत्मालोचना के दौरान दिवस या रात्रि आदि में अपनी चर्या करते समय जो पाप-दोष लग जाते हैं, उनका शोधन करने हेतु 'आवश्यकसूत्र' में संक्षिप्त प्रतिक्रमण के रूप में **'इच्छामि ठामि पडिक्कमिडं'** का पाठ बोला जाता है और अन्त में **'मिच्छामि दुक्कडं'** बोलकर प्रायश्चित्त किया जाता है। उसका भावार्थ यह है– "भगवन् ! मैं प्रतिक्रमण करना चाहता हूँ। जो मैंने दिवस या रात्रि में कायिक, वाचिक और मानसिक अतिचार (गृहीत व्रत-नियमों में, संयम में दोष) किये हों, कैसे-कैसे? सूत्रविरुद्ध, मार्ग (मोक्षमार्ग) विरुद्ध, आचारमर्यादा (कल्प) विरुद्ध, न करने योग्य (अकरणीय), दुर्ध्यानरूप, दुश्चिन्तनरूप, दुश्चेष्टारूप, अनाचरणीय एवं अनिच्छनीय (अनिष्ट) (श्रमण के लिए/श्रावक के लिए अयोग्य) दोष, ज्ञान में,

---

पिछले पृष्ठ का शेष–

(ख) एकेन्द्रियाद्यो यदि देव देहिनः, प्रमादतः संचरता इतस्ततः।
क्षता विभिन्ना मलिनता निपीडितास्तदस्तु मिथ्या दुरनुष्ठितं तदा॥
–परमात्मद्वात्रिंशिका, श्लो. ५

१. प्रवचनसारोद्धार में प्रमाद आठ प्रकार का बताया है–अज्ञान, संशय, मिथ्याज्ञान, राग, द्वेष, स्मृति-भ्रंश, धर्माचरण में अनादर और योगदुष्प्रणिधान

२. (क) मिथ्या-दुष्कृतमिधानादभिव्यक्त-प्रतिक्रियं प्रतिक्रमणम्। *–सर्वार्थसिद्धि ९/२०/४४०/६*
(ख) हा ! दुष्कृतमिति वा मनःप्रतिक्रमणम्। सूत्रोच्चारणम् वाक्य-प्रतिक्रमणम्। कायेन तदनाचरणं काय-प्रतिक्रमणम्। *–भगवती आराधना (वि.) ५०९/७२८/४*

दर्शन में तथा चारित्र में श्रुतज्ञान में, सामायिक (समत्व) साधना में लगे हों, (कहाँ-कहाँ ?) तथा तीन गुप्तियों में, चार कषायों से, पंच महाव्रतों (श्रावक के पंच अणुव्रतों, तीन गुणव्रतों तथा चार शिक्षाव्रतों) में, षड्जीवनिकायों में, सप्त पिण्डैषणाओं में, अष्ट प्रवचन-माताओं में, नवविध ब्रह्मचर्यगुप्तियों में, दशविध श्रमणधर्म में जो खण्डता = स्खलना तथा विराधना की हो, वह दुष्कृत मेरे लिए मिथ्या हो।" इस प्रकार आत्मालोचना के सन्दर्भ में मिथ्या दुष्कृत प्रतिक्रमण करने का एक सुन्दर तरीका है।[1]

दोष-शुद्धि करने का सरलतम अहिंसक उपाय : आत्मालोचना

इस प्रकार का आत्मालोचन करने के लिए व्यक्ति को स्वयं ही पहल करनी चाहिए। दूसरा व्यक्ति उसका दोष निकाले, उसकी नुक्ताचीनी, निन्दा या बदनामी करे, इसकी अपेक्षा व्यक्ति स्वयं ही अपने दोषों, दुर्गुणों या दुष्कर्मों की बारीकी से छानबीन करके प्रतिक्रमण द्वारा उन्हें निकाल ले तो उससे प्रायश्चित्ततप, निर्जरा और संवर भी होगा। दूसरा कोई व्यक्ति या सरकार अपने दोषों, अपराधों या पापों के लिए दण्ड दे, दमन करे, बन्धनादि में जकड़े, कैद करे, इससे तो अच्छा है–अपना दोष-पाप स्वयं जान-समझकर निकाल लें। आत्मालोचना स्वयं का सुधार है। भगवान महावीर ने कहा है–**यद्यपि आत्म-दमन (प्रायश्चित्त) दुर्दम्य है, किन्तु अपने आप ही दमन करना श्रेयस्कर होता है। जिसकी आत्मा शान्त-दान्त हो जाती है, वह इस लोक और परलोक में सर्वत्र सुखी होता है।**[2]

प्रायश्चित्त का तृतीय चरण–निन्दना : स्वरूप और उपयोगिता

निन्दना–'प्रतिक्रमण' में आत्मालोचना के साथ भी और गुरु आदि के समक्ष आलोचना करने में भी 'निन्दना' का प्रयोग होता है। प्रतिक्रमण और आलोचना (आलोयणा) के पश्चात् पापविशोधनरूप प्रायश्चित्त का तृतीय चरण निन्दना है, जिसका फलितार्थ है–"मैं अपनी आत्मा पर लगे पापों, दोषों, दुष्कृतों या निकृष्ट आचरण से दूषित जीवन की निन्दा करता हूँ।" यही वास्तविक आत्म-निन्दा है। निन्दना का अर्थ–पर-निन्दा या अपने आप को कोसना, अपने आप में

---

१. इच्छामि ठामि पडिक्कमिउं, जो मे देवसिओ/राइओ अइयारो कओ, काइओ, वाइओ, माणसिओ, उस्सुत्तो, उम्मग्गो, अकप्पो, अकरणिज्जो, दुज्झाओ, दुविचिंतिओ, दुविट्ठिओ, अणायारो अणिच्छियव्वो, असमण-पाउग्गो/असावगपाउग्गो; नाणे तह दंसणे, चरित्ते, सुए सामाइए, तिण्हं गुत्तीणं ····· समणाणं जोगाणं जं खंडियं, जं विराहियं तस्स मिच्छामि दुक्कडं।

–आवश्यकसूत्र

२. अप्पा चेव दमेयव्वो, अप्पा हु खलु दुद्दमो।
अप्पा दंतो सुही होई, अस्सिं लोए परत्थ य॥

–उत्तराध्ययनसूत्र

दीनता-हीनता, निराशा या निरुत्साहता का भाव लाकर चिन्ता या शोक में निमग्न होना या आर्त्तध्यान करना नहीं है। वस्तुतः यहाँ पूर्वोक्त सम्यक् प्रकार से आत्म-निन्दा और पश्चात्ताप दोनों में कार्य-कारणभाव सम्बन्ध है। आत्म-निन्दा कारण है, पश्चात्ताप कार्य है। इसी तथ्य को द्योतित करते हुए भगवान महावीर ने कहा–"निन्दना (आत्म-निन्दा) से पश्चात्ताप होता है। पश्चात्ताप से (उक्त दोषों–कषायों या पापकर्मों से) विरक्त होता हुआ साधक करणगुण श्रेणी (अर्थात् आत्मा के परिणामों की विशुद्धिकर्त्री क्षपक श्रेणी) को प्राप्त होता है। क्षपक श्रेणी पर आरूढ़ अनगार मोहनीय कर्म को समूल नष्ट कर देता है।" 'समयसार वृत्ति' में आत्म-साक्षी से दोषों को प्रकट करने को निन्दा कहा है। किन्तु निन्दना का प्रयोग आत्म-साक्षी से आलोचना करने की तरह गुरु या महान् आदि की सुसाक्षी से आलोचना करने में भी होता है। इससे क्षपक श्रेणी पर आरूढ़ साधक प्रति समय तीव्र गति से असंख्यात-असंख्यातगुणी निर्जरा करता है और मोहनीय कर्म को निर्वीर्य बनाकर केवलज्ञान प्राप्त कर लेता है। महासती मृगावती ने आत्म-साक्षी से निन्दना (आत्म-निन्दा) समग्र अन्तःकरण से तीव्र पश्चात्तापपूर्वक की थी, जिसके कारण थोड़ी-सी देर में उन्हें केवलज्ञान प्राप्त हो गया था।[9]

निन्दना के प्रयोग से भविष्य में उक्त पाप से पूर्ण विरक्ति

प्रमादवश या अज्ञानतावश मोहमूढ़ आत्मा अपने से हुए दोष, पाप या दुष्कर्म को जब भयंकर भूल या गलती समझ लेता है, तब या तो वह स्वयं मन ही मन या फिर गुरु समक्ष उसकी शुद्धि के लिए 'आचारांगसूत्र' में उक्त इस संकल्प को दुहराता है–"**इयाणिं णो, जमहं पुव्वमकासि पमाएणं।**" अर्थात् मैंने प्रमादवश अतीत (पूर्व) में जो कुछ अकरणीय कृत्य किया है, उसे अब नहीं करूँगा।" वस्तुतः अपने पापों–दोषों के प्रति घृणा, विरक्ति और पश्चात्ताप ही वे आधार हैं, जिनके सहारे भविष्य में वैसा पाप–दोष न होने की आशा की जाती है। 'महाभारत' में भी इसी तथ्य का समर्थन मिलता है–"जो मनुष्य पापकर्म करने पर सच्चे अन्तःकरण से पश्चात्ताप करता है, वह उक्त पाप से छूट जाता है तथा फिर कभी ऐसा कर्म नहीं करूँगा ऐसा दृढ़ निश्चय कर लेने पर भविष्य में होने वाले दूसरे पाप से भी वह बच जाता है।" 'शिवपुराण' के अनुसार–पश्चात्ताप ही पापों

---

१. (क) 'समतायोग' से भाव ग्रहण
(ख) पडिक्कमामि, निंदामि, गरिहामि, अप्पाणं वोसिरामि। –*आवश्यकसूत्र*
(ग) निंदणयाए णं पच्छाणुतावं जणयइ। पच्छाणुतावेणं विरज्जमाणे करणगुणसेढिं पडिवज्जइ। करणगुणसेढिं पडिवन्ने य णं अणगारे मोहणिज्जं कम्मं उग्घाएइ।
–*उत्तराध्ययनसूत्र*

की परम निष्कृति है, इसीलिए संतजनों ने पश्चात्ताप से सब पापों की विशुद्धि होने की बात मान्य की है।[1]

प्रायश्चित्त का चतुर्थ चरण : गर्हणा : पापविशोधन का तीव्रतम उपाय

गर्हणा–निन्दना के बाद गर्हणा प्रायश्चित्ततप का चतुर्थ चरण है। गर्हणा का अर्थ है–गुरु आदि आप्तपुरुषों के समक्ष अथवा समाज के समक्ष अपने द्वारा कृत दोष, अपराध या भूल को प्रकट करना। निन्दना और गर्हणा में अन्तर है। जब व्यक्ति अपने पाप–दोषों की आलोचना किसी दूसरे को सुनाए बिना आत्म-निन्दा (पश्चात्ताप) पूर्वक मन ही मन करता है, वहाँ निन्दना होती है और जब वह गुरु या किसी विश्वस्त पुरुष अथवा जनता के समक्ष अपने पाप–दोष या अपराध को प्रकट करता है, मन-वचन-काया तीनों को पश्चात्ताप की आग में झोंक देता है, अपनी झूठी प्रतिष्ठा या अहंकार को त्यागकर सरलता और नम्रता के साथ अपने पाप–दोषों को स्वीकार कर लेता है अथवा जनता के समक्ष खुले दिल से गाँठों को खोलकर रख देता है और वह विश्वस्त पुरुष या गुरु जो भी दण्डरूप में प्रायश्चित्त दें, उसको सहर्ष स्वीकार कर लेता है, वहाँ होती है–गर्हणा। 'समयसार वृत्ति' के अनुसार–गुरु की साक्षी से अपने दोष प्रकट करना गर्हा है।[2]

निन्दना की अपेक्षा गर्हणा में अधिक मनोबल अपेक्षित

निन्दना की अपेक्षा गर्हणा में अधिक मनोबल, साहस एवं अहंकार–व्युत्सर्ग की जरूरत होती है। मनुष्य एकान्त में या अकेले में अपने आप को धिक्कार सकता है, तीव्र पश्चात्ताप भी कर सकता है, आत्म-निन्दा के रूप में आलोचना करके अपने पाप–दोषों का प्रक्षालन कर सकता है, लेकिन जाहिर में किये गए बड़े अपराध, पाप या दोष के लिए गर्हणा के रूप में किसी विश्वस्त या महान् के समक्ष आलोचना करना बहुत ही कठिन कार्य है। जिन पंचों, अगुओं, समाज और धर्म-संघ के नेताओं तथा गुरुजनों की दृष्टि में आज तक आदरणीय और प्रतिष्ठित माना जाता था, उनके समक्ष अपने आप को दोषी, अपराधी, पापी या चारित्रहीन प्रकट करना अतीव कठिन कार्य है। इसीलिए 'पंचाध्यायी (उ.)' में गर्हा का लक्षण

---

१. (क) आचारांगसूत्र

(ख) विकर्मणा तप्यमानः पापाद् विपरिमुच्यते।
न तत् कुर्यान् पुनरिति द्वितीयात् परिमुच्यते॥ –महाभारत, वनपर्व

(ग) पश्चात्तापः पापकृतां निष्कृतिः परा।
सर्वेषां वर्णितं सद्भिः सर्वपाप-विशोधनम्॥ –शिवपुराण

२. गुरुसाक्षि-दोष-प्रकटनं गर्हा। –समयसार, तात्पर्यवृत्ति ३०६

किया गया है–"निश्चय ही गर्हा वहाँ है, जहाँ प्रमादरहित होकर अपनी शक्ति के अनुसार कृत कार्यों को क्षय करने के लिए पंच, गुरु या पंच-परमेष्ठी (परम आत्मा) अथवा आत्मा की साक्षी से रागादि विभावों का त्याग किया जाए।" इसलिए गर्हा–प्रायश्चित्त के महत्त्व को समझने वाला साधक या सामान्य आत्मार्थी व्यक्ति भी अप्रतिष्ठा, अपकीर्ति या निन्दा की इस विकट घाटी को पार करके समाज में पुनः प्रतिष्ठित हो जाता है तथा पाप-विशोधन करके महान् बन जाता है। आशय यह है कि गर्हा (गर्हणा) से जब साधक में ऐसी प्रबल आत्म-शक्ति आ जाती है, तब वह लोकनिन्दा, प्रतिष्ठा-हानि, बदनामी आदि सब विकल्पों को पीछे छोड़कर गर्हा की पावन-प्रक्रिया अपनाकर अपने द्वारा कृत पापों को सदा के लिए विदा दे देता है और पापों पर से पर्दा उठा लेता है।

गर्हा के विभिन्न रूप और प्रकार

'स्थानांगसूत्र' में गर्हा के चार रूपों का निरूपण किया गया है, जैसे– (१) उपसम्पदारूप गर्हा–अपने दोष को पश्चात्तापपूर्वक निवेदन करने के लिए गुरु के समीप जाऊँ; इस प्रकार का विचार करना; (२) विचिकित्सारूप गर्हा–अपने निन्द्य दोषों को शीघ्र निकाल फेंकूँ या उनका निराकरण करूँ, ऐसा विचार करना; (३) मिच्छामि (दुक्कडं) रूप गर्हा–जो कुछ दुष्कृत (असदाचरण) किया है, वह मिथ्या (निष्फल) हो, इस विचार से प्रेरित होकर 'मिच्छामि दुक्कडं' कहना; और (४) एवमपि प्रज्ञप्तिरूप गर्हा–ऐसा भी भगवान ने कहा है कि अपने दोष की गर्हा (निन्दा) करने से किये गए दोष की शुद्धि होती है, ऐसा विचार करना चौथी गर्हा है। गृह ग्रहणे धातु से गर्हा शब्द निष्पन्न होता है, इस अपेक्षा से अपने अन्तःकरण में या जीवन में जमी/लगी हुई पापों–अपराधों की गंदगी को दृढ़ता से पकड़ लेना–मान = स्वीकार लेना भी गर्हा का एक प्रकार है अथवा गुरु आदि आप्तपुरुषों के समक्ष अपने दोषों को प्रकट करने पर उनके द्वारा यथायोग्य दिया गया प्रायश्चित्त (दण्ड) ग्रहण करना भी गर्हा है अथवा व्यक्ति के द्वारा अपने दोषों को प्रकट करने पर उसके प्रति आम जनता द्वारा की जाती हुई गर्हा–निन्दा या भर्त्सना को चुपचाप पी जाना या समभावपूर्वक सह लेना भी गर्हा है या उन निन्दा करने वालों के प्रति रोष, द्वेष, वैर-विरोधन करते हुए आत्म-निन्दनापूर्वक अपनी शुद्ध आत्मा में लीन होना भी गर्हा प्रायश्चित्त का एक विशिष्ट प्रकार है।[1]

---

१. (क) गर्हणं तत्परित्यागः पंच-गुर्वात्म-साक्षिकः।
निष्प्रमादतया नूनं शक्तितः कर्महानये॥ –*पंचाध्यायी (उ.), श्लो. ४७४*

(ख) चउव्विहा गरहा पण्णत्ता, तं जहा–उवसंपज्जामित्तेगा गरहा, वितिगिच्छामित्तेगा गरहा, जं किं चि मिच्छामित्तेगा गरहा, एवंपि पण्णत्तेगा गरहा।
–*स्थानांगसूत्र, स्था. ४, उ. २, सू. २६४*

प्रयोग की अपेक्षा से गर्हा के तीन-तीन प्रकार और स्वरूप

'गर्हा' शब्द बहुत ही व्यापक अर्थ में शास्त्र में प्रयुक्त हुआ है। 'स्थानांगसूत्र' में गर्हा का तीन प्रकार से प्रयोग बताया गया है; यथा–"पापकर्मों को नहीं करने के रूप में कुछ लोग मन से गर्हा करते हैं, कुछ लोग वचन से गर्हा करते हैं और कुछ लोग काया से गर्हा करते हैं।" अथवा प्रकारान्तर से कृत पापों की निन्दा करने के रूप में भी गर्हा का प्रयोग तीन प्रकार का कहा गया है, यथा–कुछ लोग दीर्घकाल तक पापकर्मों की गर्हा करते हैं, कुछ लोग अल्पकाल तक पापकर्मों की गर्हा करते हैं और कुछ लोग काया का निरोध करके गर्हा करते हैं।[1]

प्रस्तुत प्रसंग में शास्त्रकार ने उस गर्हाषट् का निरूपण किया है जो गुरु के सान्निध्य में न होकर अपराधी या दोषी–पापी द्वारा स्वयं मन, वचन या काया से अथवा दीर्घकाल या स्वल्पकाल तक अपने द्वारा कृत पापों का समाज के समक्ष स्वयं प्रकटीकरण किया जाता है।

गर्हा से आत्म-शुद्धि की एक सच्ची घटना

इस सम्बन्ध में एक सच्ची ऐतिहासिक घटना संक्षेप में इस प्रकार है–द्रौपदी नामक एक धनाढ्य ब्राह्मण्ड की लाड़-प्यार में पली लड़की थी। ब्राह्मण का नगर के बाहर एक विशाल तालाब और एक बड़ा बगीचा था। वह नागरिकों को तालाब का मधुर, शीतल जल तथा बगीचे के मधुर फल जनता को मुफ्त में देता था। द्रौपदी जवान हुई। एक ब्राह्मण-पुत्र के साथ उसका धूमधाम से विवाह कर दिया गया। किन्तु दुर्भाग्य से दूसरे ही वर्ष वह विधवा हो गई। उसका पिता उसे आश्वासन देकर उसे अपने घर ले आया। पीहर में मनमानी छूट और स्वच्छन्दता के कारण वह नगर के एक युवक के साथ अनाचार-सेवन करने लगी। दोनों के अनुचित सम्बन्ध का लोगों को पता लगा। चारों ओर निन्दा होने लगी। पिता ने भी द्रौपदी को उपालम्भ दिया। लड़की के इस पापाचरण के कारण उसके पिता के तालाब का पानी सड़ने लगा, गंदा हो गया और बगीचे के फल सड़ने लगे, उनमें कीड़े पड़ गये। लोगों ने पानी और फल ले जाना बंद कर दिया। एक दिन द्रौपदी को अपने

पिछले पृष्ठ का शेष–

(ग) गृहू ग्रहणे धातु से भी ग्रहण करने के अर्थ में 'गर्हा' शब्द निष्पन्न होता है।

(घ) गृहू गर्हणे धातु से भी गर्हा = घृणा–जुगुप्सा अर्थ में भी गर्हा शब्द बनता है।

१. तिविहा गरहा पण्णत्ता, तं जहा–मणसावेगे गरहति, वयसावेगे गरहति, कायसावेगे गरहति पावकम्मं अकरणयाए। अहवा गरहा तिविहा पण्णत्ता, तं जहा–दीहंवेगे अद्धं (अधं) गरहति, हस्सं वेगे अद्धं (अधं) गरहति, कायंवेगे पडिसाहरति, पावाणं कम्माणं अकरणयाए।

–स्थानांगसूत्र, स्था. ३, उ. १, सू. २६

पापकर्म से घृणा और विरक्ति हो गई। उसने निश्चय किया–"मैंने घोर पापकर्म किया है, अतः सर्वप्रथम मुझे अपने पापों को जनता के समक्ष खुल्लमखुल्ला प्रगट करके भविष्य के लिए पवित्र जीवन जीने का संकल्प लेना है, साथ ही मुझे सबसे क्षमायाचना करके वैद्यनाथधाम तीर्थ जाकर वहाँ प्रभु के समक्ष निवेदन करके प्रायश्चित्त लेना है।" उसने पिता के सामने अपना संकल्प दोहराया। पिता ने संतोष व्यक्त किया। निश्चित तिथि के रोज नगर के बाहर तालाब की पाल पर लोग इकट्ठे हुए। द्रौपदी ने पश्चात्तापपूर्वक आँखों से आँसू बहाते हुए कहा–"भाइयो, बहनो और माताओ ! मैंने अब्रह्मचर्य का बहुत बड़ा पाप किया है। मुझे उसका बहुत पश्चात्ताप है। आप सभी मुझे क्षमा करें। जिस व्यक्ति के साथ मैंने अनाचार-सेवन किया है, उससे भी मैं क्षमा माँगती हूँ। भविष्य में मैं अब्रह्मचर्य ही नहीं, हिंसादि समस्त पापों का त्याग करती हूँ। मैं अपने पाप के प्रायश्चित्त के लिए वैद्यनाथधाम तीर्थ जाना चाहती हूँ। आप मुझे अपनी बहन-बेटी समझकर विदा दें।" सबने आशीर्वादपूर्वक उसे विदा दी। कहते हैं–द्रौपदी के इस प्रकार पाप-शुद्धिरूप प्रायश्चित्त करने पर उसके पिता के तालाब में पानी मीठा हो गया, बगीचे के फल भी मधुर और रसदार हो गए। कहते हैं–वैद्यनाथधाम में द्रौपदी ने अनन्यभाव से परमात्मा का स्मरण किया और पश्चात्तापपूर्वक पापों का निवेदन किया, तब वहीं उसका नश्वर शरीर छूट गया। यह है–लोकसमक्ष मन-वचन-काया से प्रकटरूप में गर्हा करने से आत्म-शुद्धि का ज्वलन्त उदाहरण।

आलोचनादि कौन करता है, कौन नहीं करता ?

'स्थानांगसूत्र' में बताया गया है कि जिसके हृदय में गौरवग्रन्थि हो, प्रतिष्ठा का भूत सवार हो, मन में माया (छलकपट) हो, वह यह सोचकर आलोचना, निन्दना, गर्हणा तथा अध्यवशुद्धि नहीं करता कि मैंने अकरणीय किया है, कर रहा हूँ और करूँगा भी; फिर आलोचनादि द्वारा अपने दोषों को प्रगट करने से मेरी अपकीर्ति, अवर्णवाद (निन्दा) और मेरे प्रति दूसरों के द्वारा अविनय होगा अथवा मेरा यश, पूजा, प्रसिद्धि और सत्कार-सम्मान कम हो जाएगा।" किन्तु आलोचनादि द्वारा होने वाले आत्म-हित आदि लाभों के भगवद्कथनानुसार जिसके मन में से अप्रतिष्ठा, निन्दा, अपकीर्ति की भीति (आशंका) या गौरवग्रन्थि निकल जाती है, वह अपनी ज्ञानादि की साधना में कोई दोष, अपराध या भूल हो जाने के पश्चात् तुरंत सरलभाव से आलोचना आदि करके यथायोग्य प्रायश्चित्त एवं तपःकर्म अंगीकार करने को उद्यत हो जाता है, यह सोचकर कि आलोचनादि न करने से मेरा इहलोक, परलोक गर्हित-निन्दित होंगे तथा ज्ञान-दर्शन-चारित्र भी दूषित होंगे। अतः मन को मजबूत बनाकर सरलभाव से आलोचनादि (पूर्वक गर्हणा) करने से

उसका इह-भव, पर-भव तथा आगामी अनेकों भव प्रशस्त हो जाते हैं तथा ज्ञानादि रत्नत्रय भी शुद्ध निरतिचार हो जाते हैं। इसलिए वह ज्ञान-दर्शन-चारित्र की उपलब्धि के लिए सरलभाव से आलोचनादि करता है और कदाचित् केवलज्ञान प्राप्त करके परम्परा से सर्वकर्ममुक्तिरूप मोक्ष भी प्राप्त कर लेता है।

गर्हणा से प्रशस्त योगों का तथा घातिकर्म क्षय का महालाभ

इसी तथ्य की साक्षी 'उत्तराध्ययनसूत्र' में भगवान महावीर ने दी है– (आत्म-निन्दापूर्वक) गर्हणा करने से जीव को क्या लाभ होता है? यह पूछे जाने पर उन्होंने फरमाया–"गर्हणा से व्यक्ति अपुरस्कारभाव (पापकर्म पुरुषार्थ न करने की वृत्ति अथवा प्रशंसात्मक गौरव = पुरस्कारभाव से रहित होने = अहंकाररहित हो जाने के भाव) को प्राप्त होता है। अपुरस्कारत्व को प्राप्त जीव अप्रशस्त योग (मन-वचन-काया की प्रवृत्ति) से निवृत्त हो जाता है और प्रशस्त योगों में प्रवृत्त होता है। प्रशस्त योग-प्राप्त-साधक (आत्मा के ज्ञान, दर्शन, सुख और शक्ति इन चार निजी) अनन्त गुणों के घातक (ज्ञानावरणीयादि चार घाति) कर्मों के पर्यायों (विशेष परिणतियों) का क्षय कर डालता है।"[1]

सुव्रत मुनि को स्वयंकृत आलोचना-निन्दना-गर्हणापूर्वक प्रायश्चित्त से केवलज्ञान

आत्म-साक्षीपूर्वक आलोचना के साथ निन्दना-गर्हणा हो तो भी उस आत्मार्थी व्यक्ति की पापविशुद्धि होते देर नहीं लगती। धनाढ्य और धर्मसंस्कार-सम्पन्न परिवार के युवक सुव्रत ने आचार्य शुभंकर के पास मुनि-दीक्षा ग्रहण की। बचपन में उसे केसरिया मोदक खाने का बहुत शौक था। दीक्षा लेने के बाद शास्त्रों का अध्ययन किया और मनोयोगपूर्वक संयम-पालन करने लगा।

---

१. (क) तिहिं ठाणेहिं मायी मायं कट्टु णो आलोएज्जा, णो पडिक्कमेज्जा, णो णिंदेज्जा, णो गरिहेज्जा, णो विउट्टेज्जा, णो विसोहेज्जा, णो अकरणयाए अब्भुट्ठेज्जा, णो अहारिहं पायच्छित्तं तवोकम्मं पडिवज्जेज्जा, तं जहा–अकरिसं वाहं, करेमि वाहं, करिस्सामि वाहं ···· अकित्ती वा मे सिया, अवण्णे वा मे सिया, अविणए वा मे सिया ···· कित्ती वा मे परिहाइस्सति, जसे वा मे ···· पूया-सक्कारे वा मे परिहाइस्सति॥३४८॥
तिहिं ठाणेहिं मायी मायं कट्टु आलोएज्जा जाव पडिवज्जेज्जा। ··· माइस्स णं अस्सिं लोए गरहिए भवति, उववाए गरहिए भवति, आयाती गरहिए भवति। ···· अमाइस्स अस्सिं लोए पसत्थे ···· उववाए पसत्थे ···· आयाती पसत्था भवति ····· णाणट्ठयाए, दंसणट्ठयाए, चरित्तट्ठयाए॥३४३॥ —*स्थानांगसूत्र, स्था. ३, उ. ३, सू. ३४८, ३४३*

(ख) गरहणयाए अपुरक्कारं जणयइ। अपुरक्कारगए णं जीवे अपसत्थेहिं तो जोगेहिंतो नियत्तइ, पसत्थे य पडिवज्जइ। पसत्थ-जोग-पडिवन्ने य णं अणगारे अणंतघाइ-पज्जवे खवेइ। —*उत्तराध्ययन, अ. २९, सू. ७*

एक बार आचार्य शुभंकर सुव्रत मुनि आदि शिष्य-परिवार के साथ राजगृह पधारे। श्रावकों से सुना कि आज मोदकोत्सव है। अतः सब घरों में मोदक ही मिलेगा। अतः सुव्रत मुनि के सिवाय आचार्य आदि सभी साधुओं ने एकाग्रतापूर्वक स्वाध्याय, ध्यान करने हेतु उपवास कर लिया। सुव्रत मुनि के मन में आज केसरिया मोदक लाने और खाने की ललक उठी। वे गुरुजी से आज्ञा लेकर जैनों के घरों में भिक्षा के लिए घूमने लगे। जहाँ भी जाते केसरिया मोदक के लिए पूछने लगे। एक-दो घरों में इतने महँगे केसरिया मोदक बने हुए भी थे, लेकिन मोदकों का थाल कहीं कच्चे पानी तो कहीं हरी वनस्पति से छू रहा था। अतः वे अग्राह्य हो गए। मुनि की आतुरता बढ़ती जा रही थी। घूमते-घूमते सन्ध्याकाल हो गया, पर कहीं पर भी केसरिया मोदक का सुयोग नहीं मिला। फिर भी वे अपनी साधना और मर्यादा को भूलकर अपनी केसरिया मोदक की धुन में घूम रहे थे। जैनेत्तर मौहल्लों में घूमते और केसरिया मोदक की रट लगाते हुए वे वापस जैन मौहल्ले की ओर मुड़े। आधी रात हो चुकी थी। परन्तु सुव्रत मुनि को इस तरह घूमते हुए श्रमणोपासक जिनभद्र ने देखा। मुनि को आदरपूर्वक घर में पदार्पण करने के बाद केसरिया मोदक की चाह के अनुसार पात्र में मोदक भर दिये। वे झोली समेटकर ज्यों ही वापस लौटने लगे जिनभद्र श्रावक ने पूछा–"मुनिवर ! समय क्या हुआ है ?" आकाश की ओर आँखें उठाकर देखा तो स्तब्ध रह गए। "यह तो तारों भरी रात है, मध्य रात्रि का समय है ! श्रावक जी ! यह क्या हो गया ? मेरे से बहुत बड़ी भूल हो गई ? रात्रि में ग्रहण करना और आहार करना मुनि के लिए सर्वथा अकल्प्य है ! पर मैं कहाँ भटक गया ? यों कहते-कहते सुव्रत मुनि का गला रुँध गया। श्रावक जिनभद्र ने उनको इस प्रकार निन्दना-गर्हणा करते देख आत्मीयताभरे स्वर में कहा–"मुनिश्री ! आप घबराइए नहीं, प्रबल मोहोदय के कारण व्यक्ति मूढ़ बन जाता है। ऐसी स्थिति में भूल हो जाना कौन-सी बड़ी बात है ? भगवान महावीर ने प्रमादपूर्वक व्रत में स्खलना के प्रतीकार के रूप में प्रायश्चित्त लेकर शुद्ध होने का उपदेश दिया है। अब आप क्या चाहते हैं ?" "मैं अपनी भूल का प्रायश्चित्त लेकर शुद्ध होना चाहता हूँ,यहाँ मेरा उपासना-कक्ष है, उसमें आप रातभर विराजिये, सुबह मैं आपको गुरुजी के पास अच्छी तरह पहुँचा दूँगा।" श्रावक जी ने लड्डू का पात्र खाली करके उन्हें अपने उपासना-कक्ष में ठहरा दिया। मुनि प्रतिक्रमण, आलोचना-निन्दना-गर्हणा करते हुए आत्म-ध्यान में लीन हो गए। अपनी रसलोलुपता को याद करते हुए उनका मन ग्लानि, विरक्ति और अनुताप से भर गया। अपने आप को सम्बोधन करके कहने लगे–"सुव्रत ! तू किधर भटक गया ? शुद्ध आत्म-तत्त्व को पाने के लिए तूने घरबार छोड़ा। सुख-सुविधाओं, इच्छाओं और वासनाओं को तिलांजलि दी। आज तक तूने और कितनी चीजों के रस चखे, पर क्या तुझे उनसे तृप्ति हुई ? यह पौद्गलिक

जगत् एक छलावा है। इससे सदा निरपेक्ष रहना चाहिए। तेरा लक्ष्य बहुत ऊँचा है, मंजिल अभी दूर है। तू आत्म-भावों में ही डुबकी लगा, इन पर-भावों के प्रति मोह, राग, द्वेष छोड़। अध्यात्म रस ही परम रस है। उसी का आस्वादन कर।" इस प्रकार चिन्तन की गहराई में उतरते-उतरते भावविशुद्धि के कारण उनकी आत्मा विकास की चरम सीमा को छूने लगी। मोहकर्म सहित चारों घातिकर्मों का आवरण नष्ट हो गया। ज्ञान सूर्य की प्रखर रश्मियाँ चारों ओर फैलने लगीं। सूर्योदय होते-होते सुव्रत मुनि के अन्तर में छिपा अनन्तज्ञान का सूर्य प्रकाशित हो उठा। वे केवलज्ञानी, सर्वज्ञ और अर्हत् बन गए।

यह है–आलोचना, निन्दना, गर्हणा का अचिन्त्य फल !

जो दीर्घकालिक कठोर अनशनादि तप नहीं कर सकते, उनके लिए प्रायश्चित्ततप में पराक्रम उचित

जो व्यक्ति भगवान महावीर, धन्ना अनगार आदि जैसी दीर्घ अनशनादि बाह्यतप के साथ आभ्यन्तरतप नहीं कर सकते, जिनमें ऐसी कठोर साधना करके कर्मों को चूर-चूर करने की शक्ति नहीं है अर्थात् जिनमें इतने उग्र तप करने का शौर्य नहीं है। उन्हें आभ्यन्तरतप के सर्वप्रथम अंग–प्रायश्चित्ततप द्वारा सुव्रत मुनि की तरह अबाधाकालीन कर्मों को प्रबलता से नष्ट कर देने का शौर्य प्रगट करना चाहिए। कर्म जब तक उदय में नहीं आते, अबाधाकाल (सत्ता) में उपशान्त पड़े रहते हैं, तब तक उद्वर्तन और अपवर्तन करण द्वारा उनकी नियत स्थिति और रस में परिवर्तन तथा उस कर्म का अपने सजातीय कर्म में संक्रमण किया जा सकता है, पूर्णतया नष्ट भी किया जा सकता है; बशर्ते कि वह कर्म निकाचितरूप से न बँधा हो। अतः किसी व्यक्ति से कोई भी पापकर्म, अपराध या दोष हो गया हो, तो उसे प्रतिक्रमण, निन्दना-गर्हणा-आलोचनारूप प्रायश्चित्ततप द्वारा नष्ट कर देने का अथवा अशुभ को शुभ में परिवर्तन कर देने का तथा उसकी स्थिति और रस का घात कर देने का पराक्रम करना चाहिए।[1]

हार्दिक पश्चात्ताप : उदय में आने से पहले कर्मदहन करने का उपाय

पश्चात्ताप ऐसी तीव्रतम चिनगारी है, जिससे पापकर्मों के ढेर को भी भस्म किया जा सकता है। चाहिए किसी ज्ञानी गम्भीर गुरु के चरणों में अपने तमाम

---

१. (क) 'देवाधिदेवनुं कर्मदर्शन' (पं. चन्द्रशेखरविजय जी म.) से भाव ग्रहण, पृ. ४१-४२

(ख) इसके विस्तृत विवेचन के लिए देखें–कर्मविज्ञान, भा. ५, खण्ड ८ में 'कर्मबन्ध की विविध परिवर्तनीय अवस्थाएँ–१, २' शीर्षक निबन्ध तथा कर्मविज्ञान, भा. २, खण्ड ४ में 'कर्मवाद : निराशावाद या पुरुषार्थयुक्त आशावाद' शीर्षक निबन्ध तथा 'जैन-कर्मविज्ञान की विशेषता' शीर्षक निबन्ध

पापों की लज्जा छोड़कर आलोचना-निन्दना-गर्हणापूर्वक प्रायश्चित्त करने की तमन्ना। ऐसा करने से उन पापकर्मों के उदय होने से पहले ही उनका नाश हो जाने से संभवित रोग, शोक, दुःख, संताप, दारिद्र्य आदि भी नष्ट हो जाते हैं।

आलोचना-निन्दना-गर्हणापूर्वक प्रायश्चित्त का शुभ परिणाम

सुना है, एक युवक ने अपनी सहोदर बहन के साथ की हुई गम्भीर भूल पर बारह वर्ष तक इसी प्रकार आलोचना-निन्दना-गर्हणापूर्वक प्रायश्चित्त किया। जिसके फलस्वरूप उसके कितने ही पाप धुल गये। लोगों द्वारा की जाती हुई निन्दा की उसने परवाह नहीं की। उसका हृदय नम्र, स्वच्छ, सरल हो गया। फलतः उसके शरीर में आमर्श (स्पर्श) औषध नामक लब्धि उत्पन्न हो गई, फिर जो भी उसका चरण-स्पर्श करता, उसका रोग नष्ट हो जाता। हजारों रोगियों ने उससे आरोग्य प्राप्त किया।

एक अन्य घटना के अनुसार–माता-पुत्र की गम्भीर भूल के पश्चात् उनके द्वारा भी इसी प्रकार की गई तीव्र निन्दना-गर्हणा-आलोचना से तथा उन पर लोगों द्वारा बरसाये गये निन्दा, गर्हा, भर्त्सना एवं धिक्कार के बौछारों को धैर्य, स्वस्थता और समभाव से सहन करने से उनके कर्मों का क्षय हो गया, उनका जन्म-मरणरूप संसार सिर्फ दो भव का रह गया।

इस प्रकार के प्रायश्चित्त एवं पश्चात्ताप की ताकत से रथनेमि, दृढ़प्रहारी, चिलातीपुत्र, अर्जुन मुनि, इलायचीपुत्र आदि हजारों साधकों ने अपने पापकर्मों को नष्ट किया है।

गुरु आदि की साक्षी से की जाने वाली आलोचना का स्वरूप

यह तो हुआ–प्रायः आत्म-साक्षी से आलोचनादि द्वारा पश्चात्ताप तप का विवरण गुरु, गीतार्थ या महान् व्यक्ति की साक्षी से किये जाने वाली आलोचनादि तो इन सबसे प्रबल है, सांगोपांग है और सरल निश्छल हृदय से किये जाने पर संसार-सागर से पार कर देती है अथवा संसार की स्थिति को अत्यन्त ह्रस्व बना देती है। उक्त आलोचना का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ इस प्रकार है–"ज्ञानादि में या संयमादि में जो कोई भी दोष जिस किसी तरह से लगे हों, उन सबको सरल निश्छल हृदय निष्कपटभाव से गुरुजनों के समक्ष प्रकट कर देना–गुरुदेव ! मुझसे ये-ये दोष हो गये हैं, इस प्रकार दोष या दोषों को क्रमशः पश्चात्तापपूर्वक स्वीकार कर लेना आलोचना है।"[1]

१. आ = अभिविधिना सकलदोषाणां लोचना = गुरुजन-पुरतः प्रकाशना–आलोचना (आलोयणा)

आलोचना किस विधि से, किस प्रकार करनी चाहिए ?

आलोचना करने की संक्षिप्त विधि 'स्थानांगसूत्र' में इस प्रकार दी गई है– "प्रायश्चित्तेच्छुक साधक को ज्ञान में, दर्शन में और चारित्र में जिस प्रकार का दोष–अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार अथवा अनाचार में से जिस कोटि का, जैसा भी दोष लगा हो, उसकी क्रमशः आलोचना, प्रतिक्रमणा, निन्दना, गर्हणा, व्यावर्तन (निवृत्ति) करके विशोधि करनी चाहिए, पुनः वैसा न करने का संकल्प करना चाहिए तथा यथोचित प्रायश्चित्त एवं तपःकर्म स्वीकार करना चाहिए।"[1] आलोचना किस प्रकार की जाती है? इसके लिए 'ओघनिर्युक्ति' में कहा गया है– "जिस प्रकार बालक अपने द्वारा किये गये उचित-अनुचित सभी कार्यों को माता-पिता के सामने सरलभाव से कह देता है, उसी प्रकार साधक को भी गुरुजनों के समक्ष दम्भ (माया) और मद (अहंकार) से रहित होकर यथार्थरूप से अपनी आलोचना (आलोयणा) करनी चाहिए।" इसमें क्षमापना, भावना, क्षतिपूर्ति और दण्ड-प्रायश्चित्त भी समाविष्ट है। यद्यपि इस प्रकार से गुरुजनों, बुजुर्गों या समाज के समक्ष अपने दोषों का प्रकट करना भी बहुत साहस और आत्म-बल का कार्य है। तथापि आत्मार्थी और मुमुक्षु-साधक के लिए सर्वकर्ममुक्तिरूप मोक्ष के मार्ग पर निराबाधगति करने के लिए बहुत उपयोगी है।[2]

आलोचना करने वाले की अर्हताएँ

इस प्रकार से आलोचना वही कर सकता है, जिसका हृदय कोमल हो, जो पापभीरु हो, विनीत हो, सरल हो, इहलोक-परलोक सम्बन्धी अपने वर्तमान और भविष्य का विवेकपूर्वक विचार करता हो तथा जो यह सोचता है कि यदि मैंने कृत पापों की आलोचना नहीं की, उन्हें छिपाने की चेष्टा की हो तो मेरा वर्तमान और भविष्य दोनों बिगड़ेंगे, मेरी इस जीवन की सारी साधना अनशनादि तप, कायक्लेश, प्रतिसंलीनता, केशलोच, परीषह-सहन आदि समस्त क्रियाएँ बेकार हो जायेंगी, परलोक में भी मैं साधना की दृष्टि से दरिद्र और सम्भवतः दुर्लभबोधि भी

---

१. तिण्हे अतिक्कमे ···· वइक्कमे ···· अइयारे ···· अणायारे प. तं.–णाण अति-वइ-अइ-अणायारे, दंसण अति-वइ-अइ-अणायारे, चरित्त अति-वइ-अइ-अणायारे। ···· तिण्हमतिक्कमाणं ···· वइक्कमाणं ···· अतिचाराणं ···· अणायाराणं आलोएज्जा, पडिक्कमेज्जा, णिंदेज्जा, गरिहेज्जा, विउट्टेज्जा, विसोहेज्जा, अकरणयाए अब्भुट्ठेज्जा, अहारिहं पायच्छित्तं तवोकम्मं पडिवज्जेज्जा; तं जहा–णाण-दंसण-चरित्त ···· अतिक्कमस्स, वइक्कमस्स, अइयारस्स अणायारस्स।

–स्थानांगसूत्र, स्था. ३, उ. ४, सू. ४४०-४४७

२. जह बालो जंपंतो कज्जमकज्जं व उज्जुयं भणइ।
तं तह आलोएज्जा माया-मय-विप्पमुक्को उ॥

–ओघनिर्युक्ति, गा. ८०१

बनकर रहूँगा, मायाकपट करने–पाप छिपाने से स्त्रीवेद का भी बंधन हो सकता है। इस प्रकार सर्वतोमुखी विचार करके वह अपनी मानसिक तैयारी कर लेता है–आलोचना करने के लिए। आलोचना करने वाले की मनःस्थिति और योग्यता का चित्रण करते हुए शास्त्रों में उसके १० गुण बताये हैं–(१) जाति-सम्पन्न (उत्तम जाति वाला), (२) कुल-सम्पन्न (कुलीन), (३) विनय-सम्पन्न, (४) ज्ञान-सम्पन्न, (५) दर्शन-सम्पन्न (श्रद्धागुण से ओतप्रोत), (६) चारित्र-सम्पन्न (निर्मल चारित्र वाला), (७) क्षान्त (क्षमाशील, सहिष्णु तथा धीर), (८) दान्त (इन्द्रियनिग्रही), (९) अमायी (सरल-निश्छल), और (१०) अपश्चात्तापी (दोष स्वीकार कर लेने के बाद मन में पश्चात्ताप न करने वाला)। इन दस गुणों से सम्पन्न व्यक्ति पहले तो पाप–दोष करने की ओर कदम बढ़ायेगा नहीं, कदाचित् लाचारी या परिस्थितवश अज्ञान या भूल से किसी पाप, दोष या अपराध के कर लेने पर उसका मन तुरन्त गुरु आदि के समक्ष दोष स्वीकृति एवं तदनुसार प्रायश्चित्त ग्रहण करने के लिए उद्यत हो जायेगा।[1]

आलोचनादि-सम्मुख व्यक्ति भी आराधक है : क्यों और कैसे ?

आलोचना की भावना का माहात्म्य बताते हुए 'आवश्यकनिर्युक्ति' में कहा गया है–कोई साधक अपने कृत पापों की आलोचना करके प्रायश्चित्त ग्रहण करने के लिए गुरु आदि के पास जा रहा है, किन्तु यदि रास्ते में ही किसी आकस्मिक कारण से उसकी मृत्यु हो जाये, ऐसी स्थिति में वह आलोचनादि-सम्मुख साधुक प्रायश्चित्त ग्रहण किये बिना ही आराधक है, क्योंकि उसकी भावना सरल और पश्चात्ताप की थी।[2]

आलोचना से आध्यात्मिक उपलब्धियाँ

आलोचना कर लेने से व्यक्ति को क्या लाभ होता है? इस सम्बन्ध में भगवान महावीर कहते हैं–"आलोचना से मोक्षमार्ग में विघ्नकारक एवं अनन्त संसार-परिवर्द्धक मायाशल्य, निदानशल्य और मिथ्यादर्शनशल्य (तीक्ष्ण काँटों) को निकाल देता है और ऋजुभाव (सरलता) को प्राप्त होता है। ऋजुभाव-प्राप्त जीव मायारहित (निश्छल-निष्कपट) हो जाता है। फलतः वह जीव अमायी होकर स्त्रीवेद और नपुंसकवेद कर्म का बंध नहीं करता, पहले बँधा हुआ हो तो उसकी निर्जरा (क्षय) कर लेता है।" 'ओघनिर्युक्ति' के अनुसार–"जो साधक गुरुजनों के समक्ष

---

१. भगवतीसूत्र, श. २५, उ. ७; स्थानांगसूत्र, स्था. १०

२. आलोयणा-परियाओ सम्मं संपट्ठिओ गुरुसगासं।
जइ अंतरा उ कालं, करेज्ज आराहओ तहवि॥ —आवश्यकनिर्युक्ति ४

मन के समस्त शल्यों (त्रिविधभावशल्यों = काँटों) को निकालकर आलोचना-निन्दना करता है, उसकी आत्मा उसी प्रकार हलकी हो जाती है जैसे सिर पर से भार उतार देने पर भारवाहक।"[1]

आलोचनादि प्रायश्चित्त एक प्रकार की आध्यात्मिक चिकित्सा है

वस्तुतः आलोचनादिपूर्वक प्रायश्चित्त एक प्रकार की आध्यात्मिक चिकित्सा है। आत्मा में जब काम, क्रोध, लोभ, मद, मोह, मत्सर, वासना, उत्तेजना, स्वार्थवृत्ति, पद-प्रतिष्ठा-लिप्सा, संग्रह-मनोवृत्ति आदि मानसिक विकृतियों के कारण अशुभ कर्मरोग अपना डेरा जमा लेते हैं, तब उनके फलस्वरूप मन में चिन्तन, उद्विग्नता, दिमाग पर बोझ, तनाव, किंकर्त्तव्यमूढ़ता आदि उत्पन्न होने के कारण फिर हिंसा आदि अठारह पापकर्मों में से एक या अनेक जीवन में आध्यात्मिक रोग के रूप में उभर आते हैं। भगवान महावीर ने इन आध्यात्मिक व्याधियों की चिकित्सा का सुन्दर, सचोट एवं सफल मनोवैज्ञानिक उपाय सुझाया था—आलोचना, निन्दना, गर्हणा, व्यावर्तना और आत्म-शोधन से युक्त प्रायश्चित्त तपःकर्म। इस उपाय से अनेक आत्मार्थी और मुमुक्षु-साधकों ने अपनी आत्मा की चिकित्सा करके स्वस्थता, निरोगता और आत्मिक-सुख-सम्पन्नता प्राप्त की है। चूर्णि साहित्य में युक्तिसंगत दृष्टान्तों द्वारा इस तथ्य को समझाया गया है।

प्रायश्चित्त चिकित्सा और मनोकायिक चिकित्सा की प्रक्रिया

इस प्रकार हम देखते हैं कि आलोचनादि प्रायश्चित्त द्वारा कर्मरोगों की आध्यात्मिक चिकित्सा और वर्तमान युग के मनोकायिक रोगों (साइको-सोमेटिक डिजीज) की मानसिक चिकित्सा की प्रक्रिया में खास अन्तर नहीं है। वर्तमान युग में कई जटिल शारीरिक रोगों की चिकित्सा के लिए रोगी वैद्य, हकीम या डॉक्टर के पास जाता है। सब तरह की जाँच करवाता है और चिकित्सक के परामर्श के अनुसार दवा का सेवन और पथ्यपालन भी करता है, फिर भी रोग मिटने का नाम नहीं लेता। शारीरिक चिकित्सक इन रोगों पर नियंत्रण नहीं कर पाते। इसका कारण यह है कि उन रोगों का मूल कारण—ईर्ष्या, स्वार्थ, वासना, उत्तेजना, शोक,

---

१. (क) आलोयणाए णं माया-नियाण-मिच्छादंसण-सल्लाणं मोक्खमग्गविग्घाणं अणंत-संसार-बंधणाणं उद्धरणं करेइ। उज्जुभावं च जणयइ। उज्जुभाव-पडिवन्ने य णं जीवे अमाई इत्थीवेय-नपुंसगवेयं च न बंधइ। पुव्ववद्धं च णं निज्जरेइ।

—उत्तराध्ययन, अ. २९, सू. ५

(ख) उद्धरिय-सव्व-सल्लो, आलोइय-निंदिओ गुरुसगासे।
होइ अतिरेग-लहुओ, ओहरिय-भरोव्व भारवहो॥ —ओघनिर्युक्ति, गा. ८०६

चिन्ता, विषाद, आवेग, क्रोधादि आवेश, तनाव आदि मानसिक विकृतियाँ होती हैं। स्पष्ट शब्दों में कहें तो वे मनोरोग होते हैं। इन मनोरोगों का निवारण मनोवैज्ञानिक चिकित्सक ही कर पाते हैं।[1]

मनोवैज्ञानिक चिकित्सक भी मनोरोगी से सब कुछ खुलवाता है

मनोवैज्ञानिक चिकित्सक के पास ऐसा मनोकायिक रोगी जब रोग निवारणार्थ आता है, तो वह उसके हृदय में आशा, विश्वास, आश्वासन के द्वारा धैर्य जमाकर फिर उसे अपने जीवन में आये हुए उतार-चढ़ावों का विवरण दिल खोलकर कह देने को कहता है। वह उसे विश्वास दिलाता है कि "मैं तुम्हारी गुप्त से गुप्त बात किसी के सामने प्रगट नहीं करूँगा, जो कुछ हुआ है, जैसे हुआ है, अपनी स्मृति पर जोर लगाकर कहते रहो।" बीच-बीच में वह दूसरी मनोरंजक बातों से रोगी का दिल बहलाकर फिर पूछता है-"और कहो। जो कुछ २.द आये, कहते रहो।" आश्वस्त और विश्वस्त रोगी जो कुछ याद आता जाता है, कहता चला जाता है। मनश्चिकित्सक बार-बार सौम्य भाषा में उसे कहता है-"देखो भाई ! कुछ भी छिपाना मत। लोग क्या कहेंगे? मेरी प्रतिष्ठा धूल में मिल जायेगी ! लोगों में मेरे प्रति अविश्वास, अश्रद्धा का भाव बढ़ जायेगा ! इन बातों की तनिक भी परवाह मत करो। बच्चे की भाँति मेरे सामने सब कुछ प्रगट कर दो।" तभी तुम्हारे रोग का सही निदान करके उसे मिटाने में मुझे सफलता मिलेगी, तुम्हें भी शान्ति और स्वस्थता प्राप्त हो सकेगी।

थॉम्पसन का मनोरोग डॉ. ग्रोसमैन ने उनकी मानसिक चिकित्सा करके मिटाया

'ए टेक्स्ट बुक ऑफ फिजियोलोजिकल सायकोलोजी' के लेखक एस. पी. ग्रोसमैन ने एक ऐसे उदरशूल के रोगी का जिक्र किया है, जिसे प्रतिदिन अपराह्न में बारह से एक बजे तक में ही भयंकर पीड़ा होती थी। उस समय उसका सारा शरीर पीला पड़ जाता था। आँखों के कोर काले पड़ जाते; अपानवायु रुक जाती और जीवन-मरण जैसा संकट उत्पन्न हो जाता। उसने अनेक डॉक्टरों से इलाज करवाया, परन्तु रत्ती भर भी आराम न मिला। अन्त में उस व्यक्ति ने, जिसका नाम था-विन्सेंट थॉम्पसन, जो अमेरिका के बड़े उद्योगपति एवं धनाढ्य हैं, वहाँ के मनश्चिकित्सक डॉ. ग्रोसमैन से भेंट की। उसे अपनी व्याधि की कष्ट- कथा सुनाई। डॉ. ग्रोसमैन द्वारा कई तरह से कुरेद-कुरेदकर पूछने पर भी वह किसी ठोस नतीजे पर नहीं पहुँच सके। आखिर उन्होंने उसकी पत्नी से पूछताछ की। उससे इस बात

---

१. 'जैनभारती, जून १९९१' में प्रकाशित प्रायश्चित्त चिकित्सा से भाव ग्रहण, पृ. ३६५

का पता चला कि थॉम्पसन महोदय दिनभर प्रसन्न रहते हैं, किन्तु १२ बजे से १ बजे तक वे किसी विचार में खोये-खोये से प्रतीत होते हैं। मनोचिकित्सक को जरा-सा सूत्र हाथ लग गया। अतः दूसरे दिन थॉम्पसन को दृढ़ विश्वास दिलाकर कहा—"आप जरा भी छिपाये बिना जो भी, जैसी भी घटना हुई हो खोलकर रख दें।" इस पर आश्वस्त होकर थॉम्पसन ने अपनी पुरानी गाँठ खोली। उसने बताया कि प्रायः ठीक १२ बजे रैमिंजे कम्पनी के मालिक 'वान थेक्सी' उधर से निकलते हैं। हम दोनों किसी समय सहपाठी थे। जिस लड़की से मैं प्यार करता था, ज्ञात हुआ कि 'थेक्सी' भी उसमें रुचि रखते थे। अन्त में, उन्हीं के कारण उस लड़की ने मुझे अपमानित किया। तभी से 'थेक्सी' के प्रति मेरे मन में कटुता बढ़ती गई। उन्हीं के कारण मुझे एक बार व्यवसाय में घाटा उठाना पड़ा। इसी द्वेष के कारण जब भी वे सामने से गुजरते हैं, मेरी क्रोधाग्नि भभक उठती है और मैं उन्हें मार डालने तक की बात सोचने लगता हूँ।" डॉ. ग्रोसमैन को उनके मनोरोग का निदान मिल गया। उन्होंने फिजीशियन डॉ. क्लेयर्ड से विचार-विमर्श करके बताया कि क्रोध और उत्तेजना मिश्रित ईर्ष्या के दौरे के ठीक समय में उनका मानसिक शरीर दूषित हो जाता है। तभी पेट में भयंकर पीड़ा उठती है, जो एकाएक उन्हें दबोच लेती है। मूल कारण उत्तेजना मिश्रित ईर्ष्या और क्रोधरूप मनोरोग था, जिसे डॉक्टर लोग पेट में बीमारी ढूँढ़ रहे थे।

डॉ. ग्रोसमैन ने उन्हें ४ उपाय सुझाये—"(१) जुडिशस सप्रेशन—अर्थात् मन में जो भी अच्छी-बुरी बात उठे, उसका विवेकपूर्वक विश्लेषण किया करें। दूसरों को (अपने हितैषियों को) भी बताया करें। अपनी विवेकबुद्धि तीव्र रखें, ताकि छोटी से छोटी भूल पकड़ में आ जाये और पूर्वाग्रहरहित होकर सत्य, न्याय या व्यावहारिकता को ही उचित मानने का अभ्यास करें। (२) जुडिशस सब्लेगेशन—अर्थात् उस स्थिति में निषेधपूर्ण चिन्तन के स्थान पर सद्भावपूर्ण आचरण करें। जैसे कि क्षमायाचना, मैत्रीपूर्ण व्यवहार, उपहार आदि। (३) जुडिशस फोरगेटफुलनेस—बार-बार उन बातों को मन में लाने की अपेक्षा, कोई अच्छी पुस्तक पढ़ने-सुनने या किसी के साथ सात्त्विक मनोविनोद करने जैसे किसी अन्य कार्य में मन को घुलाकर उस बात को भूल जाया करें। (४) इमेजिनेशन—अर्थात् अपनी आत्मा के सम्मुख अपने आप को खड़ा करके संवेदनापूर्ण चिन्तन किया करें। उस समय अपने आप को अबोध शिशु और अपनी अन्तरात्मा को माँ मानकर उस तरह की भावना जगाया करें, जैसी माँ-बेटे के बीच होती है।" थॉम्पसन महोदय ने उनकी बात को गम्भीरता से अनुभव किया। उन्होंने माना कि दूसरों से अपने अनुकूल आचरण की आशा रखने की अपेक्षा स्वयं को बदलने के लिए उपर्युक्त ४ बातों पर चलकर शान्ति प्राप्त करनी चाहिए। फलतः उन्होंने वान

थैक्सी के यहाँ जाकर उनसे क्षमायाचना की और अब तक के विद्वेष का अन्त मैत्रीपूर्ण वार्तालाप से कर दिया। अब उनका उदरशूल आदि सब रोग मिट गया। परिवार के सब लोग उनका यह परिवर्तन देखकर प्रसन्न हुए, सभी उन्हें प्रेम की निगाह से देखने लगे। इस प्रकार की आलोचनापूर्वक प्रायश्चित्त से उनका जीवन आनन्दविभोर हो गया।

इसी प्रकार भावना क्षोभ से हुए रोग की मनश्चिकित्सा से मुक्ति की एक घटना संक्षेप में इस प्रकार है। अमेरिका के न्यूजर्सी शहर की एक युवती जब भी चर्च में जाती, उसकी बाहों में जोर की खुजली चलती, जिससे वह बेहाल हो उठती थी। उसके फैमिली डॉक्टर के इलाज से भी उसे फायदा नहीं हुआ। आखिर वह मनोवैज्ञानिक चिकित्सक 'डॉ. नारमन वीसेंट पीले' के पास गई। उन्हें अपनी व्यथा बताई। 'पीले' ने पाया कि उस युवती को यह खुजली किसी रोगाणु के संक्रमण से नहीं, किन्तु अपने आप से भीतर ही भीतर उलझते रहने से उठती है। यह दिमाग में होने वाली उथल-पुथल का परिणाम है। चर्च में आकर ही इस युवती को ऐसी खुजली क्यों परेशान करती है? यह जानने के लिए डॉ. पीले ने रोगिणी को आत्मीयता, स्नेह और सहानुभूतिपूर्ण स्वर में कुरेदते हुए पूछा-बेटी ! सच-सच कहो ! कोई भी बात छिपाना मत। विश्वास रखो। दुनियाँ में कोई भी ऐसी समस्या नहीं है, जिसका समाधान न हो सके। उनकी सहानुभूति से प्रभावित होकर युवती ने अपना सारा अतीत खोलकर रख दिया। वह किसी बड़ी फर्म में एकाउण्टेंट के पद पर कार्य करती थी और प्रायः गोलमालकर थोड़ा-थोड़ा धन चुराती थी। उसने सोचा था कि वह जल्दी ही चुराये गये पैसों को वापस कर देगी, पर वह ऐसा नहीं कर पाई। इस प्रकार उसके मन में अपराधभावना घर कर गई थी। इसके परिणामस्वरूप चर्च के पवित्र वातावरण में आते ही उसकी रक्तवाहिनी पेशियों में ऐंठन शुरू हो जाती और भावना उग्र हो जाने से खुजली चलने लगती।

मनःसंस्थान में जमी हुई मनोरोग की जड़ों को पहचानकर डॉ. पीले ने उसे सान्त्वना देकर सलाह दी कि वह फर्म के मालिक के समक्ष अपने अपराध का अथ से इति तक बयान करके मालिक जो कुछ उपालम्भ या दण्ड दे, स्वीकार कर ले तथा चुराई गई रकम को भरना शुरू कर दे। युवती ने अपनी नौकरी छूट जाने का भय बताया तो डॉ. पीले ने ढाढ़स बँधाया कि बहुत सम्भव है, तुम्हारी फर्म का मालिक तुम्हारी ईमानदारी और सचाई से प्रभावित होकर तुम्हें नौकरी से न हटाये। पर, मान लो, वह तुम्हें नौकरी से भी हटा दे तो तुम्हें अन्यत्र नौकरी मिल सकती है। नौकरी खो देने से उतनी हानि नहीं होगी, जितनी कि अपनी आत्मा और नैतिकता के आदर्श को खो देने से हो रही है।" युवती के हृदय में मनश्चिकित्सक की बात जँच गई। उसने अपनी फर्म के मालिक के सामने सारी

बातें ज्यों की त्यों खोलकर रख दीं और कहा—अब आप मुझे इसका जो भी दण्ड दें, स्वीकार होगा। परन्तु हुआ वही, जिसकी सम्भावना डॉ. पीले ने बताई थी। अर्थात् मालिक ने उसकी सचाई, ईमानदारी और नैतिक मूल्यों के प्रति जागी हुई दृढ़ निष्ठा से प्रभावित होकर उसके खिलाफ कोई कानूनी कार्यवाही नहीं की, उसे क्षमा कर दिया। इससे युवती का विक्षुब्ध हृदय और पश्चात्ताप शान्त हो गया। इस भावनाशुद्धि के परिणामस्वरूप उसके भावनाजन्य क्षोभ के अन्त हो जाने से उसे दुबारा फिर कभी खुजली नहीं उठी। यह है—मनोरोग की पश्चात्ताप, आलोचना, दोष स्वीकार आदि के कारण हुई मनश्चिकित्सा का शुभ परिणाम !

आलोचना सुनकर प्रायश्चित्त देने वाले गुरु की आठ गुणात्मक अर्हताएँ

जिस प्रकार मनोवैज्ञानिक चिकित्सा की प्रक्रिया में मनोकायिक रोगी अपने जीवन में हुई भूलों को ज्यों का त्यों रख देता है, उसी प्रकार आध्यात्मिक चिकित्सा की प्रक्रिया में भी आत्मार्थी मुमुक्षु-साधक निन्दना-गर्हणापूर्वक अपनी भूलों को दिल खोलकर योग्य गुरु या योग्य गीतार्थ स्थविर आदि में से किसी के समक्ष आलोचना करता है—दोष प्रकट कर देता है। अपने दोषों की आलोचना किस विश्वस्त गुरुजन के समक्ष की जाये, उसके लिए व्यवहारसूत्र में उसकी आठ गुणात्मक अर्हताएँ बताई गई हैं—

(१) वह आचारवान् हो।

(२) वह आधारवान् हो—उसकी स्मृति, अवधारणा स्थिर हो, सुनी हुई बात को ठीक से ग्रहण करके गम्भीरतापूर्वक विचार करने वाला हो।

(३) वह व्यवहारवान् हो—आगम, श्रुत, आज्ञा, धारणा और जीत व्यवहार, इन पाँचों व्यवहारों का, ज्ञाता हो तथा उत्सर्ग-अपवाद का, प्रवृत्ति-निवृत्ति आदि का यथोचित व्यवहार करता हो।

(४) अपव्रीडक हो, अर्थात् यदि आलोचना करने वाला लज्जावश अपने दोषों को छिपाने की चेष्टा करने लगे तो वह आत्मीयता, सहानुभूति और मधुरतापूर्वक आश्वासन एवं विश्वास देकर उसकी लज्जा, संकोच, हिचक या शंका को दूर करके उससे यथार्थ आलोचना कराने वाला हो। वह इस प्रकार अनुरोध की भाषा में कहे—"देखो, वत्स ! दोष हुआ है या भूल हो गई है, तो घबराओ मत। उसे मेरे सामने खोलकर रख दो। कुछ भी छिपाना मत। छिपाओगे तो (कर्मों की) नई गाँठ बन जायेगी। नहीं छिपाओगे तो जो गाँठ बनी है, वह खुलती चली जायेगी। प्रतिष्ठाभंग, निन्दा, लोक-लज्जा, अपमान आदि की बातें मन से निकाल दो। विशुद्ध चित्त से भूल की प्रक्रिया को आद्योपान्त कह दो।"

(५) प्रकुर्वक हो–आलोचित दोषों को प्रायश्चित्त तत्काल देकर अपराध की शुद्धि (आत्म-शुद्धि) कराने में समर्थ हो।

(६) अपरिस्रावी हो–गम्भीर हो, आलोचना करने वाले के दोषों को दूसरे किसी के भी सामने प्रकट करने वाला न हो।

(७) निर्यापक हो–यदि किसी ने गुरुतर दोष किया हो, किन्तु शरीर से अशक्त, रोगी या पीड़ित हो, उसे उसकी शक्ति के अनुसार प्रायश्चित्त देकर शुद्धि कराने वाला हो।

(८) अपायदर्शी हो–दोष छिपाने वाले को आलोचना न करने तथा दोष को छिपाने के शास्त्रोक्त दुष्परिणाम समझाकर आलोचना कराने में निपुण हो।[1]

जिस प्रकार मनोवैज्ञानिक चिकित्सक मनोरोगी के द्वारा आलोचना सुनकर उसकी स्थिति एवं कारणों का विश्लेषण करके उसकी यथायोग चिकित्सा के निर्देश देता है, तदनुसार आचरण करके मनोरोगी की आत्मा स्वस्थ एवं शुद्ध हो जाती है। उसी प्रकार अध्यात्मरोग के चिकित्सक गुरु या गीतार्थ साधु भी मुमुक्षु आत्मा से आलोचनादि सुनकर जिस कोटि के दोष का अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार या अनाचार के रूप में सेवन किया है, तदनुसार प्रायश्चित्त का निर्देश करता है, तदनुसार आचरण करने से उस साधक की आत्मा भी शुद्ध और स्वस्थ हो जाती है। 'मनुस्मृति' में कहा गया है–"जैसे-जैसे मनुष्य अपना अधर्म (पापदोष) लोगों या गुरुजनों के समक्ष यथार्थ रूप से प्रकट करता है, वैसे-वैसे ही वह अधर्म से उसी प्रकार मुक्त होता जाता है, जैसे साँप केंचुली से।" 'पाराशर स्मृति' में भी इसी तथ्य का समर्थन किया गया है–"पापाचरण हो जाने पर उसे छिपाना नहीं चाहिए। छिपाने से वह बढ़ता जाता है। पाप छोटा हो या बड़ा, किसी गम्भीर धर्मवेत्ता के समक्ष निवेदन कर देना चाहिए। इस प्रकार पाप को प्रगट कर देने से वे अध्यात्मवैद्य (चिकित्सक) उसी प्रकार पापों को नष्ट कर देते हैं, जिस प्रकार बुद्धिमान् वैद्य रोगी के रोग को चिकित्सा द्वारा समूल नष्ट कर देते हैं।"[2]

---

१. भगवतीसूत्र, श. २५, उ. ७; स्थानांगसूत्र, स्था. ८

२. (क) यथा यथा नरोऽधर्मं स्वयं कृत्वाऽनुभाषते।
तथा तथा त्वचेवाहिस्तेनाऽधर्मेण मुच्यते॥ –मनुस्मृति

(ख) कृत्वा पापं न गुह्येत् गुह्यमानं विवर्धते।
स्वल्पं वाऽथ प्रभूते वा, धर्मविदे तन्निवेदयेत्॥
ते हि पापे कृते वैद्या, हन्तारश्चैव पाप्मनाम्।
व्याधितस्य यथा वैद्या बुद्धिमन्तो रुजापहाः॥ –पाराशर स्मृति

प्रायश्चित्त तप के दस प्रकार और उनका स्वरूप

पूर्वोक्त आठ गुणों से युक्त गम्भीर हृदय आध्यात्मिक चिकित्सक गुरु आदि अध्यात्म-दोष से युक्त कर्मरोगी से आलोचनादि सुनकर उसकी मनोवृत्ति, इरादा, कारण, शक्ति, क्षमता, मन:स्थिति, परिस्थिति आदि देख-परखकर ही उस कोटि का प्रायश्चित्त देते हैं। 'स्थानांगसूत्र' में प्रायश्चित्त के दस प्रकार बताये हैं

(१) आलोचनार्ह प्रायश्चित्त वह है, जहाँ गुरु या विश्वस्त व्यक्ति के समक्ष अपने दोषों की निष्कपटभाव से आलोचना (आत्म-निन्दना, गर्हणा, क्षमापना) से शुद्धि हो जाती है।

(२) प्रतिक्रमणार्ह प्रायश्चित्त वह है, जहाँ अपने दोषों की शुद्धि मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और अशुभ योग, इन पाँचों के रूप में स्वयं वर्गीकरण करके भूत, भविष्य और वर्तमानकाल का प्रतिक्रमण करने से हो जाती है।

(३) तदुभयार्ह प्रायश्चित्त में आलोचना और प्रतिक्रमण दोनों होते हैं।

(४) विवेकार्ह प्रायश्चित्त वहाँ होता है, जहाँ गुणों के साथ थोड़ा-सा दोष प्रविष्ट हो गया हो, उसे निकाल देना-पृथक् कर देना।

(५) व्युत्सर्गार्ह प्रायश्चित्त–जिस वस्तु का त्याग किया हो, भूल से वह वस्तु ग्रहण कर ली हो तो फिर उस वस्तु को आजीवन ग्रहण करने का त्याग (व्युत्सर्ग) करना अथवा किसी की चोरी की हो, बाद में पश्चात्तापपूर्वक आलोचनादि करके सदा के लिए चोरी का त्याग करना, उस व्यक्ति की क्षतिपूर्ति करना।

(६) तपस्यार्ह प्रायश्चित्त–जहाँ किसी अपराध या दोष की शुद्धि किसी अर्थ या पदार्थ के त्याग से नहीं होती, उनके लिए शास्त्रविहित या आचार्य द्वारा नियत तप करने से ही शुद्धि होती है। फिर वह तप बाह्य हो या आभ्यन्तर, प्रायश्चित्त दाता पर निर्भर है।

(७) छेदार्ह प्रायश्चित्त–बड़ी हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्मचर्य आदि व्रतों या महाव्रतों में कोई दोष या अपराध होने पर उक्त साधक के दीक्षा-पर्याय का छेद कर दिया जाता है।

(८) मूलार्ह प्रायश्चित्त वहाँ होता है, जहाँ अपराध या दोष अनाचार की कोटि में पहुँच जाता है। उसे नये सिरे से महाव्रत या अणुव्रत का ग्रहण कराया जाता है।

(९-१०) अवस्थाप्यार्ह तथा पाराञ्चिकार्ह प्रायश्चित्त बड़े ही कठोर हैं। जो साधक ढीठ बनकर अपने महाव्रतों का बार-बार भंग करता है, उसे संघ बहिष्कार, उक्त क्षेत्र से बहिष्कार, समाज का असहकार तथा अमुक कठोर तपश्चरण आदि के रूप में प्रायश्चित्त दिया जाता है।

प्रायश्चित्ततप द्वारा सर्वांगीण रूप से पापों का प्रक्षालन होकर आत्म-शुद्धि, सकामनिर्जरा तथा मोक्ष तक की उपलब्धि तभी हो सकती है, जब स्वेच्छा से साधक निन्दना-गर्हणा-प्रतिक्रमणादिपूर्वक आलोचना करे। स्वेच्छा से आलोचना न करने पर सामाजिक या राष्ट्रीय अथवा आध्यात्मिक संघीय व्यवस्था के लिए आचार्यादि उसे दण्ड देते हैं, दण्ड न लेने पर संघ से निष्कासित भी कर देते हैं।[1]

जाहिर सभा में आलोचना प्रायश्चित्त की प्रक्रिया

कई बार किसी साधक द्वारा दोष हो जाने पर आलोचना करने की या जाहिर में दोष प्रगट करने की इच्छा होते हुए भी मनोदौर्बल्य के कारण उसका साहस नहीं होता; तब दूसरे किसी विश्वस्त व्यक्ति द्वारा उसका दोष सभा में जाहिर किया जाता है, उसे उस समय उपस्थित रहना जरूरी होता है। महात्मा गांधी जी के आश्रम में आश्रमवासी से कोई दोष या अपराध हो जाता तो या तो वह प्रार्थना के समय पश्चात्तापपूर्वक अपने दोष का विवरणपूर्वक प्रकट करता अथवा जाहिर में अपने दोष प्रकट करने की हिम्मत न होती तो उसके बदले उसका कोई विश्वस्त साथी विवरणपूर्वक जाहिर करता था और गांधी जी द्वारा निर्धारित प्रायश्चित्त लेकर शुद्ध हो जाता। इस प्रकार प्रायश्चित्त जीवन की सर्वांगीण शुद्धि का सार्वभौम उपाय है।

---

१. (क) भगवतीसूत्र २५/७
(ख) स्थानांगसूत्र, स्था. १०
(ग) 'आश्रमसंहिता' से भाव ग्रहण

१२

आभ्यन्तरतप के सन्दर्भ में–

निर्जरा, मोक्ष या पुण्य-प्रकर्ष के उपाय : विनय और वैयावृत्यतप

प्रायश्चित्त के पश्चात् विनयतप का क्रम क्यों ?

आभ्यन्तरतप में प्रायश्चित्त के बाद विनयतप का क्रम रखा गया है। यह क्रम इसलिए रखा गया है कि प्रायश्चित्ततप के द्वारा जब मन, बुद्धि, चित्त और हृदयरूपी अन्तःकरण की गाँठें खुल जाती हैं, दुराव, छिपाव और माया के कारण होने वाली कर्मग्रन्थियों से साधक विमुक्त हो जाता है, सरलभाव से प्रायश्चित्त द्वारा आत्मा पर आई हुई अशुद्धि को दूर कर लेता है, तब उस आत्मा को अपने ज्ञान आदि आत्म-गुणों पर आये हुए मानकषाय के आवरण को दूर करना आवश्यक होता है। विनयतप मानकषाय की गाँठ को तोड़ने का अपूर्व आभ्यन्तरतप है। विनयतप की प्रक्रिया अहं की गाँठ को तोड़ती है। अहं की ग्रन्थि इतनी तीव्र और जटिल होती है कि यह आत्मार्थी और मुमुक्षु-साधक को पद-पद पर ज्ञानादि आत्म-गुणों की साधना में बाधक बनती है। विनयतप द्वारा अहं का विसर्जन किया जाता है। जिससे आत्मा पर छाये हुए कर्मावरण दूर हो जाते हैं, कर्मों की निर्जरा होने से आत्मा की निर्मलता बढ़ती है।

विनय का अर्थ और परिष्कृत लक्षण

इसी कारण 'स्थानांग वृत्ति' में विनय का अर्थ शब्दशास्त्र की दृष्टि से किया गया है जिससे आठ कर्म विशेष रूप से दूर होते हैं या किये जाते हैं, जिससे चार गतियों के अन्त करने वाले मोक्ष की उपलब्धि होती है, इसलिए उन्हें संसार का अन्त करने वाले सर्वज्ञ वीतराग पुरुषों ने विनय कहा है। 'भगवती आराधना' के अनुसार–"अहंकारादिजनित कर्ममल का विलय–नाश करता है, इसलिए विनय कहलाता है। तथैव अशुभ क्रियाएँ ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप के अतिचार = दोष हैं (ये अशुभ क्रियाएँ ज्ञानादि की शक्ति के प्रकटीकरण में बाधक होती हैं), इन्हें हटाना विनय है।" 'कार्तिकेयानुप्रेक्षा' में विनय का विधायक स्वरूप बताते हुए कहा है–"दर्शन, ज्ञान, चारित्र के विषय में तथा बारह प्रकार के तप के विषय में

जो सुविशुद्ध परिणाम होता है, वही उनका विनय है।'' 'सागार धर्मामृत' के अनुसार ''सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक्तप के दोषों को दूर करने के लिए मुमुक्षु जन जो कुछ विशिष्ट प्रयत्न या पुरुषार्थ (पराक्रम) करते हैं, उसे विनय कहते हैं और इस पुरुषार्थ में शक्ति को न छिपाकर यथाशक्ति आचरण करते रहना विनयाचार है।'' 'चारित्रसार' में कहा गया है-''कषायों और इन्द्रियों को नमाना-नम्र करना विनय है।'' 'राजवार्तिक' के अनुसार-''मोक्ष के साधनभूत सम्यग्ज्ञानादि में तथा उनके साधक (निर्ग्रन्थ) गुरु आदि के प्रति अपनी योग्य रीति नीति के अनुसार आदर-सत्कारादि करना तथा कषाय की निवृत्ति करना विनय-सम्पन्नता है।'' 'प्रवचनसार वृत्ति' के अनुसार-''स्वकीय निश्चयरत्नत्रय की शुद्धि निश्चयविनय है और उनके आधारभूत आचार्य आदि के प्रति भक्ति के परिणाम व्यवहारविनय हैं।''[1]

'कषायपाहुड' के अनुसार-''गुणाधिक (गुणवृद्ध) पुरुषों के प्रति नम्रवृत्ति रखना विनय है।'' 'धवला' के अनुसार-''रत्नत्रयधारक पुरुषों के प्रति नम्रवृत्ति धारण करना विनय है।'' 'सर्वार्थसिद्धि' में भी कहा गया है-''पूज्य पुरुषों का आदर करना विनय है।''[2]

विनय के तीन अर्थ प्रतिफलित होते हैं

इन सब लक्षणों को देखते हुए विनय के मुख्यतया तीन अर्थ प्रतिफलित होते हैं-(१) आत्मा के निजी गुणों में आगत दोषों को दूर करना और सम्यग्ज्ञानादि

---

१. (क) जम्हा विणयइ कम्मं अट्ठविहं चाउरंतमोक्खाय।
तम्हा उ वयंति विउ विणयं ति विलीणसंसारा॥ —*स्थानांग, स्था. ६ वृत्ति*
(ख) विलयं नयति कर्ममलमितिविनयः। —*भगवती आराधना, वि. ३००/५११/२१*
(ग) ज्ञान-दर्शन-चारित्र-तपसामतीचार अशुभक्रियाः, तासामपोहनं विनयः।''—*वही ६/१२/२३*
(घ) दंसण-णाण-चरित्ते सुविसुद्धो जो हवेइ परिणामो।
बारस भेदे वि तवे, सोच्चिय विणओ हवे तेसिं॥ —*कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गा. ४५७*
(ङ) सुदृग्धी-वृत्त-तपसा मुमुक्षोर्निर्मलीकृती।
वत्नो विनय, आधारो वीर्याच्चक्षुःस्वेषु तु॥ —*सागार धर्मामृत ७/३५*
(च) कषायेन्द्रिय-विनयनं विनयः। —*चारित्रसार १४७/५*
(छ) सम्यग्ज्ञानादिषु मोक्षसाधनेषु, तत्साधकेषु गुर्वादिषु च स्वयोग्यवृत्या सत्कार आदरः, कषायनिवृत्तिर्वा विनयसम्पन्नता। —*राजवार्तिक ६/२४/२/२२९*
(ज) स्वकीय-निश्चय-रत्नत्रय-शुद्धिर्निश्चयविनयः।
तदाधारपुरुषेषु भक्तिपरिणामो व्यवहारविनयः॥ —*प्रवचनसार ता. वृ. २२५/३०६*

२. (क) गुणाधिकेषु नीचैर्वृत्तिर्विनयः। —*कषायपाहुड १/१-१/९०/११७*
(ख) रत्नत्रयवत्सु नीचैर्वृत्तिर्विनयः। —*धवला १३/५, ४/२६/६३*
(ग) पूज्येष्वादरो विनयः। —*सर्वार्थसिद्धि ९/२०/४३९/७*

आत्म-गुणों में निष्ठा, भक्ति और बहुमानपूर्वक प्रवृत्ति होना, सम्यग्ज्ञानादि में विशिष्ट पराक्रम करना, सुविशुद्ध परिणाम रखना। (२) आत्म-गुणों की प्राप्ति में बाधक कषायों और इन्द्रिय-विषयों, अशुभ योगों तथा राग-द्वेषादि के कारण बँधे हुए पाप-कर्ममलों को तथा रत्नत्रय के अतिचारों (दोषों) को हटाना, नष्ट करना। (३) ज्ञान-दर्शन-चारित्र गुणों में आगे बढ़े हुए तथा इनके शिखर पर पहुँचे हुए आचार्यादि गुरुओं के प्रति भक्ति, बहुमान, आदर, नम्रता, धारण करना, उनके अनुशासन में रहना।

अहं की गाँठ खुले बिना कोई तार नहीं सकता

मनुष्य कितना ही पढ़-लिख ले, कितनी ही भौतिक विद्याओं, विविध भाषाओं को जान ले और कितने ही शास्त्रों को घोंट ले, जब तक उसकी अहं की व मद और अभिमान की गाँठ न खुले, जब तक उसमें विनय, बहुमान और नम्रता के परिणाम न आएँ, तब तक वे विद्याएँ, शिक्षाएँ, भाषाएँ और शास्त्र उसे तार नहीं सकते, न ही त्राण दे सकते हैं और न उसे ज्ञानादि या ज्ञानादि के श्रेष्ठ साधक ही तार सकते हैं।

विनय के सात प्रकार और इन सबमें अहंकार बाधक

स्थानांगसूत्र, भगवतीसूत्र तथा औपपातिकसूत्र में विनय के सात प्रकार बताए गये हैं। यथा—(१) ज्ञानविनय, (२) दर्शनविनय, (३) चारित्रविनय, (४) मनोविनय, (५) वचनविनय, (६) कायविनय, और (७) लोकोपचारविनय।[1]

'तत्त्वार्थसूत्र' में ज्ञान-दर्शन-चारित्र और उपचारविनय, यों ४ ही प्रकारों में गतार्थ कर दिये हैं। विनय के इन सातों ही प्रकारों में सर्वत्र अहंकार-विसर्जन का स्वर ही मुखर प्रतीत होता है। इन सातों में ही अहं बाधक बनता है। अहंकार से ग्रस्त व्यक्ति सम्यग्ज्ञान को स्वीकार नहीं कर पाता। वह अपने जाने-माने और परम्परा से गृहीत गलत बात को भी पकड़े रहता है। 'मेरा सो सच्चा'; यही उसका अहंग्रस्त स्वर होता है, 'सच्चा सो मेरा' इस सत्यतथ्य को स्वीकार करने से वह कतराता है। अहं से ग्रस्त व्यक्ति की दृष्टि भ्रान्त और गलत होती है। अहं उसके सम्यग्दर्शन में भी बाधक बनता है। इसी प्रकार सम्यक्चारित्र = सत्याचरण में भी अहं बाधक बनता है। अहंकार मन की ऋजुता = भावों की सरलता एवं पवित्रता

---

१. (क) सत्तविहे विणए पण्णत्ते, तं जहा-णाणविणए, दंसणविणए, चरित्तविणए, मणविणए, वइविणए, कायविणए, लोगोवयारविणए। —भगवतीसूत्र, श. २५, उ. ७
(ख) स्थानांगसूत्र, स्था. ७, उ. ५
(ग) औपपातिकसूत्र : तपोवर्णन

में बाधक बनता है, वाणी की–भाषा की ऋजुता और पवित्रता में बाधक बनता है, तथैव काया की ऋजुता और पवित्रता में तथा शिष्टाचार और नम्र-व्यवहार में भी अहंकार बाधक बनकर खड़ा हो जाता है। जब तक अहं की ग्रन्थि नहीं खुलती है, मानकषाय मन्द नहीं होता, अष्टविध मदों में से किसी भी मद से मन-वचन-काय ग्रस्त रहता है, तब तक ज्ञान, दर्शन, चारित्र तथा मन-वचन-काय की सरलता, पवित्रता तथा चित्त की निर्मलता उपलब्ध नहीं होती। इसी प्रकार जहाँ तन-मन में अहं तनकर खड़ा हो, वहाँ पूज्य पुरुषों, गुणाधिक महान् आत्माओं तथा समाज के योग्य गुणी व्यक्तियों के प्रति नम्रता, शिष्टता, विनीतता का व्यवहार या उपचार भी तथा उनके प्रति विनय के शास्त्रोक्त विविध व्यवहारों में बहुत ही विघ्न-बाधाएँ आती हैं। उन महापुरुषों से वह ज्ञान, दर्शन आदि का कोई भी लाभ नहीं ले सकता, विनय के अभाव में।

ज्ञानादि सप्तविधविनय का स्वरूप एवं फलितार्थ

(१) ज्ञानविनय–आलस्यरहित होकर श्रद्धा, निष्ठा, आदर और भक्ति के साथ सम्यग्ज्ञान प्राप्त करना, सम्यग्ज्ञान के मूल स्रोत, श्रुतज्ञान की प्राप्ति में निमित्त जिनोक्त शास्त्रों, आगमों, ग्रन्थों आदि का अध्ययन, मनन करके ज्ञान प्राप्त करना, प्रत्येक प्रवृत्ति में ज्ञायकभाव (ज्ञाताभाव) रखने, ज्ञानोपयोग करने का अभ्यास करना, पढ़े हुए ज्ञान का बार-बार चिन्तन-मनन करना, तत्त्वज्ञानचर्चा करके उसे स्मृति में दृढ़ करना तथा सम्यग्ज्ञान के प्रति अश्रद्धा, अविनय, आशातना प्रगट न करना, मिथ्याज्ञान से दूर रहना ज्ञानविनय है। साथ ही मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्याय और केवलज्ञान, इन सम्यग्ज्ञान के पाँच प्रकारों पर श्रद्धा–विश्वासपूर्वक चिन्तन-मनन करके अपने मतिश्रुतज्ञान को निर्मल करने का अभ्यास करना पंचज्ञानविनय है। सम्यग्ज्ञान-प्राप्ति के साधनों तथा सम्यग्ज्ञान-प्राप्ति में प्रबल निमित्त ज्ञानीजनों पर श्रद्धा-भक्ति-बहुमान रखना, उनकी आशातना-अविनय-अभक्ति न करना। उनसे विनयपूर्वक विधियत् ज्ञान का ग्रहण एवं अभ्यास करना ज्ञानविनय है। गुणियों की अपेक्षा भी ज्ञानविनय के पाँच भेद माने जाते हैं।

ज्ञानी पुरुषों के प्रति विनयभाव न होने से, अविनयपूर्ण व्यवहार होने पर ज्ञान फलीभूत नहीं होता, अहंकार के कारण आशातना और अकृतज्ञता के कारण ज्ञानावरणीय कर्म छूटने के बजाय उलटे बँध जाता है। भविष्य में जिसका फल अज्ञानता और मूढ़ता, मूकता एवं मंदबुद्धि आदि के रूप में मिलता है। अतः विद्या और शिक्षा के साथ विनय अत्यावश्यक है।

'सूत्रकृतांगसूत्र' में उल्लेख है–एक बार उदक पेढालपुत्र नामक पार्श्वनाथ-संतानीय अनगार कुछ जिज्ञासा लेकर गणधर गौतम स्वामी के पास आया।

अध्ययन तो उसने किया था, किन्तु विनय आदि व्यवहार में वह निपुण नहीं था। गौतम स्वामी ने उसकी जिज्ञासा का समाधान बहुत ही स्नेह-सौहार्द के साथ किया, जिससे वह सन्तुष्ट भी हुआ, किन्तु वह उनके प्रति कृतज्ञता प्रगट किये बिना ही जाने लगा। तब गौतम स्वामी ने उसे मधुर वचनों से कहा-"आयुष्मन् ! किसी से धर्म का तथा हित-शिक्षा का एक भी वचन सुनने को मिले तो क्या उसके प्रति ऐसा व्यवहार करना उचित है?" यह सुनकर उदक पेढालपुत्र अनगार ने विनयपूर्वक कहा-"भंते ! मुझे इस विषय में कुछ भी अनुभव नहीं है। कृपया आप मुझे मार्गदर्शन करिये।" गौतम स्वामी ने कहा-"हे उदक ! तथारूप श्रमण या माहन से एक भी आर्य सुवचन (हित-शिक्षा का एक भी बोल) सुनने को मिले तो उनके प्रति (कृतज्ञता प्रगट करने हेतु) पूज्य बुद्धि के साथ नमस्कार करना चाहिए, उनका सत्कार-सम्मान करना चाहिए।"[1] यह है ज्ञानविनय का फलितार्थ ! 'दशवैकालिकसूत्र' में भी कहा है-"जिससे धर्म का एक पद भी सुनने-सीखने को मिले, उसका विनय-सत्कार करके कृतज्ञता प्रगट करना चाहिए।"[2]

दर्शनविनय का परिष्कृत स्वरूप

(२) दर्शनविनय-देव, गुरु, धर्म तथा जिनोक्त तत्त्वों के प्रति दृढ़ श्रद्धा, भक्ति, निष्ठा रखना। सम्यक्त्व के ६७ बोलों को जानकर तदनुसार आचरण करना, मिथ्यात्व के विविध प्रकारों और कारणों को जानकर उनसे आत्मा को बचाना, सम्यग्दर्शन का निश्चय और व्यवहार दोनों दृष्टियों से आदरपूर्वक विचार करके दर्शनाचार में प्रवृत्त होना। व्यवहार सम्यग्दर्शन के शंकादि ५ अतिचारों तथा चल, मल और अगाढ़ दोषों से बचना तथा आठ अंगों का आचरण करना दर्शनविनय का स्वरूप है।[3]

दर्शनविनय के मूल और उत्तर भेद

सम्यग्दर्शन गुण में निष्ठावान तथा आगे बढ़े हुए दर्शन गुणियों की अपेक्षा दर्शनविनय के मुख्य दो भेद हैं-(१) शुश्रूषाविनय, और (२) अनाशातनाविनय। शुश्रूषाविनय के अनेक प्रकार 'औपपातिकसूत्र' में बताए हैं-शुद्ध सम्यग्दृष्टि जनों तथा गुरुजनों आदि के आने पर खड़ा होना, उन्हें बैठने के लिए आसन का आमंत्रण देना, वस्त्रपात्र आदि योग्य वस्तुओं से गुरुजनों का स्वागत-सम्मान करना,

---

१. सूत्रकृतांगसूत्र, श्रु. २, अ. ७, सू. २७

२. जस्सतिए धम्मपयाइं सिक्खे, तस्संतिए वेणइयं पउंजे।

—दशवैकालिक, अ. ९, उ. १, गा. १२

३. 'तत्त्वार्थसूत्र विवेचन' (उपाध्याय केवल मुनि) से भाव ग्रहण, पृ. ४३१

उनके गुणों की स्तुति–गुणगान करना यथायोग्य वन्दना-सुखसाता-पृच्छा करना, गुरुजनों के समक्ष हाथ जोड़कर बैठना, उनकी सेवा-शुश्रूषा करना, उनके आगमन की सूचना मिलने पर स्वागत के लिए सम्मुख जाना, वे विराजें वहाँ तक आहार-पानी आदि से सेवा करना, विहार करें तब दूर तक उनके साथ जाना; यह शुश्रूषाविनय का स्वरूप है। दर्शनविनय का दूसरा रूप है–अनाशातनाविनय। इसका सीधा-सा अर्थ है–देव, गुरु और धर्म इस श्रद्धेय पूज्य त्रिपुटी की आशातना यानी अवहेलना, अवमानना अथवा अशिष्टता से युक्त व्यवहार न करना। आशातना का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है–आ अर्थात् ज्ञानादि गुणों की आय = लाभ या प्राप्ति का मार्ग, शातना = खण्डित कर देना = रोक देना, ठप्प कर देना। अथवा आ = चारों ओर से पूज्यों को शातना देना = कष्ट पहुँचाना आशातना है। ऐसी आशातना न करना अनाशातना है। अनाशातनाविनय के कुल ४५ भेद होते हैं–(१) अरिहन्त, (२) अरिहन्त प्ररूपित धर्म, (३) आचार्य, (४) उपाध्याय, (५) स्थविर, (६) कुल, (७) गण, (८) संघ, (९) क्रियावादी (जीव-अजीव आदि तत्त्वों पर श्रद्धाशील), (१०) संभोगी (समनोज्ञ तथा सम समाचारी वाले साधु-साध्वीगण), तथा (११ से २५) मतिज्ञान आदि पंचविधज्ञान के धारक। इस प्रकार इन १५ की आशातना न करना, उनकी भक्ति करना और उनकी स्तुति करना, यों १५ भेदों के इन तीन-तीन को गुणित करने से १५ × ३ = ४५ भेद अनाशातनाविनय के होते हैं।[1]

दर्शनविनय से संवर, निर्जरा, मोक्ष और पुण्यवृद्धि का सरलतम उपाय

पिछले निबन्ध में बताया गया था कि पूर्वबद्ध कर्म जब तक अबाधाकाल (सत्ता = या सुषुप्ति) में पड़ा है, तब तक उसे प्रायश्चित्ततप (के आलोचनादि अंगों) से शौर्यपूर्वक खत्म कर देना चाहिए। परन्तु जिनमें इतना मनोबल या आत्म-बल नहीं है कि वे पूर्व-कर्मों को अबाधाकाल में समाप्त कर सकें और न ही खूँख्वार अशुभ कर्मों के उदय में आ जाने पर समभाव से–समाधिपूर्वक सहन करने की शक्ति है, ऐसे मनुष्यों के लिए देवाधिदेव भगवान महावीर ने गणधर गौतम द्वारा ऐसा प्रश्न पूछने पर एक मध्यममार्ग बताया है–पूर्वोक्त दर्शनविनय के अन्तर्गत बताए गए १५ प्रकार के पूज्यों या गुणाधिकों के प्रति अनाशातना, भक्ति और स्तुति का तथा दशविध वैयावृत्यतप के अन्तर्गत प्ररूपित वैयावृत्य का।[2]

---

१. (क) औपपातिकसूत्र : तपवर्णन
(ख) 'मोक्षप्रकाश' (श्री धन मुनि जी) से भाव ग्रहण
(ग) 'जैनधर्म में तप' से भाव ग्रहण
(घ) 'धर्मसंग्रह' में भक्ति, बहुमान और वर्णवाद (गुणग्रहण) ये तीन तथ्य हैं
(ङ) आशातना णामं नाणादि-आयस्स सातणा। –आवश्यकचूर्णि (जिनदासगणि)

२. स्थानांगसूत्र

प्रश्न होता है, दर्शनविनय अथवा वैयावृत्य से ऐसे मनोदुर्बल व्यक्तियों को अशुभ (पाप) कर्मों के फलस्वरूप प्राप्त होने वाले दुःख, रोग, अशान्ति, आधि, व्याधि, उपाधि, विपत्ति आदि की समस्याएँ कैसे हल होंगी? इसका समाधान यह है कि दर्शनविनय के अन्तर्गत पूज्यजनों या गुणाधिकों की भक्ति, स्तुति एवं अनाशातनाविनय से अशुभ कर्मों का निरोध होने से शुभ योग-संवर तथैव उत्कृष्टभाव से पुण्यवृद्धि होने से पापकर्मों का नाश हो सकेगा। वैयावृत्य में उत्कृष्ट रसायन आने से तीर्थंकर नामगोत्ररूप सर्वाधिक पुण्यराशि का उपार्जन भी हो सकता है और इनमें परमात्मभावों तथा आत्म-गुणों में रमणता की या अनुप्रेक्षाभावना से भावित होने पर निर्जरा भी हो सकती है। कहा भी है-जिनेश्वरों की भक्ति से पूर्व उपार्जित कर्म नष्ट हो जाते हैं, क्योंकि गुणप्रकर्ष का बहुमान कर्मरूपी वन को जलाने के लिए दावानल-तुल्य है।[1]

नवकारमंत्र की चूलिका में तो स्पष्ट बताया गया है-"एसो पंच णमुक्कारो, सव्व पाव प्पणासणो।"-इन पंचविध परमेष्ठियों को किया हुआ नमस्कार समस्त पापों का विनाशक है। साथ ही 'उत्तराध्ययनसूत्र' में बताया है (पूज्यजनों, गुणाधिकों या गुरुजनों के) स्तव (भक्तिबहुमानपूर्वक गुणगान) और स्तुति (स्तोत्र आदि के रूप में गुणोत्कीर्तन) रूप (भाव) मंगल से जीव का ज्ञान (मतिश्रुतादि सम्यग्ज्ञान), दर्शन (क्षायिकादि सम्यक्त्वरूप दर्शन), विरतिरूप चारित्र का बोधिलाभ (जिनोक्त धर्मबोध की प्राप्ति) प्राप्त होता है। ज्ञान-दर्शन-चारित्ररूप बोधि के लाभ से सम्पन्न जीव अन्तक्रिया (सर्वकर्ममुक्ति) के योग्य अथवा (कल्प) वैमानिक देवों में उत्पन्न होने योग्य आराधना कर पाता है।" इसी प्रकार शुश्रूषाविनय के सन्दर्भ में भी कहा गया है-गुरुओं (अपने से गुणाधिक गुरुजनों = पूज्यों या विशिष्ट चारित्रात्माओं) और साधर्मिकों (धर्म-संघ, कुल, गण एवं समान धर्मा आत्माओं) की शुश्रूषा से जीव विनयप्रतिपत्ति (उनकी वर्णश्लाघा = गुणगुरुव्यक्ति की प्रशंसा, संज्वलन = गुणप्रकाशन, भक्ति = हाथ जोड़ना, आदर देना आदि और बहुमान = आन्तरिक प्रीति विशेष रूप चार अंगों से युक्त विनय के प्रारम्भ या अंगीकार) को प्राप्त होता है। विनय-प्रतिपन्न व्यक्ति (परिवाद = अवमाननादि) आशातना से रहित स्वभाव वाला होकर नारक, तिर्यंच, मनुष्य और देव (मनुष्यों में भी म्लेच्छता, अंगविकलता, दरिद्रता आदि) तथा देव-भव में किल्विषापन आदि) दुर्गतियों का निरोध कर देता है तथा (पूर्वोक्त गुणाधिकों या

---

१ (क) 'देवाधिदेवनु कर्मदर्शन' में छठा लेख 'पुण्य साथे लड़ावी मारो' से भाव ग्रहण
(ख) भत्तीए जिणवराणं खिज्जंति पुव्व-संचिय कम्मा।
गुण-पगरिस-बहुमाणो कम्मवण-दवाणला जेण॥

पूज्यों के प्रति) वर्ण, संज्वलन, भक्ति और बहुमान के कारण वह मनुष्य और देव सम्बन्धी सुगति (आयु) का बन्ध करता है तथा श्रेष्ठ गति या सिद्धि (सर्वकर्ममुक्ति) का मार्ग प्रशस्त (शुद्ध) करता है। विनयमूलक सभी (प्रशस्त) कार्यों को सिद्ध कर लेता (साध लेता) है तथा बहुत-से अन्य जीवों को भी विनयी बना देता है।'' यह है शुश्रूषा (गुरु-साधर्मिकादि की सेवा, परिचर्या अथवा सद्बोध-प्राप्ति या धर्मश्रवण की इच्छारूप शुश्रूषा) विनय से परम लाभ। आशय यह है कि जिन व्यक्तियों से वेदना भी नहीं सही जाती और उत्कटतप या प्रायश्चित्ततप की साधना भी नहीं की जाती, उनके द्वारा दर्शनविनय के अन्तर्गत दोनों प्रकार के उक्त दोनों विनयों की आराधना की जा सकती है। यह सरलता और विनयप्रवणता का आसान मार्ग अपनाना चाहिए। बस, इतना-सा पुण्यबन्ध भी पर्याप्त है पूर्वबद्ध पाप को परास्त करने के लिए।[1]

लोक-व्यवहार में देखा जाता है, गुंडे के साथ वीरतापूर्वक लड़ना शरीरबल का कार्य है, परन्तु गुंडे से लड़ने के लिए उसके मुकाबले में शक्तिशाली प्रतिपक्षी को भिड़ा दिया जाता है, जिससे वह गुंडा हार जाता है। ब्रिटिश सरकार की पॉलिसी थी–"Divide and rule."–हिन्दू-मुस्लिमों में परस्पर फूट डालो और राज्य करो; परन्तु यहाँ इससे भी आगे बढ़ना है–"Divide and ruin."–पाप से पुण्य को लड़ाओ और पाप को खत्म कर दो।

'वैराग्यकल्पलता' में महामहोपाध्याय श्री यशोविजय जी ने एक रूपक द्वारा इसे समझाया है–''जब मोह राजा के गुरिल्ला पद्धति के आक्रमणों से धर्मिष्ठ नागरिकजन संत्रस्त हो गये, तब वे सब अपने स्वामी चारित्र राजा के पास गए। चारित्र राजा को भी इसके प्रतीकार का कोई उपाय नहीं सूझा, तब उन्हें

१. (क) देखें–आवश्यकसूत्र एवं भगवतीसूत्र वृत्ति नवकारमंत्र का माहात्म्य

(ख) थव-थुइ-मंगलेणं जीवे नाण-दंसण-चरित्त-बोहिलाभं जणयइ। नाण-दंसण-चरित्त-बोहि-लाभ-संपन्ने य णं जीवे अंतकिरियं कप्पविमाणोववत्तिगं आराहणं आराहेइ।

–उत्तराध्ययन, अ. २९, सू. १४

(ग) गुरु साहम्मिय-सुस्सूसणयाए णं विणय-पडिवत्तिं जणयइ। विणय-पडिवन्ने य णं जीवे अणच्चासायणसीले नेरइय-तिरिक्ख-जोणिय-मणुस्स-देव-दुग्गईओ निरुंधइ। वण्ण-संजलण-भत्ति-बहुमाणयाए मणुस्स-देव सोग्गईओ निबंधइ, सिद्धि सोग्गइं च विसोहेइ। पसत्थाइं च विणयमूलाइं सव्वकज्जाइं साहेइ। अन्ने य बहवे जीवे विणइत्ता भवइ।

–वही, अ. २९, सू. ४

(घ) उत्तराध्ययन बृहद्वृत्ति, पत्र ५७९

(ङ) उत्तराध्ययन अनुवाद विवेचनादि युक्त (आ. प्र. स., ब्यावर) से भाव ग्रहण, पृ. ४९०

धर्मबोधकर नामक महामंत्री ने परामर्श दिया–मोह राजा के पापकर्मरूपी खूँख्वार सैन्य के खिलाफ हम सीधे लड़ नहीं सकेंगे, इसलिए हमें उसके खिलाफ पुण्यकर्म का सैन्य खड़ा कर देना और उसे भिड़ा देना चाहिए। वही मोह राजा के पापकर्मरूपी सैन्य को खत्म कर सकेगा।"

और वह प्रबल पुण्यकर्म प्राप्त हो सकता है दर्शनविनय के अन्तर्गत पूज्यजनों या गुणाधिकों की स्तव, स्तुति, भक्ति, बहुमान एवं सेवा-शुश्रूषा से। जिसका कि हमने शास्त्रीय प्रमाणों द्वारा इससे पूर्व उल्लेख किया है। कहते हैं–छप्पनकोटि यादवों की द्वारिकानगरी को जलाकर भस्म करने के लिए उद्यत हुए द्वैपायन के जीव व्यन्तरदेव के पापबलरूप पराक्रम को स्थगित कर दिया था–द्वारिका के नागरिकों की लगातार बारह वर्ष तक सामूहिक रूप से की गई दैनिक अरिहन्त भक्ति, स्तुति और उनके मार्गदर्शनानुसार आयम्बिलतप की शक्ति से प्राप्त हुए पुण्यबल ने।

छोटी-सी कुलड़ी में घी भरकर उसे बेचकर आजीविका चलाने वाले श्रावक भीमा कुलड़िया ने अपनी सर्वस्व कमाई सात पैसे का संघ-भक्ति के लिए प्रसन्नतापूर्वक दान देकर इतना प्रबल पुण्य उपार्जित किया कि उस पुण्यकर्म के प्रभाव से उसका दरिद्रता के रूप में बद्ध पापकर्म दूर हो गया, उसके घर में स्वर्ण-मुद्राओं से भरा कलश निकला। इसके अतिरिक्त सदैव कलहकारिणी उसकी पत्नी का स्वभाव सदा के लिए परिवर्तित हो गया, वह क्षमाशील, सहिष्णु बन गई।

बंबई का एक व्यापारी व्यापार में घाटा लग जाने से रातभर में लाखों रुपयों का कर्जदार बन गया। उसने सोचा–कर्ज उतारने का कोई उपाय नहीं है, इसलिए मोरथोथा एक प्याले में घोलकर आत्महत्या करने का विचार किया; किन्तु इतने में ही उसके किसी पूर्व पुण्यबल से उसे एक सुविचार स्फुरित हुआ–आत्महत्या का विचार गलत है, प्रभो ! मेरा यह पापमय विचार निष्फल हो। 'भक्तामर स्तोत्र' में कहा है–"त्वत्संस्तवेन भव-संततिसन्निबद्धं पापं क्षणात् क्षयमुपैति शरीरभाजाम्।"–अर्थात् प्रभो ! आपकी स्तुति-भक्ति से भव-परम्परा से बँधे हुए पापकर्म क्षणभर में क्षीण (नष्ट) हो जाते हैं।" बस, वह परमात्मा की स्तुति और भक्ति में तल्लीन हो गया। उसकी उक्त स्तुति एवं भक्ति के प्रभाव से सवेरा होने से पहले ही वस्तुओं के भावों में तेजी आ गई। उसके पुण्यबल से सारी बाजी पलट गई।[1] यह है–दर्शनविनय के प्रभाव से पुण्य प्रबल होकर पूर्वबद्ध पाप को नष्ट करने का उपाय !

---

१. (क) 'वैराग्यकल्पलता' (महामहोपाध्याय श्री यशोविजय जी म.) से भाव ग्रहण
(ख) 'देवाधिदेवनुं कर्मदर्शन' (पं. चन्द्रशेखरविजय जी) से भावांश ग्रहण, पृ. ५२-५४
(ग) 'भक्तामर स्तोत्र' (मानतुंगाचार्य रचित), श्लो. ७

अनाशातनाविनय का स्वरूप और आचरण

'समवायांग' और 'दशाश्रुतस्कन्ध' में गुरुजनों के प्रति आशातना के ३३ भेद बताये गये हैं। गुरु शब्द भी यहाँ केवल एक दीक्षा-गुरु के अर्थ में नहीं, किन्तु जितने भी चारित्र गुणों में आगे बढ़े हुए हैं, गुणाधिक हैं, रत्नाधिक हैं अथवा दीक्षाज्येष्ठ हैं, वे सब गुरु शब्द में गतार्थ हैं अथवा गुरु शब्द को तीन भागों में विभक्त कर सकते हैं–स्वगुरु (जितने भी गुणरत्नों में अधिक हैं, वे स्वगुरु हैं), संघगुरु (धर्म-संघ के आचार्य, उपाध्याय, स्थविर आदि हैं, वे संघगुरु हैं) और विश्वगुरु (अरिहन्त, सिद्ध, केवलज्ञानी या प्रत्येक बुद्ध हैं, वे विश्ववन्द्यगुरु हैं)। ऐसे गुरुजनों के साथ चलते, उठते, बैठते, सोते, उठते, बोलते तथा आहार करते समय, यहाँ तक कि दैनिक जीवन के प्रत्येक व्यवहार में उनकी ज्येष्ठता, श्रेष्ठता, पद-प्रतिष्ठा एवं मान-मर्यादा का ध्यान रखना, उनका आदर करते हुए सम्मानजनक मृदु, नम्र व्यवहार करना, ३३ प्रकार की आशातना से दूर रहना अनाशातनाविनय है।[1]

'आवश्यकसूत्र' में महाव्रती साधक के लिए ३३ आशातनाएँ बताई हैं, अरिहन्त की आशातना से लेकर श्रुत (शास्त्रज्ञान की १४) आशातना तक। यहाँ आशातना का अर्थ बहुत व्यापक है। सम्यग्दर्शनादि आध्यात्मिक गुणों की प्राप्ति को आय और उनकी शातना = खण्डना जिस प्रवृत्ति से हो, उसे आशातना कहते हैं। आशय यह है कि संसार के प्रत्येक गुणाधिक व्यक्ति तथा संयम में या आत्म-गुणों की प्राप्ति में सहायक वस्तुओं की अवहेलना, अनादर, अवमानना करना, उनके अस्तित्व एवं महत्त्व को नकारना, उन्हें नगण्य या तुच्छ मानना आशातना है। वे ३३ आशातनाएँ इस प्रकार हैं–अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका, देव-देवी, इहलोक-परलोक, केवलि-प्ररूपित धर्म, देव, मनुष्य-असुरों सहित समग्र लोक, समस्त प्राण (तीन विकलेन्द्रिय), भूत (वनस्पतिकाय), जीव (समस्त पंचेन्द्रिय जीव) और सत्त्व (पृथ्वीकायिकादि शेष चार स्थावर जीव) तथैव काल, श्रुत (ज्ञान), श्रुतदेवता, वाचनाचार्य एवं १४ ज्ञान (आगमज्ञान) की आशातना मिलाकर कुल ३३ होती हैं। अनाशातनाविनय के लिए साधक को इन ३३ प्रकार की आशातनारूप अतिचारों से बचना होता है।[2]

(३) चारित्रविनय–सामायिक आदि पंचविध चारित्र के प्रति श्रद्धा, निष्ठा, भक्ति रखना, काया से उनका निरतिचार, आचरण, पालन करना, चारित्र में जनता

---

१. विशेष जानकारी के लिए देखें–दशाश्रुतस्कन्धसूत्र तथा श्रमणसूत्र का परिशिष्ट, पृ. ४७६

२. (क) देखें–श्रमणसूत्र में पडिक्कमामि ''' तेत्तीसाए आसायणाहिं ''' आदि पाठ

(ख) 'श्रमणसूत्र' (उपाध्याय अमर मुनि जी) में तैंतीस आशातना सम्बन्धी विवेचन, पृ. ३००-३०८

प्रवृत्त हो, इसके लिए प्रचार-प्रसार करना, यम, नियम, संयम, तप, त्याग, प्रत्याख्यान आदि के लिए प्रेरणा करना चारित्रविनय है। सामायिक आदि पाँच प्रकार के चारित्रों में से किसी एक का भी पालन करने वाले चारित्र साधकों का विनय करना, इनकी श्रद्धा-भक्ति, बहुमान, आदर देना, नमन करना चारित्रविनय है।

(४) **मनोविनय** का अर्थ है मन पर अनुशासन तथा अंकुश रखना। इसके दो भेद हैं–प्रशस्त मनविनय और अप्रशस्त मनविनय। अप्रशस्त मनोविनय १२ प्रकार का है–(१) सावद्य (सदोष), (२) सक्रिय (अशुभ क्रियाओं से युक्त), (३) सकर्कश (कठोर), (४) कटुक (स्व-पर के लिए अनिष्टकर), (५) निष्ठुर (निर्दयतायुक्त), (६) परुष (स्नेहरहित = कठोर), (७) आस्रवकारी (हिंसादि अशुभ आस्रव से युक्त), (८) छेदकारी (अंग काट देने की दुर्भावना से युक्त), (९) भेदकारी (नाक, कान आदि भेदन करने की दुर्भावना से युक्त), (१०) परितापनाकारी (दूसरों को संताप देने का मन), (११) उपद्रवकारी (प्राणवियोग, धनादि अपहरण आदि उपद्रवों के चिन्तन से युक्त), तथा (१२) भूतोपघातकारी (प्राणियों का विनाश करने के चिन्तन से युक्त)। इन बारह प्रकार के अप्रशस्त (दुष्ट = खराब) मन की प्रवृत्ति को न होने देना अप्रशस्त मनोविनय है। इन्हीं अप्रशस्त मन के प्रतिपक्षी निरवद्य, अक्रिय, अकर्कश आदि बारह प्रकार के प्रशस्त मन की प्रवृत्ति करना प्रशस्त मनोविनय है। आचार्यादि अथवा गुणीजनों के प्रति मन में प्रशंसा के भाव रखना भी मनोविनय है।

(५) **वचनविनय**–वचन की अशुभ प्रवृत्ति को रोकना तथा शुभ प्रवृत्ति में लगाना वचनविनय है। इसके भी दो भेद हैं। प्रशस्त वचनविनय तथा अप्रशस्त वचनविनय। अप्रशस्त-प्रशस्त मनोविनय की तरह द्विविध वचनविनय के भी प्रत्येक के १२-१२ प्रभेद समझ लेने चाहिए। आचार्यादि का तथा गुणीजनों की वचन से प्रशंसा करना, विनय करना भी वचनविनय है।[1]

(६) **कायविनय** का अर्थ है–उपयोग (यतना) पूर्वक काया को प्रवृत्त करना। इसके भी दो भेद हैं–अप्रशस्त कायविनय और प्रशस्त कायविनय। इन दोनों के ७-७ प्रभेद हैं। उपयोगशून्य होकर असावधानी (अयतना) से चलना, ठहरना, बैठना, सोना, उल्लंघन करना, प्रलंघन (बार-बार उल्लंघन) करना और उपयोगरहित होकर शरीर और इन्द्रियों को प्रवृत्त करना। इस ७ प्रकार के अप्रशस्त काय-प्रयोग का

---

१. (क) औपपातिकसूत्र तप प्रकरण, प्र. २०
(ख) 'चारित्रप्रकाश' (श्री धन मुनि जी) से भाव ग्रहण, पृ. २७६-२७७
(ग) स्थानांगसूत्र तथा भगवतीसूत्र में प्रशस्त और अप्रशस्त मन-वचन-विनय के सात-सात भेद कहे गए हैं

निरोध या त्याग करना अप्रशस्त कायविनय है। अप्रशस्त कायविनय का प्रतिप्रक्षी प्रशस्त कायविनय है। जैसे–आवश्यकता होने पर सावधानी (यतना) विवेक एवं उपयोगयुक्त होकर चलना, ठहरना, बैठना, सोना आदि।

(७) लोकोपचारविनय–इसे उपचारविनय भी कहा गया है। इसके दो भेद किये जा सकते हैं–लौकिक और लोकोत्तर उपचारविनय। अपनी किसी मानसिक, वाचिक, कायिक प्रवृत्ति से दूसरे व्यक्ति या प्राणी को कष्ट, दुःख या क्लेश न हो, किसी भी जीव की आशातना–अवहेलना न हो इस प्रकार का लोक-व्यवहारानुकूल शिष्ट व्यवहार करना लौकिक उपचारविनय है। लोकोत्तर उपचारविनय के ७ भेद हैं–(१) अभ्यासवर्तित–गुरु आदि गुणाधिकों के पास रहकर विनयपूर्वक ज्ञानाभ्यास करना, (२) परछन्दानुवर्ती–गुरु आदि बड़ों के अनुशासन में, उनके निर्देश के अनुसार चलना, (३) कार्य हेतु–ज्ञानादि कार्य के लिए विनय करना, (४) कृत-प्रतिक्रिय–अपने किये हुए उपकारों के बदले में आहारादि द्वारा गुरु आदि की सेवा-शुश्रूषा करना, ताकि प्रसन्न होकर वे विशेष ज्ञान दें। (५) आर्त्त-गवेषणा–ग्लान, वृद्ध, रुग्ण, गुरुजनों तथा अन्य साधुओं के लिए औषध एवं पथ्य लाकर देना, (६) देश-कालज्ञता–देश, काल और परिस्थिति देखकर यथायोग्य प्रवृत्ति करना, (७) सर्वत्र अप्रतिलोभता–सभी कार्यों में अप्रतिकूल–अविरोधी रहना, किसी साधक के विरुद्ध (निन्दात्मक या निन्द्य) आचरण न करना।

लोकोत्तर उपचारविनय के प्रकार

'औपपातिकसूत्र' तथा 'दशवैकालिक निर्युक्ति' में लोकोत्तर उपचारविनय के मूल १३ तथा ५२ भेद बताये गए हैं–(१) तीर्थंकर, (२) सिद्ध, (३) कुल, (४) गण, (५) संघ, (६) क्रिया (शास्त्रोक्त धर्मानुष्ठान), (७) धर्म (श्रुत-चारित्र धर्म अथवा रत्नत्रयरूप धर्म या संवर-निर्जरारूप धर्म), (८) ज्ञान, (९) ज्ञानी, (१०) आचार्य, (११) स्थविर, (१२) उपाध्याय, और (१३) गणी। इन तेरह की आशातना न करना, भक्ति करना, इन्हें बहुमान देना और वर्ण-संज्वलता (गुणगान) करना, इन चारों को १३ से गुणा करने पर ५२ भेद (लोकोत्तर उपचार) विनय के हो जाते हैं।[1]

ये विनय नहीं, विनयाभास हैं, मोक्षविनय ही ग्राह्य

विनय के अन्तर्गत जो लोकोपचार (लोक-व्यवहार निभाने हेतु) विनय, अर्थनिमित्तविनय, कामहेतुविनय और भयविनय बताये गए हैं। उनमें लौकिक

१. (क) दशवैकालिक, अ. ९, उ. १; निर्युक्ति, गा. ३२५-३२६
(ख) औपपातिकसूत्र, पृ. २०

उपचारविनय में जो पाँचवाँ मोक्षविनय बताया है, उसे लोकोत्तर उपचारविनय में गतार्थ कर लेना चाहिए। वास्तव में ये पूर्वोक्त चार वास्तविक विनय नहीं हैं, विनय का अभिनय, विनयाभास या चापलूसी जैसे हैं, क्योंकि ये कर्मक्षय के कारण नहीं हैं।[1]

विनय : धर्मरूपी वृक्ष का मूल, मोक्षरूप फल का दाता

विनय का फल बताते हुए एक आचार्य ने कहा है–"ज्ञानावरणीय आदि आठ कर्मों का शीघ्र विनाशक होने से इसे विनय कहा जाता है। यह मोक्षरूपी फल को देने वाले धर्मरूपी वृक्ष का मूल है।" 'दशवैकालिकसूत्र' में कहा है–"धर्म का मूल विनय है, जिससे सर्वकर्ममुक्तिरूप मोक्षफल प्राप्त होता है।"[2] वस्तुतः आत्म-कल्याण, ज्ञान-प्राप्ति एवं अहंकार-मुक्ति के लिए गुरु आदि का विनय किया जाता है। मोक्ष-प्राप्ति (सर्वकर्ममुक्ति) के उद्देश्य से किया जाने वाला विनय ही वास्तविक विनय है, क्योंकि उसमें उद्देश्य पवित्र है।

विनय : समस्त गुणों का मूलाधार; अविनय : दोषों का भण्डार

सद्गुण एवं सद्ज्ञान की प्राप्ति के लिए मनुष्य को विनयशील बनना आवश्यक है। कहा भी है–"विनयायत्ताश्च गुणाः सर्वे।"–सभी गुण विनय के अधीन हैं। विनीत के ही जीवन में विद्याएँ सुशोभित होती हैं, इसलिए कहा है–"सकलगुणभूषा च विनयः।"–'स्थानांगसूत्र' में कहा है–अविनीत को न तो विद्याएँ फलित होती हैं और न ही वह विद्या देने, शास्त्र वाचना देने के योग्य है। वहाँ कहा गया है–"तीन व्यक्ति वाचना देने (पढ़ाने) के अयोग्य हैं, जैसे कि अविनीत, रसलोलुपी और बार-बार कलह करने वाला। विनय का महिमागान करते हुए 'आचार्य हरिभद्र' ने कहा है–"विनय जिन-शासन का मूल है। विनीत ही संयम की आराधना कर सकता है। जिसमें विनय का गुण नहीं है, वह क्या धर्म और तप की आराधना करेगा? विनय से युक्त स्वछन्दाचारी धर्म, तप और संयम की आराधना नहीं कर सकता।"

इस प्रकार आत्म-संयम, अनुशासन और नम्रतायुक्त सद्व्यवहार; इन तीन मुख्य अर्थों में विनय कर्मों का संवर और निर्जरा का आसान और प्रबल कारण

---

१. लोगोवयार-विणओ अत्थनिमित्तं च कामहेउं च।
भयविणय-मुक्खविणओ, विणओ खलु पंचहा होई॥ –विशेषावश्यक भाष्य ३१०

२. (क) (ज्ञानावरणीयादि) कर्मणां द्राग् विनयनाद् विनयो विदुषांमतः।
अपवर्ग-फलाढ्यस्य मूलं धर्मतरोर्यम्॥ –एक आचार्य
(ख) एवं धम्मस्स विणओ मूलं, परमो से मोक्खो। –दशवैकालिक ९/२/२

है। 'उत्तराध्ययन' में कहा है–विनय से जीव आठों ही मद-स्थानों को नष्ट कर देता है। इस दृष्टि से विनय उभयलोकहितकारी, सुख-सम्पदा का आधार तथा आत्मा को सरल, शुद्ध एवं निर्मल बनाता है।[9]

वैयावृत्यतप की आवश्यकता और उपयोगिता

आभ्यन्तरतप के क्रम में सर्वप्रथम प्रायश्चित्त, अन्तःकरण को सरल और निर्मल बनाकर आत्म-शुद्धि की साधना है। प्रायश्चित्त द्वारा सरल और निर्मल बने हुए चित्त को नम्र, निरहंकार और परिष्कृत किये बिना आत्मा की शुद्धि में कमी रह जाती है, अतः आत्मा की अधिकाधिक शुद्धि के लिए दूसरे नंबर में विनयतप है। किन्तु आत्मा की अधिकाधिक शुद्धि विनय द्वारा किये जाने पर भी जब तक चित्त पर से ममत्व नहीं हटाया जाता, अहंकार-ममकार का विसर्जन और इच्छाओं–महत्त्वाकांक्षाओं का निरोध करके, आत्मौपम्यभाव से आत्म-हित की भावना से सम्यग्दृष्टिपूर्वक वैयावृत्यतप नहीं किया जाता, तब तक आत्म-शुद्धि और आत्म-गुणवृद्धि अधूरी रहती है। इसलिए तृतीय क्रम में वैयावृत्य को स्थान दिया गया है, ताकि उसके आचरण से कर्मों का संवर, उनकी निर्जरा, महानिर्जरा और उनसे सर्वथा मुक्ति प्राप्त की जा सके।

सेवा के ये अगणित प्रकार वैयावृत्य की कोटि में नहीं आते

वैयावृत्य वर्तमान युग में सेवा अर्थ में प्रचलित है। परन्तु सभी जीवों की या सभी व्यक्तियों की सभी प्रकार की सेवा वैयावृत्यतप में गतार्थ नहीं होती। सेवा परिवार, कुटुम्ब, जाति, प्रान्त, नगर, ग्राम, समाज, राज्य और राष्ट्र के विविध हितों की भावना से, यशकीर्ति, प्रसिद्धि, प्रशंसा या नामवरी के भावों से अथवा परदुःखकातरता, अनुकम्पा अथवा दया के भावों से की जाती है, इसलिए उसके अनेक प्रकार हो सकते हैं। जैसे–लोकोपकार के कार्य, परिवार-सेवा, जाति-सेवा, समाज-सेवा, राष्ट्र-सेवा, जीवदया, अपंगों एवं अभावपीड़ितों की सेवा, चिकित्सा-सेवा, विद्यादान, औषधदान, आश्रयदान, अन्नदान, वस्त्रदान आदि भी सेवा के कार्य हैं। वर्तमान में विविध सेवा संस्थाएँ विविध क्षेत्रों में मानव-सेवा के कार्य करती हैं। भूकम्प, बाढ़, प्राकृतिक प्रकोप, दुर्घटना आदि प्रसंगों पर भी कई व्यक्ति या संस्थाएँ मानव-राहत कार्य करती हैं। इस प्रकार के सेवाकार्यों के पीछे

---

१. (क) तओ अवायणिज्जे प. तं.–अविणीए विगइ-पडिबद्धे अविओसिय-पाहुडे।
–स्थानांगसूत्र, स्था. ३, उ. ४

(ख) विणओ जिणसासणस्स मूलं, विणीओ सव्वओ भवे।
विणयाओ विप्पमुक्कस्स कओ धम्मो, कओ तवो? *–आवश्यक हरिभद्रीय वृत्ति*

सेवायोग्य व्यक्तियों के प्रति गुणज्ञता, गुणानुराग व भक्तिभाव अनिवार्य नहीं होता। पात्रता-अपात्रता, सद्गुणयुक्तता-अयुक्तता आदि को भी सेवा में प्रायः अवकाश नहीं होता। कई सेवास्थाओं द्वारा तो जो भी याचक अमुक वस्तु की माँग करता है, उसे उक्त सेवा-सत्र द्वारा वह वस्तु दे दी जाती है, उस व्यक्ति की पात्रता-अपात्रता, गुण-अवगुण का विचार प्रायः नहीं किया जाता। कहीं-कहीं सेवा परिवार एवं समाज में कर्त्तव्यभाव से या अनुकम्पाभाव से या दयाभाव से प्रेरित होती है। कोई अगुणज्ञ, अनास्थाशील व्यक्ति स्वानुग्रहबुद्धि से प्रेरित होकर रत्नत्रयरूप मोक्ष की आराधना के मार्ग में स्थित व्यक्तियों की सेवा प्रायः अनुकम्पाबुद्धि से ही कर पाता है, धर्मबुद्धि, आत्मौपम्यबुद्धि से या स्व-कल्याण हेतु धर्म-साधकों की सेवा का अमूल्य अवसर प्राप्त हुआ है, इस बुद्धि से नहीं। इन और ऐसे ही भावों के सिवाय ममत्व, स्नेह, प्यार और दृष्टिराग आदि भावों से भी सेवा प्रेरित होती है। ऐसी सेवा करने से पुण्यकर्म का बन्ध होता है, जोकि इहलोक-परलोक में सुखभोग का हेतु है।

इस प्रकार की सेवा में बहिर्मुखीभाव विशेष होते हैं। इसमें कदाचित् इच्छा-निरोध होता है, पर वह सम्यग्दृष्टिपूर्वक सम्यग्ज्ञान प्रेरित नहीं होता, इसलिए वह वैयावृत्यतप की कोटि में नहीं आती। वह पुण्य, दया या अनुकम्पा हो सकती है, वैयावृत्यतप नहीं।

समाज में परस्पर उपकारयुक्त सेवा के विविध प्रकार

यद्यपि मनुष्य सामाजिक प्राणी है। परिवार, जाति, धर्म-सम्प्रदाय, नगर, ग्राम, प्रान्त, राष्ट्र आदि सब घटक मानव-समाज के विविध अंग हैं। समाज में सुख-दुःख में, संकट, उपद्रव, विपत्ति, रोग, व्याधि, पीड़ा आदि अवसरों पर व्यक्ति या समूह को परस्पर एक-दूसरे को सहयोग, सहायता या मदद देना अवश्य कर्त्तव्य है। किसी व्यक्ति के दुःख, पीड़ा, संकट या रोग से ग्रस्त होने पर दूसरा व्यक्ति या समूह उसे अपनी सेवा या सहयोग देकर उक्त संकट, दुःख आदि से निकालने का प्रयत्न करता है। एक के दुःख या संकट से दूसरे का हृदय द्रवित हो उठता है, वह उसके प्रति सहानुभूति प्रदर्शित करता है। यह सामाजिकता या सामाजिकभावना परस्पर सहयोग या उपकार पर आधारित समाज-सेवा है। मानव-समाज के अभ्युदय और विकास के लिए यही प्रमुख आधार है। 'तत्त्वार्थसूत्र' में भी कहा गया है–"जीवों में परस्पर एक-दूसरे का उपग्रह = उपकार व सहयोग करने की वृत्ति रहती है।" 'स्थानांगसूत्र' में धर्माचरण करने वालों के लिए पाँच आश्रय (निश्रा) स्थान कहे गए हैं–षड्जीवनिकाय, गण, राजा (शासक), गाथापति (गृहस्थ) और शरीर।[1]

---

१. धम्मस्स णं चरमाणस्स पंचनिस्साठाणा पण्णत्ता तं.–छक्काया गणे राया गाहावई सरीरे।

–स्थानांगसूत्र, स्था. ५

आशय यह है कि धर्माचरण करने वालों को भी इन पाँचों की सेवा लेनी-देनी होती है। 'भगवद्गीता' में भी कहा गया है–"निःस्वार्थवृत्ति से परस्पर एक-दूसरे के प्रति सहयोगभाव से तुम परम श्रेय (कल्याण) को प्राप्त होओगे।" ये सब मानव-समाज और मानवेतर समस्त प्राणि सृष्टि में परस्पर कर्त्तव्यभावरूप सेवा के प्रकार हैं। कर्त्तव्य में परस्पर ले-दे की भावना होती है। दूसरों के दुःख को देखकर उसकी सेवा करने में जुट जाना अनुकम्परूप सेवा है तथा दुःखी जीवों पर दयाभाव या कृपाभाव लाना पीड़ितों की सक्रिय दयारूप सेवा है। 'तत्त्वार्थसूत्र' के अनुसार–ये सब सहानुभूति, दया, अनुकम्पा, दान आदि सेवा के अंग सातावेदनीयरूप पुण्यकर्मबन्ध के कारण हैं। ऐसी सेवाओं में कषायों की जितनी-जितनी तीव्रता होती है उतनी-उतनी पुण्यबन्ध में हानि होती है।[9]

पूर्वोक्त सेवा पुण्यबन्ध का कारण है और वैयावृत्य है तप

कभी-कभी सम्यग्दृष्टि के द्वारा किये गए अनुकम्पा और दया के भावों में उत्कटता–उत्कृष्टता आती है, तब आत्म-भावों का ऊर्ध्वारोहण और आत्मानुग्रह का भाव जुड़ता है, तब वह सेवा वैयावृत्यतप की कोटि में आ जाती है। इसलिए पूर्वोक्त सेवा के विविध प्रकार पुण्यबन्ध के कारण हैं, जबकि वैयावृत्य कर्मनिर्जरा (कर्मक्षय) का कारण होने से तप है। अतएव वैयावृत्य और उपर्युक्त सेवा के अन्तर को भलीभाँति समझ लेना चाहिए। वैयावृत्य कर्मक्षयकारक तप है, जबकि उपर्युक्त सेवा पुण्यकार्य (पुण्यकर्म) है। वैयावृत्य का क्षेत्र सीमित है, जबकि सेवा का क्षेत्र असीमित है। वैयावृत्य और सेवा के अन्तर को सम्यक् प्रकार से समझने के लिए वैयावृत्य का अर्थ, लक्षण और परिभाषा तथा वैयावृत्य की विविध क्रियाओं, वैयावृत्यकर्त्ता के भाव, वैयावृत्य के पात्र (अधिकारी); इन सबको समझना आवश्यक है।

वैयावृत्य की मुख्य पाँच क्रियाएँ

वैयावृत्य को आभ्यन्तरतप कहा जाता है, परन्तु आगे कहे जाने वाले वैयावृत्य के उत्तम पात्रों–अधिकारियों की वैयावृत्य क्रिया को देखते हुए इसे अन्तरंग तप कहना विचारणीय है। वैयावृत्य की क्रियाएँ वैयावृत्य के स्वरूप (व्यावहारिकरूप)

---

९. (क) 'जैनधर्म में तप' से भाव ग्रहण, पृ. ४४०
(ख) परस्परोपग्रहो जीवानाम्। –*तत्त्वार्थसूत्र, अ. ५, सू. २१*
(ग) परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ। –*भगवद्गीता ३/११*
(घ) 'मोक्खपुरिसत्थो, भा. २' से भाव ग्रहण
(ङ) भूत-वृत्यनुकम्पा दानं सरागसंयमादि योगः क्षातिः शौचमिति सद्वेद्यस्य।
–*तत्त्वार्थसूत्र ६/१३*

के अनुसार 'मोक्खपुरिसत्थो' में मुख्यतया पाँच परिगणित की गई हैं– (१) सेवा-शुश्रूषा–शरीर के पोषक एवं संरक्षक कार्य करना, परिचर्या में रत रहना, (२) श्रम-अपनयन–थकान दूर करने के लिए पैर आदि दबाना, (३) खेद-अपनयन–मानसिक या बौद्धिक श्रम से उत्पन्न खिन्नता निवारण करना। उसके लिए तदनुकूल वातावरण बनाना तथा तद्योग्य पदार्थों का योग करना, (४) शान्तिकारण–क्षोभ-निवारक कार्य करना, जिससे अखण्ड शान्ति बनी रहे, (५) समाधिकारण–ग्लानता, रुग्णता, अशक्ति आदि उत्पन्न न हो और उत्पन्न हुई हो तो उसका निवारण करना इत्यादि क्रियाएँ भक्तिभाव से युक्त अम्लानभाव से की जाएँ तो वैयावृत्य में परिगणित होती हैं।

वैयावृत्य का व्यवहारस्वरूप : पूर्वोक्त पंचप्रक्रिया से युक्त

वैयावृत्य के व्यावहारिक स्वरूप को देखने से उपर्युक्त पाँचों प्रक्रियाएँ वैयावृत्य में स्पष्टतया परिलक्षित होंगी। 'निशीथचूर्णि' में वैयावृत्य का स्वरूप बताया गया है–भोजन, वस्त्र आदि से ग्लान, वृद्ध आदि साधक की परिचर्या = सेवा द्रव्यरूप से तथा उपदेश, सत्प्रेरणा आदि भावरूप से जो भी अपने को तथा अन्य को उपकृत किया जाता है, वह सब वैयावृत्य है। ज्ञान-दर्शन-चारित्रतपरूप (कर्ममुक्तिरूप) मोक्ष-साधक धर्म की साधना करते एक दूसरे साथी साधकों को आत्म-विकास में, जीवन-विकास में तथा धर्म-साधना में सहयोग करना वैयावृत्य का मुख्य प्रयोजन है। इसी को द्योतित करते हुए एक आचार्य ने वैयावृत्य का अर्थ किया है–"भक्त, साथी साधक या साधर्मिकों आदि द्वारा धर्म (ज्ञानादि रत्नत्रयरूप धर्म) की साधना में आहार आदि वस्तुओं द्वारा उपग्रह करना–उपकार या सहयोग करना वैयावृत्य है। 'सर्वार्थसिद्धि' के अनुसार–दुःख में आ पड़ने पर निरवद्य विधि से गुणी पुरुषों के दुःख दूर करना वैयावृत्य है अथवा शरीर की चेष्टा या दूसरे द्रव्य द्वारा उनकी उपासना (सेवा) करना वैयावृत्य है। 'धवला' के अनुसार–"व्यापृत अर्थात् रोगादि से व्याकुल साधक को (साता उपजाने हेतु) जो कुछ किया जाता है।" अथवा "विशेष आपदा (व्यापदा) के समय उसके निवारणार्थ जो (सहयोग) किया जाता है वह वैयावृत्यतप है।" 'चारित्रसार' में भी कहा गया है–"शरीर की पीड़ा अथवा दुष्ट परिणामों (अध्यवसायों) को दूर करने के लिए शरीर की चेष्टा से किसी औषध आदि अन्य द्रव्य से अथवा सदुपदेश या सत्परामर्श देकर सहयोग करना अथवा कामना, इच्छा, फलाकांक्षा से व्यावृत (निवृत) होकर किसी साधक के लिए सहयोग कार्य करना वैयावृत्य है।" 'कार्तिकेयानुप्रेक्षा' के अनुसार–"जो मुनि उपसर्ग से पीड़ित हो तथा बुढ़ापा, अशक्ति, पीड़ा, व्याधि आदि के कारण जिनकी काया क्षीण हो गई है, उन संयमी

साधकों का, जो अपनी पूजा-प्रतिष्ठा, सत्कार-सम्मान, प्रशंसा आदि अपेक्षा न करके उपकार करता है, उसके उत्कृष्ट वैयावृत्यतप होता है।" 'राजवार्तिक' में इसी तथ्य को अनावृत किया गया है–"उन आचार्यादि (दशविध मोक्षमार्ग के यात्रियों) पर व्याधि, आधि, उपाधि, परीषह, उपसर्ग, मिथ्यात्व आदि का उपद्रव होने पर उसका प्रासुक (अचित्त), औषध, आहार-पानी, उपाश्रय (आश्रयादि हेतु स्थान) तथा चौकी, तख्ता (पट्टा) और संथारिया (लम्बा आसन) आदि धर्मोपकरणों से प्रतीकार करना तथा उन्हें सम्यग्दर्शन आदि मोक्षमार्ग में दृढ़–स्थिर करना एवं उनके मनोऽनुकूल अनुकूलता तथा प्रसन्नता का वातावरण बना देना आदि भी वैयावृत्य है।"[9]

वैयावृत्य के पात्रों और पूर्वोक्त सेवापात्रों में अन्तर

वैयावृत्य के उपर्युक्त अर्थों, लक्षणों और परिभाषाओं को देखने से भी वैयावृत्य और पूर्वोक्त सेवा का अन्तर स्पष्टया समझ में आ जाता है। रत्नत्रयरूप मोक्ष की आराधना में अहर्निश संलग्न जो दशविध वैयावृत्य योग्य साधक हैं या

---

१. (क) दव्वेण भावेण वा जं अप्पणो परस्स वा उवकारकरणं ते सव्वं वेयावच्चं।
–निशीथचूर्णि ६६०५

(ख) वैयावृत्यम्–भक्तादिभिः धर्मोपग्रह-कारित्वे, वस्तुभिरुपग्रहकरणे।
–स्थानांग टीका ५/१

(ग) व्यापत्ति-व्यपनोदः पदयोः संवाहनं च गुणरागात्।
वैयावृत्यं यावानुपग्रहोऽन्योऽपि संयमिनाम्। –र. क. श्रा. ११२

(घ) गुणवद् दुःखोपनिपाते निरवद्येन विधिना तदपहरणं वैयावृत्यम्।
–सर्वार्थसिद्धि ६/२४/३३९/३

(ङ) कायचेष्टया द्रव्यान्तरेण चोपासनं वैयावृत्यम्। –वही ९/२०/४३९/७

(च) व्यापृते यत्क्रियते तद् वैयावृत्यम्। –धवला ८/३/४१/८८
व्यापादे यत्क्रियते तद् वैयावृत्यम्। वही १३/५-४/२६/६३

(छ) कायपीड़ा-दुष्परिणाम-व्युदासार्थं कायचेष्टया द्रव्यान्तरेणोपदेशेन च व्यावृत्तस्य यत्कर्म तद् वैयावृत्यम्। –चारित्रसार १५०/३

(ज) जो उवयरदि जदीणं उवसग्गजराइ खीणकायाणं।
पूयादिसु निरवेक्खं वेज्जावच्चं परं तस्स॥ –कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गा. ४५९

(झ) तेषामाचार्यादीनां व्याधि-परीषह-मिथ्यात्वाद्युपनिपाते प्रासुकौषधि-भक्त-पान-प्रतिश्रय-पीठ-फलक-संस्तरणादिभिर्धर्मोपकरणैस्तत्प्रतीकारः सम्यक्त्वे प्रत्यवस्थानमित्येवमादि वैयावृत्यम्। बाह्यस्यौषध-भक्त-पानादेरसम्भवेऽपि स्वकायेन श्लेष्म-सिंघाण-काद्यन्तर्मलापकर्षणादि तद्-आनुकूल्यानुष्ठानं च वैयावृत्यमिति कथ्यते।
–राजवार्तिक ९/२४/१५-१६/६२३/३१

उनका गण, कुल या संघ है अथवा जो परस्पर वैयावृत्य करने वाले साधर्मिक साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविकागण हैं, उनकी सेवा-शुश्रूषा करना, शारीरिक थकान तथा मानसिक व्यथा-अशान्ति आदि को दूर करना, शान्ति और समाधि के उत्पादक कार्य एवं जो भी अम्लानभाव से गुणानुरागयुक्त भक्ति के किये जाने वाले कार्य हैं, वे सब वैयावृत्य हैं, जबकि पूर्वोक्त तथाकथित सेवा के अधिकारी पात्र रत्नत्रयाराधक नहीं होते।

वैयावृत्यकर्त्ता की हार्दिक भावना

अतएव वैयावृत्यकर्त्ता में केवल शारीरिक या मानसिक सेवा करने का ही भाव नहीं रहता, उसमें यह भाव भी नहीं रहता कि मैं सेवापात्र का भला कर रहा हूँ, मैं उसका उपकार कर रहा हूँ। पूर्वोक्त प्रकार की तथाकथित सेवा करने वाले के मन में परानुग्रह की भावना होती है, अर्थात् मुझे इसका हित करना चाहिए, यह भाव होता है, जबकि वैयावृत्यकर्त्ता में स्व-अनुग्रह की भावना होती है; अर्थात् "मैं इस विशिष्ट वैयावृत्य योग्य पूज्य पुरुष या आदरणीय साधक की सेवा करके अपना ही कल्याण कर रहा हूँ। मुझे ऐसे मोक्ष साधकों की सेवा (वैयावृत्य) का अमूल्य अवसर मिला है। यह मेरे कल्याण का हेतु है।" उनकी विशिष्ट सेवा करते हुए ऐसा लगे कि मैं अपना ही उपकार कर रहा हूँ", इस प्रकार गुणीजनों की सेवा में सम्यग्दृष्टिपूर्वक स्वतः श्रद्धा और पूज्य बुद्धि अथवा समर्पण बुद्धि पैदा हो, तब समझना कि ऐसा उच्चस्तरीय सेवाभाव वैयावृत्यतप है, निर्जरा और महानिर्जरा का कारण होता है।

इसीलिए वैयावृत्य आभ्यन्तरतप है

इसी प्रकार वैयावृत्य किसी को केवल सहयोग देने या परस्पर कर्त्तव्य-पालन मात्र से तप नहीं होता, वैयावृत्य आभ्यन्तरतप तभी होता है, जब दूसरे की वैयावृत्य (उत्कृष्ट सेवा) को अपनी वैयावृत्य समझे, वैयावृत्य दूसरे की नहीं होती, अपनी होती है। अन्तरात्मा में इस प्रकार की अभिन्नता समता और एकत्व की अनुभूति जब सेवा के साथ जुड़ती है, तब वह आभ्यन्तर तपस्या होती है। सेव्य व्यक्ति के प्रति इतनी आत्मौपम्यभावना हो जाए कि उसका दुःख मेरा दुःख है; उसकी साधना में सहयोग की अपेक्षा मेरी अपेक्षा है, इस प्रकार की समदर्शिता ही वैयावृत्य के आन्तरिक तप होने का सबूत है। वैयावृत्यतप का आराधक इतना बदल जाता है कि उसके अहंत्व-ममत्व की ग्रन्थि टूट जाती है। वह अपने स्वार्थ की या सुख-सुविधा की बात सोच ही नहीं सकता। इस प्रकार की एकत्व और समत्व की भावना और अभिन्नता की अनुभूति ही वैयावृत्यतप की आन्तरिकता का प्रमाण है। वैयावृत्यकर्त्ता किसी भी रुग्ण, ग्लान, विपन्न, अवसादग्रस्त या मानसिक रूप से

अशान्त साधु की ऐसी सेवाभावना से विमुख नहीं हो सकता। एक साधु से समस्त साधुवर्ग का गण, कुल, संघ जुड़ा हुआ है, एक साधु की उपेक्षा, अवज्ञा या अवहेलना समस्त साधु-संघ की उपेक्षादि है; एक साधु की सेवा-पूजा समस्त साधु-संघ या साधुत्व की पूजा है। इस प्रकार की भावना या अनुभूति वैयावृत्यकर्त्ता में होगी, तभी उसके द्वारा की जाने वाली सेवा वैयावृत्यतप का रूप लेगी।

वैयावृत्यकर्त्ता की कतिपय विशेषताएँ

वैयावृत्य करने वाले की कतिपय विशेषताओं का उल्लेख भी 'मोक्खपुरिसत्थो' में किया गया है–वैयावृत्यकर्त्ता में निम्न पाँच गुण होने चाहिए–(१) स्वच्छन्दता-विनाशक–वैयावृत्य करने वाला स्वच्छन्द-विचरण नहीं कर सकता। उसे अपनी इच्छाओं पर अंकुश लगाना आवश्यक होता है। सेव्य की इच्छा के अधीन चलना पड़ता है। (२) **मद-विशोधक**–वैयावृत्यकर्त्ता में जाति, कुल, बल, तप, श्रुत, लाभ, रूप और ऐश्वर्य (पद आदि अधिकार) का मद नहीं होता। उसमें अपनी विशेषताओं का सेवा-कार्य में सदुपयोग करने की कुशलता व प्रसन्नता होती है। (३) **देहाभिमान-विशोधक**–वैयावृत्यकर्त्ता में शरीर के प्रति अपनेपन की प्रतीति, आसक्ति या रमणता नहीं होती। वैयावृत्य के लिए जिस प्रकार के शारीरिक बल व स्वास्थ्य की अपेक्षा रहती है, उसी अपेक्षा से शरीर के प्रति अत्यन्त मन्द राग होता है। (४) **साताभाव-विशोधक**–इन्द्रिय और मन के अनुकूल वेदन को साता कहते हैं। वैयावृत्यकर्त्ता में अपनी सुख-सुविधा एवं साता की ओर तीव्र राग नहीं होता। कभी-कभी तो वह अपनी साता का भोग देकर सेव्य व्यक्ति को साता पहुँचाता है। (५) **कषाय-विशोधक**–वैयावृत्यकर्त्ता में क्रोध, मान, माया और लोभ मन्द होते हैं। उदित होने वाले क्रोधादि को विफल करने या उनका प्रशस्तभाव में रूपान्तर करने की कला उसमें होती है। विशुद्ध कषाय होने से उसकी कषाय परम्परा लम्बी नहीं होती। आवेश भावों को वह विशुद्ध करने, दबाने का प्रयत्न करता है।

वैयावृत्य का प्रयोजन और सुफल

'भगवती आराधना' में वैयावृत्य का प्रयोजन और सुफल बताते हुए कहा गया है–वैयावृत्य से ये अठारह गुण प्राप्त होते हैं–(१) गुणग्रहण के परिणाम, (२) (वैयावृत्य के पात्र के प्रति) श्रद्धा, (३) भक्ति, (४) वात्सल्य, (५) पात्रता की प्राप्ति, (६) विच्छिन्न सम्यक्त्व आदि का पुनः संधान (संयोग), (७) तपस्या, (८) पूजा (प्रतिष्ठा), (९) तीर्थ (चतुर्विध धर्म-संघ) के साथ अविच्छेद (अव्युच्छित्ति = मधुर सहयोग–सम्बन्ध बना) रहना, (११) समाधि, (१२) जिनाज्ञा-पालन, (१३) संयम, (१४) परस्पर सहायता (सहयोग), (१५) दान (त्याग) की वृत्ति, (१६) निर्विचिकित्सा [फल में संदेह न होना अथवा (वैयावृत्यपात्र

रुग्ण-ग्लान के प्रति) जुगुप्सा = घृणा न होना], (१७) प्रवचन (जैनधर्म की प्रभावना = उत्कर्ष की प्रबलभावना), (१८) कार्य (सत्कार्य) से पुण्य का उपार्जन अथवा कर्त्तव्य निर्वाह। 'सर्वार्थसिद्धि' में वैयावृत्य का बाह्य प्रयोजन अभिव्यक्त करने हेतु कहा गया है–वैयावृत्य समाधि की प्राप्ति (आधि, व्याधि और उपाधि से छुटकारा होने पर आत्म-स्वरूप में स्थिरता), विचिकित्सा का अभाव एवं प्रवचन वात्सल्य (चतुर्विध धर्म-संघ के प्रति वात्सल्य = शुद्ध प्रीति) की अभिव्यक्ति के लिए किया जाता है।'' सम्यग्दृष्टि के लिए वैयावृत्यतप निर्जरा का निमित्त है। इस प्रकार वैयावृत्य करने वाले साधक को ये और इस प्रकार के अन्य गुण भी प्राप्त होते हैं। 'सवार्थसिद्धि' के अनुसार–केवल स्वाध्याय करने वाला तो स्वतः की ही आत्मोन्नति कर पाता है, जबकि वैयावृत्य करने वाला स्वयं को तथा अन्य को (आध्यात्मिक दृष्टि से) उन्नत बनाता है। क्योंकि केवल स्वाध्याय करने वाले पर विपत्ति आएगी तो उसको देखना पड़ेगा–वैयावृत्यकर्त्ता के मुख की तरफ ही।[1]

त्रिविध वैयावृत्य आत्म-वैयावृत्य में ही गतार्थ

वैयावृत्य के आभ्यन्तरतप होने का एक और प्रबल प्रमाण है–'स्थानांगसूत्र' का। वहाँ तीन प्रकार का वैयावृत्य बताया गया है–(१) आत्म-वैयावृत्य, (२) पर-वैयावृत्य, और (३) तदुभय वैयावृत्य। आत्म-वैयावृत्य का फलितार्थ है–आत्मा की वैयावृत्य, अर्थात्–तन, मन, वचन, इन्द्रियों और अंगोपांगों को आत्मा की वैयावृत्य (सेवा) में लगाए। जो भी प्रवृत्ति करे, वह आत्मलक्षी हो, आत्म-हितकारिणी हो। 'कार्तिकेयानुप्रेक्षा' में निश्चयदृष्टि से वैयावृत्य का लक्षण इस प्रकार किया गया है–''जो व्यक्ति शुद्धोपयोग से युक्त होकर शम-दम-समभावरूप स्व-आत्म-स्वरूप में प्रवृत्त होता है, लोक-व्यवहार (लौकैषणादि) से

---

१. (क) गुण (गाहण) परिणामो सड्ढा वच्छल्लं भत्ति-पत्तलंभो य।
संधाणं तव-पूया अव्वोच्छित्ती समाधी य॥
आणा-संजम-साखिल्लदा य दाणं च अवितिगिच्छा य।
वेज्जावच्चस्स गुणा पभावणा कज्जपुण्णाणि॥ –*भगवती आराधना ३०९-३१०/५२३*

(ख) समाध्याधान-विचिकित्साऽभाव-प्रवचन-वात्सल्याद्यभिव्यक्त्यर्थम्।
–*सर्वार्थसिद्धि ९/२४/४४२*

(ग) एदे गुणा महल्ला वेज्जावच्चुदस्स बहुया य।
अप्पट्ठिदो हु जायदि सज्झायं चेव कुव्वंतो॥५४१॥
आत्म-प्रयोजनपर एव जायते स्वाध्यायमेव कुर्वन्।
वैयावृत्यकरस्तु स्वं परं चोद्धरतीति मन्यते॥५४२॥
स्वाध्यायकारिणोऽपि विपदुपनिपाते तन्मुखप्रेक्षित्वात्।
–*भगवती आराधना मूल तथा वि. टीका ३२९/५४१-५४२*

विरक्त रहता है, उसके उत्कृष्ट वैयावृत्यतप होता है।''[1] इसका फलितार्थ यह है कि जो रत्नत्रयाराधक मोक्षसाधकों की अम्लानभाव से, परानुग्रहभावविरत होकर वैयावृत्य करता है, उस समय भी यही शुद्ध परिणाम रखे कि मैं अपनी आत्मा की ही वैयावृत्य कर रहा हूँ।'' तदुभय वैयावृत्य में दोनों ही प्रकार की वैयावृत्य का समावेश हो जाता है। इस दृष्टि से वैयावृत्य अन्तरंग तप सिद्ध हो जाता है।[2]

उत्कृष्ट पात्रों की अपेक्षा दशविध वैयावृत्य

'स्थानांगसूत्र' में वैयावृत्य के उत्कृष्ट पात्रों की अपेक्षा से दस प्रकार बताये गए हैं–(१) आचार्य वैयावृत्य, (२) उपाध्याय वैयावृत्य, (३) स्थविर वैयावृत्य, (४) तपस्वी वैयावृत्य, (५) ग्लान वैयावृत्य, (६) शैक्ष (नवदीक्षित) वैयावृत्य, (७) कुल वैयावृत्य, (८) गण वैयावृत्य, (९) संघ वैयावृत्य, और (१०) साधर्मिक वैयावृत्य।

(१) आचार्य वैयावृत्य–आचार्य तीर्थंकरों और गणधरों के प्रतिनिधि होते हैं। वे धर्म-संघ के शास्ता होते हैं तथा पंचविधि आचार का स्वयं पालन करते हैं और चतुर्विध संघ को प्रेरित-प्रवृत्त करते हैं। वे संघ के कुशल व्यवस्थापक, संघ-नेता एवं मार्गदर्शक होते हैं। आचार्य की वैयावृत्य उनके तन, मन को शान्ति पहुँचाने, उनके द्वारा संघ-संचालन के कार्य में विविधि उपायों और योजनाओं द्वारा योगदान देने से होती है। उनके द्वारा दी गई आज्ञाओं को बहुमानपूर्वक शिरोधार्य करके पालन करना भी आचार्य वैयावृत्य है।

(२) उपाध्याय वैयावृत्य–उपाध्याय स्व-पर-सिद्धान्त में प्रवीण होते हैं, जिनागमों के प्रति उनकी श्रद्धा दृढ़ होती है। वे सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान की वृद्धि करते-कराते हैं। वे शास्त्रज्ञान देते हैं, सिद्धान्तों का रहस्य बताते हैं। उपाध्याय जी की वैयावृत्य उनके योग्य आहार, वस्त्र, पाट, शय्या, पेय पदार्थ आदि लाकर देने से उनकी शारीरिक थकान, बौद्धिक सुस्ती तथा रोगादि निवारण करने तथा उनके स्वास्थ्य को टिकाये रखने से होती है।

(३) स्थविर वैयावृत्य–स्थविर तीन प्रकार के होते हैं–वयःस्थविर, श्रुत (ज्ञान) स्थविर, और दीक्षास्थविर। स्थविर का अर्थ होता है–वृद्ध। परन्तु उसका फलितार्थ

---

१. (क) तिविहे वेयावच्चे प. तं.–आयवेयावच्चे, परवेयावच्चे तदुभयवेयावच्चे।–*स्थानांग ३/३*
(ख) जो वावरइ सरूवे सम-दम-भावम्मि सुट्ठद उवउत्तो।
लोय-ववहार-विरदो, वेयावच्चं परं तस्स॥ –*कार्ति. अ. ४६०*

२. दसविहे वेयावच्चे प. तं.–आयरियवेयावच्चे, उवज्झायवे., भेदवे., तवस्सिवे., गिलाणवे., सेहवे., कुलवे., गणवे., संघवे., साहम्मियवेयावच्चे। –*स्थानांग, स्था. १०*

होता है—जो ज्ञानादि रत्नत्रय में तथा संयम में स्वयं स्थिर रहकर, श्रमण-श्रमणियों को स्थिर करते हैं। वे अनुभवी और गीतार्थ होते हैं। इस प्रकार के स्थविरों की वृद्धावस्था में तन-मन की दुर्बलता के कारण वैयावृत्य की आवश्यकता होती है। उनकी सब प्रकार से वैयावृत्य करना आत्म-वैयावृत्य का प्रकार है। काया से वैयावृत्य द्वारा संयम में स्थिर करे, वाणी से आत्म-शान्ति बढ़ाये और मन से शुभ भावना द्वारा उनका मनोबल प्रबल बनाए।

(४) तपस्वी वैयावृत्य—उत्कट तप करने वाले या एकान्तर, उपधान आदि तप करने वाले तपस्वी कहलाते हैं। बाह्याभ्यन्तरतप में से किसी विशिष्ट तप की साधना करने वाला भी तपस्वी है। ऐसे जो तपस्वी तप के कारण तन, मन, वचन, इन्द्रियों एवं अंगोपांगों से शिथिल और श्रान्त हो गए (थक गए) हों, उनकी विशेष रूप से आहार, पानी, पथ्य आदि द्वारा, प्रतिलेखन-परिष्ठापन-गात्रसम्बाधन आदि द्वारा सेवा करना तपस्वी वैयावृत्य है। स्वाध्याय आदि द्वारा उनके तप-संयम को उज्ज्वल बनाने का प्रयत्न करना। उनकी आत्म-ज्योति तथा मनःशान्ति को प्रकाशित करना, उनका उत्साह बढ़ाना।

(५) ग्लान वैयावृत्य—ग्लान कहते हैं—रुग्ण तथा अशक्त को। असातावेदनीय कर्मवशात् कभी कोई साधक ग्लान, दुःसाध्य रोगाक्रान्त, किसी पीड़ा या चोट से क्लान्त अथवा मानसिक वेदना से पीड़ित या शरीर से बिलकुल अशक्त हो गया हो अथवा अरति परीषह या किसी उपसर्ग के कारण मनोदुःख होने से धर्म-पालन में निरुत्साह या निराश हो गया हो, ऐसे ग्लान साधक की सेवा करना महानिर्जरा का कारण है। ग्लान या रुग्ण साधु को औषध, पथ्य आदि लाकर देने से, उसकी दैहिक क्रियाओं में सहायता देने से, संयम में उत्साह बढ़ाने हेतु उसके साथ मधुर संभाषण करने तथा शास्त्रीय प्रमाण एवं युक्ति से परीषह-उपसर्ग-सहिष्णुओं की जीवनगाथा सुनाने से उनके चित्त में शान्ति तथा मनस्तुष्टि होती है, यही ग्लान वैयावृत्य है। 'प्रवचनसारोद्धार' आदि ग्रन्थों में ग्लान वैयावृत्यकर्त्ता अर्थात् ग्लान प्रतिचारी १२ प्रकार के कहे गए हैं।[1]

(६) शैक्ष वैयावृत्य—शैक्ष कहते हैं—नवदीक्षित को। नवदीक्षित को ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, संयम, नियम आदि के सम्यक् आचरण करने का अभ्यास नहीं होता। कई बार ज्येष्ठ साधुओं द्वारा उसके संवेदनशील मन को क्षुब्ध कर दिया जाता है अथवा कठोर कष्टकारक लोच, विहार, भिक्षा आदि से घबराकर उसका मन संयम में शिथिल हो जाता है। ऐसे समय में संयम में आगत कष्ट अत्यन्त नगण्य लगें, संयम में मन लग जाए, वह गौरवपूर्ण लगे, ऐसा बोध एवं वातावरण जगाना

१. देखें—प्रवचनसारोद्धार, द्वार ७१, गा. ६२९ में ग्लान प्रतिचारी के १२ प्रकारों का वर्णन

चाहिए। नवदीक्षित साधक को वैयावृत्य के द्वारा उत्तम संयम सिखाना चाहिए। नवदीक्षित मेघ मुनि की तरह पूर्व दीक्षित साधुओं द्वारा उपेक्षाभाव, निन्दा बिलकुल नहीं होना चाहिए।

(७-८-९) कुल-गण-संघ वैयावृत्य–एक गुरु के शिष्य-शिष्या परिवार को कुल, एक-दो या अधिक कुल के शिष्यवर्ग के समुदाय को गण और कई गणों के समूह को संघ कहते हैं। कहा भी है–"वसे गुरु-कुले णिच्चं।"–गुरुजनों के कुल (समुदाय) नित्य निवास करे। उससे उदारता, विनय, सेवा, वात्सल्य, सहयोगभावना, भक्ति आदि गुण विकसित होते हैं। इन तीनों में निवास मूलगुणों और उत्तरगुणों की सुरक्षा का भी कारण है। कुल, गण और संघ की मर्यादाओं का पालन करना, परस्पर वात्सल्यभाव रखना, शास्त्रादि का अध्ययन करना-कराना और परस्पर यथोचित सेवा करना कुल-गण-संघ वैयावृत्य है। इन तीनों की भर्त्सना, निन्दा न करना-कराना तथा इनमें परस्पर ऐक्य को साधना भी इन तीनों की वैयावृत्य है। वैयक्तिकता को प्रधानता न देकर समूहभावना को प्रधानता देना भी इनका वैयावृत्य है। साधु-श्रावकसंघ पर नमुचि मंत्री द्वारा उपसर्ग किये जाने पर विष्णुकुमार मुनि ने वैक्रियलब्धि का उपयोग करके संघ की रक्षा की थी। इसी प्रकार कुल-गण-संघ पर उपसर्ग आने पर भद्रबाहु स्वामी की तरह रक्षा करना भी वैयावृत्य है। इससे कर्मों की निर्जरा–महानिर्जरा होती है। क्षायिक सम्यक्त्वी कर्मयोगी श्रीकृष्ण जी ने घोषणा की थी–"द्वारिकानगरी पर विपत्ति के बादल मँडरा रहे हैं। ऐसे समय जो नर या नारी भगवान अरिष्टनेमि के पास दीक्षा ग्रहण करेंगे, उनका दीक्षा महोत्सव मैं करूँगा, उनके पीछे परिवार में जो रहेंगे उनका भरण-पोषण मैं करूँगा।" ऐसी घोषणा और तदनुसार व्यवहार करके श्रीकृष्ण जी ने संघ की वैयावृत्य की; जिसके फलस्वरूप उन्होंने तीर्थंकर नामकर्म का बन्ध किया। अशुभ कर्मों का क्षय किया। धर्मप्रभावना करने वाले सम्प्रति राजा जैसे व्यक्ति ने आन्ध्र आदि अनार्य प्रदेशों में जैनधर्म का प्रचार करने का भगीरथ कार्य किया।

(१०) साधर्मिक वैयावृत्य–वैयावृत्य का अन्तिम प्रकार है–साधर्मिकों की वैयावृत्य। साधर्मिक वे हैं–जो एक समान धर्म के साधक होते हैं। साधर्मिक शब्द को दो प्रकारों से परिभाषित किया जा सकता है (१) दर्शन की अपेक्षा से, और (२) चारित्र की अपेक्षा से। सम्यग्दर्शन की अपेक्षा से जिनका तत्त्वज्ञान, तत्त्वों पर तथा देव-गुरु-धर्म पर श्रद्धा, प्ररूपणा समान है, चारित्र की अपेक्षा से साधर्मिक के दो रूप हैं–सागारधर्म और अनगारधर्म। श्रावक-श्राविका का, सम्यग्दृष्टि नर-नारी का सागारधर्म समान है और साधु-साध्वी का अनगारधर्म समान है। समग्र धर्म की अपेक्षा से तो साधु-साध्वी-श्रावक-श्राविका चारों समानधर्मा–साधर्मी हैं। चारों तीर्थ

(धर्म-संघ) का अपनी-अपनी आचार-मर्यादा (कल्प) के अनुसार पूर्वोक्त रूप से तन-मन-वचन से वैयावृत्य (सेवा) करना-साधर्मिक वैयावृत्य है। यद्यपि साधु-साध्वी शरीर से अपनी मर्यादा के अनुरूप श्रावक-श्राविका की वैयावृत्य नहीं कर सकते, तथापि शारीरिक सेवा भी अपवाद मार्ग को छोड़कर नहीं ले-दे सकते हैं। वे श्रावक-श्राविका को विपत्ति, कष्ट, रोग आदि के समय में तथा सामान्य रूप से धर्म-पालन की प्रेरणा दे सकते हैं, उन्हें धर्मानुरूप मार्गदर्शन दे सकते हैं, श्रावक-श्राविका को संकट के समय अहिंसक ढंग से निवारणोपाय बता सकते हैं, धर्मोपदेश दे सकते, हैं, मंगल पाठ, उपसर्गहरण आदि सात्त्विक पाठ सुना सकते हैं, साधर्मिक वात्सल्य एवं सहयोग के लिए प्रेरणा दे सकते हैं, उन्हें देव-गुरु-धर्म तथा शास्त्र एवं तत्त्वों पर श्रद्धा एवं सम्यग्दृष्टि की रीति-नीति बता सकते हैं, तत्त्वज्ञान दे सकते हैं, धर्म-शुक्लध्यान में प्रवृत्त कर सकते हैं। श्रावक-श्राविका वर्ग भी साधु-साध्वियों के रोग, उपसर्ग, संकट, मानसिक व्यथा आदि के निवारण में तथा धर्म-प्रचार, धर्म-प्रभावनादि कार्यों में यथायोग्य सहयोग देकर सेवा कर सकते हैं। जो श्रावक-श्राविका वृद्ध, ग्लान, रुग्ण, विपन्न आदि दशा में हैं, उनकी तन-मन-धन और वचन आदि से सम्पन्न एवं सशक्त श्रावक-श्राविकाओं को उन्हें सहयोग और आश्वासन देकर वैयावृत्य करनी चाहिए।[1]

दशविध उत्तम पात्रों की वैयावृत्य से महालाभ

वैयावृत्य के इन दस उत्तम पात्रों की विधिपूर्वक वैयावृत्य करने से क्या लाभ होता है? इस सम्बन्ध में 'स्थानांगसूत्र' में स्पष्ट बताया गया है-पाँच स्थानों (प्रकारों) से श्रमण निर्ग्रन्थ महती कर्मनिर्जरा करने वाला तथा महापर्यवसान (संसार का सर्वथा उच्छेद या जन्म-मरण का सदा के लिये अन्त करने वाला) होता है। यथा-अग्लानभाव से आचार्य, उपाध्याय, स्थविर, तपस्वी, ग्लान साधक की वैयावृत्य करता हुआ। पाँच स्थानों से श्रमण निर्ग्रन्थ महती कर्मनिर्जरा करने वाला तथा महापर्यवसान होता है। यथा-शैक्ष (नवदीक्षित), कुल, गण, संघ और साधर्मिक की वैयावृत्य करता हुआ इसी प्रकार 'व्यवहारसूत्र' में भी कहा है-आचार्य आदि दशविध उत्कृष्ट पात्रों की वैयावृत्य करता हुआ श्रमण निर्ग्रन्थ महानिर्जरा का भागी तथा महापर्यवसान वाला होता है।[2]

---

१. (क) 'मोक्खपुरिसत्थो, भा. २' से भाव ग्रहण
(ख) 'जैनधर्म में तप' से भाव ग्रहण

२. (क) पंचहिं ठाणेहिं समणे णिग्गंथे महाणिज्जरे महापज्जवसाणे भवति, तं.-अगिलाए आयरियवेयावच्चं करेमाणे, अगिलाए उवज्झायवेयावच्चं, ... थेरवेयावच्चं ..... तवस्सिवेयावच्चं ..... गिलाणवेयावच्चं करेमाणे। पंचहिं ठाणेहिं समणे निग्गंथे

तीर्थंकरत्व-प्राप्ति के अधिकांश गुणों का वैयावृत्ययोगयुक्तता में अन्तर्भाव

'ज्ञातृधर्मकथासूत्र' में २० स्थान बताये गए हैं, जिनकी आराधना-साधना से आत्मा तीर्थंकर गोत्र का उपार्जन कर लेती है। उनमें से अधिकांश स्थान ऐसे हैं, जिनका वैयावृत्य में समावेश हो जाता है। इससे स्पष्ट है कि धर्माराधना अथवा मोक्ष-प्राप्ति की साधना में वैयावृत्य की कितनी महत्ता और उपयोगिता है?

'धवला' और 'षट्खण्डागम' में भी बताया गया है, तीर्थंकरत्व-प्राप्ति के लिए जो १६ कारण–भावनाएँ बताई हैं, उनमें से दर्शन-विशुद्धि, विनय-सम्पन्नता, यथाशक्ति तपश्चरण, साधुओं के लिए प्रासुक (अचित्त) वस्तु का दान (त्याग), साधुओं को समाधि-संधारणा, साधुओं के प्रति वैयावृत्य योगयुक्तता, अरहन्त-बहुश्रुत–प्रवचन-भक्ति, प्रवचन-वत्सलता, प्रवचन-प्रभावना इत्यादि गुणों के लिए व्यक्ति वैयावृत्य में संलग्न होता है। अतः दर्शन-विशुद्धता आदि गुण वैयावृत्य योग हैं। उनसे संयुक्त होने का नाम वैयावृत्य योगयुक्तता है। इस प्रकार इस एक ही वैयावृत्य योगयुक्तता से ही अनेक अशुभ कर्मों की निर्जरा होकर तीर्थंकर नामकर्म बँध जाता है। अर्थात् इस एक ही वैयावृत्य के अन्तर्गत तीर्थंकरत्व-प्राप्ति के उक्त १६ गुण (श्वेताम्बर परम्परानुसार २० गुण) आ जाते हैं। यही कारण है कि भगवान महावीर ने 'उत्तराध्ययनसूत्र' में वैयावृत्य के लाभ की पृच्छा करने पर बताया कि वैयावृत्य करने से आत्मा तीर्थंकर नामगोत्रकर्म का उपार्जन करता है।'' यह है वैयावृत्य के आचारण से अशुभ कर्मों की निर्जरा करने के साथ-साथ महान् पुण्यराशि उपार्जन करने के फलस्वरूप विश्व के सर्वोत्कृष्ट तीर्थंकरपद की प्राप्ति की शक्यता![9]

पिछले पृष्ठ का शेष–

महाणिज्जरे महापज्जवसाणे भवति, तं.–अगिलाए सेहवेयावच्चं ..... कुलवेयावच्चं ..... गणवेयावच्चं ..... संघवेयावच्चं ..... साहम्मियवेयावच्चं करेमाणे।

–स्थानांगसूत्र, स्था. ५, उ. १, सू. ४४-४५

(ख) आयरियवेयावच्चं करेमाणे समणे णिग्गंथे महाणिज्जरे महापज्जवसाणे भवइ, उवज्झायवेयावच्चं ..... थेरवेयावच्चं ..... तवस्सिवेयावच्चं ..... सेहवेयावच्चं ..... गिलाणवेयावच्चं ..... साहम्मियवेयावच्चं ..... कुल-गण-संघवेयावच्चं करेमाणे समणे णिग्गंथे महाणिज्जरे महापज्जवसाणे भवई। *–व्यवहारसूत्र, उ. १०*

१. (क) देखें–ज्ञातृधर्मकथासूत्र के ८वें अध्ययन में अरिहंत-सिद्ध-पवयण-गुरु-थेर ..... तित्थयरत्तं लहइ जीवोत्यादि पाठ

(ख) दर्शनविशुद्धिर्विनय-सम्पन्नता ..... प्रवचनवत्सलत्वमिति तीर्थकृत्वस्य।

–तत्त्वार्थसूत्र, अ. ६, सू. २३

(ग) दंसणविसुज्झदाए विणय-संपण्णदाए ..... इच्चेदेहिं सोलसेहिं कारणेहिं जीवा तित्थयरणाम गोदं कम्मं बंधंति। *–षट्खण्डागम ८/३/४१/७९*

वैयावृत्यतप का महान् पुण्यफल : तीर्थंकर चक्रवर्ती आदि पद

मानव-जगत् में दो पद सर्वोत्कृष्ट माने जाते हैं–भौतिक वैभव एवं ऐश्वर्य की दृष्टि से चक्रवर्ती का और आध्यात्मिक ऐश्वर्य की दृष्टि से तीर्थंकर का। विश्व में सर्वोत्कृष्ट भौतिक वैभव एवं ऐश्वर्य का धनी चक्रवर्ती सम्राट् होता है, उसके बल, वैभव, सेना और समृद्धि की समानता मानव-जगत् में दूसरा कोई नहीं कर सकता; इसी प्रकार तीर्थंकर आध्यात्मिक वैभव एवं शक्ति की दृष्टि से विश्व में अद्वितीय पुरुष होते हैं। वे आत्मा की अनन्त शक्तियों के तथा अव्याबाध आत्मिक-सुख (आनन्द) के स्वामी होते हैं। अनन्त आध्यात्मिक विभूतियाँ, ऐश्वर्य एवं आत्म-गुणों की सम्पत्ति उनके चरणों में लोटती है। चक्रवर्ती, नरेन्द्र, नागेन्द्र, देव और देवेन्द्र, एक नहीं, लक्षाधिक विशिष्ट जन उनकी चरण-सेवा, उपासना एवं भक्ति करते हैं। चक्रवर्ती और तीर्थंकर इन दोनों महान् पदों के जो मूल कारण हैं, जिस तपोबल से इन पदों की प्राप्ति हो सकती है, उसमें एक महत्त्वपूर्ण तप है–वैयावृत्य। सम्यग्दृष्टि को वैयावृत्य से पुण्यानुबन्धी पुण्य के अतिरिक्त अशुभ कर्मों की निर्जरा और उत्कृष्टभाव आएँ तो महानिर्जरा भी होती है।

भरत और बाहुबली को वैयावृत्यतप से विशिष्ट उपलब्धि

भगवान ऋषभदेव पूर्व-भव में वज्रनाभ मुनि थे। उन्होंने बीस स्थानों की आराधना करके तीर्थंकर नामगोत्र का उपार्जन किया था। इन्हीं भगवान ऋषभदेव के दो सुपुत्र थे–भरत और बाहुबली। भरत चक्रवर्ती थे, अतुल वैभव और ऐश्वर्य के स्वामी, किन्तु बाहुबली भी कम नहीं थे, अपार बलधारक थे। उन्होंने अपार सैन्यबलधारक भरत चक्रवर्ती जैसे बलिष्ट चक्रवर्ती को दृष्टियुद्ध, मुष्टियुद्ध आदि द्वन्द्वयुद्ध में अपने उत्कृष्ट बाहुबल द्वारा पराजित कर दिया था। भरत चक्रवर्ती को चक्रवर्तीपद तथा बाहुबली को ऐसा अद्भुत अपूर्व बल कैसे, किस साधना-आराधना से प्राप्त हुआ था? इन दोनों ने पूर्व-भव में इसी वैयावृत्यतप की साधना की थी। भरत पूर्व-भव में बाहु मुनि थे और बाहुबली थे सुबाहु मुनि। थके हुए, परिश्रान्त एवं अशक्त मुनिजनों को बाहु मुनि विश्रामणा देते थे, उनके हाथ-पैर आदि दबाते थे, अंग-मर्दन करते और उन्हें आराम पहुँचे, ऐसी सेवा (वैयावृत्य)

पिछले पृष्ठ का शेष–

(घ) जेण सम्मत्त-णाण-अरहंत-बहुसुदभत्ति-पवयण-वच्छलादिणा जीवो जुज्जइ वेज्जावच्चे सो वेज्जावच्चजोगो दंसण-विसुज्झदादि, तेण जुत्तदा वेज्जावच्च-जोग-जुत्तदा। ताए एवविहाए एक्काए वि तित्थयरणामकम्मं बंधइ। एत्थ सेसकारणाणं जहासंभवेण अंतब्भावो वत्तव्वो। –धवला ८/३/४१/८८

(ङ) वेयावच्चेणं तित्थयर-नामगोयं कम्मं निबंधेइ। –उत्तराध्ययन २९/३

आत्मौपम्यभाव से करते थे और सुबाहु मुनि आहार, पानी, औषध आदि द्वारा उनकी सेवा (वैयावृत्य) करके साता पहुँचाते थे तथा जो भी रुग्ण, ग्लान, वृद्ध एवं अशक्त साधु होते, उनकी परिचर्या, सेवा-शुश्रूषा अम्लानभाव से करते थे। इस कारण दोनों मुनियों की सर्वत्र प्रशंसा एवं प्रसिद्धि होने लगी। परन्तु दोनों मुनि निरहंकार होकर अग्लानभाव से, आत्मौपम्य दृष्टि से सबकी वैयावृत्य करते थे। इस वैयावृत्यतप की साधना के फलस्वरूप पूर्वबद्ध अशुभ कर्मों की निर्जरा करके बाहु मुनि ने चक्रवर्तीपद के योग्य शुभ कर्म उपार्जित किये और सुबाहु मुनि ने वैयावृत्य की साधना द्वारा लोकोत्तर दिव्य बाहुबल प्राप्त करने योग्य शुभ कर्म उपार्जित किये।

निष्कर्ष यह है कि तीर्थंकरपद, चक्रवर्तीपद एवं लोकोत्तर बल, वैभव आदि की प्राप्ति का मुख्य कारण वैयावृत्यतप की साधना है।[3]

मगध देश के नन्दीग्राम में एक दरिद्र ब्राह्मण पिता और सोमिला माता का पुत्र था—नन्दीषेण। ठिगने कद का, मोटे पेट वाला कालाकलूटा था वह। बचपन में ही माता-पिता के मर जाने पर वह मामा के यहाँ अनादरपूर्वक रहने लगा। जवान होने पर मामा ने उसे अपनी ७ लड़कियों में से किसी के साथ विवाह का आश्वासन देने के बावजूद सातों में से एक भी उस कुरूप और बेडोल नंदीषेण के साथ विवाह करने को तैयार नहीं हुई। फलतः अपने कुरूप, अपमानित और बोझरूप जीवन को लेकर जीने की अपेक्षा मर जाना ही अच्छा है, ऐसा सोचकर वह पर्वत से गिरकर अपने जीवन का अन्त करने को उद्यत ही था कि एक शान्तमूर्ति मुनिवर ने कहा—"ठहरो वत्स ! शान्त होओ। क्यों ऐसे अनमोल देवदुर्लभ मानव-जीवन का अन्त करना चाहते हो? इसका यों ही अन्त करने से तो पाप होगा, तुम्हारा दुःख दूर न होगा, किन्तु इसे तप, संयम में लगा देने से यह सार्थक होगा, दुःख के कारणभूत अशुभ कर्मों का क्षय होगा, आत्मिक-सुख प्राप्त होगा।

नंदीषेण ने कहा—"भगवन् ! मानव-जीवन कहाँ है अनमोल? मेरा कुरूप-बेडोल शरीर, बुद्धिमन्दता तथा समाज, घर, परिवार आदि सबसे तिरस्कृत अप्रिय जीवन कैसे अनमोल है?"

मुनिराज बोले—"सुरूपता-कुरूपता के गज से अथवा स्थूलदृष्टि लोगों के तिरस्कार-सत्कार से मानव-जीवन की अमूल्यता का मूल्यांकन नहीं होता। इनसे अनमोल मानव-जीवन में कोई रुकावट नहीं आती। अगर ज्ञान, दर्शन, चारित्रतप आदि धर्म में सम्यक् पुरुषार्थ किया जाए, अपनी शक्तियों का सम्यग्ज्ञानपूर्वक

१. 'त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र १/१/९०८' से भाव ग्रहण

सदुपयोग किया जाए तो मनुष्य का आन्तरिक सौन्दर्य खिल उठता है, कर्मक्षय होने से मोक्ष के एवं परमात्म-पद के निकट वह पहुँच जाता है।" मुनिराज का उपदेशामृत पाकर नन्दीषेण मुनि बना, अपने जीवन को उसने धन्य और सुखी अनुभव किया। रत्नत्रयाराधना में पुरुषार्थ करते हुए स्थविर, रुग्ण, ग्लान एवं अशक्त साधुओं की वैयावृत्य में अपनी शक्ति लगा दी। अपने आहार-विहार की, अपनी सुख-सुविधा की तथा प्रशंसा-प्रसिद्धि की परवाह न करते हुए वह अहर्निश सर्वात्मना वैयावृत्य-तत्पर रहने लगा। जिसको देखकर लोग घृणा से मुख फेर लेते थे, उस नन्दीषेण मुनि की चारों ओर प्रशंसा होने लगी। देवों के अधिपति इन्द्र ने भी अपनी धर्म परिषद में नन्दीषेण मुनि की वैयावृत्य-परायणता की भूरि-भूरि प्रशंसा की। अतः एक देव उसकी परीक्षा के लिए चला आया। वैक्रिय-शक्ति से उसने एक वृद्ध रुग्ण साधु का वेश बनाया और दूसरा रूप बनाया उसके शिष्य के रूप में स्वस्थ साधु का। नन्दीषेण मुनि पारणा करने बैठे ही थे, इतने में ही साधुवेषी देव ने नन्दीषेण मुनि को फटकारते हुए कहा–"देख लिया, तुम्हारा सेवाभाव ! मेरे गुरुदेव अतिसार रोग से ग्रस्त होकर वहाँ पड़े हैं और तुम अपने भोजन में लगे हुए हो।" नन्दीषेण मुनि ने यह सुनते ही शान्तभाव से कहा–"क्षमा करें मुनिवर ! मुझे पता नहीं था। बताइए कहाँ हैं आपके गुरुदेव?" यों कहकर आहार को वहीं छोड़कर वे साधुवेषी के साथ उस स्थान पर आए। मलमूत्र में लिप्त साधु को देखकर तुरंत कहीं से प्रासुक जल लाए और अग्लानभाव से उसके शरीर की सफाई की। फिर उन्हें अपने स्थान पर चलने का अनुरोध किया। वृद्ध साधु ने कुपित होकर वहाँ चलने में असमर्थता बताई तो उसे अपने कंधों पर बिठाकर अपने निवास-स्थान की ओर चल पड़ा। रास्ते में उक्त वृद्ध रुग्ण मुनि ने नन्दीषेण का सारा शरीर दुर्गन्धयुक्त मल से भर दिया, फिर भी मुनि के एक रोम में भी ग्लानि, घृणा या रोष का भाव नहीं आया। चेहरे पर तनिक भी सिहरन न आई। देव अपनी परीक्षा में नन्दीषेण मुनि को उत्तीर्ण जानकर अपने असली दिव्यरूप में नन्दीषेण मुनि के सामने हाथ जोड़कर खड़ा हुआ। मुक्त कण्ठ से मुनि के सेवाभाव की प्रशंसा की।

दीर्घकाल तक तप, संयम एवं सेवा (वैयावृत्य) की साधना करके नन्दीषेण मुनि समाधिमरणपूर्वक आठवें देवलोक में पहुँचे। "अगले जन्म में अनेक रमणियों का तथा लक्ष्मी का भोक्ता बनूँ", इस पूर्वकृत निदान के कारण वे देवलोक से च्यवकर मनुष्यलोक में अपूर्वरूप सम्पदा से सम्पन्न तथा अनेक नारियों के स्वामी वसुदेव बने। यह है, वैयावृत्य को उपार्जित पुण्यराशिवश प्राप्त सुफल।[1]

---

१. (क) आवश्यकचूर्णि (ख) वसुदेव चरित्र

वैयावृत्य से उत्कृष्ट पुण्योपार्जन तथा संवर-निर्जरा : एक चिन्तन

वैयावृत्य के पूर्वोक्त ज्वलन्त उदाहरणों से वैयावृत्य के चार फल दृष्टिगोचर होते हैं–तीर्थंकरत्व, चक्रवर्तित्व, अतुलबल-सम्पन्नता और भुवनमोहनरूप-सम्पन्नता। इनमें प्रथम दो फल तो उत्कृष्ट पद हैं और शेष दो हैं–पुण्य से सम्बद्ध, भौतिक फल। वैयावृत्य का उत्कृष्ट फल तो निर्जरा तथा महानिर्जरा, महापर्यवसानता है। जिनमें से इन चारों में वैयावृत्य होने वाली पुण्यराशि की न्यूनाधिकता है, फिर भी अशुभ कर्मों का निरोधरूप संवर एवं अशुभ कर्मों के क्षयरूप निर्जरा भी न्यूनाधिकरूप में है; किन्तु महानिर्जरा तो एकान्त आत्मलक्ष्य से युक्त इच्छानिरोधपूर्वक पूर्वोक्त दस उत्तम पात्रों की वैयावृत्य करने वाले निर्ग्रन्थ-साधक को प्राप्त होती है, वह आत्मार्थ और परमार्थ दोनों को साधता है। यद्यपि योग शुद्ध नहीं, शुभ ही होता है, किन्तु कषाय से रहित होते हुए योग को विशुद्ध कहा गया है। अतः कषायरहित योग से होने वाला प्रदेशबन्ध अबन्ध जैसा ही है। ऐसे वैयावृत्य-साधक में पर-गुणों का अनुमोदन भी आत्म-गुणों में रमण के लिए होता है। अतः उसका योग शुभ होकर विशुद्ध होता चला जाता है। विशुद्ध योगी को शीघ्र ही सर्वकर्मक्षयरूप मोक्ष प्राप्त हो सकता है।

निष्कर्ष यह है–वैयावृत्यतप से प्रधानतया कर्मों की निर्जरा होती है, किन्तु उसमें प्रशस्त गुणानुराग भी मौजूद रहता है। इसलिए इच्छानिरोधरूप अंश से कर्मनिर्जरा होती है एवं प्रशस्त मंद अनुराग से शुभ कर्म (पुण्य) का बन्ध भी होता है।

तीर्थंकर और चक्रवर्तीपद की प्राप्ति में कर्मनिर्जरा भी होती है

यद्यपि तीर्थंकरपद-प्राप्ति उत्कृष्ट पुण्यराशि के उपार्जन का फल है, किन्तु उसके पीछे जो बीस स्थान या सोलह कारण बताये गए हैं, वे सब संवर-निर्जरारूप धर्म से सम्बद्ध होते हुए साथ में सरागसंयम पूर्ण (सर्वकर्म) मुक्ति में अवरोधक हो जाता है। चक्रवर्तीपद भी भौतिक फल है, पुण्यवृद्धि का परिणाम है, यह पौद्गलिक होने के बावजूद अशुभ कर्मों की निर्जरा के बिना प्राप्त नहीं होता। यद्यपि वैयावृत्यतप निराकांक्षता तथा शारीरिक ममत्व-व्युत्सर्ग (सुखशीलता के त्याग) के बिना हो नहीं सकती, तथापि छद्मस्थ-साधक के जीवन में रोगांश (अल्प प्रशस्तराग) होता है, उसके फलस्वरूप उसे पौद्गलिक फल प्राप्त होता है, किन्तु वह आगे चलकर उसके आत्मिक-विकास एवं उत्थान में अवरोधक नहीं होता।

वैयावृत्य से संवर, निर्जरा, महानिर्जरा और मोक्ष की प्राप्ति भी सुलभ

इस प्रकार वैयावृत्य में तन, मन, वचन तीनों योगों की एकरूपता होती है, तभी वह आभ्यन्तरतप होता है और निर्जरा–महानिर्जरा भी उससे उपार्जित हो

सकती है। यद्यपि वैयावृत्य में बाह्यक्रिया स्पष्ट प्रतीत होती है, किन्तु बहिर्वृत्ति नहीं होती, इसमें सतत अन्तर्मुखता बनी रहती है। गुणियों के गुण का अनुमोदन एवं पोषणरूप यह तप अन्तर्मुखी इसलिए हो जाता है कि आत्म-गुण आभ्यन्तर और अप्रत्यक्ष होते हैं। उनके गुणों के प्रति वृत्ति होते हुए भी वैयावृत्यकर्त्ता का लक्ष्य आत्म-गुणों के प्रति रहता है। वह काया से सेवाकार्य करता है, वचन से सेव्य गुणी जनों के आत्म-गुणों की प्रशंसा-अनुमोदना करता है और अन्तर्मन आत्म-गुणों के प्रति जोड़ता रहता है। इस अपेक्षा से वैयावृत्यतप में जब तीनों योग एकरूप हो जाते हैं, आत्म-गुणों को वृद्धिंगत करने का वीर्योल्लास (पराक्रम) प्रगट होता है, तब वह वैयावृत्य आभ्यन्तरतप रूप में परिणत होता है।

यही कारण है कि वैयावृत्य में पर-उपकार करने की भावना नहीं होती, सहजभाव से उपकार होता रहता है, साथ ही वैयावृत्य का अवसर मिलने पर सेव्य के प्रति कृतज्ञता और अन्तर्मन में आह्लाद की अनुभूति होना, अत्यन्त कठिन होने से वैयावृत्य को अतिदुष्कर तप भी कहा गया है क्योंकि इसमें स्वच्छन्दता, लोकैषणा, यशकीर्ति की प्राप्ति तथा सुख-सुविधाओं को तिलांजलि देना एवं अपनी इच्छाओं का निरोध करना पड़ता है। सेव्य की इच्छा, साता और अनुकूलता को ही प्रधानता देनी होती है।

वैयावृत्यतप सामान्य आत्मा को परमात्मपद प्राप्त करा देता है

वस्तुतः जो सेवा (वैयावृत्य) करता है, उसमें चाहे अन्य कोई विशिष्ट गुण हो या न हो, किन्तु यदि उसे पूर्वोक्त प्रकार से समर्पितवृत्ति से, आत्मलक्ष्यी दृष्टि से वैयावृत्य का विशेष गुण है तो वह आगमों की दृष्टि से उस आत्मा को परमात्मा बना सकती है, जिनकी आत्म-शुद्धि उपवासादि बाह्य तपश्चरणों से होती है, उतनी ही शुद्धि वैयावृत्य में तल्लीन साधक के हो सकती है। इसीलिए कहा गया था-पूर्वोक्त उत्कृष्ट वैयावृत्य पात्रों की वैयावृत्य से साधक महानिर्जरा और महापर्यवसान (परम मुक्ति-सर्वकर्ममुक्ति) प्राप्त कर लेता है, अर्थात् वैयावृत्य सर्वकर्ममुक्तिदायिनी है।

इसलिए वैयावृत्य (सेवा) का महत्त्व दूसरे तपों से कम नहीं है। दूसरों की वैयावृत्य करना अपना ही कर्त्तव्य-दायित्त्व या कार्य है। इसमें सेवा कराने वाले को क्षणिक लाभ है, उसे तत्काल साता पहुँच जाती है, मगर वास्तविक लाभ, कर्मों की निर्जरा, महानिर्जरा अथवा पुण्यवृद्धि का लाभ तो सेवा (वैयावृत्य) करने वाले को ही मिलता है। जिस कार्य से तीर्थंकरपद, मुक्ति और अनन्त ऐश्वर्य का लाभ स्वयं (सेवाकर्त्ता) को मिलता है, वह महान् कार्य अपना ही मानना चाहिए, वह एक प्रकार से अपनी (आत्मा की) ही सेवा है; अपने आप को ही महान् लाभ है।

भगवान की शारीरिक सेवा से भी ग्लान की सेवा बढ़कर है

एक प्राचीन आचार्य ने गणधर गौतम और भगवान महावीर का संवाद प्रस्तुत किया है। भगवान से पूछा गया–एक साधक आपकी सेवा में करबद्ध होकर उपस्थित रहता है और एक साधक रुग्ण, अशक्त, वृद्ध आदि साधकों की सेवा करता है, इन दोनों में कौन श्रेष्ठ है, कौन धन्य है? उत्तर में भगवान महावीर ने कहा–"जे गिलाणं पडियरइ, से धन्ने।"–वही वास्तव में धन्यवाद का पात्र है, जो ग्लान–अशक्त की सेवा करता है। इसका कारण बताते हुए उन्होंने कहा–"मेरी शरीर-सेवा का इतना महत्त्व नहीं, जितना कि मेरी आज्ञा की आराधना करने का है।" "आणाराहणं खु जिणाणं।"–जिनेश्वरों की आज्ञा की आराधना–पालना करना ही उनकी तथा धर्म-संघ की सबसे बड़ी सेवा है।[1]

आत्म-वैयावृत्य और पर-वैयावृत्य से सम्बन्धित आठ शिक्षाएँ

भगवान महावीर ने साधु-साध्वी-श्रावक-श्राविकाओं को जो आठ अमर शिक्षाएँ दी हैं, वे सीधी आज्ञारूप में तो नहीं हैं, प्रेरणारूप में अवश्य हैं, कर्मक्षय करने के लिए सरल उपायरूप हैं उनमें से चार शिक्षाएँ तो वैयावृत्य के लिए अभ्युद्यत रहने के सम्बन्ध में हैं–

(१) असंगृहीत (अनाश्रित, असहाय या निराधार) साधकों (साधु-श्रावकों) को सहायता, सहयोग एवं आश्रय देने के लिए सदा तत्पर रहना चाहिए।

(२) शैक्ष (नवदीक्षित साधु या साध्वी) को आचारगोचर का सम्यक् बोध कराने के लिए सदा उद्यत रहना चाहिए।

(३) ग्लान (रुग्ण या अशक्ति) की अग्लानभाव से वैयावृत्य करने के लिए सदा तत्पर रहना चाहिए।

(४) साधर्मिकों में परस्पर कलह उत्पन्न होने पर–ये मेरे साधर्मिक (चतुर्विध संघ) कैसे अपशब्द, कलह और तू-तू मैं-मैं से रहित हों, ऐसा विचार करके लिप्सा, स्वार्थ और अपेक्षा से रहित होकर किसी का पक्षपात न करके माध्यस्थभाव को स्वीकार उसे उपशान्त करने के लिए अभ्युत्थित रहना चाहिए।

---

१. (क) असंगिहीत परिजणस्स संगिण्हणताए अब्भुट्ठेयव्वं भवति; सेहं आयार-गोयरं गाहणताए अब्भुट्ठेयव्वं भवति; गिलाणस्स अगिलाए वैयावच्चकरणयाए अब्भुट्ठेयव्वं भवति; साहम्मियाणमधिकरणंसि उप्पण्णंसि तत्थ अणिस्सितोवस्सितो अपक्खगाही मज्झत्थभावभूते कहं णु साहम्मिया अप्पसद्दा, अप्पझंझा, अप्पतुमंतुमा? उवसामणयाए अब्भुट्ठेयव्वं भवति। –*स्थानांग, स्था. ८, सू. ६१९*

(ख) असुयाणं धम्माणं सम्मं सुणणताए ..... सुयाणं धम्माणं ओगिण्हणयाए उवधारणयाए, ... पोराणाणं कम्माणं तवसा विगिंचणयाए विसोहणयाए; नवाणं कम्माणं संजमेणमकरणयाए अब्भुट्ठेयव्वं भवति। –*वही, स्था. ८, सू. ६१९*

इनसे पूर्व की चार अमूल्य शिक्षाएँ आत्म-वैयावृत्य से सम्बन्धित हैं–"अश्रुत धर्म को सुनने के लिए, श्रुतधर्मों को मनयोगपूर्वक धारण कर स्थिर स्मृति के लिए तथा संयम से नवीन कर्मों के निरोध के लिए और प्राचीन (पूर्वबद्ध) कर्मों को तप से पृथक् करने तथा आत्म-विशुद्धि करने के लिए सदा उद्यत रहे। 'आचारांगसूत्र' में जो प्रतिज्ञासूत्र बताया है–मैं दूसरे से आहार की सेवा लूँगा/नहीं लूँगा तथैव दूसरों की सेवा (ऐसी) नहीं करूँगा/करूँगा; इस सूत्र में उक्त प्रतिमाग्रहण एक प्रकार की प्रतिज्ञा है, सहिष्णुता एवं तितिक्षा को बढ़ाने के लिए। इस पर से वैयावृत्य का निषेध सूचित नहीं होता इसीलिए श्रमण भगवान महावीर ने आत्म-वैयावृत्य और पर-वैयावृत्य दोनों को बराबर महत्त्व दिया है।[1]

वैयावृत्य से विमुख साधक गुरु-चातुर्मासिक प्रायश्चित्त का भागी

जो साधु शक्ति होते हुए भी वैयावृत्य में आलस्य, अरुचि, अतत्परता या विमुखता है, वह उसके आत्म-विकास को रोकती है, वह अपनी शक्ति का सदुपयोग नहीं करता, वह आत्म-वैयावृत्य के अवसर को चूक जाता है। 'निशीथसूत्र' में बताया गया है कि जो साधु-साध्वी किसी बीमार साधु या साध्वी का सुनकर उनकी सेवा में लापरवाही दिखाता है, अरुचि प्रगट करता है, निकट में और स्वस्थ होते हुए भी दूसरे मार्ग से चला जाता है, उनकी सेवा से जान-बूझकर मुँह मोड़ता है, तो उसे चार मास का गुरु प्रायश्चित्त आता है। सेवा के प्रति लापरवाही बरतने वाले साधु या साध्वी को इस प्रकार कड़ा दण्ड आता है और रुग्ण साधु या साध्वी के प्रति उपेक्षा करने वाले साधु या साध्वी की लोकनिन्दा भी होती है, वह एक प्रकार से संघ की अवज्ञा या उपेक्षा करता है, वह एक प्रकार से भगवदाज्ञा की उपेक्षा करता है। कारण यह है कि रुग्ण या लाचार अवस्था में व्यक्ति बेचैन, क्षुब्ध और व्याकुल हो उठता है। ऐसी दशा में आवेश में आकर वह धर्म से, सत्कर्म से भ्रष्ट भी हो सकता है, मर्यादा भ्रष्ट होकर असंयम या असदाचार में भी प्रवृत्त हो सकता है। ऐसे रोग, संवर या पीड़ा के समय जो निरपेक्षभाव से उसे धैर्य बँधाता है, आधार देता है, सहयोग करता है, सेवा-शुश्रूषा द्वारा उसके मन को प्रसन्न रखता है, वह उसे धर्म-जीवन प्रदान करता है, वैयावृत्य करके महान् उपकार करता है। उसकी आत्मा को आत्मिक-सुख की ओर बढ़ाता है क्योंकि समाधि पहुँचाने वाला उसी समाधि को प्राप्त होता है, ऐसा भगवत्-कथन है। इसलिए वैयावृत्यतप का कोई भी अवसर आत्मार्थी या मुमुक्षु को नहीं चूकना चाहिए।[2]

●●

---

१. (क) आचारांगसूत्र, श्रु. १, अ. ९, उ. ७
(ख) स्थानांग, स्था. ४, उ. ३, सू. ४१३, ४१२

२. जे भिक्खू गिलाणं सोच्चा (नच्चा) उमग्गं वा पडियहं वा गच्छइ, गच्छंते वा साइज्जइ ···।
जे भिक्खू गिलाणं सोच्चा ण गवेसइ, ण गवेसंतं वा साइज्जइ ····· तस्स आवज्जइ चाउमासियं परिहारठाणं अणुग्घाइयं। –*निशीथसूत्र, उ. १०, सू. ६३७, ६३६*

१३

स्वाध्याय और ध्यान द्वारा कर्मों से शीघ्र मुक्ति

विनय, वैयावृत्य के बाद स्वाध्याय, ध्यान का निर्देश क्यों ?

विनय और वैयावृत्यतप द्वारा अहंत्व और ममत्व का विसर्जन करने से जो आत्म-शुद्धि हो जाती है, उसका निरीक्षण, परीक्षण करने, आत्म-शुद्धि में चित्त को, अन्तर्मन को स्थिर करने हेतु क्रमशः स्वाध्याय और ध्यान-तप का निर्देश जैनागमों में किया गया है और अन्त में छठे आभ्यन्तरतप–व्युत्सर्ग द्वारा अन्तरात्मा में जो भी कषायों, विषयों के प्रति राग-द्वेष, काम, मोह आदि विकारों का कूड़ा-कचरा बचा हुआ रह गया हो, उसे प्रबल संवेग, निर्वेद आदि के माध्यम से व्युत्सर्गतप द्वारा बाहर निकालने का निर्देश किया गया है।

सर्वप्रथम स्वाध्यायतप को समझना है कि उसके द्वारा कैसे आत्मा में निहित कर्ममलों का निष्कासन करने का चिन्तन-मनन-निदिध्यासन करना है?

स्वाध्याय : अन्दर का चेहरा देखने के लिए दर्पण है

स्वाध्याय एक दर्पण है। मनुष्य दर्पण में अपना चेहरा देखकर उस पर लगी हुई कालिमा, जमी हुई धूल, मैल आदि को जान लेता है, फिर उसे दूर करने का प्रयास करता है, इसी प्रकार स्वाध्यायरूपी दर्पण में सम्यग्दृष्टि मनुष्य गुण-दोषों, अच्छाइयों-बुराइयों, अपनी कमजोरियों-मजबूरियों आदि को निहारकर दोषों, बुराइयों, कमजोरियों और मजबूरियों आदि को बाहर निकालने हेतु चिन्तन-मनन कर लेता है।

इसीलिए प्रत्येक साधक की चर्या में रात्रि और दिन के चार-चार प्रहरों में प्रथम प्रहर में स्वाध्याय और द्वितीय प्रहर में ध्यान करने का निर्देश किया गया है।[1]

स्वाध्याय आन्तरिक तप क्यों है ?

स्वाध्याय मानसिक भूमिका पर होता है। मन के तीन कार्य हैं–मनन, स्मरण और तत्त्वविचार अथवा शास्त्रीय दृष्टि से अवग्रहा, ईहा, अवाय और धारणा; ये

---

१. पढमं पोरिसि सज्झायं बीयं झाणं झियायई। –उत्तराध्ययन, अ. २६, गा. १२, १८

४ प्रकार हैं। इन चारों में अवग्रह, ईहा और अवाय तक मन द्वारा मनन और स्मरण किया जाता है, धारणा में स्मृत विषय को अन्तर्मन में स्थिर किया जाता है। स्वाध्याय का अर्थ केवल पुस्तक पढ़-सुन लेना ही नहीं है, किन्तु उक्त शास्त्र या ग्रन्थ में अंकित तत्त्वों-तथ्यों पर विचार करके अन्तर्बोध करना, सत्य को प्राप्त करना भी तथा अनुप्रेक्षा और भावना के माध्यम से अन्तर की गहराई में उतरकर सत्य के तट तक पहुँच जाना, सत्य का आन्तरिक निरीक्षण-परीक्षण एवं बोध कर लेना भी स्वाध्याय है। इसलिए स्वाध्याय के दर्पण में मन और बुद्धि के द्वारा अन्तर्निरीक्षण करने के कारण स्वाध्याय आभ्यन्तरतप है।

यद्यपि स्वाध्याय में शरीर और वाणी का भी सम्बन्ध रहता है, पर वह इतना गौण होता है कि सारा चिन्तन-प्रवाह अन्दर की ओर होता है, बाहर की ओर नहीं। स्वाध्याय वाणी से या समीन करते हुए भी उसमें पठित शब्दों का तार अन्तर्मन से और बुद्धि से जोड़ा जाता है।[1]

स्वाध्याय : अन्तर्निहित ज्ञान को प्रकाशित करने हेतु दीपक है

स्वाध्याय अन्धकारपूर्ण जीवनपथ को आलोकित करने के लिए दीपक के समान है। इसके दिव्य आलोक में हेय, ज्ञेय और उपादेय का परिज्ञान हो जाता है। अन्तरात्मा में निहित ज्ञान को प्रकाशित करने, आत्मा में निहित ज्ञानादि गुणों की निधि को बताने के लिए स्वाध्याय दीपक का कार्य करता है। 'बौद्ध त्रिपिटक' में स्वाध्याय के द्वारा अपने आप का दीपक स्वयं बनने का निर्देश है।[2]

स्वाध्याय : नन्दनवन के समान आनन्ददायक है

शास्त्रकारों ने स्वाध्याय को नन्दनवन की उपमा दी है। नन्दनवन में चारों ओर मन को आल्हादित करने वाले सुरम्य दृश्य होते हैं, जहाँ पहुँचकर मानव अपनी शारीरिक-मानसिक थकान मिटा देता है, वह तरोताजा और फुर्तीला हो जाता है, सभी प्रकार की आधि, व्याधि और उपाधि को विस्मृत करके आनन्द के झूले में झूलने लगता है। इसी प्रकार स्वाध्यायरूपी नन्दनवन में पहुँचकर मानव अलौकिक एवं अपूर्व आनन्द का अनुभव करता है, अपनी मानसिक, बौद्धिक समस्याएँ सुलझाकर शान्ति और सन्तोष प्राप्त कर लेता है। स्वाध्याय के नन्दनवन में विचरण-रमण करने पर कभी महापुरुषों के जीवन की दिव्य और भव्य झाँकियाँ पढ़ने को मिलती हैं; कभी शुभाशुभ के कर्मवृक्षों के फल के रूप में स्वर्ग और

---

१. 'महावीर की साधना का रहस्य' (आचार्य महाप्रज्ञ) से भाव ग्रहण, पृ. २७३-२७४
२. (क) 'जैन आचार : सिद्धान्त और स्वरूप' से भाव ग्रहण
   (ख) अप्पदीपो भव।

नरक के सुख-दुःखों का वर्णन ज्ञात होता है, तो कभी स्वाध्याय करते समय जीवन को आमूल परिवर्तन करने वाली शिक्षाएँ मिलती हैं। महात्मा गांधी जी ने लिखा है–"जब कभी मेरे सामने कोई उलझन या समस्या आती है तो मैं गीतामाता की शरण में जाता हूँ।" इसी प्रकार जब किसी व्यक्ति का मन हताश, निराश या उलझनों से भरा हो तब उत्तम ग्रन्थों या शास्त्रों की शरण में जाने से मार्गदर्शन, प्रेरणा एवं उत्साह को जगाने और निराशा को भगाने वाली देशना मिलती है, जिससे सभी उलझनें एवं निराशाएँ मिटकर जीवन में नई आशा, उत्साह, स्फूर्ति एवं साहस का संचार हो जाता है।[1]

स्वाध्याय : अज्ञानमूलक दुःखों के निवारण का उपाय बताता है

जीवन में दुःख, दारिद्र्य, रोग, शोक, संकट आदि पूर्वकृत कर्मों के उदय से आते हैं, परन्तु इससे अनभिज्ञ मानव उन दुःखों को मिटाने हेतु पुराने कर्मों का क्षय तथा नये आते हुए कर्मों का निरोध करने के बजाय उन दुःखों आदि के समय या तो चिन्ता, शोक, विलाप, रुदन, उद्विग्नता या आर्त्तध्यान करता है अथवा भगवान, कर्म, काल तथा अन्य निमित्तों को कोसता है या उन पर दोषारोपण करके अथवा उन निमित्तों को हानि पहुँचाने, उन्हें दुःखित करने हेतु रौद्रध्यान करता है। ऐसा करके अपनी अज्ञानता और मूढ़ता के कारण वह पुराने कर्मों को रो-रोकर भोगता है, नये अशुभ कर्मों को और बाँध लेता है। एक पाश्चात्य विचारक ने ठीक ही कहा है–"Ignorance is the root of all evils."—अज्ञानता ही समस्त बुराइयों, दुःख-दैन्यों और विपत्तियों की जड़ है। शास्त्रों और तत्त्वज्ञानशिक्षक ग्रन्थों के स्वाध्याय से उन दुःखों के कारणों को जानने के पश्चात् दुःख में से सुख को निकालने और दुःखों से मुक्त होने का अनुभूत उपाय मिल जाता है। इसीलिए भगवान महावीर ने कहा–स्वाध्याय में नियुक्त होने = रत रहने से समस्त दुःखों से मुक्ति मिलती है। "जन्म-जन्मान्तर में संचित किये हुए नाना प्रकार के कर्म स्वाध्याय करने से क्षणभर में क्षीण किये जा सकते हैं। इसलिए सर्वभाव प्रकाशक स्वाध्याय करना चाहिए।" जीवन में जो कुछ भी दुःख-दैन्य के काले-कजरारे बादल उमड़-घुमड़कर आते हैं, उनका मूल कारण अज्ञान है। स्वाध्याय समस्त भावों, हेयोपादेयादि तत्त्वों एवं तथ्यों का यथातथ्यरूप में प्रस्तुत करके उस अज्ञान को नष्ट कर देता है, जिसके कारण मनुष्य दुःख पाता है। अतः स्वाध्याय अज्ञानमूलक दुःखों के निवारण का उपाय बताने वाला पथ-प्रदर्शक है।[2]

---

१. (क) 'जैन आचार : सिद्धान्त और स्वरूप' से भाव ग्रहण
(ख) 'आत्मकथा उर्फ सत्य के प्रयोग' (महात्मा गांधी जी) से भाव ग्रहण

२. (क) सज्झाए वा निउत्तेण सव्व-दुक्ख-विमोक्खणे। –*उत्तराध्ययनसूत्र, अ. २६, गा. १०*

स्वाध्याय : अज्ञान से आवृत आत्म-ज्ञान को अनावृत करने का माध्यम

'उत्तराध्ययनसूत्र' में कहा गया है–"स्वाध्याय से ज्ञानावरणीय कर्म का क्षय होता है।"[1] ज्ञानावरणीय कर्म की निर्जरा, क्षय या क्षयोपशम होने से आत्मा में निर्मल ज्ञान की ज्योति जगमगा उठती है, जिसके प्रकाश में आत्मार्थी एवं मुमुक्षु जीव अपने दुःखों–संकटों आदि का कारण तथा उन्हें निवारण करने का उपाय जानकर उन दुःखकारक कर्मों को नष्ट कर पाता है। अतः स्वाध्याय अज्ञानान्धकार से आवृत एवं सुषुप्त आत्मा के अनन्त ज्ञान को अनावृत एवं जाग्रत करने का सर्वोत्तम सरलतम माध्यम है।

स्वाध्याय से क्लिष्टचित्तवृत्ति-निरोधक योग की प्राप्ति

स्वाध्याय से चित्त एकाग्र और शुद्ध हो जाता है और शुद्ध चित्त में ही शुद्ध आत्मा (परमात्मा) का निवास हो सकता है। इसी तथ्य को उजागर करते हुए 'योगदर्शन' के भाष्यकार महर्षि व्यास कहते हैं–"स्वाध्याय से योग की प्राप्ति होती है और योग से स्वाध्याय की साधना होती है। जो साधक स्वाध्यायमूलक योग की सम्यक् साधना करता है, उसके समक्ष परमात्मा प्रकट हो जाता है। अर्थात् वह स्वयं परमात्मपद को प्राप्त कर लेता है।"[2]

स्वाध्याय और ध्यान, दोनों परस्पराश्रित हैं

स्वाध्याय के साथ ध्यान का घनिष्ट सम्बन्ध है। 'उत्तराध्ययनसूत्र' में स्वाध्याय के पश्चात् ध्यान करने का जो विधान है, उसका आशय यही है कि प्रथम प्रहर में सूत्र का स्वाध्याय किया जाये और द्वितीय प्रहर में उस सूत्र के अर्थों और आशयों पर चिन्तन-मनन किया जाये। इसीलिए प्रथम प्रहर को सूत्र-पोरसी और द्वितीय प्रहर को अर्थ-पोरसी भी कहा जाता है।[3]

स्वाध्याय और ध्यान का परस्पर घनिष्ट सम्बन्ध

दूसरे दृष्टिकोण से भी देखें तो स्वाध्याय और ध्यान का परस्पर घनिष्ट सम्बन्ध है। स्वाध्याय में अपनी आत्मा का चिन्तन प्रमुख होता है, जबकि ध्यान में

पिछले पृष्ठ का शेष–

(ख) बहुभवे संचियं (कम्मं) खलु सज्झाएण खणे खवइ। –चन्द्रप्रज्ञप्ति ९१

(ग) सज्झायं च तओ कुज्जा सव्व-भाव-विभावणं। –उत्तराध्ययन २६/३७

(घ) अज्ञानमूलं हि सर्वं दुखमविवेकिनः।

१. सज्झाएणं नाणावरणिज्जं कम्मं खवेइ। –उत्तराध्ययन, अ. २९, सू. १८

२. योगदर्शन व्यासभाष्य ९/२८

३. पढमं पोरिसि सज्झायं, बीयं झाणं झियायइ। –उत्तरा. २६/१२, १८

एकाग्रतापूर्वक आत्म-चिन्तनकर्ता ध्याता ध्येयरूप हो जाता है। ध्यान और स्वाध्याय दोनों से चित्त एकाग्र होता है। ध्यान में अन्य किसी वस्तु का अवलम्बन न लेकर ध्याता जब स्वयं को ही अपने चिन्तन का विषय बनाकर उसमें एकाग्र हो जाता है, तब वह उत्कृष्ट ध्यान कहलाता है; जिसे 'योगदर्शन' में निर्बीज समाधि कहा है।[1]

स्वाध्याय से श्रुतसमाधि की उपलब्धि

'दशवैकालिकसूत्र' में चार प्रकार की समाधियों का वर्णन है। समाधि का स्वरूप संक्षेप में इस प्रकार है–"जिसके प्राप्त होने पर व्याधि, आधि और उपाधि न रहे, वह समाधि (सम्यक् मनःसमाधान) है।" समाधि के चार प्रकार यों हैं– (१) विनयसमाधि, (२) श्रुतसमाधि, (३) तपःसमाधि, और (४) आचारसमाधि। आशय यह है कि विनय, श्रुत, तप और आचार के जीवन में परिनिष्ठित = परिपक्व हो जाने पर साधक चारों में समाधि प्राप्त कर सकता है, अर्थात् शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक स्वस्थता प्राप्त कर लेता है।

यहाँ श्रुतसमाधि का प्रसंग है। वह शास्त्रों के बार-बार स्वाध्याय से ही प्राप्त हो सकती है। श्रुतसमाधि कैसे प्राप्त हो सकती है? इस सम्बन्ध में वहाँ कहा गया है– "श्रुतसमाधि चार प्रकार से होती है। यथा–(१) श्रुत (शास्त्र) पर मेरा अधिकार हो जाये, शास्त्र मेरे अधिगत हो जायें, इसके लिए सम्यक् अध्ययन करना चाहिए। (२) श्रुत का अध्ययन करने से मेरा मन एकाग्र–एक विषय पर स्थिर हो सकेगा। (३) आत्मा को आत्म-भावों में स्थापित कर सकूँ, इसके लिए भी शास्त्र स्वाध्याय करना चाहिए, और (४) मैं अपने आप में स्थित (स्थितात्मा) होकर दूसरों को आत्मा में स्थित कर सकूँगा, इसके लिए भी मुझे (शास्त्रों का) अध्ययन करना चाहिए।"[2] यही स्वाध्याय के द्वारा आन्तरिक तप का रूप है।

स्वाध्याय से अन्य अनेक लाभ

'स्थानांगसूत्र' में प्रकारान्तर से शास्त्रों के अध्ययन (शिक्षण) और अध्यापन (वाचना देने) के रूप में स्वाध्याय क्यों करना चाहिए? इससे लाभ से सम्बन्धित ५-५ कारण बताये गये हैं–यथा–(१) ज्ञानार्थ = नये-नये तत्त्वों के परिज्ञान के लिए, (२) दर्शनार्थ = सम्यग्दर्शन की उत्तरोत्तर पुष्टि के लिए, (३) चारित्रार्थ = चारित्र की निर्मलता–निर्दोषता के लिए, (४) व्युद्ग्रह-विमोचनार्थ = दूसरों के

---

१. 'जैन आचार : सिद्धान्त और स्वरूप' से भाव ग्रहण, पृ. ५८२

२. चउव्विहा खलु सुअ समाही भवइ तं.–सुअं मे भविस्सइति अज्झाइ अव्वं भवइ। एगग्गचित्तो भविस्सामि ति अज्झा.''''। अप्पाणं ठावइस्सामि ति अज्झा.''''। ठिओ परं ठावइस्सामि अज्झाइयव्वं भवइ।'''' णाणमेगग्गचित्तो अ, ठिओ अ ठावइ परं। सुआणि य अहिज्जित्ता, रओ सुअ-समाहिए। –दशवै. ९/३/४

दुराग्रह को छुड़ाने के लिए, और (५) यथार्थ-भावज्ञानार्थ = सूत्रों के अध्ययन (शिक्षण) से यथार्थ भावों (वस्तुओं के यथार्थस्वरूप) को जानने के लिए। इन पाँच कारणों से सूत्रों (शास्त्रों) का अध्ययन (शिक्षण) करना चाहिए।[1]

शास्त्र-अध्यापन के रूप में स्वाध्याय करने से पाँच महालाभ

इसी प्रकार वहाँ बताया गया है–पाँच कारणों से सूत्र (शास्त्र) का अध्यापन (वाचना देने) के रूप में स्वाध्याय करना चाहिए। यथा–(१) संग्रह के लिए = अध्यात्म से श्रुतज्ञान का संग्रह करने अथवा शिष्यों को शास्त्र का सम्यक्रूप से ग्रहण (ज्ञान) कराने के लिए, (२) उपग्रह के लिए = शिष्यों का श्रुतज्ञान देकर उपकृत करने के लिए, ताकि वह श्रद्धापूर्वक श्रुतसेवा कर सके। (३) निर्जरा के लिए–कर्मों–ज्ञानदर्शनादि प्रतिबन्धक कर्मों के क्षय के लिए, (४) शास्त्रों का अध्ययन कराने (वाचना देने) से मेरा श्रुतज्ञान परिवर्द्धित = पुष्ट होगा, विशेष रूप से स्थिर होगा, इसके लिए, और (५) श्रुत (शास्त्र) का अध्ययन-अध्यापन की परम्परा चालू रखने से (निरन्तर स्वाध्याय करने से) सूत्र विच्छिन्न नहीं होगा; अर्थात् सूत्र परम्परा को अविच्छिन्न रखने के लिए। इस प्रकार शास्त्रों के तथा अध्यात्म-तत्त्वज्ञान के ग्रन्थों के स्वाध्याय से, पठन-पाठन से ज्ञान-दर्शन-चारित्र-संयम, विनय-वैयावृत्य आदि अनेक गुणों की वृद्धि होती है। मन, बुद्धि, चित्त, हृदय अन्य पर-भावों या विभावों में न लगकर स्वभाव में–आत्म-भाव में–आत्मा के ज्ञानादि गुणों में स्थिर रहता है।[2]

स्वाध्याय से सात आध्यात्मिक लाभ

'तत्त्वार्थ राजवार्तिक' में स्वाध्याय से अनेक आध्यात्मिक लाभ बताए हैं–(१) स्वाध्याय से बुद्धि परिष्कृत एवं निर्मल होती है, (२) प्रशस्त अध्यवसाय चित्त में प्रादुर्भूत होते हैं, (३) शासन (धर्म-संघ) की आध्यात्मिक पतन से सुरक्षा होती है, (४) अनेक संशयों का निवारण होता है, (५) परवादियों की शंकाओं के निराकरण की शक्ति प्राप्त होती है, (६) तप, त्याग, संयम की अभिवृद्धि होती है, (७) व्रत, नियम, संयम में लगने वाले अतिचारों (दोषों) की शुद्धि होती है।[3]

---

१. पंचहिं ठाणेहिं सुत्तं सिक्खेज्जा, तं.–णाणट्ठयाए, दंसणट्ठयाए, चरित्तट्ठयाए, वुग्गह-विमोयणट्ठयाए, अहत्थे वा भावे जाणिस्सामीति कट्टु।

–स्थानांग, स्था. ५, उ. ३, सू. २२४

२. पंचहिं ठाणेहिं सुत्तं वाएज्जा, तं.–संगहट्ठयाए, उवग्गहट्ठयाए, णिज्जरट्ठयाए, सुत्ते वा मे पज्जवयाते भविस्सति, सुत्तस्स वा अवोच्छित्ति णयट्ठयाए।

–वही, ठा. ५, उ. ३, सू. २२३

३. तत्त्वार्थ राजवार्तिक

'बौद्ध वाङ्मय' में भी स्वाध्याय से लाभ बताते हुए कहा गया है–"जो व्यक्ति प्रतिदिन स्वाध्याय करता है, उसके ज्ञान की उत्तरोत्तर वृद्धि होती है। उसका ज्ञान शतशाखी होकर निरन्तर बढ़ता जाता है।"[1]

स्वाध्याय का विशिष्ट फल

स्वाध्याय का विशिष्ट फल बताते हुए 'योगदर्शन' में कहा है–स्वाध्याय से इष्ट (अभिलषित) देवों (दिव्य आत्माओं) का सम्प्रयोग (सम्बन्ध या साक्षात्कार) होता है। आशय यह है कि श्रद्धापूर्वक नियमित रूप से स्वाध्याय करते रहने से अनेक बार स्वाध्यायी के मस्तिष्क में आकस्मिक रूप से अभीष्ट अर्थ स्फुरित होते जाते हैं। ऐसा प्रतीत होता है, जैसे कोई दिव्य आत्मा आकर इस अर्थ को बताया गया है। ऐसे स्वाध्यायशील योगी के मस्तिष्क अथवा भावनाओं में अकस्मात् कोई सम्यग्दृष्टि देवी-देव का अथवा दिव्य महान् साधक का या ज्ञानी आत्मा का संयोग मिल जाता है, जिनसे स्वाध्यायी को अकस्मात् नये-नये अर्थों की स्फुरणा होती रहती है।[2] जैनसिद्धान्त की दृष्टि से उसे पदानुसारी लब्धि आदि लब्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं, जिनसे वह सिद्धान्तानुसार अनेक शंकाओं और प्रश्नों का शीघ्र समाधान कर पाता है। इसी कारण 'शास्त्र को तृतीय लोचन' तथा 'सर्वजगत् का नेत्र' कहा गया है।[3]

स्वाध्याय के उत्तम फल

स्वाध्याय का फल बताते हुए 'धवला' में एक प्रश्न उठाया गया है कि स्वाध्याय से कर्मों की असंख्यातगुण श्रेणीरूप में निर्जरा होती है, यह बात किसको प्रत्यक्ष है? इसका समाधान यह है कि ऐसी शंका ठीक है। क्योंकि शास्त्र का अध्ययन करने वालों की असंख्यातगुणित श्रेणीरूप से निर्जरा होती है, यह बात अवधिज्ञानी और मनःपर्यवज्ञानियों को प्रत्यक्ष रूप से उपलब्ध होती है। फिर एक प्रश्न और उठाया गया है–"शास्त्रों की व्याख्या सर्वकाल में किसलिए की जाती है? उत्तर है–क्योंकि वह व्याख्याता और श्रोता के असंख्यातगुणी श्रेणीरूप से होने वाली कर्मनिर्जरा का कारण है।"

'भगवती आराधना' में कहा गया है–"दो, तीन, चार, पाँच अथवा पक्षोपवास तथा मासोपवास करने वाले सम्यग्ज्ञानरहित जीव की अपेक्षा भोजन करने वाला, किन्तु स्वाध्याय में तत्पर सम्यग्दृष्टि जीव परिणामों की ज्यादा विशुद्धि कर लेता

---

१. धम्मपद

२. देखें–पातंजल योगदर्शन के पाद २, ४४वें सूत्र–'स्वाध्यायादिष्ट देवता-सम्प्रयोगः' इस सूत्र की व्याख्या। –*पातंजल योगदर्शन विद्योदयभाष्य सहित, पृ. १५०*

३. शास्त्रं तृतीयलोचनम्। सर्वस्य लोचनं शास्त्रम्। –*नीति वाक्यामृत*

है।" और भी कहा है–"पाँचों इन्द्रियों से सुसंवृत त्रिगुप्तियों से गुप्त जो साधु स्वाध्याय करता है, वह एकाग्रचित्त होकर विनय से युक्त होता है। जिसमें अतिशय रस का प्रसार है, ऐसे श्रुत (शास्त्र) में वह जैसे-जैसे अवगाहन करता है, वैसे-वैसे अतिशय नवीन धर्मश्रद्धा से संयुक्त होता हुआ परम आनन्द का अनुभव करता है।" स्वाध्याय से प्राप्त आत्म-विशुद्धि से युक्त साधक निष्कम्प एवं हेयोपादेय में विलक्षण बुद्धि होकर यावज्जीवन रत्नत्रयमार्ग में विहरण करता है।" 'प्रवचनसार' के अनुसार–"जैनशास्त्र द्वारा प्रत्यक्षादि प्रमाणों से पदार्थों को जानने वाले (स्वाध्याय-साधक) के नियमतः मोह-समूह क्षय हो जाता है। आगमज्ञान से हीन श्रमण आत्मा और पर को नहीं जान पाता, पदार्थों को नहीं जानता हुआ भिक्षु कर्मों का क्षय कैसे कर सकता है? क्योंकि साधु आगमचक्षु है, सर्वप्राणी इन्द्रियचक्षु हैं, देव अवधिचक्षु वाले हैं और सिद्ध-परमात्मा सर्वतः चक्षु वाले हैं। आगम से यदि पदार्थों का श्रद्धान न हो तो उसकी सिद्धि (मुक्ति) नहीं होती। क्योंकि श्रमण आगम द्वारा देखकर गुण-पर्यायों सहित द्रव्यों को जानते हैं।"[1]

---

१. (क) कर्मणामसंख्यातगुणश्रेणि-निर्जरा केणं प्रत्यक्षेति चेन्न, अवधि-मनःपर्ययज्ञानिनां सूत्रमधीयानानां तत्प्रत्यक्षतायाः समुपलम्भात्। –धवला १/१, १, १/५६/३

(ख) किमर्थं सर्वकालं व्याख्यायते? श्रोतुर्व्याख्यातुश्च असंख्यातगुणश्रेण्या कर्मनिर्जरा-हेतुत्वात्। –वही ९/५, ५, ५०/२८१/३

(ग) छट्ठट्ठम-दसम-दुवालसेहिं अण्णाणियस्स जा सोही।
तत्तो बहुगुण-दरिया होज्ज हु जिमिदस्स णाणिस्स॥ –भगवती आराधना, गा. १०९

(घ) सज्झायं कुव्वंतो पंचिंदिय-संवुडो तिगुत्तो य।
हवदि य एगग्गमणो विणएण समाहिदो भिक्खू॥१०४॥
जह-जह सुदमोगाहदि अदिसय-रस-पसरमसुद पुव्वं तु।
तह-तह पल्हादिज्जदि तव-तव-संवेग-सड्ढाए॥१०५॥
आयापाय-विदण्हू दंसण-णाण-तव-संजमे ठिच्चा।
विहरदि विसुज्झमाणो जावज्जीवं तु णिक्कंपो॥१०६॥ –वही, गा. १०४-१०६

(ङ) जिणसत्था दो अट्ठे पच्चक्खादीहिं बुज्झदो णियमा।
खीयदि मोहोवचयो तम्हा सत्थं समधिदव्वं॥८६॥
आगमहीणो समणो णेव अप्पाणं परं वियाणादि।
अविजाणंतो अट्ठे खवेदि कम्माणि किध भिक्खू॥२३३॥
आगमचक्खू साहू इंदियचक्खूणि सव्वभूदाणि।
देवा य ओहिचक्खू सिद्धा पुण सव्वदो चक्खू॥२३४॥
णहि आगमेण सिज्झदि सद्दहणं जदि विणत्थि अत्थेसु॥२३७॥
–प्रवचनसार (मू.), गा. ८६, २३३-२३४, २३७

स्वाध्याय के लौकिक और लोकोत्तर फल

'धवला' में स्वाध्याय का लोकोत्तर एवं लौकिक फल बताते हुए कहा गया है–जिन्होंने उत्तम प्रकार से (स्वाध्याय करके) सिद्धान्तों का अभ्यास कर लिया है, उनका ज्ञान सूर्य किरणों के समान निर्मल होता है। प्रवचन के अभ्यास से मेरुसम निष्कम्प, अष्टमलरहित एवं तीन मूढ़ताओं से रहित सम्यग्दर्शन प्राप्त होता है। स्वाध्याय के अभ्यास से देवों, मनुष्यों और विद्याधरों के सुख प्राप्त होते हैं तथा आठ कर्मों के उन्मूलित होने पर सिद्ध-सुख भी प्राप्त होते हैं। जिनागम जीवों के मोहरूपी ईंधन के लिए अग्नि के समान, अज्ञानान्धकार के विनाश के लिए सूर्य के समान और द्रव्य-भावकर्म के मार्जन (प्रक्षालन) के लिए समुद्र के समान हैं। अतः अज्ञानतिमिरविनाशक, भव्यजीवों के हृदय को विकसित करने वाले मोक्षपथ के प्रकाशक सिद्धान्तों का स्वाध्याय करो (सेवन करो)।[1]

नियमित स्वाध्याय से श्रुतदेवता द्वारा पाँच वरदानों की उपलब्धि

'सामायिक पाठ' में कहा गया है–स्वाध्याय करने से पाँच महती उपलब्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं। नियमित रूप से स्वाध्याय करते रहने से व्यक्ति को श्रुतदेवता (सम्यग्ज्ञान के देवता) के द्वारा पाँच वरदान प्राप्त होते हैं, वे इस प्रकार हैं–बोधि, समाधि, परिणामशुद्धि, स्वात्मोपलब्धि और शिवसौख्यसिद्धि।[2]

यह पहले कहा जा चुका है कि स्वाध्याय से अज्ञानान्धकार दूर होकर सम्यग्ज्ञान का प्रकाश होता है। मनुष्य आज अज्ञान, अन्ध-विश्वास, मिथ्या मान्यताओं के दुराग्रह में पड़कर संकीर्णता, तुच्छ स्वार्थपरता तथा पतन की ओर ले जाने वाले दुष्कर्मों, दुर्व्यसनों और दुराचारों से घिरा हुआ है। अज्ञान के कारण

---

१. भविय-सिद्धंताणं दिणयर-करः णिम्मलं हवइ णाणं।
सिसिर-यर-कर सिच्छं हवइ चरित्तं सवस चित्तं॥४७॥
मेरुव्व णिक्कंपं णट्ठट्ठमलं तिमूढ-उम्मुक्कं।
सम्मद्दंसणमणुवयं समुपज्जइ॥४८॥
जिणमोहिंधणजलणो, अण्णाणतमंधयार-दिणयरओ।
कम्ममलकलुस-पुसओ, जिणवयण मिवोवही सुहओ॥४९॥
अण्णाणतिमिर-हरणं सुभविय-हिययारविंद-जोहणयं।
उज्जोइय-सयल-वद्धं सिद्धंत-दिवायरं भजह॥५०॥
तत्तो चेव सुहाइं सयलाइ देव-मणुय-खयराणं।
उम्मूलियट्ठकम्मं कुड सिद्ध-सुहं पि पवयणदो॥५१॥ —धवला १/१, १, १/५९/४७-५१

२. बोधिः समाधिः परिणामशुद्धिः स्वात्मोपलब्धिः शिवसौख्यसिद्धिः।
चिन्तामणिं चिन्तितवस्तुदाने, त्वी वन्द्यमानस्य ममाऽस्तु देवि ! —सामायिक पाठ, श्लो. ११

ही तो पारिवारिक, सामाजिक एवं राष्ट्रीय जीवन नरक बन जाता है। धार्मिक अन्ध-विश्वास तो और भी भयंकर अज्ञान के फल हैं। मनुष्य-मनुष्य में परस्पर द्वेष, घृणा, पक्षपात, कलह, रक्तपात, कदाग्रह आदि सब अज्ञानरूपी राक्षस के वरदान हैं। संक्षेप में कहें तो अज्ञानरूपी राक्षस का खप्पर कौन-से पाप से नहीं भरता? सभी पाप उसके खप्पर में समा जाते हैं।

व्यक्तिगत जीवन में अज्ञान के कारण ही दुःख, शोक, भय, मोह, द्वेष, लोभ, छल, अहंकार आदि पैदा होते हैं। अज्ञान जन्म-जन्मान्तर तक व्यक्ति को रुलाता है, दुःख देता है, संतप्त कर देता है, नरक के जीव अज्ञान के कारण ही पूर्वकृत वैर-भाव का स्मरण करके परस्पर लड़-भिड़कर दुःख पाते हैं।

स्वाध्याय करना ही श्रुतदेवी की उपासना है। वह भगवद्वाणी है, अज्ञानतिमिरहरणी है, ऐसा सोचकर यथासमय नियमित शास्त्रों तथा अध्यात्म ग्रन्थों का स्वाध्याय करने से जब मनुष्य को सम्यग्दर्शनयुक्त सम्यग्ज्ञान प्राप्त हो जाता है, बार-बार पारायण करने से उसके अन्तःकरण में वह आत्म-ज्ञान ठस जाता है, उसकी प्रज्ञा उक्त आत्म-ज्ञान में स्थिर हो जाती है, तब उसके जीवन में मैत्री, सन्तोष, त्याग, वैराग्य, संवेग, समता, आत्मीयता, आनन्द और तृप्ति की उपलब्धि सहज ही हो जाती है।

सतत स्वाध्याय से जब व्यक्ति की दृष्टि और ज्ञान सम्यक् हो जाते हैं, तब सबसे पहले उसे बोधि की उपलब्धि होती है। बोधि का अर्थ है—आत्म-बुद्धि, सभी प्राणियों को आत्मौपम्यदृष्टि से देखने की बुद्धि। ऐसी स्थिति में किसी भी प्राणी के प्रति राग, मोह, आसक्ति या द्वेष, घृणा, द्रोह, ईर्ष्या आदि भाव उत्पन्न नहीं हो पाते। आत्म-बोध पाने पर व्यक्ति को सही ढंग से सोचने की कुंजी हाथ लग जाती है। अहर्निश जाग्रत रहता है। सुख-दुःख हानि-लाभ, जीवन-मरण, मानापमान में विषमता या उद्विग्नता नहीं लाता। दूसरा वरदान उसे मिलता है—समाधि का। समाधि कहते हैं—आत्मलीनता को। उसे आत्म-तृप्ति और आत्म-सन्तुष्टि हो जाती है। भौतिक प्रगति की अपेक्षा वह आध्यात्मिक प्रगति को महत्त्व देता है। भौतिक प्रगति के लिए वह आत्म-समाधि भंग नहीं करता। तीसरी उपलब्धि होती है—परिणामशुद्धि की। 'परिणामे बन्धः' इस सूत्र के अनुसार आत्म-ज्ञान से सम्पृक्त साधक यह बात हृदयंगम कर लेता है कि शुभ-अशुभ परिणामों से कर्मबन्ध होता है, अतः वह यथाशक्ति शुद्ध परिणति—अबन्धक परिणाम रखने की सावधानी रखता है। चौथी उपलब्धि होती है—स्वात्मोपलब्धि की। मेरा मकान, मेरा घर, मेरा पुत्र, मेरा शरीर, मेरा सम्प्रदाय, मेरा गोत्र, मेरा देश, मेरे भक्त इत्यादि सब पर-भावों में उसका ममत्व—मेरापन स्वात्मोपलब्धि में बाधक है। इस सबसे ऊपर

उठकर वह आत्मा को खोजने का प्रयत्न करेगा। मैं कौन हूँ? कहाँ से आया हूँ? कहाँ और कैसे जाऊँगा? मेरे इन सब जड़-चेतन पदार्थों के साथ क्या सम्बन्ध है? इन सम्बन्धों को किस हद रखना या छोड़ना है? इत्यादि प्रश्नों पर विचार करके वह स्वात्मोपलब्धि में बाधक भावों को छोड़ देता है। अविनाशी आत्मा के स्वभाव–स्वगुणों में ही रमण करने का प्रयत्न करता है। कृत्रिम मेरेपन से अन्तर से दूर रहेगा। पाँचवीं उपलब्धि होती है–शिवसौख्यसिद्धि की। मोक्ष-सुख की सिद्धि तभी मिल सकती है, जब व्यक्ति आत्माधीन सच्चे अव्याबाध शाश्वत सुख को समझे, उसी में आनन्द माने, विषयजनित या पदार्थनिष्ठ कृत्रिम क्षणिक सुखों को दुःख के बीज जानकर वह उनमें आसक्त नहीं होता, उन सुखों को भोगने के लिए लालायित या तत्पर नहीं होता। स्वाध्याय-साधना से आत्मार्थी सम्यग्दृष्टि व्यक्ति को ये पाँच वरदान मिलते हैं। 'योगदर्शन' में उक्त 'स्वाध्याय से इष्टदेवता-सम्प्रयोग' का यही रहस्यार्थ है।

स्वाध्याय आत्मिक-विकास के लिए व्यायाम और भोजन

जिस प्रकार शरीर के विकास के लिए व्यायाम और भोजन की अत्यन्त आवश्यकता है, उसी प्रकार मन, बुद्धि, चित्त, हृदय द्वारा आत्मिक-विकास के लिए स्वाध्याय के बार-बार पारायण की–अभ्यास और भोजन की आवश्यकता है। अध्ययन से बुद्धि का व्यायाम, मानसिक कसरत एवं हार्दिक योगासन होता है तथा नये-नये विचार, नव-नव स्फुरणा एवं नूतन चिन्तन आदि के रूप में खुराक भी मिलती है।

स्वाध्याय में प्रमाद मत करना

अतः प्राचीन ऋषि गुरुकुल से विदा होते समय छात्र को अन्तिम उपदेश यही देते थे–"स्वाध्यायान्मा प्रमदः।"–स्वाध्याय में कभी प्रमाद (आलस्य) मत करना। सत्य और धर्म के मर्म को समझने के लिए स्वाध्याय अत्यन्त आवश्यक है। शास्त्र में भी कहा गया–"सज्झायम्मि रओ सया।"–साधक सदा स्वाध्याय में रत रहे।

स्वाध्याय अद्भुत तप : क्यों और कैसे ?

जैसे दियासलाई में आग है, किन्तु उसे व्यक्ति घिसता-रगड़ता है, तभी उसमें से अग्नि प्रगट होती है, इसी प्रकार स्वाध्याय के लिए उपयोगी शास्त्रों या ग्रन्थों में ज्ञान है, परन्तु उनका पारायण नियमित नहीं किया जायेगा, तो उसमें से स्फुरित होने वाला ज्ञान कैसे प्रगट होगा? जैसे दीवार की बार-बार घुटाई करने से वह चिकनी हो जाती है, उसके सामने जो भी वस्तु आयेगी, उसका प्रतिबिम्ब उसमें झलकने लगता है, इसी प्रकार शास्त्रों की बार-बार स्वाध्याय द्वारा घुटाई करने से

अन्तःकरण इतना पारदर्शी हो जाता है कि शास्त्रों का रहस्य उसमें स्वतः प्रतिबिम्बित होने लगता है, सम्यग्ज्ञान हृदय में उतर आता है।

इसी दृष्टि से स्वाध्याय को तप कहा है, बशर्ते कि वह विधि और दृष्टिपूर्वक किया जाये। 'वैदिक उपनिषद्' में भी स्वाध्याय को तप कहा है। 'बृहत्कल्पभाष्य' में तो यहाँ तक कह दिया है कि स्वाध्याय एक अपूर्व तप है। इसकी समानता करने वाला तप न तो अतीत में कभी हुआ है, न भविष्य में कभी होगा और न ही वर्तमान में है। अतः स्वाध्याय अपनी दृष्टि से महत्त्वपूर्ण अद्भुत तप है।[1]

स्वाध्याय के विभिन्न अर्थ और स्वरूप

स्वाध्याय का सामान्यतया अर्थ 'स्थानांग टीका' में किया गया है–सद्शास्त्रों को मर्यादापूर्वक पढ़ना, विधिसहित अच्छे ग्रन्थों और अच्छी पुस्तकों को पढ़ना-सुनना स्वाध्याय है। 'चारित्रसार' में कहा गया है–"तत्त्वज्ञान को पढ़ना-पढ़ाना और स्मरण करना आदि स्वाध्याय है।" 'कार्तिकेयानुप्रेक्षा' के अनुसार–"जो सम्यग्दृष्टि साधक पूजा-प्रतिष्ठादि से निरपेक्ष होकर केवल कर्ममल के शोधन के लिए जिन-शास्त्रों को भक्तिपूर्वक पढ़ता है, उसका (वह स्वाध्याय) श्रुतलाभ और सुख देने वाला है।" 'चारित्रसार' में निश्चयदृष्टि से स्वाध्याय का अर्थ है–"अपनी आत्मा का हित करने वाला अध्ययन करना स्वाध्याय है।" 'सर्वार्थसिद्धि' में कहा गया है–"आलस्य त्यागकर ज्ञान की आराधना करना स्वाध्याय है।" एक आचार्य ने श्रेष्ठ अध्ययन को स्वाध्याय कहा है। इसका आशय यह है–आत्म-कल्याणकारी पठन-पाठनरूप श्रेष्ठ अध्ययन का नाम स्वाध्याय है। एक वैदिक विद्वान् ने स्वाध्याय का अर्थ किया है–"किसी अन्य की सहायता के बिना स्वयं अध्ययन करना, अध्ययन किये हुए पर मनन और निदिध्यासन करना स्वाध्याय है।" एक विद्वान् ने निश्चयदृष्टि से स्वाध्याय का अर्थ किया–अपने आप का (आत्मा का) अध्ययन करना स्वाध्याय है, अर्थात् स्वयं के जीवन की जाँच-पड़ताल करना स्वाध्याय है। स्वाध्याय शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ एक विद्वान् ने किया है–अपना अपने ही भीतर अध्ययन अर्थात् आत्म-चिन्तन–मनन करना स्वाध्याय है।[2]

---

१. (क) तपो हि स्वाध्यायः। –तैत्तिरीय आरण्यक
(ख) न वि अत्थि, न वि य होही सज्झायसमंतवो कम्मं।
–बृहत्कल्पभाष्य ११६९; चन्द्रप्रज्ञप्तिसूत्र ८९; भगवती आराधना १०७

२. (क) सुष्ठु आ = मर्यादया अधीयते, इति स्वाध्यायः। –स्थानांग टीका ५/३/४६५
(ख) स्वाध्यायस्तत्त्वज्ञानमध्ययनमध्यापनं स्मरणं च। –चारित्रसार ४४/३

अश्लील या हिंसादि प्रेरक साहित्य पढ़ना स्वाध्याय नहीं है

यह ध्यान रहे कि सभी प्रकार के शास्त्रों, ग्रन्थों या पुस्तकों का अध्ययन स्वाध्याय की कोटि में नहीं आता। जैसे गलत तरीके से किया गया व्यायाम शरीर को लाभ के बदले हानि पहुँचाता है; अहितकर, कुपथ्यकर भोजन शरीर को शक्ति देने के बदले व्याधि पैदा कर देता है, उसी प्रकार कामोत्तेजक, विकारवर्द्धक, अश्लील एवं हिंसाप्रेरक साहित्य, चौर्यशास्त्र, कामशास्त्र अथवा हिंसा-असत्यादि प्रेरक शास्त्र या ग्रन्थ अथवा केवल सांसारिक विषयसुखप्रेरक एवं कामनाप्रेरक साहित्य भी जीवन में संवर-निर्जरा के बदले अशुभ कर्मवर्द्धक, पापबंधक एवं अनिष्टकारक होता है। उनवादे, विकारोत्तेजक एवं हिंसाप्रेरक पढ़ने से मन, बुद्धि और चित्त दूषित, कुण्ठित और संयम में दुर्बल हो जाता है। चाहे थोड़ा ही पढ़ो, पर जो भी पढ़ो, वह सद्विचार और सदाचार की प्रेरणा देने वाला साहित्य और शास्त्र हो। इस दृष्टि से सत्साहित्य एवं सद्विचार-प्रेरक ग्रन्थों व शास्त्रों के वाचन-पठन-पाठन को स्वाध्यायतप कहा।

सम्यग्दर्शन और आत्म-भावों से रहित स्वाध्याय कर्मनिर्जरा का कारण नहीं

स्वाध्याय में सम्यग्दर्शन, आत्म-ध्यान और शुभ भावों की अनिवार्यता बताते हुए 'धवला' में कहा गया है–"सम्यग्दर्शन और आत्म-भावों से रहित ज्ञान-ध्यान असंख्यात गुण श्रेणी का कारणरूप नहीं होते।" 'योगसार' में कहा गया है–"जो विद्वान् हैं, शास्त्रों का अक्षराभ्यास कर चुके हैं, किन्तु आत्म-ध्यान से रहित हैं, उनका शास्त्राध्ययन संसार का कारणरूप है।"[1]

पिछले पृष्ठ का शेष–

(ग) पूयादिसु णिरवेक्खो जिण-सत्थं जो भत्ती-कम्ममल-सोहणट्ठं सुय लाहो सुहयरो तस्स।
–कार्तिकेयानुप्रेक्षा. ४६२

(घ) स्वस्मै हितोऽध्यायः स्वाध्यायः। *–चारित्रसार १२५/५*

(ङ) ज्ञानभावनालस्यत्यागः स्वाध्यायः। *–सर्वार्थसिद्धि ९/२०/४३९/७*

(च) शोभनो अध्यायः स्वाध्यायः। *–आवश्यकसूत्र, अ. ४*

(छ) स्वयमध्ययनं स्वाध्यायः।

(ज) स्वस्यात्मनोऽध्ययनं–स्वाध्यायः। स्वस्यस्वस्मिन् अध्ययनं स्वाध्यायः।

१. (क) ण च सम्मत्तेण विरहियाणं णाण-झाणाणमसंखेज्ज-गुणसेढी-कम्मणिज्जरा ....।
–धवला ९/४, १, १/६/३

(ख) संसारो विदुषां शास्त्रमध्यात्मरहितानां। *–योगसार (अ.) ७/४४*

बाहर की चाँदनी को छोड़ भीतर की चाँदनी विरले ही देखते हैं

आकाश में चमकने वाले चन्द्रमा की चाँदनी नभस्तल और भूतल को स्पर्श करती है। वह बाहर के अन्धकार को मिटाती है, अध्यात्म-ज्ञानरूपी चन्द्र की चाँदनी भीतर में है, न तो वह बाहर से आती है और न ही किसी के द्वारा उद्योतित की जाती है। उस चाँदनी का प्रकाश भीतर आत्मारूपी अन्तस्तल में है, उसका प्रकाश स्वयं प्रस्फुटित होता है। जैनदर्शन अनेकान्तवादी होने के नाते उपादान को ही सब कुछ नहीं मानता, वह निमित्त को भी महत्त्व देता है।

उक्त भीतर के अध्यात्म-ज्ञानरूपी चन्द्र की चाँदनी को श्रेष्ठ ग्रन्थों और शास्त्रों के स्वाध्याय द्वारा ही प्रगट किया जा सकता है, बशर्ते कि स्वाध्यायकर्त्ता उस अध्यात्म-ज्ञानरूपी चन्द्र की चाँदनी को प्रगट करने के लिए अन्तर्मुखी हो। आज अधिकांश व्यक्ति भीतर की चाँदनी को जानने-देखने के द्वार और खिड़कियाँ बंद किये हुए हैं। इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, चित्त, हृदय आदि सबकी दिशा प्रायः बहिर्मुखी बनी हुई है। उसे अन्तर्मुखता में बदलने से ही स्वाध्याय के द्वारा अध्यात्म-ज्ञानरूपी चन्द्र की चाँदनी प्रगट हो सकती है; अन्तस्तल में खिल सकती है।

भीतर की चाँदनी अन्तःस्वाध्याय से देखने वाले ये महाभाग !

मृगापुत्र के अन्तश्चक्षु अपने अन्तर के अध्ययन (आन्तरिक स्वाध्याय) से खुल गये थे। उनके अन्तर के स्वर फूट पड़े–"मैं इस अशुचि और अशाश्वत शरीर में आनन्द नहीं पा रहा हूँ, जो एक दिन छूट जायेगा। मुझे उस शाश्वत की खोज करनी है, जो सदैव साथ रहे।" समुद्रपाल ने बंदी बने हुए चोर को वध्यस्थान ले जाते देखा और उनके अन्तर में स्वाध्याय की चाँदनी सहसा प्रस्फुटित हो गई। वे प्रतिबुद्ध हो गये। गर्दभालि मुनि अन्तर के स्वाध्यायलोक से आलोकित हुए और उनका आन्तरिक स्वर फूट पड़ा–"राजन् ! मैं तुम्हें अभय देता हूँ, तुम भी तो समस्त जीवों को अभय दो, क्यों किसी की हिंसा में आसक्त होते हो?" हरिकेशबल की अन्तर की खिड़की खुल चुकी थी, भीतर की चाँदनी को देखने के लिए। इसीलिए कहना पड़ा भगवान महावीर को–"हरिकेशबल में साक्षात् तपोविशेष दिखाई देता है, कोई जाति-विशेष नहीं।" भृगु-पुरोहित के पुत्रों ने जब अन्तर की ज्योत्सना के प्रकाश में साधु-जीवन द्वारा परम आत्मा को पाने की मन में ठान ली, तब उनके निश्चय को कोई बदल न सका। भीतर की ज्योति जगी और महारानी कमलावती ने राजा से कहा–"यह परिग्रह दुःखदायक है, धर्म ही एकमात्र रक्षक है, अन्य कोई नहीं।"

ये और इस प्रकार के अन्तःस्वाध्याय के स्वर साक्षी हैं अन्तर की चाँदनी के, जिसे सुनने-देखने के लिए इन साधकों ने अन्तर की खिड़कियाँ खोल दी थीं।

इसी दृष्टि से 'बृहत्कल्पभाष्य' में कहा गया है–"शास्त्र का बार-बार अध्ययन कर लेने पर भी यदि उससे अर्थ की अनुभूति नहीं हुई तो वह अध्ययन (स्वाध्याय) वैसा ही रहता है, जैसे जन्मान्ध के समक्ष चन्द्रमा प्रकाशमान होते हुए भी अप्रत्यक्ष ही रहता है।"[1]

स्वाध्याय के पाँच प्रकार

ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप, इस चतुर्विध मोक्षमार्ग की साधना-आराधना के विषय में प्राचीनकाल में जो भी शास्त्र या ग्रन्थ थे या उनमें जो सैद्धान्तिक तत्त्वज्ञान था, उसे कण्ठस्थ करने की परम्परा थी। महावीर निर्वाण के ९८० या ९९३वें वर्ष में जैनागम लिपिबद्ध हुए। कण्ठस्थ ज्ञान को सुरक्षित और स्थिर रखने के लिए पुनः-पुनः वाचना, पृच्छा, परिवर्तना (आवृत्ति), अनुप्रेक्षा (चिन्तन-मनन) और धर्मकथा आदि किये जाते थे। प्राचीन विशाल चतुर्दशपूर्वों का ज्ञान आज लुप्त हो गया, उसका मुख्य कारण है, प्रायः पंचविध स्वाध्याय का अभाव। यही कारण है कि ज्ञान को सुस्थिर, सुरक्षित एवं सर्वजनोपयोगी बनाने के लिए आगमों में स्वाध्याय के ५ प्रकार बताये गये हैं–वाचना, पृच्छना, परिवर्तना, अनुप्रेक्षा और धर्मकथा।[2]

वाचना–वाचना का अर्थ है पढ़ना। परन्तु इसमें अनेक अर्थ गर्भित हैं। सद्ग्रन्थों, धार्मिक-आध्यात्मिक पुस्तकों को तथा सच्छास्त्रों को स्वयं पढ़ना, योग्य साधक-साधिकाओं को पढ़ाना (शास्त्रों की वाचना देना), जो नहीं पढ़ सकते हों उन्हें सुनाना अथवा स्वयं द्वारा सुनना; ये सब अर्थ वाचना के अन्तर्गत आ जाते हैं। यदि कण्ठस्थ कर सकें तो सिद्धान्तों के अलग-अलग बने हुए थोकड़ों तथा अत्यावश्यक शास्त्र-गाथाओं को कण्ठस्थ करना चाहिए। जी. एफ. एडीसन ने कहा है–मस्तिष्क को अध्ययन-वाचन की उतनी ही जरूरत है, जितनी शरीर को व्यायाम की। 'बेकन' का मानना है कि "रीडिंग मेक्स ए फुल मैन, स्पीकिंग ए परफेक्ट एण्ड राइटिंग एन एग्जैक्ट मैन।" अर्थात् "अध्ययन (वाचन) मनुष्य को पूर्ण बनाता है, भाषण परिपूर्ण और लेखन प्रामाणिक बनाता है।" अध्ययन द्वारा ही अधिकांश व्यक्ति महान् बने हैं। एक विद्वान् ने पढ़ने या वाचन करने का क्रम बताया है–"पहले वह पढ़ो, जो आवश्यक हो; फिर वह पढ़ो, जो उपयोगी हो; तत्पश्चात् वह पढ़ो, जिससे धार्मिक, आध्यात्मिक एवं सैद्धान्तिक ज्ञान बढ़े।" रश्किन की 'अंटु दिस लास्ट' पुस्तक पढ़ने से महात्मा गांधी जी के विचारों में भारी

---

१. जो वि पगासो बहुलो, पच्चक्खओ न उवलद्धो।
जच्चंधस्स व चंदो फुडो वि संतो तहा स खलु॥ –बृह. भा. १२२४

२. सज्झाए पंचविहे पण्णत्ते, तं.–वायणा, पडिपुच्छणा, परियट्टणा, अणुप्पेहा, धम्मकहा।
–भगवती २५/७; स्थानांग में भी

परिवर्तन आ गया था। ऐसे ही प्रेरणादायक, सदाचार-पोषक ग्रन्थों, पुस्तकों एवं शास्त्रों को पढ़ना-सुनना-सुनाना वाचना-स्वाध्याय है।

वाचना-स्वाध्याय में तीन बातों का ध्यान रखना अत्यावश्यक

वाचना (अध्ययन करने) में तीन बातों का ध्यान रखना अत्यावश्यक है–(१) एकाग्रता, (२) नियमितता, और (३) निर्विकारिता। एकाग्रता से पढ़ी हुई बात दिमाग में जम जाती है। अन्यमनस्क होकर या सांसारिक चिन्ताओं में मन लगाये रखकर पढ़ी हुई बात हृदयंगम नहीं होती। शास्त्र या ग्रन्थ के स्वाध्यायी को टी. वी., सिनेमा, फिल्म तथा अश्लील साहित्य पढ़ने-सुनने-देखने से एकाग्रता भंग हो जाती है। इस स्वाध्याय में फिर उसका मन नहीं लगता, उसकी रुचि शास्त्र या ग्रन्थों के स्वाध्याय से भ्रष्ट हो जाती है। शास्त्रों या ग्रन्थों का पठन-पाठन भी नियमित होना चाहिए। इससे अध्ययन तथा उपार्जित ज्ञान भी प्रखर हो जाता है, पढ़ने की स्पीड (गति) भी बढ़ जाती है। तीसरी बात है–निर्विकारिता की। स्वाध्यायी के जीवन में काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह, मत्सर, ईर्ष्या, द्वेष, घृणा, पूर्वाग्रह, हठाग्रह आदि विकार होंगे तो वह स्वाध्याय योग्य शास्त्रों या ग्रन्थों को पढ़-सुनकर भी अपनी विपरीत दृष्टिवश उलटी प्रेरणा लेगा। अर्थ का अनर्थ भी कर सकता है। इन तीनों तथ्यों के साथ वाचना-स्वाध्याय करेगा, तो वह तप होगा, उससे कर्मनिर्जरा होगी।[1]

वाचना देने-लेने के अयोग्य व योग्य कौन-कौन ?

'स्थानांगसूत्र' में चार प्रकार के व्यक्तियों को वाचना देने-लेने या करने के लिए अयोग्य बताया है–(१) जो अविनीत हो। (२) जो प्रतिदिन दूध-घृतादि विकृतिजन पदार्थों के सेवन करने में आसक्त–प्रतिबद्ध हो। (३) जो अव्यवशमित-प्राभृत हो–अर्थात् जिसका कलह और क्रोध उपशान्त न हुआ हो, और (४) जो मायाचारी हो। इसके विपरीत चार प्रकार के व्यक्तियों को वाचनायोग्य बताया है–जो विनीत, विकृति-अप्रतिबद्ध, व्यवशमित-प्राभृत और अमायावी हो।

भगवान से जब वाचना से लाभ के विषय में पूछा गया तो उन्होंने कहा–"वाचना से जीव कर्मों की निर्जरा करता है। श्रुत (शास्त्रज्ञान) की आशातना से बचता है। श्रुत की अनाशातना में प्रवृत्त जीव तीर्थधर्म (प्रवचन, गणधर या

---

१. चत्तारि अवायणिज्जा पण्णत्ता, तं.–अविणीए, विगइ-पडिबद्धे, अविओसवित-पाहुडे, माई।
चत्तारि वायणिज्जा प. तं.–विणीते, अविगइ-पडिबद्धे, विओसवितपाहुडे अमाई।
–स्थानांगसूत्र, स्था. ४, उ. ३, सू. ४५२-४५३

श्रमणसंघ के धर्म) का अवलम्बन लेता है। तीर्थधर्म का अवलम्बन लेने वाला साधक महानिर्जरा और महापर्यवसान करता है। यह है वाचना का अनन्तर और परम्परागत फल।[1]

पृच्छना–पढ़ने या वाचना लेने के पश्चात् किसी विषय में शंका हो तो जिज्ञासा एवं विनयपूर्वक उस विषय के विद्वान् या विशेषज्ञ से पूछना, अपनी शंका या जिज्ञासा का समाधान करना अथवा उक्त विषय में जिज्ञासा बुद्धि से धर्मचर्चा करना पृच्छना है। यह भी ज्ञान-प्राप्ति अथवा ज्ञान-वृद्धि करने का महत्त्वपूर्ण स्वाध्यायांग है। जिज्ञासापूर्वक विनयभाव से अपनी शंका, सन्देह या संशय प्रगट करना प्रबुद्ध चेतना का लक्षण है। शास्त्रों में यत्र-तत्र गणधर गौतम स्वामी द्वारा भगवान महावीर के समक्ष अपनी शंकाएँ समाधान के लिए प्रस्तुत करने का उल्लेख है–"से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ।"–भगवन् ! आप किस न्याय (दृष्टि) से ऐसा कहते हैं?" 'उत्तराध्ययनसूत्र' में गणधर गौतम स्वामी से केशी स्वामी द्वारा समाधानार्थ किये गये जिज्ञासापूर्ण प्रश्न भी पृच्छा–स्वाध्याय की कोटि में आते हैं। अतः शंका का समाधान पाने के लिए प्रश्न पूछना अनुचित नहीं, बशर्ते कि द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव का ध्यान रखकर जिज्ञासा के साथ वह पृच्छा हो। भगवान महावीर से प्रतिपृच्छना से लाभ के विषय में पूछा गया तो उन्होंने कहा–"प्रतिपृच्छना से जिज्ञासु व्यक्ति सूत्र, अर्थ और तदुभय (दोनों) को विशुद्ध कर लेता है तथा कांक्षामोहनीय कर्म को विच्छिन्न (नष्ट) कर देता है।" अर्थात् पृच्छना से वह अपनी शंकाओं को निवृत्त करके कांक्षामोहनीय कर्म का क्षय कर डालता है।[2]

परिवर्तना का अर्थ है–पढ़े हुए, सुने हुए अथवा सीखे हुए या कण्ठस्थ किये हुए ज्ञान या पाठ को बार-बार दोहराना, पुनरावर्तन करना या आवृत्ति करना। पढ़े, सुने या सीखे हुए ज्ञान या पाठ की यदि बार-बार आवृत्ति न की जाये तो धीरे-धीरे वह विस्मृत-सा हो जाता है। परिवर्तना से ज्ञान स्थिर और प्रखर हो जाता है, सीखी हुई विद्या सुदृढ़ हो जाती है। महापुरुषों का नामस्मरण, नवकार मंत्र आदि मंत्रों का जाप तथा अरिहन्तों-सिद्धों के स्तोत्र, स्तव, स्तुति पाठ, प्रार्थना, भजन आदि का बार-बार करना भी परिवर्तना स्वाध्याय के अन्तर्गत है। परिवर्तना से जीव को क्या लाभ होता है? ऐसा पूछे जाने पर भगवान ने कहा–"परिवर्तना

---

१. वायणाए णं निज्जरं जणयइ। सुयस्स य अणुसज्जणाए अणासायणाए वट्टए। सुयस्स अणुसज्जणाए अणासायणाए वट्टमाणे तित्थधम्मं अवलंबइ। तित्थधम्मं अवलंबमाणे महानिज्जरे महापज्जवसाणे भवइ। –उत्तराध्ययन २९/१९

२. पडिपुच्छणयाए सुत्तत्थ-तदुभयाइं विसोहेइ।
कंखा-मोहणिज्जं कम्मं वोच्छिंदइ॥ –वही २९/२०

से जीव को व्यंजन (अक्षर) उपलब्ध हो जाते हैं तथा व्यंजन लब्धि (पदानुसारिणी लब्धि = एक अक्षर या पद के आधार से शेष व्यंजनों (पदों) को उपलब्ध कर लेने की शक्ति) प्राप्त हो जाती है।" अतः परिवर्तना स्वाध्याय करने में आलस्य नहीं करना चाहिए। परिवर्तना करने से ज्ञान पच जाता है, परिपक्व हो जाता है। विद्वान् केवल पढ़ने से नहीं, याद रखने से बनता है।[1]

अनुप्रेक्षा–पढ़े हुए सूत्रार्थ के किसी एक तत्त्व पर या पुस्तक अथवा ग्रन्थ में पढ़े हुए किसी एक विषय पर एकाग्रचित्त होकर गम्भीरतापूर्वक तदनुकूल चिन्तन-मनन करना अनुप्रेक्षा स्वाध्याय है। जैसे किसी व्यक्ति ने भगवान पर अनुप्रेक्षा की। सोचा–भगवान कौन होते हैं, उनका क्या स्वरूप है? वे साकार हैं या निराकार? वे जगत्कर्त्ता हैं या नहीं? यदि जगत्कर्त्ता हैं तो जगत् में एक सुखी, एक दुःखी क्यों? यदि दुःख-सुख स्वकृत कर्मों के अनुसार मिलते हैं तो भगवान जगत्कर्त्ता कैसे? यदि वे अकर्त्ता हैं और किसी को कुछ देते-लेते नहीं, तो फिर उनका ध्यान, भजन-स्मरण-कीर्तन करने से क्या लाभ? इस प्रकार तदनुकूल प्रेक्षण करते हुए सीढ़ी-दर-सीढ़ी आगे से आगे उस तत्त्व या विषय की ऊँचाई पर पहुँचा जाता है। अनुप्रेक्षा एक प्रकार से चिन्तन की सीढ़ियाँ हैं। अनुप्रेक्षा एक प्रकार से ध्यान की स्थिति है। इसका विशेष वर्णन ध्यान के प्रकरण में किया जायेगा।

अनुप्रेक्षा का विशिष्ट लाभ बताते हुए भगवान ने कहा–"अनुप्रेक्षा (में एकाग्रता) होने पर आयुकर्म को छोड़कर शेष ज्ञानावरणीयादि सात कर्मों की प्रकृतियों के प्रगाढ़ बंधन को शिथिल कर लेता है; दीर्घकाल तक दुःखपूर्वक भोगने योग्य अशुभ कर्मों की स्थिति (कालावधि) को अल्पकालीन (थोड़े काल की) कर लेता है। उनके तीव्र रसानुभाव को मन्द रसानुभाव कर लेता है। अर्थात् उनका दुःखदायक फल भी बहुत कुछ नष्ट होकर (भोगने योग्य) स्वल्प रह जाता है। बहुकर्मप्रदेशों को अल्पकर्मप्रदेशों में परिवर्तित कर देता है। आयुकर्म का बन्ध कदाचित् करता है, कदाचित् नहीं करता। असातावेदनीय कर्म का पुनः-पुनः उपचय नहीं करता। संसाररूपी अटवी, जोकि अनादि और अनवदग्र (अनन्त) है, दीर्घमार्ग से युक्त है, जिसके नरकादि गतिरूप चार अन्त हैं, उसे अनुप्रेक्षा बढ़ाने वाली आत्मा) शीघ्र ही पार (करके मोक्ष के अनन्त शाश्वत सुख को प्राप्त) कर लेती है।"[2]

---

१. परिवट्टणाए वंजणाइं जणयइ, वंजणलद्धिं च उप्पाएइ। –उत्तराध्ययन २९/२१

२. अणुप्पेहाए णं आउयवज्जाओ सत्तकम्मपगडीओ धणियबंधणबद्धाओ सिढिलबंधणबद्धाओ पकरेइ। दीहकालट्ठिइयाओ हस्स-कालट्ठिइयाओ पकरेइ। तिव्वाणुभावाओ मंदाणुभावाओ पकरेइ। आउयं च णं कम्मं सियाबंधइ, सियानोबंधइ। असायावेयणिज्जं णं कम्मं नो भुज्जो-भुज्जो उवचिणाइ। अणाइयं च अणवदग्गंदीहमद्धं चाउरंतं संसारकांतारं खिप्पामेव वीइवयइ। –वही २९/२२

धर्मकथा–स्वाध्याय का यह पाँचवाँ अंग है। पढ़ा हुआ, चिन्तन-मनन किया हुआ अथवा अनुभव किया हुआ अथवा कण्ठस्थ किया हुआ श्रुतज्ञान जब लोक-कल्याण की भावना से शब्दों के द्वारा प्रकट करके भावुक श्रोताओं या भव्य धर्मानुरागी को सुनाया जाता है, तब वह तत्त्व कथन धर्मकथा कहलाता है। इसे ही भाषण, प्रवचन, धर्मोपदेश या व्याख्यान कहते हैं। धर्मकथा से श्रुतज्ञान की वृद्धि होती है, मोक्षमार्ग में प्रवृत्ति होती है। धर्मकथा केवल निर्जरा के उद्देश्य से करनी चाहिए। धर्मकथाकार को काफी अध्ययन, अनुभव तथा स्वमत-परमत का प्रामाणिक ज्ञान होना बहुत आवश्यक है।

साथ ही, 'आचारांगसूत्र' के अनुसार–"पुण्यवान् हो या तुच्छ हो, दोनों को पक्षपातरहित होकर समभाव से प्रसन्नतापूर्वक धर्म-कथन करना चाहिए।" 'सूत्रकृतांगसूत्र' में स्पष्ट कहा है–"धर्म-कथन करता हुआ श्रमण अन्न, पान, वस्त्र, लयन (मकान), शयन (शय्यादि) के लिए तथा अन्य विभिन्न प्रकार के कामभोगों के साधनों–सुख-सुविधाओं के लिए धर्मकथा न करे। अग्लान (प्रसन्न) भाव से धर्म-कथन करे।[1] एकमात्र निर्जरा (कर्मक्षय) के लिए धर्मकथा करे।" सत्कार, मान और पूजा-प्रतिष्ठा की भावना से भी धर्मोपदेश नहीं करना चाहिए। सत्कार मान और प्रतिष्ठा-प्रशंसा-पूजा की भावना से की गई धर्मकथा स्वाध्यायतप न होकर यानी कर्मनिर्जरा की कारण न होकर, उलटे अशुभ कर्मबंध की कारण बन जाती है, जबकि निःस्पृहभाव से धर्मकथा करने से साधक कर्मनिर्जरा कर लेता है। "धर्मकथा से प्रवचन (धर्मसंघ या श्रुत) की प्रभावना करता है। प्रवचन की प्रभावना से जीव भविष्य में शुभ फल देने वाले (शुभ) कर्मों का बंध करता है।" भगवान महावीर के पास जो भी, जिस कक्षा का व्यक्ति होता उसके अनुरूप धर्म-कथन करते थे। इसके लिए शास्त्र में कहा गया–"**धम्मो कहिओ।**"[2] धर्मकथा के ४ भेद हैं–(१) आक्षेपणी, (२) विक्षेपणी, (३) संवेगिनी, और (४) निर्वेदिनी। इनके स्वरूप तथा कुल ३२ भेद-प्रभेदों का वर्णन स्थानांग ४/२ की टीका से जान लेना चाहिए।[3]

---

१. से भिक्खू धम्मं किट्टमाणे नो अन्नस्स हेउं धम्ममाइक्खेज्जा, नो पाणस्स हेउं धम्म.`````, नो वत्थस्स हेउं धम्म.`````, नो लेणस्स हेउं धम्म.`````, नो सयणस्स हेउं धम्म.`````, जो अन्नेसिं विरूवरूवाणं कामभोगाणं हेउं धम्म.`````, अगिलाए धम्ममाइक्खेज्जा; नन्नत्थ कम्मनिज्जरट्ठाए धम्ममाइक्खेज्जा। —*सूत्रकृतांग, श्रु. २, अ. १, सू. १५*

२. (क) जहा पुण्णस्स कत्थइ, तहा तुच्छस्स कत्थइ।
जहा तुच्छस्स कत्थइ, तहा पुण्णस्स कत्थइ॥ —*आचारांग, अ. ३, उ. १*

(ख) धम्मकहाए णं निज्जरं जणयइ। धम्मकहाए णं पवयणं पभावेइ। पवयण-पभावेणं जीवे आगमेसस्स भद्दत्ताए कम्मं निबंधइ। —*उत्तराध्ययन, अ. २९, सू. २३*

३. (क) सूत्रकृतांग, श्रु. २, अ. १
(ख) स्थानांग, स्था. ४, उ. २

स्वाध्यायकर्त्ता को इन दोषों और अतिचारों से बचना आवश्यक है

स्वाध्यायकर्त्ता को १० आकाश सम्बन्धी, १० औदारिक सम्बन्धी, ४ महाप्रतिपदा, ४ इनसे पूर्व की पूर्णिमाएँ तथा ४ सन्धाएँ, यों कुल ३२ प्रकार के स्वाध्याय दोषों में स्वाध्याय नहीं करना चाहिए। इसके अतिरिक्त सूत्रों का स्वाध्याय वाचना के रूप में किये जाने में १४ प्रकार के अतिचारों (दोषों) से बचना चाहिए– आगम पढ़ते हुए पाठ आगे-पीछे बोलना, शून्य मन से कई बार बोलना, अक्षरों को छोड़ देना, अधिक अक्षर बोलना, पदरहित, विनयरहित, योगरहित, घोषरहित पढ़ना, योग्यता से अधिक पाठ अयोग्य को देना, सुयोग्य को दुर्भाव से पाठ देना, अकाल में स्वाध्याय करना,[1] काल में स्वाध्याय न करना अस्वाध्याय की स्थिति में स्वाध्याय करना, स्वाध्याय के अवसर पर स्वाध्याय न करना, इन १४ स्वाध्याय दोषों[2] से हर सम्भव बचने पर ही शुद्ध स्वाध्याय हो सकता है। स्वाध्याय में द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की शुद्धि भी आवश्यक है।

स्वाध्याय और ध्यान दोनों परस्पर सहायक, परन्तु ध्यान बढ़कर

स्वाध्यायतप के पश्चात् ध्यानतप का क्रम इसलिए रखा गया है कि स्वाध्याय में मन को शान्त, एकाग्र करके अन्तरात्मा में निहित राग, द्वेष, काम, क्रोधादि कषाय, आर्त्त-रौद्रध्यान आदि विकारों को जानकर विविध तप, जप, ध्यान, मौन, क्षमा-मार्दवादि धर्मों द्वारा उनसे विरत होने का अभ्यास किया जाता है। यद्यपि स्वाध्याय और ध्यान दोनों से पूर्वसंचित कर्म क्षीण होते हैं। स्वाध्याय में भी एकाग्रता होती है और ध्यान में भी। किन्तु स्वाध्याय में एकाग्रता घनीभूत नहीं होती जबकि ध्यान में वह घनीभूत होती है। स्वाध्याय में वाणी की एकाग्रता होती भी है, नहीं भी होती; इसी तरह काया की एकाग्रता भी कदाचित् होती है, कदाचित् नहीं भी होती, मन की एकाग्रता भी उसमें अखण्ड नहीं होती; जबकि

पिछले पृष्ठ का शेष–

(ग) धर्मकथा के भेद-प्रभेदों के वर्णन के लिए देखें–स्थानांग, स्था. ४, उ. २, सू. २८२ की टीका तथा दशवैकालिक, अ. ३ की निर्युक्ति, गा. १९७-१९८

१. णाणं पि काले अहिज्जमाणं णिज्जरा-हेऊ भवति।
अकाले पुण उवघायकरं कम्मबंधाय भवति॥ *–निशीथचूर्णि ११*

–शास्त्र का अध्ययन (स्वाध्याय) उचित समय पर किया हुआ ही निर्जरा का हेतु होता है, अन्यथा वह उपघातकर (हानिकर) तथा कर्मबंध का कारण बन जाता है।

२. जं वाइद्धं वच्चामेलियं हीणक्खरं अच्चक्खरं पयहीणं विणयहीणं जोगहीणं घोसहीणं सुट्ठुदिण्णं दुट्ठुपडिच्छियं अकाले कओ सज्झाओ, काले न कओ सज्झाओ, असज्झाए, सज्झाइयं; सज्झाए, न सज्झाइयं। *–आवश्यकसूत्र ज्ञान के १४ अतिचार*

ध्यान में 'ठाणेणं, मोणेणं झाणेणं' के अनुसार काया की स्थिरता, वाणी से मौन तथा मन की अपने विषय में लीनता होने से तीनों की अखण्डता, स्थिरता, एकरूपता और एकाग्रता दृढ़ीभूत होती है। इसीलिए 'तत्त्वानुशासन' में कहा गया है–"स्वाध्याय में उपयुक्त एकाग्रता प्राप्त होने पर (उसे घनीभूत एवं दृढ़ीभूत करने हेतु) ध्यान का अभ्यास करे और ध्यान करते-करते जब एकाग्रता खण्डित होने लगे तब पुनः स्वाध्याय में संलग्न हो जाये। इस प्रकार स्वाध्याय और ध्यान की सम्प्राप्ति से परमात्मा (शुद्ध आत्मारूप ध्येय) प्रकाशित हो जाता है।" अर्थात् इस प्रकार स्वाध्याय और ध्यान की आवृत्ति से मन शान्त और निर्मल होता जाता है, कर्मों का आवरण क्षीण होने लगता है, फिर शान्त और निर्मल चित्त (मन) में परमात्मा[1] (शुद्ध आत्मा) की छवि स्फुरित हो जाती है, अनुभवगम्य हो जाती है।

द्वादशतप के शेष सब प्रकार ध्यानद्वय के साधनमात्र हैं

वैसे तो कर्मावरणों को क्षीण करने के लिए बारह प्रकार का तप विहित है। परन्तु उनमें भी मुख्यतया दो तप हैं–स्वाध्याय और ध्यान। इन दोनों से कर्मावरण शीघ्र दूर होकर निर्जरा और मोक्ष की ओर साधक तीव्र गति से प्रस्थान करता है।

स्वाध्याय की अपेक्षा ध्यान का अधिक महत्त्व

किन्तु इन दोनों में मुख्य है ध्यान। यह कहना कोई अत्युक्तिपूर्ण नहीं होगा कि तप के शेष सब प्रकार सुध्यानद्वय के अंगोपांग हैं। 'षट्खण्डागम' में कहा गया है–धर्म एवं शुक्लध्यान परम तप हैं। बाकी जितने तप हैं, वे सब इस (ध्यानद्वय) के साधनमात्र हैं। वाचक उमास्वाति के मत से–परम शुक्लध्यानी की ध्यानाग्नि में अपने समूचे कर्मावरणों को शीघ्र ही भस्म करने की क्षमता उत्पन्न हो जाती है। आचार्य हेमचन्द्र का यह कथन इस तथ्य का साक्षी है–"ध्यानाग्नि-दग्धकर्मा तु सिद्धात्मा स्यान्निरंजनः।"–ध्यानरूप अग्नि के द्वारा आत्मा कर्मरूप काष्ठ को भस्म करके अपना शुद्ध-बुद्ध सिद्ध-निरंजन-स्वरूप प्राप्त कर लेता है।" कर्मों से मुक्ति पाने के दो साधन जैन-कर्मविज्ञान में बताये गये हैं–संवर और निर्जरा। समिति-गुप्ति, दशविध उत्तम धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय और चारित्र आदि की साधना से सरागसंयमी के कर्मावरण क्षीण (निर्जरा) होते हैं, किन्तु पुनः निर्मित हो जाते हैं। कर्मों से मुक्ति पाने के लिए आवश्यक है–कर्मों के आवरण क्षीण हों, आवरणों के

---

१. (क) 'आवश्यकसूत्र' में 'तस्स उत्तरीकरण' का पाठ
(ख) 'जैन आचार : स्वरूप और विश्लेषण' से भाव ग्रहण, पृ. ५९३
(ग) स्वाध्यायाद् ध्यानमध्यास्तां, ध्यानात्स्वाध्यायमामनेत्।
स्वाध्याय-ध्यानसम्पत्त्या, परमात्मा प्रकाशते॥ –तत्त्वानुशासन

पुनः होने का निरोध हो, सम्यक्तप से संवर और निर्जरा दोनों एक साथ होते हैं। ध्यानतप से नये आवरणों का निरोध और पुराने आवरणों का क्षय ये दोनों एक साथ निष्पन्न हो सकते हैं। इस अपेक्षा से ध्यान[1] एक परिपूर्ण साधना है।

ध्यान क्यों किया जाये ? ध्यान का प्रयोजन क्या है ?

साधक का जीवन दो सत्ताओं के बीच में चल रहा है। एक सत्ता प्रत्यक्ष है और दूसरी परोक्ष। प्रत्यक्ष सत्ता मन की है और परोक्ष सत्ता है–शुद्ध आत्मा की, परमात्मा की। साधक का लक्ष्य कर्मलिप्त अशुद्ध आत्मा से परमात्मा (शुद्ध कर्ममुक्त आत्मा) तक पहुँचना है; जो परोक्ष सत्ता है। यद्यपि वह परोक्ष सत्ता बहुत ही शक्तिशाली है। अपने तक पहुँचने का मार्ग मुमुक्षु और पुरुषार्थी के लिए वह बन्द नहीं होने देती। परन्तु प्रत्यक्ष सत्ता उस परोक्ष सत्ता तक पहुँचने के मार्ग में बहुत ही बाधाएँ और कठिनाइयाँ उपस्थित करती रहती हैं। आत्मा अमूर्त होने के कारण दिखाई नहीं देती। परन्तु वह मन, वचन और काया के माध्यम से अपने को प्रगट करती है। ये तीनों आत्मा से प्राण पाकर सक्रिय होते हैं। आत्मा के ये तीनों उपकरण अचेतन हैं। इनमें चेतना की धारा आत्मा से निकलती है, वह प्राणों से सीधी सम्बद्ध होने से प्राणधारा हो जाती है। मन के साथ जब यह चैतन्यधारा (प्राणधारा) मिलती है, तो मन अत्यन्त सक्रिय हो जाता है। मन में निर्मल चेतना का योग भी सक्रियता लाता है और मलिन चेतना का योग भी। इससे मन की दो अवस्थाएँ निष्पन्न होती हैं– राग-द्वेषरहित और राग-द्वेषसहित। अगर हमारी आत्मा को परोक्षसत्ता तक पहुँचना है तो ध्यान द्वारा ही पहुँचा जा सकता है, इससे उत्तम कोई उपाय नहीं है। परन्तु ध्यान की भूमिका में विचार करना पड़ेगा कि मन के साथ किस प्रकार की चेतना को जोड़ा जाये ? उचित तो यह होगा कि मन के साथ राग-द्वेषयुक्त चेतना न जुड़कर राग-द्वेषरहित चेतना जुड़े। आशय यह है कि प्राण की धारा मन को सक्रिय बनाये, तब उसके साथ मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद और कषाय न आये। जब मिथ्यात्व अविरति, प्रमाद, कषाय तथा राग-द्वेष के द्वार बन्द कर दिये जायेंगे, तब जो चेतना धारा मन के साथ जुड़ेगी, वह मन को सक्रिय और चंचल बनायेगी, किन्तु उसमें विवेक, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शन होगा, क्योंकि ऐसी स्थिति अनासक्त, अप्रमत्त या वीतराग-चेतना की होगी। वह सहज एवं शुद्ध या सम्यक् ध्यान होगा, जिससे कर्मों की निर्जरा और कर्मों से मुक्ति शीघ्र हो सकेगी। ऐसा ध्यान ही पूर्वोक्त परोक्ष सत्ता तक पहुँचाने में सशक्त माध्यम हो सकेगा।

---

१. (क) षट्खण्डागम ५, पुस्तक १३, पृ. ६४
(ख) 'योगशास्त्र' (आचार्य हेमचन्द्र) से भाव ग्रहण

'द्रव्यसंग्रह' में इसी सहज शुद्ध पारमार्थिक ध्यान की ओर इंगित किया गया है– "हे साधक ! विचित्र ध्यान की सिद्धि से यदि चित्त को स्थिर करना चाहता है, तो इष्ट-अनिष्ट पदार्थों पर मोह मत कर, राग और द्वेष भी मत कर। किसी भी प्रकार की काया से चेष्टा, वाणी से जल्पन और मन से चिन्तन मत कर, ताकि मन स्थिर हो जाये। आत्मा का आत्मा में रत (लीन) हो जाना ही परम (उत्कृष्ट) ध्यान है।"

इस प्रकार धर्म और शुक्लध्यान का जो प्रयोजन है–आत्मा को परमात्मा = शुद्ध आत्मा तक पहुँचाना, वह भलीभाँति सिद्ध हो सकता है।[1]

मन को राग-द्वेष से रहित करने के लिए मन का निग्रह करना–मन को एकाग्र करना आवश्यक है। योगशास्त्रियों ने मन की चार अवस्थाएँ निरूपित की हैं– विक्षिप्तमन, यातायातमन, श्लिष्टमन और सुलीनमन। इनमें से अन्तिम प्रकार का सुलीनमन ही ध्यान-साधना के योग्य है, क्योंकि यही मन शास्त्रों के स्वाध्याय, मनन से तथा परमात्मा और आत्मा के चिन्तन से ध्यान योग्य बन सकता है। भगवान महावीर से मन को स्थिर और एकाग्र व निर्मल रखने का उपाय पूछा तो उन्होंने भी स्वाध्याय और ध्यान से युक्त होने से मन को स्थिर एवं निर्मल रखना बताया। 'योगदर्शन' और 'गीता' में मनोनिरोध के दो उपाय बताये हैं–अभ्यास और वैराग्य। परन्तु अभ्यास किसका और कैसे? यह प्रश्न उठने पर स्वाध्याय और ध्यान का अभ्यास तथा उनके मनन-ध्यान से प्राप्त वैराग्यभावना से मन को एकाग्र किया जा सकता। अतः ध्यान का एक प्रयोजन यह भी है कि उसके द्वारा मन को एकाग्र और सुस्थिर करके सुध्यान के साथ उस राग-द्वेषरहित शान्त निर्मल मन को जोड़ा जा सके और उसके माध्यम से परोक्षसत्ता (शुद्ध आत्मा) तक पहुँचा जा सके।[2]

ध्यान-साधना के मुख्य हेतु

'बृहद्द्रव्यसंग्रह' में ध्यान के पाँच हेतु बताये गये हैं–वैराग्य, तत्त्वज्ञान, निर्ग्रन्थता, समचित्तता और परिग्रहजय।[3]

---

१. मा मुज्झह ! मा रज्जह, मा दुस्सह ! इट्ठाणिट्ठ-अट्ठेसु।
थिरमिच्छह जइ चित्तं, विचित्त-झाण-पसिद्धिए॥
मा चिट्ठह मा जंपह, मा चिन्तह ! किंवि जेण होइ थिरो।
अप्पा अप्पंमि रओ, इणमेव परं हवे झाणं॥ –द्रव्यसंग्रह

२. (क) 'योगशास्त्र' (आचार्य हेमचन्द्र) से भाव ग्रहण
(ख) सज्झाय-झाण-संजुत्ते। –उत्तराध्ययन
(ग) अभ्यास-वैराग्याभ्यां तन्निरोधः। –योगदर्शन
(घ) अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते। –भगवद्गीता

३. वैराग्यं तत्त्वविज्ञानं नैर्ग्रन्थ्यं समचित्तता।
परिग्रह-जयश्चेति पंचैते ध्यानहेतवः॥ –बृहद्द्रव्यसंग्रह टीका, पृ. २८१

प्रत्येक मानव में तन, मन और वचन की शक्तियाँ पड़ी हैं, परन्तु उन शक्तियों का कई व्यक्ति दुरुपयोग करते हैं, कई उपयोग ही नहीं करते, विरले ही महाभाग मानव होते हैं, जो अपनी शक्तियों से परिचित होकर उनका नियमित रूप से यथार्थ उपयोग–सदुपयोग करते हैं, ताकि वे सामान्य आत्मा से परमात्मा तक पहुँच सकें और सर्वकर्मों से मुक्त होकर मोक्ष प्राप्त कर सकें। सुध्यान ही एकमात्र उत्कृष्ट माध्यम है, जिसकी साधना से मनुष्य अपनी आत्म-शक्तियों को विकसित कर सकता है, जीवन के विविध उतार-चढ़ावों में विकट परिस्थितियों में मन को संतुलित, शान्त और स्थिर रखकर सामना कर सकता है। इस प्रकार ध्यान-साधना से अपनी सुषुप्त शक्तियों को जाग्रत करके परमात्मभाव–वीतरागभाव को प्राप्त कर सकता है। ध्यान-साधना का यही सर्वोत्कृष्ट प्रयोजन है।[1]

ध्यान का महत्त्व : विभिन्न दृष्टिकोणों से

ध्यान का महत्त्व बताते हुए अर्हत् गदभाली ने कहा है–"जैसे मनुष्य का सिर काट लेने पर उसकी मृत्यु हो जाती है, वृक्ष की जड़ काट लेने पर वह समाप्त हो जाता है, वैसे ही सुध्यान को छोड़ देने पर धर्म चेतनाशून्य हो जाता है। अर्थात् शुद्ध धर्म को सुध्यान से अलग कर दें तो उसकी भी वही गति होगी, जो मस्तक से विहीन मनुष्य की या मूल से रहित वृक्ष की होती है।" 'भगवती आराधना' में कहा गया है–"कषायों के साथ युद्ध करने में क्षपक के लिए ध्यान आयुध और कवच के समान है। जैसे रत्नों में वज्ररत्न, सुगन्धित पदार्थों में गोशीर्ष चन्दन, मणियों में वैडूर्यमणि उत्तम और श्रेष्ठ है, वैसे ही ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप में ध्यान ही सारभूत व सर्वोत्कृष्ट है।" 'ज्ञानसार' में कहा है–"जिस प्रकार पाषाण में स्वर्ण और काष्ठ में अग्नि बिना प्रयोग के दिखाई नहीं देती, उसी प्रकार ध्यान के बिना (शुद्ध) आत्मा नहीं दिखाई देती।" 'योगशास्त्र' में कहा गया है–"कर्मों के क्षय से मोक्ष होता है और कर्मक्षय होता है–आत्म-ज्ञान से। आत्म-ज्ञान ध्यान से प्राप्त होता है। इसलिए शुद्ध आत्म-स्वरूप को पाने के लिए ध्यान आत्मा के लिए हितकर है।"[2]

---

१. 'महावीर की साधना का रहस्य' से भाव ग्रहण

२. (क) सीसं जहा सरीरस्स, जहा मूलं दुमस्स य।
सव्वस्स साधुधम्मस्स तहा झाणं विधीयते॥ –*ईसिभासियाई*

(ख) एवं कसायजुद्धंमि हवदि खवयस्स आउधं झाणं।
रणभूमीए कवचं होदि ज्झाणं कसायजुद्धंमि॥
वइरं रदणेसु जहा गोसीसं चंदणं व गंधेसु।
वेरूलियं व मणीणं, तह ज्झाणं होइ खवमस्स॥
–*भगवती आराधना १८९१-१८९२/१९०२*

'नियमसार' में कहा गया है–"ध्यान में लीन साधक समस्त दोषों का परित्याग (निवारण) कर सकता है। इसलिए ध्यान ही प्रकारान्तर से समस्त दोषों (अतिचारों) का प्रतिक्रमण है।"[1]

व्यवहारदृष्टि से ध्यान की परिभाषाएँ

'ध्यानशतक' के अनुसार स्थिर अध्यवसान ध्यान है, चित्त चंचल है, उसका किसी एक वस्तु में स्थिर या लीन हो जाना ध्यान है। 'तत्त्वार्थसूत्र' और 'जैनतत्त्व दीपिका' के अनुसार–"एकाग्र चिन्तन एवं मन-वचन-काया की प्रवृत्तिरूप योग का निरोध ध्यान है।" 'अभिधान चिन्तामणि कोष' में ध्यान का परिष्कृत लक्षण दिया है–"अपने विषय (ध्येय) में मन का एकाग्र हो जाना ध्यान है।" 'आवश्यकनिर्युक्ति' में आचार्य भद्रबाहु ने भी इसी तथ्य का समर्थन किया है–"चित्त को किसी एक विषय में स्थिर = एकाग्र करना ध्यान है।" 'योगदर्शन' में ध्यान का लक्षण दिया है–"तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्।" अर्थात् उसमें (जिस देश में चित्त को बाँधा या धारण किया है, उस लक्ष्य-प्रदेश में) प्रत्यय की (ज्ञानवृत्ति की) एकतानता (एकाग्रता) बनी रहना ध्यान है।[2] इस लक्षण के अनुसार आचार्य पतंजलि ने ध्यान का सम्बन्ध केवल मन (चित्त) से ही माना है। परन्तु जैनाचार्यों की यह विशेषता रही है कि उन्होंने ध्यान को केवल मानसिक ही नहीं माना, अपितु वाचिक और कायिक भी माना है। जैसे कि आचार्य अकलंक ने कहा–"जैसे निर्वात प्रदेश में प्रज्वलित दीपशिखा प्रकम्पित नहीं होती, वैसे ही निराकुल प्रदेश में अपने विशिष्ट वीर्य से निरुद्ध अन्तःकरण की वृत्ति एक

पिछले पृष्ठ का शेष–

(ग) पाषाणे स्वर्णं काष्ठेऽग्निः विना प्रयोगैः।
न यथा दृश्यन्ते इमानि ध्यानेन विना तथाऽऽत्मा॥ –*ज्ञानसार ३६*

(घ) मोक्षः कर्मक्षयादेव स चात्मज्ञानतो भवेत्।
ध्यानसाध्यं मतं तच्च, तद्ध्यानं हितमात्मनः॥ –*योगशास्त्र ४/११३*

१. झाण-णिलीणो साहू परिचागं कुणइ सव्व दोसाणं।
तम्हा तु झाणमेव हि सव्वादिचारस्स पडिक्कमणं॥ –*नियमसार ६३७*

२. (क) जं थिरमज्झवसाणं तं झाणं, जं चले तयं तदं चित्तं। –*ध्यानशतक*

(ख) उत्तम-संहननस्यैकाग्र-चिन्ता-निरोधो ध्यानम्। –*तत्त्वार्थसूत्र, अ. ९, सू. २७*

(ग) एकाग्रचित्ता योगनिरोधो वा ध्यानम्।
–*जैनसिद्धान्त दीपिका (आचार्य श्री तुलसी) ५/२८*

(घ) ध्यानं तु विषये तस्मिन्नेक-प्रत्यय-संततिः। –*अभिधान चिन्तामणि कोष (हेमचन्द्राचार्य)*

(ङ) चित्तस्सेगग्गया हवइ झाणं। –*आवश्यकनिर्युक्ति (हरिभद्रसूरि)*

अवलम्बन पर अवस्थित हो जाती है, वही ध्यान है। उनके अनुसार व्यग्रचित्त ज्ञान और एकाग्रचित्त ध्यान कहलाता है।'' दीपशिखा के समान शरीर को निष्कम्प रखने का संकल्प करके जो स्थिरकाय बनता है, उसे कायिक ध्यान कहते हैं। इसी प्रकार दृढ संकल्पपूर्वक वाणी का मौन करना वाचिक ध्यान है और साथ ही मन एकाग्र होकर अपने लक्ष्य में एकाग्र हो जाता है, वहाँ मानसिक ध्यान है। मुख्यतया मन की एकाग्रता के साथ-साथ वचन और काया की एकाग्रता भी गौणरूप से होती है। मनसहित वचन और काया की जब एकरूपता होती है, वहाँ पूर्ण ध्यान होता है। इसलिए व्यवहारदृष्टि से ध्यान का यही परिष्कृत लक्षण बताया गया–मन का किसी एक विषय में, किसी अवलम्बन में या ध्येय में स्थिर हो जाना–एकाग्र हो जाना ध्यान है।[1]

क्या इन्हें भी ध्यान कहेंगे ?

प्रश्न होता है, यदि ध्यान का यही लक्षण है तो कोई कामी पुरुष किसी महिला के रूप में आसक्त होकर उसी का एकाग्रतापूर्वक चिन्तन करता है, लोभी धन कमाने की योजना में मशगूल हो, कोई हत्यारा, चोर आदि अपनी योजना को क्रियान्वित करने में ही दत्तचित्त हो, बगुला मछली आदि जल-जन्तुओं को पकड़ने में ही एकाग्र और स्थिर होकर बैठा हो, तो क्या इन सबके पापात्मक चिन्तन, एकाग्रतापूर्वक अपने विचार में लीनता को ध्यान कहा जायेगा ?

यद्यपि इनका पापात्मक चिन्तन है, फिर भी मन की एकाग्रता को लेकर प्राचीन आचार्यों ने तथा आगमों ने इनके दुश्चिन्तन को भी ध्यान की संज्ञा दी है।[2]

ध्यान के दो प्रकार व चार भेद

और ध्यान के दो भेद किये हैं–प्रशस्त (शुभ) और अप्रशस्त (अशुभ)। अशुभ ध्यान भी दो प्रकार का है और शुभ ध्यान भी दो प्रकार का है; किन्तु अशुभ को निर्जरा या मोक्ष का कारण नहीं माना है, उससे पाप (अशुभ) कर्मबन्ध का ही और उसके फलस्वरूप दुर्गति का कारण माना है। इस प्रकार ध्यान के कुल चार भेद शास्त्र में बतलाये गये हैं[3]–आर्त्तध्यान, रौद्रध्यान, धर्मध्यान और शुक्लध्यान।

---

१. (क) 'महावीर की साधना का रहस्य' में उद्धृत अकलंक का ध्यानलक्षण, पृ. १६९
   (ख) 'जैन आचार' से भाव ग्रहण, पृ. ५९३
२. 'जैनधर्म में तप' से भाव ग्रहण, पृ. ४७१
३. (क) स्थानांग, स्था. २
   (ख) चत्तारि झाणा, प. तं.–अट्टे झाणे रोद्दे झाणे धम्मे झाणे सुक्के झाणे।
   –स्थानांग, स्था. ४

प्रशस्त और अप्रशस्त ध्यान : स्वरूप और अन्तर

मन की धारा जब बहिर्मुखी होती है, तब विषय-वासनाओं, विषयभोगों में धन, परिवार, शरीर आदि की चिन्ता में तथा मोह, लोभ, सुरक्षा और क्रूरता विषयक हिंसादिप्रधान पापात्मक चिन्तन में खोया रहता है, तब उसकी धारा अधोमुखी होकर अशुभ की ओर बहती है और जब मन की विचारधाराएँ दया, करुणा, क्षमा, मृदुता, नम्रता, विनय, भक्ति शुद्ध आत्मा-परमात्मा के चिन्तन की ओर बहती है, तब वह ऊर्ध्वमुखी होती है, ऐसी स्थिति में मन शुभ या शुद्ध की ओर गति करता है। जैसे गाय का भी दूध होता है, आक का भी। दोनों सफेद होते हुई भी दोनों के गुणधर्म में महान् अन्तर होता है, एक अमृत का काम करता है, एक विष का। एक जीवनी-शक्ति देता है, तो दूसरा जीवन को नष्ट कर डालता है। यही अन्तर शुभ और अशुभ ध्यान में है। दोनों शुभ ध्यान मोक्ष के हेतु हैं और दोनों अशुभ ध्यान दुर्गति (नरक-तिर्यंचगति) के।[1] 'उत्तराध्ययनसूत्र' में दो शुभ ध्यानों को ही उपादेय और सम्यक्तप बताया है।

अशुभ ध्यान : तप के कारण नहीं, न ही मोक्ष के हेतु

तप के प्रकरण में अशुभ ध्यान कथमपि उपादेय न होने से परवर्ती आचार्यों ने तो इसको 'ध्यान' के पद से ही हटा दिया है। आचार्य सिद्धसेन दिवाकर ने ध्यान की परिभाषा इसी सन्दर्भ में की है–"शुभैकप्रत्ययो ध्यानम्।"–शुभ और पवित्र अवलम्बन पर एकाग्र होना ध्यान है।[2]

जीवों के आशय की अपेक्षा से ध्यान के तीन प्रकार

'ज्ञानार्णव' में पूर्वोक्त चार प्रकार के ध्यानों को आशय (ध्याता के परिणाम) की दृष्टि से शुभ, अशुभ और शुद्ध इन तीन कोटियों में वर्गीकृत कर दिया गया है, क्योंकि जीवों का आशय तीन प्रकार का है। पुण्याशय की दृष्टि से किये गये ध्यान शुभ कोटि के होते हैं, उसके विपरीत पाप के आशय से किये गये ध्यान अशुभ कोटि के होते हैं और शुद्धोपयोगसंज्ञक ध्यान शुद्ध कोटि के होते हैं। इस दृष्टि से धर्मध्यान को शुभ कोटि में, आर्त्त-रौद्रध्यान को अशुभ कोटि में और शुक्लध्यान को शुद्ध कोटि में समझना चाहिए।

---

१. अट्टरुद्दाणि वज्जित्ता झाएज्जा सुसमाहिए।
धम्म-सुक्काइं झाणाइं, झाणं तं तु बुहा वए॥ –उत्तरा. ३०/३५

२. द्वात्रिंशक् द्वात्रिंशिका (आचार्य सिद्धसेन) से भाव ग्रहण १८/११

निश्चयदृष्टि और व्यवहारदृष्टि से ध्यान के दो प्रकार

इसीलिए 'तत्त्वानुशासन' में कहा गया है–निश्चयदृष्टि से और व्यवहारदृष्टि से ध्यान दो प्रकार का होता है। प्रथम ध्यान में स्वरूप का आलम्बन है और दूसरे में पर-वस्तु का आलम्बन है।

पूर्वोक्त सभी लक्षण परावलम्बी ध्यान के हैं। स्वरूपावलम्बी ध्यान एक प्रकार से निरालम्ब ध्यान है, वह निश्चयदृष्टिपरक है। जैसे कि 'तत्त्वानुशासन' में कहा गया है–आत्मा, आत्मा को, आत्मा में, आत्मा द्वारा, आत्मा के लिए आत्मा से ही ध्याता (ध्यान करता) है, तब निश्चयनय से षट्कारकमय आत्मा ही ध्यान, आत्मा ही ध्येय और आत्मा ही ध्याता होता है।[1] अर्थात् निश्चयध्यान में ध्याता, ध्यान और ध्येय तीनों एकरूप हो जाते हैं।

शुद्ध ध्यान एवं उसके परम्परागत फल

इसी प्रकार शुद्ध ध्यान का लक्षण 'पंचास्तिकाय' में इस प्रकार दिया गया है– "जिसके राग, द्वेष और मोह नहीं है तथा मन-वचन-काया के योगों के प्रति उपेक्षा है, उसके (अन्तरात्मा में) शुभाशुभ को जलाने वाली (शुद्ध) ध्यानमय अग्नि प्रकट होती है।" 'अनगार धर्मामृत' में शुद्ध ध्यान और उसके फलस्वरूप मोक्ष-प्राप्ति बताते हुए कहा गया है–(प्रत्येक पर-पदार्थ में) इष्ट-अनिष्ट-बुद्धि के मूल मोह का विच्छेद हो जाने से जिसका (वीतरागमय) चित्त स्थिर हो जाता है, उस चित्त की स्थिरता के पश्चात् जो निश्चयरत्नत्रयरूप ध्यान होता है, उससे (सर्वकर्मक्षयरूप) मोक्ष होता है और मोक्ष से (अनन्त अव्याबाध) सुख प्राप्त होता है।[2]

---

१. (क) तदेतच्चतुरंगध्यानं (ध्यातृ-ध्येय-ध्यान-ध्यानफलरूपं) अप्रशस्त-प्रशस्तभेदेन द्विविधं।
–चारित्रसार १६७/२

(ख) संक्षेपरुचिभिः सूत्रात्तन्निरुप्यात्म निश्चयात्।
त्रिधैवाभिमातं कैश्चिद् यतो जीवाशयास्त्रिधा॥२७॥
तत्र पुण्याशयः पूर्वस्तद्विपक्षोऽशुभाशयः।
शुद्धोपयोगसंज्ञो यः स तृतीयः प्रकीर्तितः॥२८॥ *–ज्ञानार्णव ३/२७-२८*

(ग) निश्चयाद् वा व्यवहराद् वा ध्यानं द्विविधमागमे।
स्वरूपालम्बनं पूर्वं परालम्बनमुत्तरम्॥ *–तत्त्वानुशासन ९६*

(घ) स्वात्मानं स्वात्मनिस्त्वेन ध्यायेत् स्वस्य स्वतो यतः।
षट्कारकमयस्तस्माद् ध्यानमात्मैव निश्चयात्॥ *–वही, श्लो. ७४*

२. (क) जस्स ण विज्जदि रागो दोसो मोहो व जोगपरिकम्मो।
तस्स सुहासुहडहणो झाणमओ जायए अगणी॥ *–पंचास्तिकाय १४६*

(ख) इष्टानिष्टार्थ-मोहादिच्छेदाच्चेतः स्थिरं यतः।
षट्कारकमयस्तस्मान्मोक्षस्ततः सुखम्॥ *–अनगार धर्मामृत १/११४/११७*

प्रशस्तध्यान के लिए अप्रशस्तध्यान के स्वरूपादि को जानना आवश्यक

प्रशस्तध्यानों के स्वरूप को समझने और हृदयंगम करने से पूर्व अप्रशस्तध्यान के दोनों प्रकारों के स्वरूप आदि को समझ लेना आवश्यक है।

आर्त्तध्यान का अर्थ

आर्त्तध्यान का अर्थ है–पीड़ा, व्यथा, चिन्ता, शोक, दुःख आदि से सम्बन्धित एकाग्रतापूर्वक चिन्तन। जब मन में दुःख, दैन्य, व्याधि, मानसिक कुण्ठा, तनाव, रोग आदि से व्याकुलता, प्रिय वस्तु या व्यक्ति के वियोग और अप्रिय वस्तु या व्यक्ति के संयोग से चिन्ता–शोक आदि के विचार बार-बार मन में उठते हैं, मन उनमें ही डूब जता है तब आर्त्तध्यान होता है।

आर्त्तध्यान की उत्पत्ति के चार कारण

इस प्रकार के आर्त्तध्यान होने के चार कारण बताये गये हैं–(१) अमनोज्ञ सम्प्रयोग–अप्रिय, अनचाही, अनिष्ट वस्तु, व्यक्ति या परिस्थिति का संयोग होने पर, (२) मनोज्ञ सम्प्रयोग–मनोज्ञ, मनचाही, प्रिय या अभीष्ट वस्तु, व्यक्ति या परिस्थिति का वियोग होने पर, (३) आतंक सम्प्रयोग–आतंक का अर्थ–रोग, बीमारी, शारीरिक-मानसिक व्याधि या उपद्रव। आतंक का संयोग उपस्थित होने पर, (४) परिजुषित (उपलब्ध या सेवित) कामभोग सम्प्रयोग–जो कामभोग आदि की सामग्री उपलब्ध हुई है, उसकी सुरक्षा की तथा उनको प्राप्त करने की चिन्ता तथा भविष्य के लिए भोगसुखों का निदान करने से। इन चार कारणों से आर्त्तध्यान पैदा होता है।

आर्त्तध्यान के चार लक्षण

आर्त्तध्यान को पहचानने के चार लक्षण (बाह्य चिह्न) भी बताये गये हैं–(१) क्रन्दनता, (२) शोचनता, (३) तिप्पणता (अश्रुपात), और (४) परिदेवना (हृदयविदारक शोक करना, विलाप करना, विलखना, दुःखविह्वल होकर छाती, माथा आदि कूटना); इन चार लक्षणों से पहचाना जा सकता है कि यह व्यक्ति आर्त्तध्यान से पीड़ित है।[1]

---

१. देखें–स्थानांगसूत्र में आर्त्तध्यान के ४ कारण–(१) अमणुन्न-संपओग, (२) मणुन्न-असंपओग, (३) आयंक-संपओग, (४) परिजुसिय कायभोग-संपओग।

अट्टस्स णं झाणस्स चत्तारि लक्खणा प. तं.–कंदणया, सोअणया, तिप्पणया, परिदेवणया य।

–स्थानांगसूत्र, स्था. ४, उ. १

रौद्रध्यान : स्वरूप, चार कारण एवं चार लक्षण

आर्त्तध्यान प्रायः आत्मघाती होता है, जबकि रौद्रध्यान आत्मघात के साथ-साथ पराघाती होता है। रौद्रध्यान में हिंसा-क्रूरता आदि से युक्त चिन्तन की प्रधानता होती है। इसकी उत्पत्ति के भी चार कारण = चार प्रकार शास्त्रों में बताये हैं– (१) हिंसानुबन्धी–किसी को मारने, पीटने, हत्या करने या अंग-भंग करने आदि के सम्बन्ध में गहरा चिन्तन करना, गुप्त योजना बनाना, षड्यंत्र रचना। (२) मृषानुबन्धी–दूसरों को ठगने, धोखा देने, छल प्रपंच करके, झूठफरेब करने, सत्य को असत्य सिद्ध करने आदि का गहन चिन्तन। (३) स्तेनानुबन्धी–चोरी, लूटपाट, डाका, गिरहकटी आदि के नये-नये उपाय खोजना, उनको छिपाने आदि का चिन्तन। (४) संरक्षणानुबन्धी–जो धन, वैभव, अधिकार, पद, प्रतिष्ठा आदि प्राप्त हुए हैं या भोग-विलास आदि के साधन प्राप्त हुए हैं, येन-केन-प्रकारेण उनके संरक्षण का तथा जो उसमें बाधायें हैं, उनको निष्कंटक बनाने के रास्तों का चिन्तन करना। ये चारों हिंसादि भयंकर पापों से युक्त ध्यान के उत्पन्न होने के कारण हैं।

रौद्रध्यान को पहचानने के लिए भी चार लक्षण बताये गये हैं–

(१) ओसन्नदोसे–हिंसा, झूठ आदि किसी एक पापकर्म में अत्यासक्त होकर सोचना।

(२) बहुलदोसे–अनेक प्रकार के पापकारी दुष्टकर्मों में अत्यासक्त रहना।

(३) अण्णाणदोसे–हिंसादि प्रधान अधर्म कार्यों में, अन्धविश्वासों और कुरूढ़ियों में धर्मबुद्धि रखकर अज्ञानवश उनमें आसक्त-प्रसक्त रहना।

(४) आमरणांतदोसे–मृत्यु-पर्यन्त मन में क्रूरता और रोष, द्वेष, वैर आदि से भरे रहना। अन्तिम समय में भी अपने पापों के प्रति पश्चात्ताप न करना, न ही क्षमा माँगना, किन्तु रौद्रभावों में ही आसक्त बने रहना।[1]

ये अशुभ ध्यान भी सर्वथा त्याज्य हैं

'ज्ञानार्णव' में बताया गया है कि ज्ञानी मुनियों ने विद्यानुवाद आदि पूर्वों से असंख्यभेद वाले अनेक प्रकार के उच्चाटन, स्तम्भन, मोहन, वशीकरण आदि कर्म कौतूहल के लिए प्रगट किये हैं, परन्तु वे सब कुमार्ग तथा कुध्यान के अन्तर्गत हैं। 'तत्त्वानुशासन' के अनुसार–ऐहिक फल चाहने वालों के जो ध्यान होता है, वह या तो आर्त्तध्यान होता है या फिर रौद्रध्यान। 'ज्ञानार्णव' में चेतावनी दी है कि

---

१. रोद्दे झाणे चउव्विहे प. तं.–हिंसाणुबंधि, मोसाणुबंधि, तेणाणुबंधि, संरक्खणाणुबंधि। रोद्दस्स णं झाणस्स चत्तारि लक्खणा प. तं.–ओसन्नदोसे, बहुलदोसे, अन्नाणदोसे आमरणंतदोसे।

सम्यग्दृष्टि तत्त्वज्ञ साधक को चाहिए कि वे स्वप्न में भी उपर्युक्त ऐहिक फल वाले असमीचीन ध्यानों को कौतुकवश स्वप्न में भी न विचारें, क्योंकि ये सन्मार्ग (मोक्षमार्ग या पुण्यमार्ग) की हानि के लिए बीजरूप हैं। 'महापुराण' के अनुसार ये दोनों अशुभ ध्यान त्याज्य हैं, संसारवर्द्धक हैं।[1]

धर्मध्यान : स्वरूप और चार प्रकार

प्रशस्तध्यान में पहला धर्मध्यान है। जिस आचरण से आत्मा पवित्र हो, विशुद्ध हो, कर्मों से मुक्त हो सके, उसे धर्म कहते हैं, वह संवर-निर्जरारूप या श्रुत-चारित्ररूप या सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रयरूप है। शुद्ध धर्म के पवित्र चिन्तन में मन को स्थिर करना, लीन करना धर्मध्यान है।

धर्मध्यान के चार प्रकार हैं–आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय और संस्थानविचय।

(१) आज्ञाविचय का अर्थ है–वीतराग प्रभु की जो आज्ञा या उपदेश, आगमों में निहित है, उस पर दृढ़ आस्था रखते हुए, उनके द्वारा उपदिष्ट मार्ग पर चलना, निषिद्ध कार्यों का त्याग करना। 'आणाए धम्मो, आणाए तवो, आणाए संजमो, आणाए मामगं धम्मं'[2] इन सूत्रों पर चिन्तन करना आज्ञाविचय है।

(२) अपायविचय–अपाय का अर्थ है–दोष या दुर्गुण। आत्मा मिथ्यात्वादि पाँच कारणों से कर्मबन्ध करके इस संसार में परिभ्रमण कर रहा है। इन दोषों से होने वाले कर्मबन्धरूप अपाय से कैसे-कैसे आत्मा मुक्त या विशुद्ध हो सकती है? इस पर चिन्तन करना अपायविचय है।

(३) विपाकविचय–विविध शुभाशुभ कर्मों के विपाक पर–उदय में आने पर प्राप्त होने वाले शुभ-अशुभ फल पर गहराई से चिन्तन करना विपाकविचय है। सुखविपाक और दुःखविपाक के माध्यम से पुण्य-पापकर्मों का फल किस-किस प्रकार से भोगना पड़ता है? इस विषय में कथाओं द्वारा प्रकाश डाला गया है। कर्मों के कटु परिणामों पर चिन्तन करके उनसे बचने का संकल्प करना विपाकविचय है।

---

१. (क) बहूनि कर्माणि मुनिप्रवीरैर्विद्यानुवादात् प्रकटीकृतानि।
असंख्यभेदानि कुतूहलार्थं कुमार्ग-कुध्यान-गतानि सन्ति॥ –ज्ञानार्णव ४०/४
(ख) तद्ध्यानं रौद्रमार्तं वा यदैहिक-फलार्थिनाम्। –तत्त्वानुशासन २२०
(ग) स्वप्नेऽपि कौतुकेनाऽपि नासद्ध्यानानि योगिभिः।
सेव्यानि वान्ति बीजत्वं यतः सन्मार्गहानये॥ –ज्ञानार्णव ४०/६
(घ) हेयमाद्यं द्वयं विद्धि दुर्ध्यानं भव-वर्द्धनम्। –महापुराण २१/२९

२. आचारांग, श्रु. १

(४) संस्थानविचय–संस्थान कहते हैं–आकार को। तीनों लोकों अथवा नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देवगति में कहाँ-कहाँ, कैसे-कैसे जीव रहते हैं? मेरी आत्मा भी विविध योनियों, गतियों और लोकों में भ्रमण करके आयी है, अब इस भ्रमण से कैसे छुटकारा मिले? इस प्रकार का धर्मध्यान संस्थानविचय है।[1]

धर्मध्यान के चार लक्षण

धर्मध्यान के अधिकारी व्यक्ति को निम्नोक्त चार लक्षणों से पहचाना जाता है–(१) आज्ञारुचि, (२) निसर्गरुचि, (धर्म, देव, गुरु पर सहज श्रद्धा), (३) सूत्ररुचि (शास्त्रश्रवण-अध्ययन-मनन रुचि), तथा (४) अवगाढ़रुचि (तत्त्वज्ञान की गहराई में अवगाहन करने = उतरने की रुचि)।

धर्मध्यान के चार आलम्बन और चार अनुप्रेक्षाएँ

धर्मध्यान के चार आलम्बन हैं–वाचना, पृच्छना, परिवर्तना और धर्मकथा। इन चारों आलम्बनों से ध्याता में एकाग्रता और स्थिरता प्राप्त होती है।

धर्मध्यान का इच्छुक साधक चार अनुप्रेक्षाओं (भावनाओं) का निरन्तर अभ्यास करता है–एकत्वानुप्रेक्षा, अनित्यानुप्रेक्षा, अशरणानुप्रेक्षा और संसारानुप्रेक्षा। इन चार अनुप्रेक्षाओं से चित्त में वैराग्य की ऊर्मियाँ तरंगित होती हैं। शरीर और संसार के प्रति आकर्षण कम हो जाता है और आत्मा शान्ति और मनःसमाधि के क्षणों में विचरण करती है।[2]

परवर्ती ध्यानयोगी विद्वान् ने विविध विधियाँ प्रचलित कीं

भगवान महावीर के पश्चात्वर्ती युग में ध्यान के विषय में गहन चिन्तन चला, ध्यानयोगी मुनियों ने कतिपय नये आलम्बनों, स्वरूपों और साधनों का समावेश ध्यान परम्परा में किया है। ध्यान की विधि को भी सरल, सहज और सर्वसुलभ बनाने हेतु कई प्रकार की विधियाँ प्रचलित की हैं।

ध्यान करने में मुख्य तीन तथ्यों पर विचार करना आवश्यक

ध्यान करने में मुख्यतया तीन बातों का विचार करना आवश्यक है–ध्याता, ध्यान और ध्येय। सर्वप्रथम ध्याता की योग्यता पर विचार करना चाहिए कि ध्यान

---

१. धम्मे झाणे चउव्विहे चउपडोयारे प. तं.–आणाविजए, अवायविजए, विवागविजए, संठाणविजए।

२. (क) धम्मस्स णं झाणस्स चत्तारि लक्खणा प. तं.–वायणा, पडिपुच्छणा, परियट्टणा, अणुप्पेहा। *–स्थानांग, स्था. ४, उ. १, सू. ३०८*

(ख) इन चार लक्षणों के स्वरूप आदि जानने के लिए पढ़ें–स्वाध्याय के भेदों का वर्णन

(ग) चार अनुप्रेक्षाओं के विशेष ज्ञान के लिए देखें–कर्ममुक्ति में सहायिका : अनुप्रेक्षाएँ १-३ लेख; स्थानांग ४/१

करने वाला किस भूमिका का है। जिसका चित्त स्थिर हो गया हो, वही ध्यान का प्रशस्त अधिकारी है। ध्याता की योग्यता के विषय में 'तत्त्वानुशासन' में बताया गया है–जो जितेन्द्रिय हो, धीर हो, शान्त हो, जिसका चित्त, मन और बुद्धि (आत्मा) स्थिर हो, जो नासिका के अग्र भाग पर दृष्टि को स्थिर करके सुखासन से बैठा हो, वही (योगी) ध्यान करने का अधिकारी है।[1]

ध्यान का चयन : स्व-भूमिका के अनुरूप

ध्याता की योग्यता और भूमिका पर विचार करने के पश्चात् ध्यान का विचार करना आवश्यक है कि ध्याता को आर्त्त-रौद्रध्यान का परित्याग करके धर्म-शुक्लध्यान में से कौन-सा ध्यान करना है? उसे सालम्ब ध्यान करना है या निरालम्ब ध्यान? निरालम्ब ध्यान में ध्याता और ध्येय भिन्न नहीं होते। उसमें शुद्ध चेतना का ही उपयोग (एकमात्र शुद्धोपयोग) ही होता है, उसके सिवाय किसी ध्येय का ध्यान नहीं होता। सालम्ब ध्यान में ध्येय, धाता और ध्यान का भेद होता है। जैन ध्यान-साधकों का अनुभव है कि प्रारम्भ में सालम्बन ध्यान का ही अभ्यास किया जाना चाहिए। उसके द्वारा एकाग्रता घनीभूत और दृढ़ हो जाये, राग-द्वेष-मोह का भाव मन्द हो जाये, तब निरालम्ब ध्यान–आत्मा के शुद्ध स्वरूप का ध्यान करना चाहिए। परन्तु ध्यान-साधक को इस तथ्य को भूलना नहीं है कि सालम्बन ध्यान निरालम्बन ध्यान तक पहुँचने के लिए है। उसी भूमिका में आजीवन टिके रहने के लिए नहीं।[2]

इसके अतिरिक्त पहले धर्मध्यान का अभ्यास सुदृढ़ करके फिर शुक्लध्यान की ओर बढ़ना चाहिए। धर्मध्यान में भी आज्ञाविचय आदि चार प्रकारों में से अथवा पिण्डस्थ, पदस्थ और रूपस्थ ध्यान में से क्रमशः किसी एक का चयन करके उसमें क्रमशः एकाग्रता बढ़ाते-बढ़ाते फिर रूपातीत ध्यान का अभ्यास करना चाहिए। 'तत्त्वानुशासन' के अनुसार–आत्मज्ञानी आत्मा को जिस भाव से जिस रूप में ध्याता है, उसके साथ वह उसी रूप में तन्मय हो जाता है। जिस प्रकार उपाधि के पास स्फटिक उक्त उपाधि के रूप में परिणत हो जाता है। 'प्रवचनसार' में कहा है– "वीतराग चारित्ररूप धर्म से परिणत आत्मा स्वयं धर्म (में तन्मय) हो जाता है।" अर्हत् को ध्याता हुआ स्वयं भाव अर्हत् हो जाता है।[3]

---

१. (क) यस्य चित्तं स्थिरीभूतं स हि ध्याता प्रशस्यते। –ज्ञानार्णव, पृ. ८४
(ख) जितेन्द्रियस्य धीरस्य प्रशान्तस्य स्थिरात्मनः।
सुखासनस्यस्य नासाग्र-न्यस्तनेत्रस्य योगिनः॥ –ध्यानाष्टक ६

२. हेयमाद्यं द्वयं विद्धि दुर्ध्यानं भववर्द्धनम्।
उत्तरं द्वितयं ध्यानं उपादेयं तु योगिनाम्॥ –महापुराण २१/२९

३. (क) येन भावेन यद्रूपं ध्यायत्यात्मानमात्मवित्।
तेन तन्मयतां याति सोपाधिः स्फटिको यथा॥१९१॥

ध्येय के तीन प्रकार : स्वरूप और विश्लेषण

यह निश्चित है कि ध्याता जब तक अपनी भूमिका के अनुरूप किसी एक ध्येय या लक्ष्य में अपने मन, बुद्धि, चित्त और हृदय को नहीं टिकाता है, तब तक ध्यान में स्थिरता, लीनता या एकाग्रता नहीं आ पाती। अनुभवी साधकों ने तीन प्रकार के ध्येयों का निरूपण किया है–(१) परावलम्बन, (२) स्वरूपावलम्बन, (३) निरवलम्बन।

निरवलम्बन ध्येय में किसी प्रकार के विकल्प, विचार या पदार्थ का अवलम्बन नहीं लिया जाता। इसमें मन विचारों से शून्य रहता है।

परावलम्बन ध्येय में दूसरी-दूसरी वस्तुओं का अवलम्बन लेकर उक्त ध्येय में मन, बुद्धि अथवा दृष्टि को स्थिर किया जाता है। जैसे–भगवान महावीर की ध्यान-साधना का वर्णन करते हुए कहा गया है–

"एगपोग्गल-निविट्ठदिट्ठिए।"–एक पुद्गल पर दृष्टि को स्थिर करके ध्यानमुद्रा में खड़े रहे।

इसे एक प्रकार का अन्तस्त्राटक भी कहा जा सकता है। बाह्यत्राटक में वस्तु सामने (काला गोला आदि) रखकर उसमें दृष्टि टिकाई जाती है। श्वास-प्रेक्षण, शरीर-प्रेक्षण आदि भी परावलम्बन ध्येय के प्रकार हैं। इसी तरह शून्य आकाश पर या वृक्ष के पत्तों आदि पर दृष्टि टिकाना भी परावलम्बन ध्येय है। 'महापुराण' के अनुसार–जगत् के समस्त तत्त्वों या पदार्थों में से जो जिस रूप में अवस्थित हैं, वे सभी पदार्थ या तत्त्व ध्यान के अवलम्बन हो सकते हैं, बशर्ते कि उनके प्रति 'मैं' और 'मेरे' का संकल्प न हो। अर्थात् क्षपक उदासीन या अनीह भाव से जिस-जिस वस्तु को देखता है, वह वस्तु ध्यान का आलम्बन हो सकती है।

स्वरूपावलम्बन ध्येय में बाहर की (पर) वस्तु से दृष्टि हटाकर उसे मूँद लेना और कल्पना की आँखों द्वारा अपने स्वरूप का चिन्तन करना होता है। इस ध्येय में पिण्डस्थ, पदस्थ और स्वरूप, ये तीनों तथा आज्ञाविचय आदि चारों धर्मध्यान के प्रकार आ जाते हैं।[1] वैसे 'नियमसार' में पंच महाव्रत, पंच समिति, तीन गुप्ति,

---

पिछले पृष्ठ का शेष–

परिणमते येनात्मा भावेन, स तेन तन्मयो भवेत्।
अर्हद्ध्यानाविष्टो भावार्हन् स्यात् स्वयं तस्मात्॥१९०॥ *–तत्त्वानुशासन १९१, १९०*

(ख) तम्हा धम्मपरिणदो आदा धम्मे मुणेयव्वो। *–प्रवचनसार, मूल ८*

१. (क) 'जैन आचार : सिद्धान्त और स्वरूप' से भाव ग्रहण, पृ. ५९८-५९९

(ख) अन्तश्चेतो वहिश्चक्षुरधः स्वाप्य सुखासनम्।
समत्वं च शरीरस्य ध्यानमुद्रेति कथ्यते॥ *–गोरक्षाशतक ६५*

प्रत्याख्यान, प्रायश्चित्त और आलोचना आदि सब ध्यान ही हैं, अर्थात् ध्यान के योग्य ध्येय हैं।

रूपातीत ध्यान निरवलम्बन ध्येय की कोटि में आता है।

स्वरूपावलम्बन ध्येय में इनका भी समावेश हो सकता है

स्वरूपावलम्बन ध्येय में–जीव (आत्मा) के साथ शेष अजीवादि छह या आठ तत्त्वों का यथार्थ स्वरूप की दृष्टि से चिन्तनीय पदार्थ भी ध्येय हैं। इसके अतिरिक्त सिद्ध परमात्मा का स्वरूप भी ध्येय है। अर्हत्-स्वरूप भी ध्येय है। अर्हत् का ध्यान भी पिण्डस्थ, पदस्थ और रूपस्थ ध्यानों के आलम्बन से हो सकता है। इसी प्रकार आचार्य, उपाध्याय और साधु भी ध्येय हैं। संक्षिप्त रूप से पंच परमेष्ठी भगवन्तों का ध्यान भी प्रधान ध्येय हो सकता है।

निज शुद्धात्मा भी ध्येय है। इन सबके स्वरूप का निज-स्वरूप के साथ सर्वप्रथम ध्याता भेददृष्टि से और फिर अभेददृष्टि से विचार करे, तथैव पिण्डस्थ, पदस्थ और रूपस्थ अवलम्बन के माध्यम से देखे, चिन्तन करे, तो धीरे-धीरे इस ध्यान के द्वारा वह निर्धारित ध्येय में तन्मय, एकाग्र और एकरूप हो सकता है। इन सब में प्रधानता आत्मारूप ध्येय की रहेगी। इन सबका विस्तृत वर्णन और विधि का निरूपण धवला, तत्त्वानुशासन, ज्ञानार्णव, महापुराण, तिल्लोयपण्णत्ति, राजवार्तिक, द्रव्यसंग्रह आदि ग्रन्थों से जान लेना चाहिए। शुद्ध पारिणामिकभाव भी इसी ध्येय के अन्तर्गत है।[1]

स्वरूपावलम्बन ध्येय में सहायक पिण्डस्थ आदि ध्यान

स्वरूपावलम्बन में सहायक पिण्डस्थ आदि ध्यानों का स्वरूप संक्षेप में इस प्रकार है–आचार्य हेमचन्द्र और आचार्य शुभचन्द्र ने पिण्डस्थ आदि चार धर्मध्यान के अवान्तर भेदों का वर्णन किया है।

पिछले पृष्ठ का शेष–

(ग) ध्यानस्यालम्बनं कृत्स्नं जगत्तत्त्वं यथास्थितम्।
विनाऽत्माऽत्मीय-संकल्पाद् औदासीन्ये निवेशितम्॥ *–महापुराण २१/१७*

(घ) आलंबणेहिं भरियो लोगो ज्झाइदुमणस्स खवगस्स।
जं जं मणसा पेच्छइ, तं तं आलंबणं होइ॥ *–धवला १३/५, ४, २६/३२/७०*

१. इन सब ध्येय के स्वरूप तथा इनकी ध्यान विधि के विषय में देखें–धवला १३/५, ४, २६/६९/४; ज्ञानार्णव ३१/१७; महापुराण २१/१२०-१३०; द्रव्यसंग्रह टीका ५०/२०९/८; तत्त्वानुशासन १३० तथा ११९, १४०; तिल्लोयपण्णत्ति ९/४१; राजवार्तिक ९/२७/७/६२५ तथा नियमसार ता. वृ. ४१

पिण्डस्थध्यान–पिण्ड का अर्थ शरीर है। एकान्त शान्त पवित्र स्थान में सुखासन से बैठकर पिण्ड यानी शरीर में स्थित आत्मदेव का ध्यान करना पिण्डस्थध्यान है। इसमें शरीरस्थ विशुद्ध आत्मा का चिन्तन किया जाता है। निज शुद्धात्मा का ध्यान करने की विधि का निरूपण पूर्वोक्त ज्ञानार्णव आदि ग्रन्थों से जान लेना चाहिए। परन्तु इस ध्यान में 'अपरिस्पन्दमानं ज्ञानमेव ध्यान मुच्यते' (दीपशिखा की तरह अपरिस्पन्दमान ज्ञान को ही ध्यान कहा जाता है) इस लक्षण के अनुसार आत्मा के किसी एक गुण या पर्याय का निःस्पन्द चिन्तन करना आवश्यक है।[1]

इस ध्येय में चित्त को दृढ़तापूर्वक स्थिर करने हेतु पाँच धारणाएँ

आचार्य हेमचन्द्र ने पिण्डस्थध्यान के दौरान ध्येय में चित्त को दृढ़तापूर्वक स्थिर रखने के लिए ५ धारणाएँ बताई हैं–(१) पार्थिवी, (२) आग्नेयी, (३) वायवी, (४) वारुणी, और (५) तत्त्वरूपवती (या तत्त्वभू) धारणा। पार्थिवी धारणा–स्व-शरीरस्थित या सशरीर आत्मा को पृथ्वी के स्वर्णसम पीतवर्ण की कल्पना के साथ बाँधना पार्थिवी धारणा है। इस धारणा के साथ-साथ पृथ्वी के बीजमंत्र 'सोऽहम्' का अजपाजाप चलना चाहिए। आग्नेयी धारणा–अग्नि के समान रक्तवर्ण की ज्वाला की कल्पना की जाती है। 'हँ' बीज मंत्र है इसका। प्रति पल बढ़ती हुई ज्वाला से आठ कर्मों को भस्म करने की कल्पना करनी चाहिए। इसके पश्चात् वायवी धारणा से तीव्र गति से चलती हुई वायु की कल्पना की जाती है। साधक कल्पना करता है कि आग्नेयी से ८ कर्मों के जलने से बनी हुई राख अनन्त आकाश में उड़ रही है। वायु के बीजाक्षर 'य' का अजपाजाप भी साथ में स्फुरित होना चाहिए। फिर वारुणी धारणा में साधक कल्पना करता है कि आकाश घटाएँ उमड़ रही हैं, तीव्र वृष्टि हो रही है, जिससे मेरी आत्मा पर लगी हुई कर्मरज साफ हो गई है। आत्मा पूर्णतया निर्मल हो गयी है। जल के बीजाक्षर 'प' या 'द' का अजपाजाप साथ-साथ चलना चाहिए।

इसके पश्चात् तत्त्वरूपवती धारणा में प्रवेश करके शून्य आकाश की कल्पना करता है कि मैं आकाश के समान अनन्त एवं निर्लिप्त हूँ। यही मेरी आत्मा का शुद्ध स्वरूप है। इसे आकाशी धारणा भी कहते हैं।[2] 'तत्त्वानुशासन' में कहा गया है

---

१. तत्त्वार्थ श्रुतसागरीय वृत्ति ९/२७

२. (क) ज्ञानार्णव ३७/१
   (ख) योगशास्त्र, प्र. ७, श्लो. ८
   (ग) 'जैन आचार : सिद्धान्त और स्वरूप' से भाव ग्रहण, पृ. ५९९
   (घ) योगशास्त्र ७/९
   (ङ) धारणा तु क्वचिद् ध्येये चित्तस्य स्थिरबन्धनम्। *–अभिधान चिन्तामणि कोष १/८४*

कि ध्यान में स्थिरता के परिपुष्ट हो जाने पर ध्येय का स्वरूप ध्येय के सन्निकट न होने पर भी स्पष्ट रूप से आलेखित जैसा प्रतिभासित होता है। जिस समय ध्याता ध्यान के बल से अपने शरीर को शून्य बनाकर ध्येय स्वरूप में आविष्ट या प्रविष्ट होकर अपने आप को तत्सदृश बना लेता है, उस समय उस प्रकार की ध्यान-संवित्ति से भेद-विकल्प को नष्ट करता हुआ वही (भाव से) परमात्मा, गरुड़ या कामदेव हो जाता है।[1]

पदस्थध्यान–पद का अर्थ है–अक्षर। अक्षरों पर मन को स्थिर करना पदस्थध्यान है। इसमें अर्हं, णमो अरिहंताणं आदि किसी भी एक पदसमूह पर या (अ, आ आदि) एक अक्षर पर या मंत्र पदों को कल्पनाचक्षु से देखने का अभ्यास किया जाता है। पदस्थध्यान में बीजाक्षर, एकाक्षरी मंत्र (ॐ, ह्रीं आदि) तथा द्व्याक्षरी या अनेकाक्षरी मंत्रों पर भी चिन्तन किया जाता है।

रूपस्थध्यान–रूपयुक्त तीर्थंकर आदि के रूप, स्वरूप, समवसरण आदि का कल्पनाचक्षु से साधक द्वारा जो ध्यान किया जाता है, वह रूपस्थध्यान है।

रूपातीतध्यान–इस ध्यान में किसी प्रकार पिण्ड, पद या रूप की कल्पना नहीं की जाती, किन्तु निरंजन, निराकार, सिद्धस्वरूप का ध्यान करना रूपातीत ध्यान है। यह ध्यान विकल्प, विचार, कल्पना से शून्य होता है। इस ध्यान में किसी प्रकार का आलम्बन नहीं लिया जाता। इसमें ध्याता, ध्यान और ध्येय के विकल्प मिट जाते हैं। ध्याता और ध्येय ध्यान में एकाकार हो जाते हैं।[2]

शुक्लध्यान : स्वरूप, भेद और प्रकार

ध्यान की सर्वोत्कृष्ट दशा शुक्लध्यान है। मन में से जब विषय-वासनाएँ नष्ट हो जाती हैं, वह पूर्ण विशुद्ध हो जाता है, तब वह पूर्णतया एकाग्र हो जाता है; उसमें स्थिरता इतनी सघन हो जाती है कि उसके शरीर पर कोई प्रहार करता या छेदन-भेदन करता है, फिर भी उसके मन में किंचिन्मात्र भी क्षोभ नहीं होता। भयंकरतम वेदना होने पर भी शुक्लध्यानी उस वेदना को तनिक भी महसूस नहीं करता। वह देहातीत हो जाता है। शुक्लध्यान के मुख्य दो भेद किये गये हैं–

---

१. (क) तत्त्वानुशासन १९०-१९१
   (ख) प्रवचनसार, गा. ८
२. (क) योगशास्त्र, प्र. ७, श्लो. ८
   (ख) 'जैन आचार : स्वरूप और सिद्धान्त' से भाव ग्रहण, पृ. ६०३-६०४
   (ग) यत्पदानि पवित्राणि समालम्ब्य विधीयते।
   तत्पदस्थं समाख्यातं ध्यानं सिद्धान्तपारगैः॥ –योगशास्त्र ८/१
   (घ) अर्हतो रूपं समालम्ब्य ध्यानं रूपस्थमुच्यते। –वही ९/७

शुक्लध्यान और परम शुक्लध्यान। ये भेद इस ध्यान की परम विशुद्धता और स्थिरता की न्यूनाधिकता को लेकर किये गये हैं। चतुर्दशपूर्वी का ध्यान शुक्लध्यान है। केवलज्ञानी का ध्यान परम शुक्लध्यान होता है। स्वरूप की दृष्टि से शुक्लध्यान के चार प्रकार हैं–(१) पृथक्त्व-वितर्क-सविचार, (२) एकत्व-वितर्क-अविचार, (३) सूक्ष्मक्रियाऽप्रतिपाती, और (४) समुच्छिन्न-क्रियाऽनिवृत्ति।

पृथक्त्व-वितर्क-सविचार–इस ध्यान में तर्कयुक्त चिन्तन के माध्यम से श्रुतज्ञान के विविध भेदों का गहराई से चिन्तन किया जाता है। इसमें द्रव्य, गुण और पर्याय में से कभी द्रव्य पर, कभी गुण पर और कभी पर्याय पर भेद-प्रधान चिन्तन किया जाता है।

एकत्व-वितर्क-अविचार–जब भेद-प्रधान चिन्तन करते हुए मन स्थिर हो जाता है, तब जो अभेद-प्रधान चिन्तन (किसी एक द्रव्य पर या उसकी एक पर्याय पर) किया जाता है, वह एकत्व-वितर्क-अविचार ध्यान होता है। इस ध्यान में वस्तु के एक रूप को ध्येय बनाया जाता है। इसमें साधारण या स्थूल विचार स्थिर हो जाते हैं, सूक्ष्म विचार चलते हैं, इसलिए इसे निर्विचार ध्यान कहा जाता है। क्योंकि इसमें एक ही वस्तु पर विचार स्थिर होता है।

सूक्ष्मक्रियाऽप्रतिपाती–इस ध्यान में अत्यन्त सूक्ष्मक्रिया चलती है। जिस विशिष्ट साधक को यह स्थिति प्राप्त हो जाती है, वह पुनः ध्यान से च्युत नहीं होता, इसीलिए इसे सूक्ष्मक्रियाऽप्रतिपाती कहा गया है। केवलज्ञान-केवलदर्शन-प्राप्त सर्वज्ञ वीतराग ही इस ध्यान के अधिकारी हैं, छद्मस्थ नहीं। योग निरोध की प्रक्रिया के समय जब केवल सूक्ष्म काययोग यानी मात्र श्वासोच्छ्वास की प्रक्रिया शेष रहती है, उस स्थिति का ही यह ध्यान है।

समुच्छिन्न-क्रियाऽनिवृत्ति–यह शुक्लध्यान की अन्तिम भूमिका है। शुक्लध्यान के तीसरे चरण में केवल श्वासोच्छ्वास की क्रिया रहती है, पर इसमें तो श्वासोच्छ्वास का भी निरुन्धन हो जाता है। इसमें मन-वचन-काया के योगों की चंचलता पूर्ण रूप से समाप्त होकर आत्म-प्रदेश पूर्णतया निष्कम्प हो जाते हैं। आत्मा तेरहवें गुणस्थान से चौदहवें गुणस्थान में पहुँच जाती है। यह निष्कम्प शैलेशी अवस्था है। इसलिए इसे समुच्छिन्न-क्रियाऽनिवृत्ति शुक्लध्यान कहा जाता है। इस ध्यान के प्रभाव से शेष रहे चार अघातिकर्म (वेदनीय, नाम, गोत्र और आयुकर्म) भी नष्ट हो जाते हैं, जिससे वह आत्मा सिद्ध, बुद्ध, मुक्त परमात्मा हो जाती है।[1]

---

१. (क) पृथक्त्वैकत्व-वितर्क-सूक्ष्म-क्रियाऽप्रतिपाति-व्युपरतक्रियानिवृत्तीनि। –*तत्त्वार्थसूत्र* ९/४१
(ख) 'जैन आचार : स्वरूप और सिद्धान्त' से भाव ग्रहण, पृ. ६०४-६०५
(ग) सुक्के झाणे चउव्विहे चउप्पडोवयारे प. तं.–पुहुत्तवितक्के सवियारी, एगत्तवितक्के अवियारी, सुहुमकिरिते अणियट्टी, समुच्छिन्न-किरिए अप्पडिवाती। –*भगवती, श.* २५, उ. ७

शुक्लध्यानी आत्मा के चार लिंग (चिह्न)

शुक्लध्यानी आत्मा के चार लिंग (चिह्न) होते हैं–अव्यथा, असम्मोह, विवेक और व्युत्सर्ग। अव्यथा–भयंकर से भयंकर उपसर्ग आने पर भी वह जरा-सा भी व्यथित–विचलित नहीं होता। असम्मोह–उसकी श्रद्धा-निष्ठा अविचल होती है। देव आदि द्वारा माया आदि की विकुर्वणा करने पर भी उसकी श्रद्धा नहीं डगमगाती, वह विसम्मोहित नहीं होता। तात्त्विक विषयों पर भी उसकी श्रद्धा निःशंक होती है। विवेक–वह शरीर और आत्मा की पृथक्ता के भेदविज्ञान से अभ्यस्त होता है। वह शीघ्र कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का विवेक कर पाता है। व्युत्सर्ग–वह देह आदि की ममता-मूर्च्छा-आसक्तियों का पूर्णतः विसर्जन कर, अनासक्त और ममत्वमुक्त होता है। प्रति क्षण वीतरागभाव में लीन रहता है, इसी भाव में आगे बढ़ता रहता है। शुक्लध्यानी की पहचान इन चार चिह्नों से सहज ही हो जाती है।

शुक्लध्यान के चार आलम्बन

शुक्लध्यान के भव्य प्रासाद पर आरूढ़ होने के लिए चार आलम्बन बताये हैं–क्षमा–क्रोध का प्रसंग उपस्थित होने पर भी वह क्रोध नहीं करता। मार्दव–मान का प्रसंग आने पर भी वह मान (मद या अहंकार) नहीं करता। आर्जव–माया के परित्याग होने से उसके जीवन के कण-कण में सरलता (काया, भाषा, भाव और योगों में ऋजुता) होती है। मुक्ति–वह लोभ पर पूर्ण रूप से विजय प्राप्त कर लेता है।

शुक्लध्यान की चार अनुप्रेक्षाएँ

इसी प्रकार शुक्लध्यान की चार अनुप्रेक्षाएँ हैं–(१) अनन्तवर्तितानुप्रेक्षा, (२) विपरिणामानुप्रेक्षा, (३) अशुभानुप्रेक्षा, और (४) अपायानुप्रेक्षा। पहली अनुप्रेक्षा में अनन्त भवपरम्परा का चिन्तन करता है। दूसरी अनुप्रेक्षा में वस्तु के प्रति क्षण परिवर्तन (अशुभ से शुभ में, शुभ से अशुभ में परिवर्तन) के चिन्तन से आसक्ति अत्यन्त कम हो जाती है। तीसरी अनुप्रेक्षा में संसार के अशुभ स्वरूप पर गहराई से चिन्तन करने से सांसारिक पदार्थों के प्रति निर्वेदभावना सुदृढ़ हो जाती है। चौथी अनुप्रेक्षा में जिन अशुभ कर्म-दोषों के कारण संसार-परिभ्रमण होता है, उन दोषों पर चिन्तन करने क्रोधादि दोषों से सर्वथा मुक्त हो जाता है। ये अनुप्रेक्षाएँ तभी तक हैं, जब तक मन में पूर्ण स्थिरता नहीं होती, स्थिरता होने पर उसकी बहिर्मुखता नष्ट हो जाती है।[1]

---

१. (क) स्थानांगसूत्र, स्था. ४, उ. १
(ख) भगवतीसूत्र, श. २५, उ. ७

किस-किस गुणस्थान में कौन-सा ध्यान होता है ?

इस प्रकार ध्यान के विषय में गहराई से चिन्तन करने के पश्चात् यह देखना है कि किस गुणस्थान में कौन-सा सुध्यान है? श्वेताम्बर परम्परा में धर्मध्यान का प्रारम्भ छठे गुणस्थान से माना गया है, जबकि दिगम्बर परम्परा में सातवें गुणस्थान से उसका प्रारम्भ माना जाता है। शुक्लध्यान के प्रथम दो प्रकार सातवें से बारहवें तक होते हैं। शुक्लध्यान का तृतीय प्रकार तेरहवें गुणस्थान में होता है, जबकि चतुर्थ प्रकार में तो आत्मा चौदहवें गुणस्थान में प्रवेश कर जाती है। शुक्लध्यान के प्रथम दो प्रकारों में श्रुतज्ञान का आलम्बन होता है, किन्तु शेष दो में किसी प्रकार का आलम्बन नहीं होता।

ध्यान के ज्ञातव्य चार अधिकारों में चौथा ध्यानफल

'धवला' में ध्यान के विषय में ज्ञातव्य चार अधिकार बताये हैं–ध्याता, ध्येय, ध्यान और ध्यानफल। प्रथम तीनों के विषय में काफी लिखा जा चुका है। ध्यान के फल के बारे में कुछ बातें अवश्य विचार लेनी चाहिए।[1]

धर्म-शुक्लध्यान के लोकोत्तर और लौकिक सात्त्विक फल

धर्मध्यान और शुक्लध्यान को सम्यक् प्रकार से विधिवत् सम्पन्न करने से सकामनिर्जरा और केवलज्ञान, मति-श्रुतज्ञान में विशुद्धता आदि तथ्य शीघ्र ही सर्वकर्ममुक्ति प्राप्त होती है। यह ध्यान का लोकोत्तर फल है। ध्यान के लौकिक फल भी कम नहीं हैं। शरीर और मन की स्वस्थता, स्फूर्ति, चिन्ता, तनाव, उद्विग्नता, उदासी, बेचैनी, ईर्ष्या, घृणा, द्वेष, वैर-विरोध, रोष, आसक्ति, क्रोधादि कषाय आदि की भी मन्दता और उनसे मुक्ति भी शुभ ध्यानों से सम्भव है। 'ज्ञानार्णव' के अनुसार–"अष्टदल कमल पर स्थापित स्फुरायमाण आत्मा एवं 'णमो अर्हंताणं' के आठ अक्षरों का प्रत्येक दिशा के सम्मुख होकर क्रमशः आठ रात्रि पर्यन्त १,१०० बार जप (पूर्वक ध्यान) करने से सिंह आदि क्रूर जन्तु भी (ध्याता के समक्ष) अपना क्रूर गर्व–स्वभाव छोड़ देते हैं। आठ रात्रियाँ व्यतीत हो जाने पर इस कमल के पत्तों पर अंकित अक्षरों को क्रमशः निरूपण करके देखें, तदनन्तर यदि प्रणव (ॐ) सहित उस मंत्र का ध्यान करे तो सकल मनोवांछित कार्य सिद्ध होते हैं।" 'तत्त्वानुशासन' के अनुसार–"जो जिस कर्म का स्वामी है, अथवा जो जिस कर्म को करने में समर्थ देव है, उसके ध्यान से व्याप्त-चित्त वाला ध्याता उक्त देवरूप होकर अपना मनोवांछित कार्य (अर्थ) सिद्ध करता है।" इस प्रकार ध्यान-साधना

---

१. तत्थ ज्झाणे चत्तारि अहियारा होंति, ध्याता, ध्येयं, ध्यानं ध्यानफलमिति।

से अनेक लौकिक कार्य सिद्ध होते हैं, बशर्ते कि वे सात्त्विक ध्यानतप से युक्त हों।[1]

आगम-साहित्य के अध्ययन से ज्ञात होता है कि लौकिक कामना से तप करने वालों को भी लौकिक सिद्धियाँ प्राप्त हुई हैं। 'ज्ञाताधर्मकथा' में वर्णन है कि चेलना रानी के दोहद को पूर्ण करने हेतु अभयकुमार ने तप किया था। 'अन्तकृद्दशांग' के अनुसार–माता देवकी की पुत्र-प्राप्ति की इच्छा को पूरी करने हेतु श्रीकृष्ण वासुदेव ने हिरणगमैषी देव के ध्यानपूर्वक आह्वान करने हेतु तेले का तप किया था। इन सब उदाहरणों से स्पष्ट है कि बाह्यान्तरतप से लौकिक प्रयोजनों की सिद्धि होती है। किन्तु लौकिक कामना से किया जाने वाला बाह्याभ्यन्तरतप मोक्ष-प्राप्ति या कर्मनिर्जरा में बाधक है।[2]

किन्तु आध्यात्मिक विकास एवं कर्ममुक्ति की दृष्टि से किया जाने वाला ही महत्त्वपूर्ण है। धर्मध्यान के अन्तर्गत जो ५ धारणाएँ बताई हैं, उनके प्रयोग का लोकोत्तर फल कर्ममुक्ति है; मगर योगवाशिष्ठ में लौकिक फल भी बताया गया है– पार्थिवी धारणा सिद्ध होने पर शरीर में किसी प्रकार का रोग नहीं होता। आग्नेयी धारणा सिद्ध हो जाने पर वह योगी अग्नि में डाल दिये जाने पर भी नहीं जलता। वायवी धारणा सिद्ध हो जाने पर योगी वायुरहित स्थान में भी जीवित रह सकता है। वारुणी धारणा सिद्ध हो जाने पर योगी अगाध जल में नहीं डूबता। तत्त्वरूपवती धारणा सिद्ध होने पर योगी आकाश में उड़ सकता है। इन पाँचों धारणाओं के सिद्ध होने पर आत्म-शक्तियाँ अत्यधिक जाग्रत हो जाती हैं।[3]

ध्यान-साधना में अन्य आवश्यक बातें

पूर्वोक्त चार बातों के अतिरिक्त ध्यान-साधना में आहार (सात्त्विक परिमित), स्थान (एकान्त, शान्त), सहायक (ध्यान का अनुभवी साधक), योग (शरीर और मन की स्वस्थ, शान्त) अवस्था, योग्यकाल तथा अप्रमाद, आसनविजय, समत्व एवं ज्ञान-दर्शन-चारित्र-वैराग्यभावना अपेक्षित है। तभी ध्यान-साधना सफल हो सकती है।[4]

● ●

---

१. (क) ज्ञानार्णव, श्लो. ३८

(ख) यो यत्कर्मप्रभुर्देवस्तद्ध्यानाविष्टमानसः।
ध्याता तदात्मको भूत्वा साधयत्यात्मवांछितम्॥ –तत्त्वानुशासन २००

२. 'जैन आचार : स्वरूप और सिद्धान्त' से भाव ग्रहण

३. योगवाशिष्ठ निर्वाण प्रकरण ७१-९२

४. 'महावीर की साधना का रहस्य' के आधार पर, पृ. १९२-१९३

१४

व्युत्सर्गतप : देहातीत भाव का सोपान

व्युत्सर्गतप क्या है, क्या नहीं है ?

स्वाध्याय और ध्यान के पश्चात् व्युत्सर्गतप का क्रम है। व्युत्सर्ग का अर्थ है– विशेष प्रकार से तन, मन, बुद्धि और इन्द्रियों से उत्सर्ग करना, विसर्जन करना, त्याग-प्रत्याख्यान करना। व्युत्सर्गतप बाह्य और आभ्यन्तर दोनों प्रकार के तपश्चरण का संगम है। इसे आभ्यन्तरतप में इसलिए स्थान दिया गया है कि कुछ लोग विवश होकर, बाध्य होकर, समाज, राज्य परिवार या अन्य किसी के दबाव, भय या किसी स्वार्थ से प्रेरित होकर भी त्याग, दान या प्रत्याख्यान करते हैं, इस बाह्य विसर्जन या त्याग की गणना व्युत्सर्गतप की कोटि में कतई नहीं की जा सकती। कई साधक भी वस्त्र, गन्ध, माल्य, अलंकार, नारी, अमुक शयनासन तथा सुख-सुविधा के या इन्द्रियविषय-सुखभोग के साधनों का आवेश में या अनावेश में, अभावपीड़ित होने से, वृद्धावस्था या लाचारी हालत में या दुःसाध्य व्याधि से पीड़ित होने की अवस्था में त्याग कर देते हैं। यहाँ तक कि कई व्यक्ति आत्महत्या करके शरीर तक का भी त्याग कर देते हैं, किन्तु उस त्याग को या बिना सोचे-समझे, बिना अर्थ और आगार को समझे अथवा देखादेखी या विवश होकर प्रत्याख्यान कर देने का, फिर मन में घुटते रहने का या दूसरों को सुख-सुविधाओं तथा सुखोपभोगों से, धनादि से सम्पन्न देखकर मन ही मन दुःसंकल्प (निदान) कर लेने का, अमुक प्रकार की सुख-सुविधाओं, सुखोपभोग-साधनों की प्राप्ति की आशंसा करते रहने का त्याग तप की कोटि में नहीं आता। उनके स्वभाव में उनके अभ्यास में अथवा उनके जीवन में वह त्याग या प्रत्याख्यान घुलता-मिलता नहीं, वह त्याग-प्रत्याख्यान या विसर्जन उनके जीवन का स्वाभाविक अंग नहीं बन पाता अथवा वे अपने त्याग-प्रत्याख्यान या विसर्जन के बदले प्रशंसा, प्रसिद्धि या पूजा-प्रतिष्ठा पाने के लिए अत्यन्त उत्सुक रहते हैं अथवा अपने त्याग, प्रत्याख्यान, विसर्जन या दान को अहंकार से प्रेरित होकर दूसरों का तिरस्कार करते हैं, दूसरों को नीचा दिखाकर या उनकी निन्दा, बदनामी या पिशुनता करके अपनी ऊँचाई (उच्च क्रिया, उच्च त्याग, उच्च तपस्या आदि) की डींग हाँकते रहते हैं।

व्युत्सर्ग कब त्याग है, कब नहीं ?

इसी प्रकार कई लोगों को त्याग, प्रत्याख्यान या विसर्जन पच नहीं पाता। वे बाहर से त्याग आदि का दिखावा-प्रदर्शन या नाटक करते हैं, किन्तु अंदर में सभी भोगोपभोग योग्य पदार्थों या सुख-सुविधाओं का आचमन या सेवन या विकल्प-संकल्प करते रहते हैं। इस प्रकार के अस्वच्छन्द, विवशतापूर्ण त्याग के लिए भगवान ने कहा-जो व्यक्ति वस्त्र, गन्ध, अलंकार, स्त्रियाँ और सुखशय्या आदि अस्वाधीन होने से उपयोग नहीं कर पाते, किन्तु मन ही मन कामना सँजोते रहते हैं, वे त्यागी नहीं कहे जाते।

जब तक शरीर और शरीर से सम्बद्ध पदार्थों के प्रति आसक्ति, ममता, गृद्धि, लालसा, वासना, कामना या उत्सुकता नहीं मिटती, अन्तःकरण से भी विसर्जित नहीं हो जाती, यानी उसके प्रति अहंकार-ममकार का विसर्जन नहीं हो जाता, मन में दबदबा बना रहता है कि इस मनोज्ञ वस्तु, शरीर, कषाय या कर्मबन्ध के कारणों को छोड़ने से मेरा काम कैसे चलेगा? लोग क्या कहेंगे? परिवार, समाज या राष्ट्र के लोग मुझे क्या समझेंगे? मेरी प्रतिष्ठा, प्रशंसा या प्रसिद्धि इस त्याग से हो रही है या नहीं? ये और इस प्रकार के ताने-बाने त्याग-विसर्जन के पीछे जो बुनता रहता है, उस व्यक्ति का त्याग या विसर्जन सच्चे माने में त्याग या विसर्जन नहीं है। यदि किसी व्यक्ति को अमुक मनोज्ञ एवं उपभोग्य वस्तुएँ आसानी से प्राप्त हो सकती हैं, किन्तु वह उनका स्वेच्छा से, शुद्ध अन्तःकरण से, संकल्पपूर्वक त्याग या व्युत्सर्ग करता है, 'मणसा वि न पत्थए' की उक्ति को चरितार्थ करता है, तो उसका वह त्याग वास्तविक त्याग कहा गया है, क्योंकि उसने उक्त वस्तुओं से पीठ फेर दी है, स्वप्न में भी वह उन वस्तुओं को नहीं चाहता है।

व्युत्सर्ग आभ्यन्तरतप क्यों और कैसे ?

यही कारण है कि व्युत्सर्ग में आन्तरिक त्याग, प्रत्याख्यान, विसर्जन आदि का बाहुल्य होने से इसे आभ्यन्तरतप कहा गया है।

आसक्ति, अहंता, ममता, मूर्च्छा, लालसा, गृद्धि, वासना, उत्सुकता और आशा आदि जीवन के सबसे बड़े बन्धन हैं। फिर ममत्व आदि धन का हो, साधनों का हो, विषय-भोगोपभोगों का हो, परिवार का हो, शरीर का हो या शरीर से सम्बन्धित किसी भी पदार्थ का हो, व्युत्सर्ग में इन सभी सजीव-निर्जीव पदार्थों, कषायों, कर्मों का संसार आदि के प्रति यहाँ तक कि प्राणों के प्रति भी मोह-ममत्व आदि का त्याग स्वेच्छा से केवल कर्ममुक्ति की दृष्टि से किया जाता है। इसमें अपने स्वत्वमोह, कालमोह तथा संसारमोह का भी त्याग अनिवार्य है। इसमें स्वेच्छा से, बिना किसी स्वार्थ के, आत्म-शुद्धि, आत्म-समर्पण एवं बलिदान की दृष्टि से स्वयं

को तैयार रहना पड़ता है। 'तत्त्वार्थ राजवार्तिक' में व्युत्सर्ग का प्रयोजन बताते हुए कहा गया है–"निःसंगता = अनासक्ति, निर्भयता और जीवन आशा-तृष्णा आदि के त्याग के लिए = कर्मनिर्जरा के लिए व्युत्सर्ग किया जाता है।"[1]

व्युत्सर्ग की विविध परिभाषाएँ

संक्षेप में, संयम, नियम, धर्म (सत्य-अहिंसादि के लिए, आत्म-साधना के लिए अपने आप को 'अप्पाणं वोसिरामि'–अपने दोषयुक्त आत्मा का व्युत्सर्ग करता हूँ अथवा काया के प्रति ममत्व का व्युत्सर्ग करता हूँ[2] इस प्रकार की समर्पण भावना से उत्सर्ग कर देना–स्व-बलिदान कर देना व्युत्सर्ग है। 'सर्वार्थसिद्धि' में व्युत्सर्गतप के तीन लक्षण दिये गए हैं–(१) अहंकार और ममकार (मैं और मेरा) रूप संकल्प का त्याग करना व्युत्सर्ग है। (२) कायोत्सर्ग आदि करना व्युत्सर्ग है। (३) व्युत्सर्जन करना अर्थात् त्याग करना व्युत्सर्ग है। 'धवला' के अनुसार–"शरीर और आहार में मन, वचन की प्रवृत्तियों को हटाकर ध्येय वस्तु में एकाग्रतापूर्वक चित्त का निरोध करना व्युत्सर्ग नामक तप है।" 'अनगार धर्मामृत' के अनुसार–"बन्ध के हेतुभूत बाह्य एवं आभ्यन्तर दोषों का उत्तम प्रकार से त्याग करना व्युत्सर्गतप का निर्वचन है।" 'मूलाचार' में कहा गया है–"बाह्य उपधिरूप क्षेत्रादि का और आभ्यन्तर उपधिरूप क्रोधादि का त्याग करना व्युत्सर्ग है।"[3]

व्युत्सर्गतप की निष्पत्ति

व्युत्सर्गतप की एक और निष्पत्ति है–प्रज्ञा की जागृति। प्रज्ञा और बुद्धि में बहुत अन्तर है। बुद्धि प्रिय और अप्रिय का, अच्छे-बुरे का, अनुकूल-प्रतिकूल का चुनाव करने लगती है, जबकि प्रज्ञा में चुनाव का प्रश्न ही समाप्त हो जाता है। वहाँ आत्मा में समता और सहज श्रद्धा परिनिष्ठित हो जाती है। व्युत्सर्ग के

---

१. (क) 'जैनधर्म में तप' (स्व. मरुधरकेसरी जी म.) से भाव ग्रहण, पृ. ५०६
(ख) आवश्यकसूत्र में 'करेमि भंते' आदि में बोले जाने वाला सूत्र
(ग) आवश्यकनिर्युक्ति, गा. १५५२

२. निःसंगनिर्ममत्व-जीविताशा-व्युदासार्थो व्युत्सर्गः। –*राजवार्तिक* ९/२६/१०

३. (क) आत्माऽऽत्मीय-संकल्पत्यागो व्युत्सर्गः। कायोत्सर्गादिकरणं व्युत्सर्गः। व्युत्सर्जनं व्युत्सर्गः त्यागः। –*स. सि.* ९/२०/४३९, ९/२२/४४०, ९/२६/४४३
(ख) सरीराहारेसुहु मण-वयण-पवुत्तीओ ओसारियज्झेयम्मि एअग्गेणचित्तणिरोहो विओसग्गो णाम। –*धवला* ८/३, ४१/८५
(ग) बाह्याभ्यन्तरदोषा ये विविधा बन्धहेतवः।
यस्तेषामुत्तमः सर्गः स व्युत्सर्गो निरुच्यते॥ –*अनगार धर्मामृत* ७/९४/७२१
(घ) आभ्यन्तरः क्रोधादिः, बाह्यः क्षेत्रादिकं द्रव्यम् (द्वयोस्त्यागः व्युत्सर्गः)। –*मूलाचार* ४०६

अभ्यास से बौद्धिक उछलकूद शान्त होकर प्रज्ञा की स्थिरता बढ़ जाती है। जब व्युत्सर्गतप के द्वारा प्रज्ञा जाग्रत हो जाती है, तब सुख-दुःख, सुविधा-असुविधा, लाभ-अलाभ (प्राप्ति-अप्राप्ति), निन्दा-प्रशंसा, जीवन-मरण, अनुकूलता-प्रतिकूलता, सम्मान-अपमान आदि द्वन्द्वों में समभाव में स्थिर रहने की क्षमता विकसित हो जाती है। वह कैसी भी परिस्थिति हो, कैसा भी द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव हो, उसमें प्रतिबद्ध न होकर आत्म-दृष्टि से, आत्म-स्वभाव में स्थित रहता है, वह किसी भी इष्ट-वियोग, अनिष्ट-संयोग तथैव इष्ट-संयोग और अनिष्ट-वियोग की परिस्थिति में समत्व में स्थित रहता है। ऐसी स्थितप्रज्ञता व्युत्सर्गतप के साधक में आ जाती है। वह द्वन्द्वातीत एवं विमत्सर हो जाता है।

व्युत्सर्ग सिद्ध हो जाने पर व्यक्ति में ज्ञाता-द्रष्टाभाव भी जाग जाता है। व्यक्ति अपने स्वरूप में–स्वभाव में स्थिर हो पाता है। आत्मा का शुद्ध स्वरूप, जिसे अब तक वह सुन-पढ़कर जान या मान रहा था, अब प्रकट हो जाता है। व्युत्सर्गतप का साधक तब अध्यात्म की, अपने स्वरूप की तथा अपने वास्तविक अस्तित्व और स्व-भाव की उपलब्धि कर सकता है।

स्पष्ट है, व्युत्सर्गतप सिद्ध हो जाने पर साधक की पुरानी आदतों में, संकीर्ण दृष्टिकोण में, भौतिक रुचि में, बुरे स्व-भावों में परिवर्तन आ जाता है। वह प्रत्येक पदार्थ का वस्तुस्वरूप की दृष्टि से विश्लेषण कर सकता है। व्युत्सर्ग की प्रक्रिया से स्वभाव को बदलने की तथा व्याधि और आदि की स्वस्थ-चिकित्सा करने की क्षमता आ जाती है।

सही माने में व्युत्सर्ग सिद्ध हो जाने पर तन, मन, वचन, बुद्धि आदि शान्त और निश्चल हो जाते हैं। जब ये शान्त हो जाते हैं, तब प्राण-शक्ति की ऊर्जा तथा मन की शक्ति बढ़ जाने से आत्मा और परमात्म-तत्त्व को उपलब्ध करने में कोई रुकावट नहीं रहती और ऐसी स्थिति में दशविध प्राणबल[1] की तथा मन, बुद्धि, चित्त, हृदय आदि अन्तःकरण की धारा शुद्ध आत्मा की ओर अथवा वीतरागता की ओर प्रवाहित होती है।

व्युत्सर्ग-तपोधनी व्यक्ति में सहिष्णुता, तितिक्षा, सहन करने की शक्ति बढ़ जाती है।

व्युत्सर्गतप की साधना करने वाले को शरीर और शरीर से सम्बद्ध परभावों-विभावों एवं आत्मा की भिन्नता का विवेक या साक्षात्कार हो जाता है, वह स्व-पर का, स्वभाव और विभाव के भेद को स्पष्टतः हृदयंगम कर लेता है।

---

१. (क) पंचेन्द्रियाणि त्रिविधं बलं च, उच्छ्वास-निःश्वासमथान्यदायुः।
प्राणा दशैते भगवद्भिरुक्तास्तेषां वियोजीकरणं तु हिंसा॥ –योगशास्त्र

(ख) पच्चीस बोल के थोकड़े में 'छठे बोले प्राण दस' कहते हैं, वे ये ही दस प्राण हैं।

व्युत्सर्गतप की व्यापकता को देखते हुए कहा जा सकता है कि इस तप से जीवन के बाह्य और अन्तरंग दोनों ही पक्ष में निर्ममत्व, निर्भयता, दोषों से आत्मा की सुरक्षा और मोक्षमार्ग में विशुद्ध तत्परता, विवेक-चेतना आदि बढ़ती हैं। वस्तुतः शरीर और आत्मा के गुणधर्म, स्वभाव और स्वरूप आदि के अन्तर का पृथक्करण करके साधक की जब विवेक-चेतना पुष्ट या जाग्रत होती है, तब व्युत्सर्ग की क्षमता में वृद्धि होती है, व्यक्ति में त्याग, प्रत्याख्यान और विसर्जन की शक्ति का विकास होता है। फिर शरीर, गण, उपधि (उपकरण), संसार, भक्त-पान अथवा कषाय, राग, द्वेष, मोह, ईर्ष्या, अहंकार-ममकार, आशा, तृष्णा, लालसा, वासना, फलाकांक्षा या महत्त्वाकांक्षा आदि को स्वेच्छा से छोड़ने में कोई संकोच या दुःख नहीं होता। उसमें धन, परिवार इन्द्रिय-विषय-सुखों, सुखोपभोग साधनों तथा आसक्ति या घृणा, द्रोह-मोह आदि को छोड़ने में कोई हिचकिचाहट नहीं होती। जब-जब चाहे तब किसी को भी छोड़ सकता है।

व्युत्सर्ग या कायोत्सर्ग की उपयोगिता और प्रयोजन

वर्तमान युग अत्यधिक दौड़-धूप और सक्रियता का युग है। आज मनुष्यों का केवल शरीर ही दौड़-भाग करता हो ऐसी बात नहीं है, उनका मन भी बहुत भाग-दौड़ करता है, बुद्धि विभिन्न प्रकार के सुखोपभोग के साधनों की प्राप्ति, सुरक्षा और लालसा के लिए बहुत ही योजनाएँ (Plans) बनाने में उछलकूद मचाती है, वाणी भी बार-बार कहने, अपने भौतिक और भोगलालसायुक्त विचारों को प्रकट करने के लिए बहुत मचलती है। चित्त लोभ, मोह, राग, आसक्ति, घृणा, ईर्ष्या, अहंकार, ममकार, छल-प्रपंच, धोखाधड़ी, द्वेष, रोष आदि के चक्कर में बार-बार उचटता है। ये सब शरीर और शरीर से सम्बन्धित सजीव-निर्जीव पदार्थों के प्रति पूर्वसंस्कारवश पुनः-पुनः होते हैं, इनसे कर्मबन्ध और कर्म के उदय में आने पर जन्म-मरण-जरा-व्याधि-शोक-चिन्ता आदि दुःख उत्पन्न होते हैं, उन दुःखों को भोगते समय फिर राग-द्वेष, प्रियता-अप्रियता, आसक्ति-घृणा, मोह-द्रोह आदि उत्पन्न होते हैं, उनसे फिर कर्म बँधते हैं फिर उनका दुःखद फल भोगना पड़ता है। इन सब जन्म-मरणादिरूप संसार के दुःखों का तब तक अन्त नहीं होता, जब तक कायोत्सर्गतप द्वारा शरीर और शरीर से सम्बद्ध सजीव-निर्जीव पर-पदार्थों या विभावों को लेकर बँधे हुए कर्मों का अन्त नहीं कर दिया जाए। यही व्युत्सर्गतप का मुख्य प्रयोजन है।

इसी प्रकार मन-वचन-काया की पूर्वोक्त प्रकार से दौड़-धूप और सक्रियता के कारण जीवनी-शक्ति एवं ऊर्जा-शक्ति का बहुत ही व्यय और नाश होता है। श्वास की गति बहुत तीव्र हो जाती है। यदि मनुष्य को स्थिर और शान्त करना तथा दीर्घ

श्वास लेना सीख ले, तो अनेक कठिनाइयों और संकटापन्न स्थितियों से बच सकता है। इसलिए इस प्रवृत्ति-बहुलयुग में व्युत्सर्ग या संक्षेप में कायोत्सर्ग रामबाण औषध है। प्रवृत्ति-बहुलता और अतिव्यस्तता के कारण मनुष्य अनेक मानसिक विकृतियों, तनावों, उद्विग्नताओं, शारीरिक-मानसिक व्याधि-आधियों से घिरा रहता है। उनसे बचाव का एकमात्र उपाय है–काया और काया से सम्बन्धित मनबुद्धि आदि की स्थिरता या शिथिलीकरण यानी कायव्युत्सर्ग।

व्युत्सर्गतप के दो मुख्य प्रकार

व्युत्सर्ग शब्द में जो उत्सर्ग, उसका अर्थ है–त्यागना या छोड़ना। त्याग उसी वस्तु का होता है, जो हमारी मोक्षमार्ग की साधना में बाधक हो, त्याज्य हो, छोड़ देने योग्य हो। ऐसी त्याज्य वस्तुएँ दो प्रकार की होती हैं–बाह्य और आभ्यन्तर।

व्युत्सर्गतप के दो प्रकारों में त्याज्य वस्तुएँ मुख्यतया सात

बाह्य त्याज्य वस्तुएँ शरीर, उपकरण, गण, संसार, भक्तपान आदि अनेक प्रकार की हैं; जबकि आभ्यन्तर त्याज्य वस्तुएँ हैं–मन में उद्विग्नता, तनाव, चिन्ता, क्रोधादि कषाय, राग, द्वेष, मोह, अहंकार, ममकार, आशा, तृष्णा, लालसा, इच्छा, फलाकांक्षा, महत्त्वाकांक्षा, वासना आदि।

व्युत्सर्गतप के दो प्रकारों के क्रमशः चार और सात भेद

'तत्त्वार्थसूत्रकार' ने बाह्य और आभ्यन्तर दोनों प्रकार की उपधियों के त्याग को व्युत्सर्गतप कहा है।

यही कारण है कि 'भगवतीसूत्र' में व्युत्सर्गतप दो प्रकार का बताया है–(१) द्रव्य-व्युत्सर्ग, और (२) भाव-व्युत्सर्ग।

द्रव्य-व्युत्सर्ग चार प्रकार का है–(१) काय-व्युत्सर्ग, (२) गण-व्युत्सर्ग, (३) उपधि-व्युत्सर्ग, और (४) भक्त-पान-व्युत्सर्ग।

भाव-व्युत्सर्ग के तीन प्रकार हैं–(१) कषाय-व्युत्सर्ग, (२) संसार-व्युत्सर्ग, और (३) कर्म-व्युत्सर्ग।[1]

---

१. (क) 'जैनधर्म में तप : स्वरूप और विश्लेषण' से भाव ग्रहण
(ख) 'तत्त्वार्थसूत्र विवेचन' (उपाध्याय केवल मुनि) से भाव ग्रहण, पृ. ४३४
(ग) विउसग्गे दुविहे पण्णत्ते तं.–दव्व-विउसग्गे य भाव-विउसग्गे य।
–भगवतीसूत्र, श. २५, उ. ७, सू. २५०

काय-व्युत्सर्ग बनाम कायोत्सर्ग : स्वरूप और विश्लेषण

द्रव्य-व्युत्सर्ग में काय-व्युत्सर्ग या कायोत्सर्ग व्युत्सर्ग का प्रथम चरण है। एक व्यक्ति लेट जाता है, शरीर को शिथिल कर देता है, यह केवल शरीर की स्थिरता हुई। परन्तु शरीर को स्थिर कर देने मात्र से कायोत्सर्ग पूर्ण नहीं होता। उसके साथ कायोत्सर्गसूत्र के अन्तिम पदों में 'ठाणेणं मोणेणं झाणेणं' के द्वारा क्रमशः काया की स्थिरता, वाणी की स्थिरता और मन की स्थिरता सूचित की गई है। अन्त में 'अप्पाणं वोसिरामि' द्वारा अपनी काया के प्रति ममत्व के विसर्जन का संकेत किया गया है। भगवान महावीर ने इसी आशय का संकेत व्युत्सर्ग का लक्षण करते हुए किया है–"जो भिक्षु शयन, आसन और स्थान (सोना, बैठना, उठना) आदि समस्त कायिक क्रियाओं का त्याग करके शरीर को स्थिर कर उसके प्रति ममता का, उसकी सार-सँभाल का त्याग कर देता है। इस प्रकार काया का व्युत्सर्ग कर देने को कायोत्सर्ग नामक छठा आभ्यन्तरतप कहा गया है।[1]

पूर्ण कायोत्सर्ग : योगत्रय के ध्यानपूर्वक होता है

बहुत-से योगाचार्य एवं विद्वान् केवल मानसिक क्रिया को ही ध्यान मानते हैं, किन्तु जैनाचार्यों ने ध्यान के तीन प्रकार बताये हैं–कायिक, वाचिक और मानसिक। मन की स्थिरता यानी मानसिक ध्यान के लिये काया की स्थिरता = कायिक ध्यान तथा वाणी की स्थिरता = वाचिक ध्यान भी आवश्यक है। शरीर की स्थिरता के बिना मानसिक स्थिरता ही नहीं, श्वास की स्थिरता भी नहीं हो सकती। इसलिए मन को स्थिर करने हेतु श्वास को स्थिर करना होगा तथा श्वास को स्थिर करने के लिए शरीर को स्थिर करना होगा, वाणी भी शरीर से सम्बद्ध है। इसलिए कायोत्सर्ग में ध्यान के आधारभूत तत्त्वों में सबसे महान् तत्त्व है–काया की स्थिरता, कायागुप्तियुक्त कायोत्सर्ग।[2]

ध्यान की पूर्व भूमिका के लिए द्रव्य-कायोत्सर्ग अनिवार्य

इस कथन का तात्पर्य यह है कि काया को इतनी स्थिर कर देना कि वह स्वयं ध्यानरूप हो जाए। ध्यान में शरीर (और उससे सम्बद्ध मन, वचन, बुद्धि आदि) को पूर्णतः शान्त और स्थिर रखना अनिवार्य है। इसीलिए 'सूत्रकृतांगसूत्र' में कहा गया है–"ध्यानयोग का आलम्बन लेकर काया का यानी देहभाव का सर्वतोभावेन व्युत्सर्ग

---

१. (क) 'आवश्यकसूत्र' में कायोत्सर्गसूत्र पाठ का अन्तिम वाक्य
(ख) सयणासण-ठाणे वा जे उ भिक्खू न वावरे।
कायस्स विउस्सग्गो, छट्ठो सो परिकित्तिओ॥ –उत्तराध्ययन, अ. ३०, गा. ३६

२. 'प्रेक्षाध्यान : कायोत्सर्ग' (आचार्य महाप्रज्ञ) से भाव ग्रहण, पृ. ९-१०

(विसर्जन या त्याग = ममत्वत्याग) कर देना चाहिए।" यही व्युत्सर्ग का स्वरूप निर्दिष्ट है। 'स्थानांगसूत्र' की टीका में कायोत्सर्ग का अर्थ किया गया है–शरीर की चंचलता जन्य चेष्टाओं का (स्वेच्छा से) निरोध करना व्युत्सर्गार्ह है, तप है।[1]

कायोत्सर्ग के दो रूप : द्रव्य और भाव

यहाँ शरीर की चंचलता के त्याग का अर्थ सिर्फ यह नहीं है कि वृक्ष, पर्वत या काष्ठ की भाँति निष्पंद खड़े हो जाना, क्योंकि शरीर की निष्पंदता तो एकेन्द्रिय प्राणियों में भी होती है। पर्वत या काष्ठ पर चाहे जितने प्रहार करो, वह कब चंचल होता है या रोष करता है? केवल इतने से कार्य के लिए कायोत्सर्ग नहीं किया जाता। ऐसी निष्पंदता या काय-स्थिरता तो अविकसित प्राणी की जड़वत् निष्पन्दता या स्थिरता है, वह सचेतन स्थिरता या निष्पन्दता नहीं है। यही कारण है कि जिनदासगणी ने कायोत्सर्ग के भी दो प्रकार बताते हुए कहा है–"यह कायोत्सर्ग भी द्रव्य और भावरूप से दो प्रकार का होता है। द्रव्यतः काय चेष्टा का निरोध द्रव्य-कायोत्सर्ग है और भावतः धर्म-शुक्लध्यान में रमण करना भाव-कायोत्सर्ग है।

शरीर की चंचलता एवं ममता का त्याग करके जिनमुद्रा में स्थिर खड़ा होना अथवा कायोत्सर्गमुद्रा में स्थिर सुखासन से बैठ जाना, कायचेष्टानिरोधरूप द्रव्य-कायोत्सर्ग है। तत्पश्चात् धर्म-शुक्लध्यान में रमण करना भाव-कायोत्सर्ग है। मन को जब तक धर्म-शुक्लध्यान के शुभ, पवित्र और शुद्ध भावों और अध्यवसायों में बाँधा नहीं जाएगा, तब तक वह वेदना के कष्ट में या शरीर पर होने वाले प्रहार के अनुभव में समभाव नहीं रख सकेगा। अतः कायोत्सर्ग में मुख्यता ध्यान की है। ध्यान की भूमिका तैयार करने के लिए प्रथम द्रव्य-कायोत्सर्ग किया जाता है, फिर द्रव्य से भावों में प्रवेश करना होता है। यही भाव-कायोत्सर्ग का हार्द है। ध्यानयुक्त कायोत्सर्ग को ही 'उत्तराध्ययन' में सर्वदुःखविमोचक कहा गया है।[2]

यद्यपि काय-व्युत्सर्ग की द्रव्य-व्युत्सर्ग में गणना की गई है, किन्तु वास्तव में वह द्रव्य से भाव की ओर महाप्रयाण का सूचक है। स्थूल शरीर द्रव्य है, इस अपेक्षा से इसे द्रव्य में ग्रहण भले ही किया गया हो, किन्तु वास्तव में यह स्थूल से सूक्ष्म की ओर बढ़ने की प्रक्रिया है। 'उत्तराध्ययनसूत्र' में जो कायोत्सर्ग को ही व्युत्सर्गतप कहा

---

१. (क) झाणजोगं समाहट्टु, कायं विउसेज्ज सव्वसो। –*सूत्रकृतांग, श्रु. १, अ. ८, गा. २६*
(ख) व्युत्सर्गार्हं यत्कायचेष्टानिरोधनः। –*स्थानांग टीका, स्था. ६*

२. (ख) सो पुण काउसग्गो दव्वतो भावतो य भवति।
दव्वतो कायचेट्ठानिरोहो भावतो काउसग्गो झाणं॥ –*आवश्यकचूर्णि*
(ग) काउसग्गंतओ कुज्जा, सव्व-दुक्ख-विमोक्खणं। –*उत्तराध्ययनसूत्र, अ. २६, गा. ४२*

गया है, उसके पीछे भी यही दृष्टिकोण परिलक्षित होता है कि सबमें मुख्य तत्त्व शरीर है। शरीर है, तभी गण, उपकरण, आहार, कर्म, संसार और कषाय आदि उससे सम्बद्ध हैं और उनका ग्रहण और त्याग है। शरीर से जब ममता-मूर्च्छा-आसक्ति विसर्जित हो गई तो फिर आहार, उपधि, गण, संसार आदि के प्रति ममता-अहंता का कोई कारण नहीं रह जाता। आचार्य हेमचन्द्र ने कायोत्सर्ग का लक्षण दिया है–"शरीर के ममत्व का त्याग करके दोनों भुजाओं को नीचे लटकाकर शरीर और मन को स्थिर करने, शरीर निरपेक्ष रहने को कायोत्सर्ग कहा गया है। जो खड़े होकर या बैठकर दोनों तरह से किया जा सकता है।"[1]

द्रव्य-भाव-कायोत्सर्ग की दृष्टि से चार प्रकार के कायोत्सर्ग

कायोत्सर्ग के द्रव्य-भाव-स्वरूप को समझने के लिए 'मूलाचार' और 'भगवती आराधना' में उसके चार रूपों का निरूपण किया गया है–(१) उत्थित-उत्थित, (२) उत्थित-निविष्ट, (३) उपविष्ट-उत्थित, और (४) उपविष्ट-उपविष्ट।

(१) उत्थित-उत्थित–कायोत्सर्ग के लिए खड़ा होने वाला साधक जब द्रव्य (शरीर) के साथ भाव से भी खड़ा हो जाता है; अर्थात् उसका मन (अन्तश्चैतन्य) भी खड़ा (जाग्रत) हो जाता है। दूसरे शब्दों में कहें तो–वह आर्त्त-रौद्रध्यान का त्याग कर धर्म-शुक्लध्यान में रमण करता है, तब उत्थितोत्थित नामक सर्वोत्कृष्ट कायोत्सर्ग होता है। इसमें सुप्त अन्तरात्मा जाग्रत होकर कर्मों से जूझने के लिए तन कर खड़ा हो जाता है।

'भगवती आराधना' के अनुसार–इसमें द्रव्य, भाव दोनों का उत्थान होने के कारण उत्थितोत्थित कायोत्सर्ग में उत्थान का प्रकर्ष है, क्योंकि शरीर का खम्भे के समान खड़ा रहना द्रव्योत्थान है और एक ध्येय-वस्तु में ज्ञान का एकाग्र होकर ठहरना भावोत्थान है।

(२) उत्थित-निविष्ट–जब अयोग्य-साधक द्रव्य (शरीर) से तो कायोत्सर्ग के लिये खड़ा हो जाता है, किन्तु भाव से गिरा रहता है, अर्थात् आर्त्त-रौद्रध्यान की परिणति (चिन्तना) में रत रहता है, तब उत्थित-निविष्ट कायोत्सर्ग होता है। इसमें शरीर के उत्थान से तो उत्थित (खड़ा) रहता है, किन्तु आत्मा शुभ परिणामों की उद्गतिरूप उत्थान के अभाव के कारण निविष्ट-उपविष्ट है।

---

१. (क) 'जैनधर्म में तप' से भाव ग्रहण, पृ. ५१७
(ख) कायस्स विउसग्गो, छट्ठो सो परिकित्तिओ। –उत्तराध्ययन, अ. ३०, गा. ३६
(ग) प्रलम्बितभुजद्वन्द्वमुर्ध्वस्थस्यासितस्य वा।
स्थानं कायानपेक्षं यत् कायोत्सर्गः स कीर्तितः॥ –योगशास्त्र प्रकाश ४/१३३

(३) उपविष्ट-उत्थित–जो साधक अशक्ति या वृद्धावस्था के कारण खड़ा तो नहीं हो पाता, अतएव बैठा-बैठा ही कायोत्सर्ग करता है, किन्तु अन्तर में भावशुद्धि का प्रवाह तीव्र है। अतः जब वह पद्मासन या सुखासन आदि से बैठकर धर्म-शुक्लध्यान में रमण करता है, तब उपविष्ट-उत्थित कायोत्सर्ग होता है। इसमें शरीर नहीं खड़ा है, किन्तु परिणाम खड़े हैं। शरीर बैठा है, किन्तु आत्मा खड़ी है।

(४) उपविष्ट-उपविष्ट–जब आलसी एवं कर्त्तव्य-विवेकशून्य साधक शरीर से बैठा रहता है और भावों से भी बैठा रहता है। अर्थात् धर्म-शुक्लध्यान को छोड़कर आर्त्त-रौद्रध्यानों की या सांसारिक विषयभोगों की कल्पना में उलझा रहता है। अर्थात् शरीर से भी बैठा हुआ है और परिणामों से भी उत्थानशील नहीं है, तब उपविष्टोपविष्ट नामक कायोत्सर्ग होता है। यह कायोत्सर्गों नहीं, मात्र कायोत्सर्ग का ढोंग है, प्रदर्शन है।

उपर्युक्त चार प्रकार के कायोत्सर्गों में से कर्मक्षय के हेतु मुमुक्षु-साधकों के लिए पहला और तीसरा कायोत्सर्ग ही उपादेय है। न दो कायोत्सर्गों द्वारा जन्म-मरण के बन्धन कटते हैं और आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप में पहुँचकर आध्यात्मिक आनन्द की अनुभूति करती है।[1]

कायिक और मानसिक कायोत्सर्ग की विधि

कायिक और मानसिक कायोत्सर्ग की विधि के विषय में 'मूलाचार' में कहा गया है–"दोनों बाहुएँ लम्बी करके चार अंगुल के अन्तर से दोनों पैर सम रखे हों तथा हाथ आदि अंगों का संचालन न हो, वहाँ शुद्ध (कायिक) कायोत्सर्ग है। कायोत्सर्ग में स्थित साधक देवकृत, मनुष्यकृत या तिर्यञ्चकृत या अचेतन (प्रकृति) कृत जितने भी उपसर्ग या प्रकोप हों, उन सबको समभाव से सम्यक् प्रकार से सहन करे तथा कायोत्सर्ग में स्थित सन्त ईर्यापथ में लगे हुए अतिचारों–दोषों को नष्ट करने का चिन्तन करते हुए धर्म-शुक्लध्यान का चिन्तन करे।" 'भगवती आराधना' के अनुसार–"मन से शरीर के प्रति 'मम इदं' (मेरा यह है) इस प्रकार

---

१. (क) उट्ठिद-उट्ठिद उट्ठिद-णिविट्ठ उवविट्ठ-उट्ठिदो।
उवविट्ठ-णिविट्ठो वि य काउसग्गो चदुट्ठाणो॥ –*मूलाचार ६७३-६७७*

(ख) उत्थितोत्थितं, उत्थित-निविष्टं उपविष्टोत्थितं उपविष्टोविष्ट इति चत्वारो विकल्पाः। धर्मे शुक्ले वा परिणतो यस्तिष्ठति तस्य कायोत्सर्गः उत्थितोत्थितो नाम। द्रव्य-भावोत्थान-समन्वितत्वादुत्थान-प्रकर्षः उत्थितोत्थित-शब्देनोच्यते। तत्र द्रव्योत्थानं शरीरं स्थाणुवदूर्ध्वं अविचलमवस्थानं। ध्येयैकवस्तुनिष्ठता ज्ञानमयस्य भावस्य भावोत्थानम्। –*भगवती आराधना (वि.) ११६/२७८/२७*

(ग) 'श्रमणसूत्र' (उपाध्याय अमर मुनि) से भाव ग्रहण, पृ. १०२

की ममत्व बुद्धि की निवृत्ति मानस कायोत्सर्ग है तथा मैं शरीर (के प्रति ममत्व) का त्याग करता हूँ, वचन से ऐसा उच्चारण करना वचनकृत कायोत्सर्ग है और दोनों बाहुएँ नीचे छोड़ (लटका) कर तथा दोनों पैरों के बीच में चार अंगुल का फासला रखकर निश्चल खड़े रहना कायिक कायोत्सर्ग है।"[1]

कायोत्सर्ग : क्यों और कैसे ?

काया और उत्सर्ग इन दो शब्दों के योग से कायोत्सर्ग शब्द निष्पन्न हुआ है। दोनों का मिलकर अर्थ होता है—काया का त्याग। प्रश्न होता है—जीते जी काया का त्याग कैसे हो सकता है? काया के त्याग का अर्थ है—प्राणों का त्याग, वह कैसे सम्भव है? क्योंकि प्राणधारण करने के लिए तो शरीर आवश्यक है। आत्महत्या या आपघात करने से काया का त्याग हो सकता है; किन्तु वह तो सर्वथा वर्जनीय है। जैनधर्म के सिद्धान्तों के अनुसार 'भगवती आराधना' में भी इसी आशय का प्रश्न उठाया गया है—"आयु के निरवशेष समाप्त हो जाने पर आत्मा शरीर को छोड़ती है, अन्य समय में नहीं; तब अन्य समय में कायोत्सर्ग क्यों कहा जाता है? इसका समाधान यह है कि शरीर का त्याग या वियोग न होने पर भी इसके अशुचित्व, अनित्यत्व, अपायित्व (विनश्वरत्व), दुर्वहत्व, असारत्व, दुःखहेतुत्व, शरीरगत-ममताहेतुक अनन्तसंसार-परिभ्रमणत्व इत्यादि दोषों का अवधारण (विचार) करके—'यह मेरा नहीं है और न मैं इसका स्वामी हूँ', ऐसा संकल्प मन में उत्पन्न हो जाने पर शरीर के प्रति आदर या प्रीति का अभाव हो जाता है, एक प्रकार से काया का त्याग ही घटित होता है। जैसे प्राणप्रिया पत्नी से कुछ अपराध हो जाने पर पति के साथ एक घर में रहते हुए (या व्यवहार से उसी पति की पत्नी कहलाने पर) भी उसके प्रति पति के अनुराग का अभाव हो जाने से, 'यह मेरी नहीं है' इस प्रकार की भावव्यावृत्ति हो जाने से वह (पत्नी) त्यक्ता कहीं जाती है,

---

१. (क) वोसिरिद-बाहुजुगलो चतुरंगुल-अंतरेण समपादो।
सव्वंग चलपरिहिओ काउसग्गो विसुद्धो दु॥६५०॥
जे केइ उवसग्गा देव-माणुस-तिरिक्खचेदणिया।
ते सव्वे अधिआसे काउसग्गे ठिदो संते॥६५५॥
काउसग्गम्मि ठिदो चिंतिदु इरियावधस्स अतिचार।
ते सव्वं समाणित्ता थम्मं सुक्कं च चिंतेज्जो॥६६४॥

—मूलाचार, गा. ६५०, ६५५, ६६४

(ख) मनसा शरीरे ममेदंभाव-निवृत्तिः मानसः कायोत्सर्गः।
प्रलम्बभुजस्य चतुरंगुलमात्र-पादान्तरस्य निश्चलानस्थानं कायेन कायोत्सर्गः॥

—भगवती आराधना

इसी प्रकार यहाँ भी काया को आत्मा द्वारा त्यक्ता-सी समझना।''[1] दूसरी बात यह है–संयमी साधक शरीर के अपाय का निराकरण करने में निरुत्सुक रहता है, इसलिए उसके द्वारा काया का त्याग युक्तियुक्त है।[2]

इससे पूर्व-उक्त प्रश्न का सिद्धान्तसम्मत उत्तर यह है कि आत्महत्या करना या काया को अकाल में स्वयं नष्ट-भ्रष्ट कर देना अथवा अनिच्छा से कर्ममुक्ति के उद्देश्य के बिना मद्यपान, व्यभिचार, अतिभोग आदि से या दुर्व्यसनों में फँसकर जल्दी ही मरकर शरीर का त्याग कर देना कायोत्सर्ग (कायत्याग) नहीं है, अपितु काया को संयम या सद्धर्म के पालन के लिए रखते हुए भी उसके प्रति ममत्व का त्याग करना शुद्ध कायोत्सर्ग है। 'भगवती आराधना' में इसी से मिलता-जुलता लक्षण किया गया है–''शरीर के प्रति ममत्व का त्याग करना कायोत्सर्ग है।'' 'नियमसार' के अनुसार–''काय (तन-मन-वचन) आदि परद्रव्यों में स्थिरीभाव का त्याग करके जो आत्मा को निर्विकल्परूप से ध्याता है, उसके कायोत्सर्ग होता है।'' 'योगसार' में कायोत्सर्ग का परिष्कृत लक्षण दिया गया है–''देह को अचेतन, नश्वर एवं कर्मनिर्मित समझकर जो उसके पोषण (पुष्टि) आदि के लिए कोई कार्य नहीं करता, वह कायोत्सर्गकर्त्ता है।'' इससे भी और अधिक परिष्कृत लक्षण 'कार्तिकेयानुप्रेक्षा' में दिया गया है–''जो साधक काया के जल्ल और मल से (कायोत्सर्ग के समय) लिप्त हो जाने पर उसकी चिन्ता नहीं करता, दुःसह रोग हो जाने पर भी उसकी चिकित्सा नहीं करता, मुखादि प्रक्षालन आदि शरीर के परिकर्म से विरक्त हो, भोजन, शय्या आदि से भी निरपेक्ष हो और सदैव अपने स्वरूप के चिन्तन में संलीन रहता हो, दुर्जन और सज्जन के प्रति मध्यस्थ हो, शरीर के प्रति भी ममत्व न करता हो, उसके कायोत्सर्ग नामक तप होता है।''[3]

---

१. (क) 'जैनधर्म में तप' से भावांश ग्रहण

(ख) ननु च आयुषो निरवशेष-गलने आत्माशरीरमुत्सृजति, नान्यदा; तत् किमुच्यते कायोत्सर्ग इति ?····· अनपायित्वेऽपि शरीरे अशुचित्वं, ····· तथाऽनित्यत्वं, अपायित्वं, दुर्वहत्वं असारत्वं, दुःखहेतुत्वं, शरीरगत-ममताहेतुकमनन्तसंसार-परिभ्रमणं, इत्यादिकान् सम्प्रधार्य दोषान्, नेदं मम, नाऽहमस्येति संकल्पवत-तदादराभावात् कायस्य त्यागो घटत एव। यथा प्राणेभ्योऽपि प्रियतमा कृतापराधावस्थिता ह्येकस्मिन् मन्दिरे (गृहे) त्यक्तेत्युच्यते, तस्यामनुरागाभावान्ममेदं भावव्यावृत्तिमपेक्ष्य एवमिहाऽपि।

–*भगवती आराधना (वि.)* ११६/२७८/१३

२. किं च····· शरीरापाय-निराकरणानुत्सुकश्च यतिस्तस्माद्युज्यते कायत्यागः।

–*वही* ११६/२७८/१३

३. (क) देहे ममत्व निरासः कायोत्सर्गः। –*वही* ६/३२/२१

शरीरादि पर-पदार्थ पर ममत्वादि होने से ही बन्धरूप हैं

वास्तव में, शरीर या शरीर से सम्बद्ध वस्त्र, उपधि, गण या आहार आदि पर-पदार्थ अपने आप में (कर्म) बन्धनरूप नहीं हैं, ये बन्धन तब बनते हैं, जब इनके प्रति ममता, आसक्ति, मूर्च्छा, गृद्धि या देहबुद्धि होती है, राग, मोह या द्वेष, घृणा आदि होते हैं। ये ममता आदि छूट जाने पर तो शरीर आदि उपकारी हो जाते हैं, शरीर आदि से ज्ञान-दर्शन-चारित्र-तप आदि की साधना एवं धर्माराधना की जा सकती है। इसीलिए 'स्थानांगसूत्र' में धर्माचरण करने वाले साधक के लिए शरीर और गण आदि पाँच को आश्रम–आलम्बन का कारण बताया है।[1]

शरीर को कायोत्सर्ग योग्य बनाने हेतु शरीर और आत्मा की पृथक्ता का अभ्यास

इसीलिए कायोत्सर्ग में बहिर्मुख बने हुए शरीर को अन्तर्मुख करके कायोत्सर्ग के योग्य बनाने हेतु इस पर से ममत्वबुद्धि का त्याग करना होता है। 'आवश्यकनिर्युक्ति' में कहा गया है–"कायोत्सर्ग में सब दुःखों और क्लेशों की जड़-ममता का शरीर से सम्बन्ध तोड़ देने के लिए साधक को यह दृढ़ संकल्प करना चाहिए कि शरीर और है तथा आत्मा और है।"[2]

'अध्यात्मरामायण' के अयोध्याकाण्ड में कहा है–"मैं (आत्मा) देह हूँ, इस बुद्धि को अविद्या (अज्ञान) कहा गया है और मैं देह से भिन्न चेतन आत्मा हूँ, इस बुद्धि को विद्या या ज्ञान कहते हैं।"[3]

पिछले पृष्ठ का शेष–

(ख) कायाइ-परदव्वे थिरभावं परिहरत्तु अप्पाणं।
तस्स हवे तणुस्सगं, जो झायइ णिव्वि अप्पेण॥ *–नियमसार, गा. १२१*

(ग) ज्ञात्वा योऽचेतनं कायं नश्वरं कर्मनिर्मितं।
न तस्य वर्तते कार्ये कायोत्सर्गं करोति सः॥ *–योगसार, अ. ५/५२*

(घ) जल्ल-मल-लित्त-गत्तो दुस्सहबाहीसु णिप्पडीयारो।
मुह-धोवणादिविरओ, भोयण-सेज्जादि णिरवेक्खो॥४६७॥
ससरूव-चिंतणरओ दुज्जण-सुयणाण जो हु मज्झत्थो।
देहे वि णिम्ममत्तो काउसग्गो तवो तस्स॥४६८॥ *–कार्तिकेयानुप्रेक्षा ४६७-४६८*

१. धम्मस्स णं चरमाणस्स पंचणिस्सा दाणा प. तं.–छकाया, गणे, राया, गाहावइ सरीरं।
–स्थानांग, ठा. ५

२. अन्नं इमं सरीरं, अन्नो जीवुत्ति कयबुद्धी।
दुक्ख-परिकिलेसकरं छिंद ममत्तं सरीराओ॥ *–आवश्यकनिर्युक्ति १५४७*

३. देहोऽहमिति या बुद्धिः, अविद्या परिकीर्तिता।
नाऽहं देहश्चिदात्मेति बुद्धिर्विद्येति भण्यते॥ *–अध्यात्मरामायण, अयोध्याकाण्ड ४/३३*

कायोत्सर्ग में देह का नहीं, देहाध्यास का त्याग करें

अतः कायोत्सर्ग में देह का नहीं, देहबुद्धि या देहाध्यास का विसर्जन करना होता है। आशय यह है कि जब साधक कायोत्सर्ग में कुछ समय के लिए बैठता है या खड़ा होता है, तब पहले शरीर को तथा मन, बुद्धि, हृदय आदि को स्थिर करता है, साथ ही मन में संकल्प करता है–कुछ समय के लिए "अप्पाण वोसिरामि।"–अपने शरीर का त्याग करता हूँ। अर्थात् कायोत्सर्ग के दौरान दंश, मशक आदि काटें, खाज-खुजली चले, सर्दी या गर्मी लगे, शरीर को कुछ भी कष्ट हो, लेकिन मैं उस ओर तनिक भी ध्यान नहीं दूँगा। न ही सोचूँगा कि मैं शरीर से दूर हूँ, आत्मा में विचरण कर रहा हूँ। आशय यह है कि 'अप्पाणं वोसिरामि' कहते ही वह शरीर पर का ममत्व-बन्धन ढीला करता है। शरीर के लिए आवश्यक वस्त्र, पात्र, आहार आदि पर से आसक्ति कम करता है, उनका कम से कम उपयोग या उपभोग करता है। 'अप्पाणं वोसिरामि' पाठ जो बोला जाता है, वह केवल शब्दों तक सीमित नहीं रहता, किन्तु उसकी भावना और अनुप्रेक्षा हृदय के कण-कण में रम जाती है। आत्मा का प्रत्येक प्रदेश यह अनुभव करने लगता है कि मैं इस देह से भिन्न चिदात्मस्वरूप हूँ। शरीर नष्ट होने पर भी आत्मा का नाश नहीं हो सकता। शरीर तो मरणधर्मा, विनाशशील, अनित्य है ही। इस पर ममता, मूर्च्छा, आसक्ति करना बंधन (कर्मबन्ध) का, दुःख का कारण है, संसार (जन्म-मरणादि) का मार्ग है; इसके विपरीत शरीर को तप, संयम एवं संवर-निर्जरारूप या सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रयरूप धर्म की साधना के लिए उत्सर्ग कर देना, समभावपूर्वक छोड़ देना कर्ममुक्ति (मोक्ष) का मार्ग है। जब शरीर पर से ममत्व या प्राणों का मोह मिट जाता है, तो साधक देहाध्यास या देहबुद्धि से ऊपर उठकर देहातीत दशा में विचरण करने लगता है। श्रीमद् राजचन्द्र ने कहा–देह रहते हुए भी जिसकी दशा देहातीत हो गई, उस ज्ञानी के चरणों में मेरे अगणित वन्दन हों।[9] वही सच्चा आत्मवादी है। उसी ने देहातीत बनने की कला सीखी है। आर्य खंधक की चमड़ी उतार दी गई। शरीर को छील दिया गया जैसे ककड़ी छीलते हों। फिर भी वे शान्त रहे। ऐसे आत्मवादी को कोई भी कष्ट, भय, परीषह, उपसर्ग या संकट विचलित नहीं कर सकते। न ही रोगादि दुःख उसे भयभीत या विचलित कर सकते हैं। कायोत्सर्ग में स्थित गजसुकुमाल मुनि, मैतार्य मुनि, स्कन्धक मुनि, धन्ना अनगार, मुनि दृढ़प्रहारी, चिलातीपुत्र मुनि आदि सैकड़ों उदाहरण हमारे सामने हैं, जिन्होंने सचमुच में काया का उत्सर्ग करके जिंदगी के

---

१. देह छतां जेनी दशा वर्ते देहातीत।
ते ज्ञानीनाचरणमां हो वन्दन अगणीत॥ –*आत्मसिद्धिशास्त्र* १४२

मोह-ममत्व पर विजय प्राप्त कर ली थी। भगवान पार्श्वनाथ और भगवान महावीर की जीवन गाथाएँ कायोत्सर्ग की मुँह बोलती कहानी हैं। विकराल दैत्यों के अट्टहास और विविधि उपसर्गों और परीषहों के रूप में प्राणान्तक असह्य पीड़ा देने पर भी अथवा मारणान्तिक कष्ट आ पड़ने पर भी वे प्रसन्न, आनन्दमग्न एवं अडोल रहे। इन सब का रहस्य एक शब्द में कहें तो कायोत्सर्ग की साधना थी। काया को धारण करके रखते हुए भी वे काया की ममता, मूर्च्छा एवं आसक्ति से मुक्त हो गए थे। इसीलिए उन महान् आत्माओं के लिए 'वोसट्ठकाए, चत्तदेहे' (काया का व्युत्सर्ग कर दिया, काया को मन से त्याग दिया, भुला दिया) जैसे विशेषणों द्वारा उनके कायोत्सर्ग की स्थिति का चित्रण किया गया है।

शुद्ध कायोत्सर्ग का मापदण्ड

कायोत्सर्ग के सम्बन्ध में आचार्य सकलकीर्ति कहते हैं–"कायोत्सर्ग का अभ्यास करने से ज्ञानी प्रबुद्ध साधकों का शरीर पर से ममत्वभाव छूट जाता है और शरीर पर से ममत्वभाव का छूट जाना ही वास्तव में महान् धर्म है और सुख का खजाना है।"[1]

शुद्ध कायोत्सर्ग कब होता है? इसके लिए 'आवश्यकनिर्युक्ति' में दो गाथाएँ दी गई हैं, उनका भावार्थ इस प्रकार है–"कायोत्सर्गस्थ साधक पर चाहे कोई भक्तिभाव से चन्दन का लेप करे अथवा द्वेषवश वसूले से छीले, चाहे जीवन रहे, इसी क्षण मरण आ जाए, यदि वह देह के प्रति अनासक्त है, अप्रतिबद्ध है, ऐसी ही अन्य संकटापन्न स्थितियों में समचेतना रखता है, वस्तुतः उसी का कायोत्सर्ग शुद्ध है।" "जो साधक कायोत्सर्ग के समय देवकृत, मनुष्यकृत या तिर्यंचकृत सभी प्रकार के उपसर्गों को सम्यक् रूप से (समभाव से) सहता है, उसी का कायोत्सर्ग वस्तुतः शुद्ध होता है।"

इतनी निःस्पृहता, इतनी सहिष्णुता और इतनी वीतरागता का प्रत्यक्ष दर्शन और अभ्यस्त हो जाने पर आचरण कायोत्सर्ग में हो जाता है। साधु ही नहीं, गृहस्थ-साधक भी कायोत्सर्ग की साधना कर सकता है, करता है। वह भी देह में रहते हुए विदेह भाव में रमण करने की तैयारी कायोत्सर्ग द्वारा कर लेता है।[2]

---

१. ममत्वं देहतो नश्येत् कायोत्सर्गेण धीमता।
निर्ममत्वं भवेन्नूनं महाधर्म-सुखाकरम्॥ –*प्रश्नोत्तर श्रावकाचार १८/१८४*

२. वासी-चंदण-कप्पो, जो मरणे जीविए य सम-मणो।
देहे य अपडिबद्धो काउसग्गो हवइ तस्स॥१५४८॥
तिविहाणुवसग्गाणं दिव्वाणं माणुसाण तिरियाणं।
सम्ममहियासणाए काउसग्गो हवइ सुद्धो॥१५४९॥ –*आवश्यकनिर्युक्ति १५४८-१५४९*

राजा चन्द्रावतंस की कायोत्सर्ग में दृढ़ता और शुद्धता

कायोत्सर्ग के सम्बन्ध में राजा चन्द्रावतंस का जैन इतिहास में ज्वलन्त उदाहरण है–राजा चन्द्रावतंस राज्य करते हुए भी साधनामय जीवन जीते थे। एक बार किसी पर्वतिथि को उपवास किया। रात्रि में कायोत्सर्ग करने का संकल्प करके राजप्रासाद के उपासना-कक्ष में कायोत्सर्ग में विधिवत् खड़े हो गये। सामने ही एक दीपक धीमे-धीमे टिमटिमा रहा था। राजा ने संकल्प किया–"जब तक यह दीपक जलता रहेगा, तब तक मैं कायोत्सर्ग में खड़ा रहकर आत्म-ध्यान में लीन रहूँगा।" कुछ समय बीता। राजा की परिचारिका दासी वहाँ आई। उसने दीपक के प्रकाश को धुँधला पड़ते देख, तेल से लबालब भर दिया, ताकि अंधेरा न हो और महाराजा को कष्ट न हो। दीपक जलता रहा तो राजा भी अपने संकल्पानुसार कायोत्सर्ग में स्थिर होकर खड़े रहे। मध्यरात्रि के समय दासी फिर आई। सोचा–महाराज अभी तक खड़े हैं ! हो न हो, आज ये कोई विशेष साधना कर रहे हैं, अतः कहीं ऐसा न हो कि दीपक बुझ जाए और अंधेरा हो जाय। अतः दासी ने फिर दीपक को तेल से छलाछल भर दिया। राजा अपने संकल्पानुसार खड़े रहे। उसके पैरों में भयंकर वेदना होने लगी, नसें फटने लगीं, फिर भी राजा दृढ़तापूर्वक कायोत्सर्ग-ध्यान में खड़े रहे। राजा को अपने शरीर के प्रति आज बिलकुल मोह नहीं रहा। आचार्य भद्रबाहु की यह उक्ति आज राजा के जीवन में चरितार्थ हो रही थी–"जिस प्रकार कायोत्सर्ग में निःस्पन्द खड़े हुए अंग-अंग टूटने और दुःखने लगते हैं उसी प्रकार सुविहित साधक कायोत्सर्ग द्वारा अष्टविध कर्म-समूह को तोड़ डालता है, उन्हें नष्ट कर डालता है।" बाहर तेल का दीपक जलता रहा और राजा के अन्तर में निर्मल भावों का दीप जलता रहा। ज्यों-ज्यों तेल कम होता, दासी दीपक में तेल भरती रही। राजा का संकल्प भी उत्तरोत्तर दृढ़ होता रहा। शरीर की असह्य वेदना से उसने मन को हटा लिया।

'आचारांगसूत्र' में कहा गया है–"परीषहों के आने पर काया का सर्वथा व्युत्सर्ग करे और यह सोचे–'जो परीषह या कष्ट हैं, वे मुझमें नहीं, देह में हैं।' जब तक यह जीवन है, तब तक ही ये परीषह और उपसर्ग हैं, ऐसा विचार कर देह का भेदन होते देख, प्राज्ञ संवृत साधक (उसके प्रति रागभाव या ममत्व को छोड़कर) उसे समभाव से सहन करे।"

'उत्तराध्ययनसूत्र' के अनुसार–"पहले या पीछे, जल के बुलबुले के समान इस शरीर को छोड़ना ही है, फिर कष्ट आदि से भयभीत क्यों होना ? जो कष्ट है वह शरीर को है, आत्मा को नहीं।"

इस सत्य के अनुसार राजा ने परीषह को समभाव से सहन किया। सुबह पौ फटते-फटते इधर दीपक का तेल समाप्त होने आया, उधर राजा के शरीर में आयुष्य का तेल भी समाप्त हो गया। पैर सूज गए थे। वह धड़ाम से भूमि पर गिर पड़ा और परम पवित्र ध्यानपूर्वक देह-विसर्जन कर उच्च गति को प्राप्त हुआ।[1]

ये वीरतापूर्वक शरीर का व्युत्सर्ग करने वाले कायोत्सर्ग वीर

इस प्रकार कायोत्सर्ग की निष्ठापूर्वक साधना करने से साधक अपने शरीर को या शरीर के प्रति ममत्व को बहादुरी के साथ पूर्णतया विसर्जन करने की स्थिति में पहुँच जाता है।

धर्मरुचि अनगार ने भिक्षा में प्राप्त विषाक्त कटु तुम्बे के साग को नीचे जमीन पर परिष्ठापन करने से अनेक चींटियों की हिंसा की सम्भावना सोचकर उस शाक को जमीन पर न परिठाकर अहिंसाधर्म के रक्षणार्थ कायोत्सर्गभावना से अपने उदर में उसे डाल लिया और फिर समभावपूर्वक काया का विसर्जन कर दिया।

महासती चन्दनबाला की माता धारणी रानी ने अपने पर शीलभंग का संकट देखकर शीलधर्म की रक्षा के लिए स्वयं की काया का वीरतापूर्वक बलिदान दे दिया।[2]

कायोत्सर्ग का महत्त्वपूर्ण अंग : अभय

कायोत्सर्ग का एक अंग है–अभय। संवर-निर्जरारूप धर्म का आदि-अन्त का बिन्दु अभय है। शरीर के प्रति ममत्व भय पैदा करता है। यह शरीर मेरा है (ममेद शरीरं), इस प्रकार व्यक्ति जिस क्षण शरीर को अपना मान लेता है, उसी क्षण उसे समय आने पर छोड़ने–विसर्जन करने, समभावपूर्वक धर्मरक्षा के लिए त्यागने में भय लगता है। ममत्व और भय दो नहीं, एक हो जाते हैं वहाँ। भयोत्पत्ति का पहला कारण ममत्व है। ममत्व न हो तो व्यक्ति शरीर की परवाह या चिन्ता नहीं करते।

---

१. (क) काउसग्गे जह सुट्ठियस्स भज्जंति अंगमंगाई।
इय भिदंति सुविहिया अट्ठविहं कम्म संघायं॥ —*आवश्यकनिर्युक्ति १५५१*
(ख) ..... वोसिरे सव्वसो कायं, न मे देहे परीसहा॥
यावज्जीवं परीसहा उवसग्गा इति संखाय।
संवुडे देहभेयाए इय पन्नेऽहियासए॥ —*आचारांग, श्रु. १, अ. ८, उ. ५*
(ग) 'जैनधर्म में तप' के आधार पर संक्षिप्त, पृ. ५१४
(घ) पच्छा पुरा व चइयव्वं फेण-बुब्बुय-सन्निभं। —*उत्तराध्ययन २/२७*

२. (क) देखें–ज्ञातासूत्र, अ. १६ में धर्मरुचि अनगार का वृत्तान्त
(ख) देखें–आवश्यकनिर्युक्ति में चन्दनबाला का वृत्तान्त

कायोत्सर्ग तब तक पूरा नहीं होता, जब तक भेदविज्ञान होकर देहाध्यास न छूटे। संलेखना-संथारा के पाठ 'मा णं बाला, मा णं चोरा' आदि में देह के प्रति ममत्व या भयाशंकाएँ प्रगट की गई हों तथा कहीं गिर न जाऊँ, चोट न लग जाए, बीमारी न आ जाए, यह आशंका होते ही शरीर में तनाव आ जाता है, ऐसा होने पर कायोत्सर्ग नहीं होता। कायोत्सर्ग के पहले शरीर पर होने वाले ममत्व को, मोह-मूर्च्छा को इतनी हद तक विसर्जन कर देनी होती है कि एक झटके में वीरतापूर्वक अपने शरीर को त्यागने, बलिदान देने, उत्सर्ग करने के लिए तैयार हो जाए। शरीर की चिन्ता या ममता से मुक्त होना सरल बात नहीं है।

महामुनि स्कन्धक के शिष्यों द्वारा वीरतापूर्वक हँसते-हँसते कायोत्सर्ग

महामुनि स्कन्धक (खंधक) अपनी गृहस्थपक्षीय बहन पुरन्दरयशा के ससुराल के कुम्भकटकपुर नगर में अपने ५०० श्रमण-शिष्यों के साथ पधारे। वहाँ के राजा दण्डक के मंत्री का नाम पालक था। उसको स्कन्धककुमार ने धार्मिक चर्चा में पराजित कर दिया था। अपनी पराजय का बदला लेने हेतु जिस उपवन में स्कन्धक आदि मुनिवर ठहरे हुए थे, उसके आसपास गुप्तरूप से शस्त्र गड़वा दिये और राजा को बहका दिया कि स्कन्धक अपने साथ ५०० सुभट-शिष्यों सहित शस्त्रास्त्र लेकर आपका राज्य छीनने आए हैं। गड़े हुए शस्त्र भी बता दिये। फलतः पालक को राजा दण्डक ने अपनी इच्छानुसार दण्ड देने की अनुमति दे दी। पालक ने एक-एक करके ४९९ साधुओं को घाणी में पील दिया। महामुनि स्कन्धक ने अपने शिष्यों को समाधिस्थ रहकर काया का उत्सर्ग करने की प्रेरणा दी। अन्त में सबसे छोटे शिष्य को पीलते समय महामुनि स्कन्धक शिष्य-मोहवश उत्तेजित हो उठे। क्रोधावेश में आकर उन्होंने निदान (नियाणा) कर लिया, जिससे वे मरकर अग्निकुमार देव बने और दण्डक नगर को भस्म कर दिया। परन्तु ५०० शिष्यों ने, जो शरीर और आत्मा के भेदविज्ञान में अभ्यस्त थे, काया का ममत्व त्याग कर उसका समभावपूर्वक निर्भयता के साथ विसर्जन कर दिया, वे आराधक हुए।[1] अतः भयमुक्ति और सहिष्णुता कायोत्सर्ग के प्राण हैं।

भेदविज्ञान से प्राप्त सहिष्णुता भी कायोत्सर्ग का महत्त्वपूर्ण अंग

अतः जैसे कायोत्सर्ग का अंग अभय है, वैसे ही सहिष्णुता (क्षान्ति) भी उसका अंग है। क्षान्ति का पर्यायवाची शब्द है–तितिक्षा, सहिष्णुता। 'उत्तराध्ययनसूत्र' में कहा है–"तितिक्षा–सहिष्णुता को परम धर्म जानकर साधक उस धर्म का समभावपूर्वक आचरण करे।" सहिष्णुता की भावना भेदविज्ञान की दृष्टि प्राप्त होने

---

१. देखें–सुकौशल मुनि की कथा त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र, पर्व ७ में

से शीघ्र सक्रिय होती है। जैसा कि आचार्य अमितगति ने सामायिक पाठ में वीतराग प्रभु से इसी भेदविज्ञान की प्रार्थना की है–"हे वीतराग प्रभो ! आपकी अपार कृपा से मेरी आत्मा में ऐसी आध्यात्मिक शक्ति प्रगट हो कि मैं अपनी अनन्त शक्तिमान् निर्दोष (शुद्ध) आत्मा को इस क्षण-भंगुर शरीर से उसी प्रकार अलग कर सकूँ या पृथक् समझ सकूँ, जिस प्रकार म्यान से तलवार अलग की या समझी जाती है।"

जब शरीर को म्यान और आत्मा को तलवार के समान कायोत्सर्ग में पृथक्-पृथक् समझने की भावना या भिन्नत्व की अनुभूति होती है, तब शरीर में चाहे जितनी वेदना, पीड़ा, उपसर्ग या प्रहार हो, उसकी अनुभूति से साधक सर्वथा दूर चला जाता है। उसे शरीर की पीड़ा या दर्द से कोई संबंध नहीं रहता, वह अपने आत्म-ध्यान में स्थिर या लीन हो जाता है। देह में रहते हुए भी देहभाव से सर्वथा मुक्त–अलिप्त-सा हो जाता है।[1]

शरीर के प्रति अपनापन छोड़ने वाले कायोत्सर्ग वीर सुकौशल मुनि

प्राचीन धर्मग्रन्थों में ऐसे कई उदाहरण मिलते हैं कि अमुक साधु, मुनि, श्रमण या सुविहित साधक घोर जंगल में, एकान्त जनशून्य स्थान में या श्मशान में कायोत्सर्ग करके खड़े होते हैं, उस समय वे देहभाव से ऊपर उठकर आत्मा की परम ज्योति या आत्म-भावों में लीन हो जाते हैं। उस समय उन्हें भयंकर उपसर्ग होते हैं, कोई मारता है या प्रहार करता है अथवा शरीर का छेदन-भेदन करता है, किन्तु कायोत्सर्ग-साधक ऐसे स्थिर खड़ा रहता है मानो यह शरीर उसका है ही नहीं।

कीर्तिधर मुनि और सुकौशल मुनि दोनों गृहस्थपक्षीय पिता-पुत्र थे। एक बार दोनों ने पर्वत की गुफा में चातुर्मास किया। कार्तिक पूर्णिमा के दिन चातुर्मासिक तप का पारणा करने हेतु दोनों मुनि नगर की ओर बढ़ रहे थे। सुकौशल मुनि की गृहस्थपक्षीय माता सहदेवी पुत्र-मोहवश आर्त्तध्यानपूर्वक मरकर उसी वन में व्याघ्री बन गई। भूख से व्याकुल विकराल व्याघ्री को सामने आते देख दोनों मुनि कायोत्सर्गस्थ हो गये, शरीर का व्युत्सर्ग कर आत्म-भावों में रमण करने लगे। व्याघ्री सुकौशल मुनि के शरीर पर झपट पड़ी। उसने मुनि के शरीर के टुकड़े-टुकड़े कर दिये। किन्तु वे जरा भी विचलित नहीं हुए। कीर्तिधर मुनि ने भी

---

१. (क) तितिक्खं परमं नच्चा, भिक्खु धम्मं समायरे। –उत्तराध्ययन, अ. २, गा. २६
(ख) तितिक्खं परमं नच्चा, विमोहन्नयरं हियं। –आचारांग, श्रु. १, अ. ८, उ. ५
(ग) शरीरतः कर्तुमनन्तशक्तिं विभिन्नमात्मानमपास्तदोषम्।
जिनेन्द्र ! कोषादिव खड्गयष्टिं तव प्रसादेन ममाऽस्तु शक्तिः॥
–सामायिक पाठ, श्लो. २

यह सब देखकर समभाव से सहन किया। दोनों ने कायोत्सर्ग द्वारा क्षपकश्रेणी पर आरूढ़कर केवलज्ञान की परम ज्योति प्राप्त की, सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हो गए।[1]

कायोत्सर्ग में साधक का चिन्तन

इस प्रकार के कायोत्सर्ग की सिद्धि के लिए जैनधर्म के साधकों के लिए षट् आवश्यकों में कायोत्सर्ग नामक पंचम आवश्यक का स्वतंत्र विधान है। प्रत्येक जैन-साधक को प्रतिदिन प्रातः और सायं कायोत्सर्ग के द्वारा शरीर और आत्मा की भिन्नता के विषय में विचार करना होता है कि यह शरीर और है, मैं और हूँ। मैं अजर-अमर सचेतन आत्मा हूँ, शरीर नाशवान्, क्षणभंगुर और जड़ है। वह कदापि मेरा स्वामी नहीं हो सकता। उसका क्या है? आज है, कल नष्ट हो सकता है। परन्तु आत्मा का कभी नाश नहीं हो सकता। तब फिर मैं इस क्षणभंगुर शरीर के मोह में पड़कर अपने धर्म, कर्त्तव्य, गुण, स्व-भाव से क्यों विमुख बनूँ? शरीर मिट्टी का पिण्ड है, यह जब तक काम देगा, मैं इससे डटकर धर्मकार्य करूँगा, परन्तु जब यह शरीर कर्त्तव्य-पथ में या धर्मपालन में बाधक बने, जीने का मोह दिखाकर आदर्श से भ्रष्ट करे या धर्म से विचलित करे तब मैं इसकी मोहभरी रागिनी को नहीं सुनूँगा। शरीर मेरा वाहन है। मैं इस पर सवार होकर अपनी तप-संयममयी जीवनयात्रा का दीर्घ-पथ तय करने का पुरुषार्थ करूँगा, किन्तु यदि यह शरीररूपी वाहन उलटा मुझ पर सवार होना चाहेगा, तो मैं कथमपि ऐसा नहीं होने दूँगा। यह है कायोत्सर्ग की मूल भावना।

जो साधक प्रतिदिन नियमित रूप से कायोत्सर्ग की इस प्रकार बाहोश होकर साधना करते रहेंगे। वे मरणान्तक कष्ट, संकट या धर्मपालन के अवसर पर शरीर की मोहमाया से बच सकेंगे और अपने कर्ममुक्तिरूप लक्ष्य की ओर द्रुतगति से आगे बढ़ सकेंगे।[2]

प्रतिक्रमण तथा अन्य चर्या के समय भी कायोत्सर्ग की भावना रहे

यही कारण है कि प्रतिक्रमण में कई बार कायोत्सर्ग का पाठ बोला जाता है, किन्तु ऐसा विधान है कि केवल प्रतिक्रमण के समय ही नहीं, दिन और रात में विविध चर्या एवं साधना के समय भी मन में कायोत्सर्ग की भावना जाग्रत रहनी चाहिए। 'दशवैकालिकसूत्र' की द्वितीय चूलिका में कहा गया है–"अभिक्खणं

---

१. त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र, पर्व ७ से संक्षिप्त

२. श्रमणसूत्र, अ. १६ में कायोत्सर्ग आवश्यक (स्व. उपाध्याय अमर मुनि) से भाव ग्रहण, पृ. ९८

काउसग्गकारी।'' अभीक्ष्ण यानी बार-बार करता रहे। प्रति क्षण देह की ममता से दूर रहकर कायोत्सर्ग का अभ्यास करता रहे।[1]

कायोत्सर्ग के दैनिक अभ्यास के समय साधक की भावना

कायोत्सर्ग के अभ्यासी साधक कायोत्सर्ग की मुद्रा में जो कुछ भी शरीर में हो रहा है, होने दें। उस ओर बिलकुल ध्यान न दें। पैरों में पीड़ा हो रही है, होने दें पीड़ा। आँधी और तूफान आ रहे हैं, भले आएँ। मूसलधार वर्षा हो रही है, होने दें। जो कुछ भी इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि की ओर से फरियाद आ रही है, आने दें। बाहर से कोई भी कर्कश आवाज आ रही है या संगीत की स्वर लहरी आ रही है, उस पर भी बिलकुल ध्यान न दें। इष्टवियोग, अनिष्ट-संयोग हो तो भी उसे होने दें। एकमात्र सहन करते जाएँ। प्रति क्षण आत्म-भावों का, आत्म-गुणों का स्मरण और चिन्तन करते रहें। भेदविज्ञान को सक्रिय बनाने के लिए प्रतिक्रियाविरति और सहिष्णुता अनिवार्य है। जो होता है, होने दें। इस प्रकार शुद्ध आत्मा-परमात्मा के सिवाय पर-पदार्थों की चिन्ता से मुक्त हो जाना ही कायोत्सर्ग की साधना में सफलता है।

कायोत्सर्ग के अभ्यास में केवल शरीर की स्थिरता ही पर्याप्त नहीं है, उसके साथ सहिष्णुता, भेदविज्ञान की सक्रियता और निर्भयता भी आवश्यक है।

कायोत्सर्ग के दो रूप : चेष्टा-कायोत्सर्ग और अभिभव-कायोत्सर्ग

पूर्वोक्त वर्णन से यह स्पष्ट है कि कायोत्सर्ग के मुख्यतया दो रूप हैं–एक चेष्टा-कायोत्सर्ग और दूसरा अभिभव-कायोत्सर्ग। चेष्टा-कायोत्सर्ग गमनागमन आदि चर्या एवं साधना के समय में तथा आवश्यक आदि के रूप में प्रतिदिन परिमित काल के लिए प्रायश्चित्त के रूप में आत्म-शुद्धिकारक होता है, जबकि अभिभव-कायोत्सर्ग यावज्जीवन के लिए होता है। उपसर्ग-विशेष के आने पर यावज्जीवन के लिए जो सागारी-संथारारूप कायोत्सर्ग किया जाता है, उसमें यह भावना रहती है कि यदि मैं इस उपसर्ग के कारण मर जाऊँ तो मेरा यह कायोत्सर्ग यावज्जीवन के लिए है, परन्तु अगर मैं जीवित बच जाऊँ तो उपसर्ग रहने तक यह कायोत्सर्ग है। अभिभव-कायोत्सर्ग का दूसरा रूप–यावज्जीवन के लिए जो आगाररहित संथारा, भवचरिम = आमरण अनशन के रूप में किया जाता है, उसका है। समाधिमरणरूप यावज्जीवन संथारे के बहुत-से भेद हैं, जिनका निरूपण आचारांग, सूत्रकृतांग, भगवतीसूत्र आदि आगमों तथा आवश्यकनिर्युक्ति आदि ग्रन्थों से जान लेना चाहिए। वस्तुतः प्रथम चेष्टा-कायोत्सर्ग अन्तिम अभिभव-कायोत्सर्ग का अभ्यास सुदृढ़ करने के लिए है। प्रतिदिन नियमित रूप से कायोत्सर्ग का अभ्यास

---

१. दशवैकालिकसूत्र, द्वितीय चूलिका, गा. ७

करते रहने से एक दिन आत्मा में ऐसी शक्ति प्राप्त हो सकती है, जिसके फलस्वरूप साधक मृत्यु का प्रसन्नतापूर्वक शान्तभाव से आलिंगन कर सकता है और मरकर भी मृत्यु पर विजय पा लेता है।

कायोत्सर्ग के लिए जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में स्वार्थों का बलिदान जरूरी है

वस्तुतः कायोत्सर्ग का उद्देश्य शरीर और शरीर-सम्बद्ध पर-पदार्थों पर जो मोह-ममता है, उसका त्याग करना या उसे कम करना है। यह जीवन का मोह, शरीर की ममता–आसक्ति बहुत ही भयंकर है। साधक की साधना में विष घोलने का काम करती है। जो व्यक्ति कर्त्तव्य और सद्धर्म की उपेक्षा करके तुच्छ स्वार्थ और शरीर को ही अधिक महत्त्व देते हैं, वे चाहे साधु हों या गृहस्थ, समय पर न तो अपनी रक्षा कर सकते हैं, न संघ, गच्छ, परिवार या राष्ट्र की रक्षा कर पाते हैं। वे संकटकाल में किंकर्त्तव्यविमूढ़ एवं शरीरासक्त होकर बुत की तरह खड़े रहते हैं। कायोत्सर्ग की या आधुनिक युगभाषा में कहें तो स्वार्थों के बलिदान की, सेक्रिफाइस की या काया के मोह-त्याग की भावना के बिना कोई भी संघ, गच्छ, परिवार, समाज और राष्ट्र सुखी और स्वस्थ नहीं रह सकता।[1]

प्रायश्चित्तरूप कायोत्सर्ग : प्रयोजन और परिणाम

चेष्टा-कायोत्सर्ग का एक प्रकार है–प्रायश्चित्तरूप कायोत्सर्ग। 'अनुयोगद्वारसूत्र' में इसे व्रणचिकित्सा कहा गया है। धर्म की आराधना करते समय यदि कहीं प्रमादवश अहिंसा, सत्य आदि व्रतों में, मूलगुण-उत्तरगुणों में, नियमोपनियमों में जो भूलें, त्रुटियाँ या गलतियाँ हो जाती हैं, अतिचार या दोष लग जाते हैं, उनके शोधन के लिए प्रायश्चित्तरूप कायोत्सर्ग किया जाता है। दोष या अतिचार संयमशरीर के घाव हैं। कायोत्सर्ग उन घावों पर मरहम का काम करता है अथवा संयम-यम-नियमरूप वस्त्र पर अतिचारों का मल या दाग लग जाता है, उसे प्रतिक्रमणान्तर्गत कायोत्सर्गरूपी जल से धोया जाता है। यह संयमी-जीवन पर लगे हुए मल के कण-कण को साफ कर देता है और संयम-जीवन को विशुद्ध बना देता है। आवश्यकसूत्र के अन्तर्गत 'उत्तरीकरणसूत्र' में इसी आशय को प्रकट किया गया है–"संयम-जीवन को विशेष रूप से परिष्कृत करने के लिए, प्रायश्चित्त करने के लिए, (आत्मा की) विशुद्धि करने के लिए, उसे शल्यरहित बनाने के लिए तथा पापकर्मों का निर्घात (विनाश) करने के लिए (मैं) कायोत्सर्ग करता हूँ।"[2]

---

१. 'श्रमणसूत्र' (स्व. उपाध्याय अमर मुनि) से भाव ग्रहण, पृ. ९७

२. (क) वही, पृ. ९५

(ख) तस्य उत्तरीकरणेणं पायच्छित्तकरणेणं विसोहीकरणेणं विसल्लीकरणेणं पावाणं कम्माणं निग्घायणट्ठाए ठामि काउसग्गं।
–उत्तरीकरणसूत्र

बिना भोगे भी पापकर्मों की शुद्धि हो सकती है

कुछ दार्शनिकों का कहना है–जो पापकर्म एक बार हो गए हैं, क्या उन्हें बिना भोगे हुए छुटकारा हो सकता है? या क्या पापकर्म भी धोकर साफ किये जा सकते हैं? जैन-कर्मविज्ञान इस तथ्य से असहमत है। निकाचितरूप से बँधे हुए पापकर्मों के सिवाय अन्य पापकर्मों को ज्यों का त्यों भोगा जाए, ऐसा नियम नहीं है। यदि किये हुए पापकर्मों की शुद्धि न मानें तो यह सब बाह्य- आभ्यन्तरतपःसाधना, सम्यग्ज्ञानादि रत्नत्रयरूप धर्म की साधना निरर्थक कायकष्ट ही होगी। संसार-व्यवहार में हम देखते हैं कि अनेक विकृत हुई वस्तुओं को विशिष्ट प्रक्रिया द्वारा शुद्ध कर लिया जाता है तब आत्मा को शुद्ध क्यों नहीं किया जा सकता? पाप की शक्ति से आत्मा की शक्ति बलवती है, धर्म की शक्ति बहुत ही प्रबल है। हमारी आध्यात्मिक शक्ति भागवती शक्ति है। उसके समक्ष आसुरी शक्ति कैसे टिक सकती है? गिरि-गुफा में हजारों वर्षों से अन्धकार भरा है। हाथ को हाथ नहीं सूझता। जिधर चलते हैं, उधर ही ठोकरें खाते हैं। ऐसे में ज्यों ही प्रकाश अंदर पहुँचता है, अन्धकार क्षणभर में भाग जाता है। कायोत्सर्गरूप तपोधर्म की साधना ऐसा ही अप्रतिहत प्रकाश है, उससे वर्षों से अज्ञातमन में पड़ा हुआ विकाररूप अन्धकार नष्ट हो जाता है। भोग भोगकर कर्मों का नाश कब तक होगा? प्रत्येक आत्म-प्रदेश पर अनन्त-अनन्त कर्मवर्गणाएँ हैं। इस छोटी-सी जिंदगी में उनका भोग हो भी तो कैसे हो? अतएव जैन-कर्मविज्ञान पापों की विशुद्धि का उपाय बताता है–प्रायश्चित्तरूप कायोत्सर्ग से। प्रायश्चित्त कायोत्सर्ग की अपूर्व शक्ति के द्वारा आत्मा की शुद्धि हो सकती है। भूला-भटका साधक प्रायश्चित्तरूप कायोत्सर्ग के द्वारा जब अतीत और वर्तमान में लगे हुए पाप–दोषों का स्वयं प्रायश्चित्त कर लेता है तो वह शुद्ध–निष्पाप हो जाता है। वस्त्र पर जब तक अशुचि–अशुद्धि लगी रहती है, तभी तक उसको पहनने में अरुचि या घृणा बनी रहती है, परन्तु जब वह वस्त्र धोकर साफ कर लिया जाता है, तब फिर पहले की तरह रुचि और स्नेह से वह पहना जाता है। यही बात पापों से मलिन आत्मा के सम्बन्ध में है। प्रायश्चित्तरूप कायोत्सर्ग से पापों की शुद्धि कर लेने पर वही व्यक्ति समाज में तथा लोक-परलोक में सर्वत्र आदर और स्नेह का पात्र बन जाता है। प्रायश्चित्त के अनेक रूप हैं। जैसा और जिस इरादे से दोष होता है, उसी प्रकार का प्रायश्चित्त उसकी शुद्धि करता है। प्रायश्चित्तरूप कायोत्सर्ग के द्वारा प्रसन्नचन्द्र राजर्षि ने अपने द्वारा किये गए पापों–दोषों की शुद्धि अल्प समय में ही कर ली थी और उत्कट कायोत्सर्गभावों द्वारा आत्म-गुणों में, आत्म-स्वरूप में स्थिर होते ही केवलज्ञान प्राप्त कर लिया था। कूरगडूक मुनि ने प्रायश्चित्तरूप कायोत्सर्ग द्वारा ही अपने पापों–दोषों के प्रक्षालन के साथ अहंकारादि कषायों पर विजय प्राप्त कर ली

थी। फलतः केवलज्ञान प्राप्त हो गया था। अतः कायोत्सर्ग द्वारा ज्ञात-अज्ञातरूप में हुए समस्त पाप धुलकर साफ हो जाते हैं। 'हरिभद्रीय आवश्यक' में भी कहा गया है–"कायोत्सर्ग करने से अतीत और वर्तमान के पूर्वकृत कर्मों का क्षय हो जाता है। फलतः आत्मा स्वस्थ, शुद्ध एवं निष्पाप हो जाती है।"[1]

प्रायश्चित्तरूप कायोत्सर्ग से पापों–दोषों का विशोधन

भगवान महावीर से जब पूछा गया कि भंते ! कायोत्सर्ग से जीव को क्या लाभ होता है? उन्होंने समाधान देते हुए कहा–"कायोत्सर्ग से जीव अतीत और वर्तमान के प्रायश्चित्त योग्य अतिचारों का विशोधन कर लेता है। प्रायश्चित्त से विशुद्ध हुआ जीव अपने भार को उतारकर रख देने वाले भारवाहक की तरह निर्वृत्त-हृदय (शान्त = स्वस्थ-चित्त) हो जाता है। फिर वह प्रशस्त ध्यान में लीन होकर आत्मा स्वस्थ, सुखमय एवं आनन्दमग्न होकर विचरण करता है।"

पापकर्म भाररूप हैं, भीष्म ग्रीष्म ऋतु हो, मंजिल दूर हो, रास्ता ऊबड़-खाबड़ हो और मस्तक पर मनभर पत्थर का बोझ लदा हो, कितना कष्ट होता है, उस भारवाहक को? ऐसी स्थिति में यदि भारवाहक को भार उतार देने पर कितना आनन्द होता है? वही दशा पापकर्मों के भार की है। पापकर्मों का भार कायोत्सर्ग द्वारा उतारकर दूर फेंक दिया जाता है। अतः कायोत्सर्ग वह विश्राम भूमि है, जहाँ पापकर्मों का भार हलका हो जाने के कारण धर्मध्यानलीन होकर व्यक्ति सुखपूर्वक विचरण कर पाता है।[2]

वस्तुतः व्युत्सर्गतप में सबसे प्रमुख कायोत्सर्ग ही है। यही कारण है कि आगमों में कहीं-कहीं काउसग्ग (कायोत्सर्ग) को ही पूर्ण व्युत्सर्गतप बता दिया है। अर्थात् कायोत्सर्ग में जो साधक सिद्ध हो गया, वह सम्पूर्ण व्युत्सर्गतप में ही पारंगत हो गया।

गण-व्युत्सर्ग का फलितार्थ

द्रव्य-व्युत्सर्गतप का दूसरा प्रकार गण-व्युत्सर्ग है। गण नाम समूह का है। इसमें गच्छ, सम्प्रदाय, पंथ, मार्ग या मत एवं धर्म-संघ या तीर्थ सभी का समावेश हो जाता है। यहाँ गण का अर्थ है–एक या अनेक गुरुओं के शिष्यों का समूह। गण में

---

१. (क) (प्र.) काउसग्गे णं भंते ! जीवे किं जणयइ?
(उ.) काउसग्गे णं तीय-पडुप्पन्नं पायच्छित्तं विसोहेइ। विसुद्ध-पायच्छित्ते य जीवे निव्वुय-हियए ओहरिय-भारुव्व भारवहे पसत्थ झाणोवगए सुहं सुहेण विहरइ।
–उत्तराध्ययन, अ. २९, सू. १३

(ख) कायोत्सर्गकरणतः प्रागुपात्त-कर्मक्षयः प्रतिपाद्यते। –हरिभद्रीय आवश्यक

२. 'श्रमणसूत्र' (स्व. उपाध्याय अमर मुनि) से भाव ग्रहण, पृ. ९६

अनेक प्रकार के साधु तथा साध्वी रहते हैं, वे अपनी-अपनी रुचि या सामर्थ्य के अनुसार सम्यग्ज्ञान-दर्शन-चारित्र-तप की साधना करते हैं, शास्त्रों का अध्ययन करते हैं। जैसे शरीर, शासक, षट्काय, गृहस्थ आदि साधना में सहायक एवं उपकारी होते हैं, वैसे ही गण भी साधना में सहयोगी एवं उपकारी होता है। गण के आश्रय से साधु-साध्वी अपनी चर्या निर्दोष एवं समाधिपूर्वक चला सकते हैं। भगवान महावीर के शासन में एक-एक गण में हजारों साधु-साध्वियों का समूह रहता था, सबकी समाचारी तथा श्रद्धा-प्ररूपणा समान होती थी। गण-व्यवस्था में गणनायक गणधर कहलाते थे।

गण साधना में उपकारी है तो इसे क्यों त्यागा जाय ?

प्रश्न होता है–जब 'गण' साधना में सहायक और उपकारी है तो फिर उसका व्युत्सर्ग–त्याग क्यों किया जाय? उत्तर है–"गण से भी अधिक उपकारी मनुष्य का अपना शरीर है। जब शरीर का ही त्याग किया जाता है, सभी अवलम्बनों का उच्च भूमिका में त्याग किया जाता है, तो गण के त्याग की बात तो बहुत साधारण हो जाती है। जब साधक को यह अनुभव हो जाता है कि मेरी मोक्षमार्ग की–कर्ममुक्ति की साधना या सम्यग्ज्ञानादि रत्नत्रय के अभ्यास आदि में इस गण का त्याग कर देने से या गणान्तर को धारण करने से अथवा सर्वगणों को छोड़कर एकाकी रहने से अधिक लाभ हो सकता है, तब उन कारणों को ध्यान में रखकर वह उस गण को छोड़ भी सकता है, परन्तु उस गण के द्वारा किये हुए अपने प्रति उपकारों या सहयोगों को भूलकर नहीं।

गण-व्युत्सर्ग के सात कारण

'स्थानांगसूत्र' में बताया गया है कि "साधकगण का व्युत्सर्ग सात कारणों से कर सकता है–(१) मैं सब धर्मों (सम्यग्ज्ञान-दर्शन-चारित्र धर्मों) को प्राप्त करना (साधना) चाहता हूँ, उन धर्मों को (साधनाओं को) मैं अन्य गण में जाकर ही प्राप्त कर सकूँगा। अतः मैं गण छोड़कर अन्य गण में जाना चाहता हूँ। (२) मुझे अमुक धर्म (साधना) प्रिय है और अमुक धर्म (साधना) प्रिय नहीं है। अतः गण छोड़कर मैं अन्य गण में जाना चाहता हूँ। (३) सभी धर्मों (साधनाओं) में मुझे संशय है। अतः मैं संशय-निवारणार्थ अन्य गण में जाना चाहता हूँ। (४) कुछ धर्मों (साधनाओं) में मुझे संशय है और कुछ धर्मों में संशय नहीं है। अतः मैं संशय-निवारणार्थ अन्य गण में जाना चाहता हूँ। (५) सभी धर्मों (ज्ञानादि रत्नत्रयरूप धर्मों) से सम्बन्धित विशिष्ट धारणाओं को मैं देना (सिखाना) चाहता हूँ। इस गुण में ऐसा कोई योग्य पात्र नहीं है। अतः मैं अन्य गण में जाना चाहता हूँ। (६) कुछ धर्मों पूर्वोक्त धर्म-साधनाओं को मैं देना (सिखाना) चाहता हूँ और

कुछ धर्मों को नहीं देना (सिखाना) चाहता। अतः मैं अन्य गण में जाना चाहता हूँ। (७) मैं एकलविहार-प्रतिमा धारण करके विचरण करना चाहता हूँ। अतः मैं गण छोड़कर जाना चाहता हूँ।"

अतः गण-व्युत्सर्ग करने वाले के लिए आवश्यक है कि धर्माचार्य को गण छोड़ने का कारण बताकर वह उनसे आज्ञा प्राप्त कर ले। आज्ञा लिये बिना गण नहीं छोड़ना चाहिए।[1]

गण-व्युत्सर्ग का मुख्य प्रयोजन है–श्रुतज्ञान व चारित्र की विशिष्ट साधना/आराधना के लिये गण का त्यागकर अन्य गण में जाना या फिर एकाकी रहना।

उपधि-व्युत्सर्ग क्या और कैसे ?

द्रव्य-व्युत्सर्ग का तृतीय प्रकार है–उपधि-व्युत्सर्ग। उपधि का अर्थ है–संयम-साधना में आवश्यक मर्यादानुसार रखे गए वस्त्र, पात्र, उपकरण आदि का। साधक को सभी उपकरणों को रखने की मर्यादा शास्त्रों में बताई गई है, उससे अधिक तो रखना ही नहीं है, बल्कि उन उपकरणों में धीरे-धीरे कमी करते जाना। संलेखना-संथारा (आमरण अनशन) करते समय तो बिलकुल परित्याग कर देना चाहिए। साधु-साध्वी के समक्ष आदर्श है–"अप्पोवहि उवगरणजाए।"–अल्प उपधि और अल्प उपकरण रखकर अपनी जीवनचर्या चलाए। 'भगवतीसूत्र' में स्पष्ट कहा गया है–"लाघवियं पसत्थं।"–अल्प उपधि या अल्प उपकरण रखना, द्रव्यलघुता है, वह प्रशस्त है। जिस साधक का बाह्य हलकापन है, वह संयम का भलीभाँति पालन कर सकता है। 'आचारांग वृत्ति' में उपधि-व्युत्सर्ग का तात्पर्य और विधिविधान बताया गया है। इस तप की विशेष साधना तीर्थंकर, जिनकल्पी मुनि कर सकते हैं। फिर भी आगमों में इसकी विधि इस प्रकार बतायी गयी है–"साधक तीन वस्त्रों में पहले एक वस्त्र का त्याग करे, फिर दो वस्त्रों का परित्याग करके सिर्फ एक ही वस्त्र में सर्दी, गर्मी बिताए तथा समय आने पर उस एक वस्त्र का भी परित्याग कर अचेल अवस्था प्राप्त करे। इस त्याग का न तो ढिंढोरा पीटे, न ही अहंकार करे और न ही दूसरों को नीचा दिखाने और न बदनाम करने का प्रयास करे। मूल में तो त्याग का दिखावा न करके कषायों को मन्द करना है। जितना-जितना कषाय मन्द होता है, उतना-उतना वह साधु मोक्ष के निकट जल्दी पहुँचता है। संयम, नियम, त्याग और तप की कसौटी पर स्वयं को कसता जाए, परीषहों से जूझता रहे, यह भी जरूरी है।

---

१. सत्तविहे गणावक्कमणे प. तं.–सव्व; धम्मा रोएमि, एगइया रोएमि, एगइया णो रोएमि; सव्वधम्मा वितिगिच्छामि; एगइया वितिगिच्छामि, एगइया णो वितिगिच्छामि; सव्वधम्मा जुहुणामि; एगइया जुहुणामि, एगइया णो जुहुणामि; इच्छामि णं भंते ! एकल्लविहार-पिडिमं उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए।" —*स्थानांगसूत्र, स्था. ७, सू. ६५८*

द्रव्य-व्युत्सर्ग का चौथा प्रकार है–भक्तपान-व्युत्सर्ग। भोजन-पानी का परित्याग करना। इसमें इत्वरिक अनशन, एकाशन, यावज्जीव अनशन तथा ऊनोदरी तपों की साधना का समावेश हो जाता है। क्रमशः आहार का त्याग करते हुए समय आने पर पूर्णतया चतुर्विध आहार का त्याग करे यही भक्तपान-व्युत्सर्ग है।

भाव-व्युत्सर्ग के प्रकार और स्वरूप

भाव-व्युत्सर्ग के तीन प्रकार हैं–(१) कषाय-व्युत्सर्ग, (२) संसार-व्युत्सर्ग, और (३) कर्म-व्युत्सर्ग।

(१) कषाय-व्युत्सर्ग–कषाय के मुख्य चार और उत्तरभेद सोलह हैं तथा नोकषायों (कषायों के उपजीवियों) के नौ भेद मिलाने से २५ भेद कषायों के हो जाते हैं। क्रोधादि कषायों को तथा नौ नोकषायों को तीव्र, तीव्रतर से मन्द और मन्दतर बनाता जाए, इनको क्रमशः उपशम, मार्दव, सरलता और सन्तोष से जीते, अर्थात् इन चार धर्मों की साधना से क्रमशः चारों कषायों को जीते। क्रोध को क्षमा और शान्ति से, मान को मृदुता = कोमलता से, माया को सरलता से, लोभ को सन्तोष से जीतने का अभ्यास करे। इन चार धर्मों तथा दशविध श्रमणधर्म द्वारा कषायों और नोकषायों को क्षीण करते रहना कषाय-नोकषाय- व्युत्सर्ग है।[1]

क्रोध-व्युत्सर्ग का ज्वलन्त उदाहरण : चण्डकौशिक सर्प का

क्रोध-व्युत्सर्ग के विषय में हम चण्डकौशिक सर्प का उदाहरण ले सकते हैं। पूर्व-जन्म में साधु बने हुए अतिक्रोधावेश में मृत्यु के वश चण्डकौशिक को सर्प की योनि मिली। परन्तु सर्प की योनि में तो और भी भयंकर क्रोधी हो गया। विश्ववात्सल्य-मूर्ति भगवान महावीर उसे प्रतिबोध देने हेतु उसकी बाँबी पर पधारे। एक बार क्रोध में फनफनाते हुए उसने उनके अंगूठे पर डस लिया। परन्तु वे जरा भी विचलित न हुए तो उनके चेहरे की ओर देखते और ऊहापोह करते-करते उसे जाति-स्मरण (पूर्व-जन्म का) ज्ञान हो गया। भगवान ने उसे प्रतिबोध दिया–"चण्डकौशिक ! अब भी समझो-समझो ! अब भी बिगड़ी बाजी को सुधार सकते हो।" चण्डकौशिक तुरंत समझ गया कि क्रोध का परिणाम कितना भयंकर होता है। बस, उसने क्रोध-व्युत्सर्ग करके क्षमा धारण कर ली। अपना मुँह बाँबी के अंदर डाल दिया। अब वह किसी को सताता–काटता या फुफकारता तक न था।

---

१. (क) चउव्विहे कसाए प. तं.–कोहकसाए, माणकसाए, मायाकसाए, लोहकसाए। –ठाणांग ४
(ख) उवसमेण हणे कोहं, माणं मद्दवया जिणे।
मायमज्जवभावेण, लोहं संतोसओ जिणे॥ –दशवै. ८/३९

क्रोध-विसर्जन क्या किया, उसने आमरण अनशन स्वीकार कर शरीर का भी व्युत्सर्ग कर दिया। फलस्वरूप मरकर देवयोनि में पैदा हुआ।[1]

अहंकार-व्युत्सर्ग का प्रभाव

कूरगडूक मुनि उपवास आदि तप नहीं कर सकते थे। इसलिए सभी मुनि और आचार्य तक उसे झिड़कते थे, अपमानित करते थे। वे अपमान और कोप को भी समभाव से सहकर शान्त रहते थे। एक बार चातुर्मासिक चतुर्दशी के दिन सब साधुओं के व्रत था। कूरगडूक मुनि क्षुधापीड़ित थे। आचार्यश्री से आज्ञा लेकर भिक्षा के लिये गए। कूर (निकृष्ट अन्न) से पात्र भर लाये। आचार्य बहुत ही क्रुद्ध हुए, अपमानित किया। दूसरे मुनियों ने भोजनभट्ट कहकर उपहास किया। परन्तु कूरगडूक मुनि ने बिलकुल शान्त, स्वस्थ होकर भिक्षापात्र एक ओर रखे। कायोत्सर्ग किया–"मेरे कारण आचार्यश्री को तथा सभी साथी मुनियों को कष्ट हुआ। फिर समभावपूर्वक भोजन करते-करते आत्म-ध्यान में लीन हो गए। क्षमा की तथा ध्यान की उज्ज्वलता की पराकाष्ठा थी। क्षपक श्रेणी पर आरूढ़ होते-होते उन्हें केवलज्ञान प्राप्त हो गया। यह प्रभाव था अहंकार-व्युत्सर्ग का।

दशार्णभद्र मुनि ने तथा मेघकुमार मुनि ने अहंकार-विसर्जन करके जगत् के समक्ष आदर्श उपस्थित कर दिया। भगवान महावीर के चरणों में सर्वांगपूर्ण समर्पण कर दिया। इसी प्रकार अन्य कई साधक-साधिकाओं ने कषायादि का व्युत्सर्ग किया, इसके भी अनेक उदाहरण आगमों और ग्रन्थों में मिलते हैं।[2]

संसार-व्युत्सर्ग : क्या और कैसे हो ?

भाव-व्युत्सर्ग का दूसरा प्रकार है–संसार-व्युत्सर्ग। प्रत्येक प्राणी के जब तक कर्म रहते हैं, तब तक संसार रहेगा, यानी जन्म-मरणादि चलते रहेंगे। संसार का व्युत्सर्ग तब होगा, जब यह संसार (कर्मोपाधिक) बिलकुल नष्ट–समाप्त हो जाएगा, तेरहवें गुणस्थान के बाद। संसार-व्युत्सर्ग का तात्पर्य यही है, जिस कर्म के प्रभाव से यह संसार बढ़ रहा है, उसके प्रतिपक्ष में ऐसी साधना करना, जिससे संसार का आयुष्य कम हो, घटे। 'स्थानांगसूत्र' में ४ प्रकार का संसार बताया है–द्रव्य-संसार, क्षेत्र-संसार, काल-संसार और भाव-संसार।

---

१. (क) 'महावीरचरियं' से संक्षिप्त
   (ख) चण्डकौसिया ! बुज्झह बुज्झह !
२. (क) देखें–कूरगडूक मुनि का वृत्तान्त आचारांग चूर्णि में
   (ख) देखें–दशार्णभद्र मुनि का वृत्तान्त स्थानांग वृत्ति १० में
   (ग) देखें–मेघकुमार मुनि का वृत्तान्त अ. १ में

द्रव्य-संसार और भाव-संसार को कम करने के अचूक उपाय

द्रव्य-संसार–नरक-तिर्यंच-मनुष्य-देवगतिरूप है। क्षेत्र-संसार–लोकाकाशरूप या ऊर्ध्व-मध्य-अधोलोकरूप है। काल-संसार–एक समय से लेकर पुद्गल-परावर्त्तकालरूप है। भाव-संसार–मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग आदि आस्रव और बन्ध के कारणभूत हैं और संसार परिभ्रमण के हेतुरूप हैं। यहाँ संसार से चारगतिरूप द्रव्य-संसार तथा कषायादिरूप भाव-संसार ही समझना चाहिए; क्योंकि क्षेत्ररूप या कालरूप संसार का व्युत्सर्ग सम्भव नहीं होता और न ही वह साधक के लिए आवश्यक है। जिन कारणों से द्रव्य-संसाररूप नरकगति, तिर्यंचगति, मनुष्यगति या देवगति का बन्ध होता है, उन कारणों को समाप्त करने–क्षीण करने या कम करने की साधना करना द्रव्य-संसार-व्युत्सर्ग है। वस्तुतः भाव-संसार ही संसार है। संसार-परिभ्रमण का मूल हेतु तो मिथ्यात्व, कषायादि ही है। इस भाव-संसार को कम करने या त्याग करने के लिए पुरुषार्थ या संकल्प करना, महाव्रतादि या दशविध श्रमणधर्म आदि का आचरण करना, ज्ञान-दर्शन-चारित्रतपरूप मोक्षमार्ग की साधना करना भाव-संसार-व्युत्सर्ग है। 'आचारांगसूत्र' में कहा है–"जे गुणे, से आवट्टे।"–जो गुण हैं, अर्थात् इन्द्रियों के विषय हैं, वे ही आवर्त्त–संसार-परिभ्रमण के कारण हैं। विषयों में आसक्त प्राणी संसार में परिभ्रमण करता है, गुणातीत (विषयों से विरक्त-अनासक्त) आत्मा संसार में जन्म-मरण नहीं करती। इस तथ्य को हृदयंगम कर लेने पर साधक भाव-संसार में भ्रमण नहीं करता।[1] 'उत्तराध्ययनसूत्र' में बताया गया है कि "जो अन्तिम समय तक जिन-वचन में अनुरक्त रहते हैं, जिन-वचनों का भावपूर्वक आचरण करते हैं, वे निर्मल तथा रागादि दोषों से असंक्लिष्ट होकर परित्त-संसारी (परिमित संसार वाले) होते हैं।"[2]

कर्म-व्युत्सर्ग : क्या और कैसे-कैसे ?

भाव-व्युत्सर्ग का तृतीय प्रकार है–कर्म-व्युत्सर्ग। कर्मों का व्युत्सर्ग करना कठिन कार्य है। कर्म की मूल-प्रकृतियाँ आठ हैं तथा उत्तर-प्रकृतियाँ १४८ हैं। उन प्रकृतियों को परिवर्तित करने, उन्हें विसर्जित करने का नाम कर्म-व्युत्सर्ग है। ज्ञानावरणीय कर्म-प्रकृतियों को नष्ट करने वाली साधनाओं में संलग्न होने का नाम

---

१. (क) चउव्विहे संसारे प. तं.–दव्वसंसारे, खेत्तसंसारे, कालसंसारे, भावसंसारे।
–स्थानांग ४/१/२६१

(ख) आचारांग, श्रु. १, अ. १, उ. ५

२. जिणवयणे अणुरत्ता, जिणवयणं जो करेंति भावेण।
अमला असंकिलिट्ठा ते होंति परित्तसंसारी। *–उत्तरा. ३६/२५८*

है–ज्ञानावरणीय कर्म-व्युत्सर्ग-साधना। भगवान महावीर ने आगमों में यत्र-तत्र विभिन्न कर्मों और उनकी मूल-उत्तर-प्रकृतियों के आस्रव और बन्ध के पृथक्-पृथक् कारण बताये हैं, तथैव उन-उन कर्म-प्रकृतियों के क्षय करने एवं संवर-निर्जरा करने के कारण भी शास्त्रों में यत्र-तत्र बताये गए हैं। उन्हें समझकर कर्मबन्ध के कारणों से दूर रहना और कर्मक्षय व कर्मनिरोध के उपायों को समझना एवं कर्मों को तोड़ना या कर्मनिरोध करना कर्म-व्युत्सर्ग की प्रक्रिया है। जैसे कि 'उत्तराध्ययनसूत्र' में कहा है–स्वाध्याय से ज्ञानावरणीय कर्म का क्षय होता है। विनय-वन्दना करने से नीच गोत्रकर्म का क्षय होता है। ये और इस प्रकार के कई सूत्र कर्मक्षय (कर्मनिर्जरा) और कर्मसंवर के विषय में भगवतीसूत्र, प्रश्नव्याकरणसूत्र, उत्तराध्ययनसूत्र, अन्तकृद्दशांगसूत्र आदि आगमों में उल्लेख मिलते हैं। अतः कर्म-व्युत्सर्ग के लिए विभिन्न कर्मों के बन्ध के कारणों से बचना तथा उनसे मुक्त होने के उपायों (कारणों) में प्रवृत्त होना चाहिए। यही कर्म-व्युत्सर्ग की विधि है।

इस प्रकार अनशनादि छह बाह्य और प्रायश्चित्त आदि छह आभ्यन्तरतप सांगोपांग विवेचन पढ़कर सर्वकर्ममुक्ति का लक्ष्य रखकर सर्वकर्ममुक्ति का पुरुषार्थ करना चाहिए।

●●

१५

भेदविज्ञान की विराट् साधना

मुख्यता किसकी और किसकी नहीं ?

एक विद्यालय की इमारत बहुत सुन्दर तीन मंजिली और विशाल बनी है। उसमें कोई भी विद्यार्थी पढ़ने के लिये आए या न आए, इसकी परवाह किये बिना उस बिल्डिंग का मालिक केवल विद्यालय की उस इमारत की ही सुरक्षा और सार-सँभाल करता रहे; उसे प्रतिदिन झाड़-पोंछकर, रगड़-रगड़कर साफ करता रहे और समय-समय पर रंग-रोगन कराता रहे, उसमें स्थान-स्थान पर कपड़े के बेनर लगवाए और उन पर विद्या की महिमा के सुवाक्य लिखवा दे। यथास्थान सुन्दर टेबल, कुर्सियाँ रखवा दे, परन्तु विद्यालय में एक भी विद्यार्थी या अध्यापक न आए तो उस व्यक्ति को हम बुद्धिमान् नहीं, बुद्धिहीन मानते हैं।

एक मन्दिर बहुत ही आलीशान बनाया गया हो, विशाल गुम्बज बना हो, ऊपर स्वर्णिम कलश से सुशोभित हो, दूर से ही मंदिर को देखने वाले की आँखें चकाचौंध हो जाएँ। किन्तु उस मन्दिर में भगवान की मूर्ति न हो। मंदिर का निर्माता यदि उस मंदिर की ही सुरक्षा और सार-सँभाल करने बैठ जाए। मंदिर के फर्श को खूब धोता, पोंछता, रगड़ता और साफ करता रहे, तो भगवान की मूर्तिविहीन उस मंदिर के निर्माता को कोई चतुर नहीं कहेगा, उसे मूर्ख-शिरोमणि ही कहेगा।

उस डॉक्टर को कोई बुद्धिमान् नहीं कहेगा, जो दवाखाना खोलकर केवल उसी की सुरक्षा में लगा रहता है और विविध रोगों की दवाइयाँ ही इकट्ठी करता रहता है। उसमें चिकित्सा के लिये आने वाले रोगियों की परवाह नहीं करता। उनके रोगों का निदान, परीक्षण आदि करके उनकी चिकित्सा नहीं करता।

हम किसको मुख्यता दे रहे हैं ? : देहरूपी देवालय को या आत्म-देव को ?

निष्कर्ष यह है कि विद्यालय में मुख्यता विद्यार्थियों की होती है, विद्यालय की बिल्डिंग की नहीं; मंदिर में मुख्यता भगवान की मूर्ति की होती है, मंदिर के मकान की नहीं; तथैव हॉस्पिटल में मुख्यता रोगियों की चिकित्सा ही होती है, केवल

दवाइयों के संग्रह की नहीं। इसी प्रकार अनन्तज्ञानी महापुरुष हमें पूछना चाहते हैं, जिनवाणी के माध्यम से कि तुम अपने जीवन में शरीर को मुख्यता दे रहे हो या आत्मा को?

शरीर की चिन्ता : आत्म-देवता की उपेक्षा !

शरीर आत्मा के रहने के लिए बिल्डिंग है, मंदिर है, आत्म-विद्या प्राप्त करने और उसे क्रियान्वित करने का विद्यालय है। परन्तु जिसके लिए यह शरीर मिला, इन्द्रियाँ मिलीं, अंगोपांग मिले, मन, बुद्धि, चित्त और हृदय मिले; आहारादि छह पर्याप्तियों से पर्याप्त अथवा इन्द्रियाँ, मन, प्राण, अंगोपांग आदि से पूर्ण या युक्त शरीर प्राप्त हुआ, क्या हम उसे उसमें विराजमान आत्मा की सेवा में लगाते हैं, उसे आत्म-गुणों से सजाते हैं, उस आत्म-देवता को अशुद्ध, मलिन, दूषित होने से बचाते हैं या उक्त शरीर की साज-सज्जा में ही लगे रहते हैं, शरीर की ही सुरक्षा, सफाई, आहारादि से पुष्टि और शक्ति-वृद्धि करने में लगे रहते हैं, इन्द्रियों को विषय-वासनाओं और मन को विषयों के प्रति राग-द्वेष या कषाय आदि में लगाकर सुख मानते हैं? सच है, अधिकांश मानव आत्म-देव की कोई परवाह नहीं करते अथवा विषयविकारों और कषायों-नोकषायों से, मिथ्याज्ञान-दर्शन से मलिन रुग्ण और अशक्त बने हुए आत्म-देव की चिकित्सा करने का कोई विचार नहीं करते, केवल शरीर की चिकित्सा के लिए दवाओं और चिकित्सकों की शरण में जाते हैं। अरिहन्त, सिद्ध परमात्मा, साधु महात्मारूपी चिकित्सक और शुद्ध धर्मरूप उपचार की शरण स्वीकारने में लज्जा महसूस करते हैं अथवा उपेक्षा कर जाते हैं, जो आत्म-देव शरीररूपी चिकित्सालय में वर्तमान में भवरोगों तथा कषायादि व्याधियों से रुग्ण है, मनोरोग से त्रस्त है, आध्यात्मिक रोगों से संतप्त है।

आत्मा की सार-सँभाल की कोई चिन्ता नहीं

सारांश यह है कि शरीर और आत्मा, इन दोनों में से हम प्रायः शरीर को ही अधिक महत्त्व देते हैं। इस देहरूपी देवालय में विराजमान, जो आत्म-देव है,[1] उसकी कोई परवाह नहीं करते। शरीर के लिये अच्छा स्वादिष्ट खान-पान जुटाते हैं, रहने के लिए बढ़िया बंगला, कोठी या मकान बनवाते हैं, उसके मनोरंजन के लिए टी. वी., वीडिओ, ओडियो, रेडियो, सिनेमा तथा इसके अतिरिक्त विविध खेल, पाँचों इन्द्रियों के विषयों में आसक्तिपूर्वक रमण आदि में प्रवृत्त होते हैं। शरीर की सुरक्षा के लिए शक्ति और पुष्टि के लिए नाना प्रकार के टॉनिक, दवाइयाँ और उपचार का उपयोग करते हैं। शरीर की सुविधा के लिए विविध

---

१. देहो देवालयः प्रोक्तः, आत्मा देव एव च ..... त्यजेदज्ञाननिर्माल्यं, सोऽहंभावेन पूजयेत्।

भोगोपभोग के साधन जुटाते हैं। इस जगत् में अधम से अधम पुरुषों को सुलभ इन्द्रिय-विषयों की प्राप्ति, सुरक्षा और उपभोग के पीछे अपनी आत्मा की अमूल्य शक्तियों को मनुष्य बर्बाद कर रहा है, जीवन के बहुमूल्य क्षणों को इन्हीं को पाने और भोगने के पीछे पूरा कर रहा है। इस जगत् की उत्तम आत्माओं को सुलभ तथा आत्मा में निहित ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप तथा अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य, क्षमा, दया, शील, सन्तोष आदि सद्गुणों को अर्जित करने, सुरक्षित रखने तथा उनकी प्राप्ति के लिए जीवन के इन कीमती क्षणों का उपयोग नहीं करता। शरीर की हिफाजत और सुरक्षा, सुविधा तथा सुखोपभोग एवं पेट और प्रजनन को ही अधिकांश मानव अपने जीवन का लक्ष्य बना बैठे हैं। वे मन को इन्द्रियों के अनुकूल मनोज्ञविषयों में बहलाने के सिवाय अन्य कुछ नहीं करते। जिसके आधार पर इस शरीर का भाव पूछा जाता है, उस आत्मा की पलभर भी चिन्ता नहीं करते। अधिकांश व्यक्तियों की ऐसी तैयारी नहीं होती। वे समय का बहाना बनाकर आत्म-देवता की उपेक्षा कर जाते हैं। जिस मन-बुद्धि-चित्त और हृदय (अन्तःकरण) के माध्यम से केवलज्ञान की प्राप्ति तक पहुँचा जा सकता है, शरीर और आत्मा का भेदविज्ञान करके विभावों व पर-भावों से विरत होकर आत्म-स्वरूप में, आत्म-भाव में रमण किया जा सकता है, तप और त्याग द्वारा, धर्माचरण द्वारा आत्म-शक्ति बढ़ाई जा सकती है, संवर और निर्जरा के द्वारा नये और पूर्वबद्ध कर्मों का निरोध एवं क्षय किया जा सकता है, आत्म-शुद्धि की जा सकती है, उस अन्तःकरण के सदुपयोग का अधिकांश व्यक्तियों को सद्ज्ञान ही नहीं है। वे शरीररूपी रत्नजड़ित थाल में कोयले और कचरा भरने का काम कर रहे हैं।

शान्तचित्त से विचार करें तो हमें स्पष्ट प्रतीत होगा कि ऐसे व्यक्तियों का नम्बर बुद्धिमानों में नहीं गिने जाने लायक है। ऐसे व्यक्तियों को कोई विवेकशील व्यक्ति चतुर नहीं, बुद्धू ही कहेगा।

आत्म-देव की उपेक्षा करने से असन्तोष

ऐसे लोगों की दशा उस यात्री की-सी है, जिसका सामान ट्रेन के डिब्बे में चढ़ जाए, किन्तु वह यात्री स्टेशन पर ही रह जाए, ऐसा कहें तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी। ऐसे व्यक्तियों को कदाचित् पुण्ययोग से अनुकूल विषय-सुख मिल जाए और शरीर की सँभाल रखने का सन्तोष भी प्राप्त हो जाए, किन्तु आत्मा को सन्तुष्ट करने का, आत्म-देव की पूजा-अर्चा करने का, रुग्ण आत्मा की—कषायों और विषयरागों से बीमार आत्मा की—चिकित्सा या चिन्ता करने का सुयोग उन्हें शायद ही प्राप्त होता है।

अविनाशी आत्मा के प्रति लापरवाही की

कैसी करुण दशा है, कर्ममुक्ति के तथा आत्म-भावस्थिति के लक्ष्य से विहीन या लक्ष्यभ्रष्ट, सम्यग्दर्शन से रिक्त, सम्यग्ज्ञान से रहित, सम्यक्चारित्र तथा सम्यक्तप के आचरण से दूर शरीरमुग्ध, संसारमुग्ध, विषयमूढ़ मानव की? जो शरीर अपने सभी उपकरणों के सहित नाशवान् है, क्षणभंगुर है, उसकी तो इतनी चिन्ता और जो आत्मा अविनाशी है, नित्य है, अजर-अमर है, मोक्ष-प्राप्ति के लिए माध्यम है, परमात्म-सम है, उसकी कोई चिन्ता नहीं, परवाह नहीं, कोई चिन्तन नहीं, उसकी पूजा-अर्चा का?

जिस विनाशी शरीर के लिए रात-दिन कड़ी मेहनत करके, कठोर कष्ट सहन करके, भूख-प्यास सहन करके इतना धन जुटाया, अपार भोगोपभोग के साधन जुटाए, मकान, बाग, बंगले खड़े किये, माता-पिता, पत्नी, पुत्र, पुत्री आदि से ममत्व-सम्बन्ध जोड़ा, शरीर की सुरक्षा के लिए हर सम्भव उपाय किया, वह शरीर मृत्यु के बाद जलकर राख हो जाता है; जिंदगीभर शरीर के लिये इकट्ठी की हुई सामग्री यहीं धरी रह जाती है और अकेली अविनाशी आत्मा परलोक की यात्रा के लिए रवाना हो जाती है।[1]

स्वामी रामतीर्थ जब पहली बार जापान गये और वहाँ उन्होंने एक घटना का विवरण अपनी डायरी में इस प्रकार अंकित किया था–

जापान भूकम्प का देश है।'''' यहाँ मकान अधिक ऊँचे नहीं हैं।''''' बहुत गहरे भी नहीं हैं।''''' मकानों में लकड़ी का अधिक उपयोग।''''' जिनके घर में मैं ठहरा था, उनके मकान में अचानक आग लगी।'''' रात का समय।''' हक्के-बक्के होकर हम सब नीचे उतर आए।'''' सुन्दर से सुन्दर फर्नीचरों से सुसज्जित यह मकान धू-धूकर जल रहा था।''''' आग की ज्वालाएँ मानो आकाश को छूने का प्रयत्न करती थीं।'''' मकान-मालिक असहाय होकर एक ओर खड़ा-खड़ा यह सब देख रहा था।''''

सहसा आग बुझाने वाली दमकलें आ पहुँचीं। दमकल-कर्मचारियों में से एक दमकल-कर्मचारी इस मकान-मालिक के पास आया और उसने पूछा–"सेठ ! मकान के पीछे का भाग अभी तक आग से मुक्त है।'''' अगर वहाँ से कोई महत्त्वपूर्ण वस्तु लानी हो तो कहिये'''' हम अन्दर जाकर ले आएँ।''''"

---

१. देखें–उत्तराध्ययन ४/२ की यह गाथा–

जे पावकम्मेहिं धणं मणुस्सा, समायवंति अमयं गहाय।
पहाय ते पास-पयट्ठिए नरे, वेराणुबद्धा नरयं उवेंति॥

मकान-मालिक ने कहा–"भाई ! इस समय मुझे कुछ भी नहीं सूझ रहा है। उस तरफ क्या है ? यह भी मुझे पता नहीं है।'''' तुम्हें जो मिले, वह ले आओ।''' जितना बच जाय उतना ही ठीक है।" वह दमकल-कर्मचारी अपने दो-चार साथियों को लेकर मकान के पिछले भाग में घुसा।''''' और सिर्फ दस मिनट में एक वजनदार पेटी उठाकर ले आया।'''' मकान-मालिक जवाहरात से भरी हुई इस पेटी को देखकर राजी-राजी हो गया।'''' सोचा "चलो, यह पेटी सुरक्षित है तो इसमें रखे हुए जवाहरात से इससे भी बढ़िया मकान बनवाया जा सकेगा।" पुनः दमकल-कर्मचारी ने कहा–"सेठ ! अभी एक बार और अंदर जाया जा सकता है। बोलो, कुछ याद आता हो तो हम अभी ले आएँ !" मकान-मालिक बोला–"भाई ! मैंने तुम्हें पहले ही कहा था इस समय मेरा दिमाग स्वस्थ नहीं है।'''' तुम्हें जो भी मिले, ठीक लगे, उसे ले आओ।" लगभग आधे घंटे बाद वे दमकल-कर्मचारी जब मकान-मालिक के पास आए, तब उनके हाथ में २८ वर्ष के एक जवान पुत्र की, जली हुई तथा विकृत बनी हुई लाश थी। लाश को देखते ही मकान-मालिक मूर्च्छित होकर धड़ाम से धरती पर गिर पड़ा।''' "

इस समग्र घटना को लिखने के पश्चात् स्वामी रामतीर्थ ने नीचे एक टिप्पण लिखा है–"मकान जल गया है, ''' माल बच गया है, किन्तु मालिक (यह सब छोड़कर परलोक) रवाना हो गया है।"[1]

शरीरादि साधनों की चिन्ता : साध्य–आत्म-देव की उपेक्षा

यही स्थिति आज आत्मा की सर्वथा उपेक्षा करके शरीर की ही एकमात्र रक्षा करने तथा सर्वस्व समझने वालों की हो रही है। शरीर तथा शरीर से सम्बद्ध इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, चित्त, हृदय, अंगोपांग आदि सब आत्मा की अभिव्यक्ति तथा आत्मा के ज्ञानादि गुणों को प्रगट करने के लिए साधन हैं, उपकरण हैं, औजार हैं। साध्य आत्मा है, आत्म-गुणों को प्राप्त करना है, वह आत्म-स्वभाव में स्थित होना है। परन्तु साधन को प्रायः साध्य मान लिया जाता है और वास्तविक साध्य से दूर होने का प्रयत्न होता है। शरीरादि के द्वारा आत्मा अपने स्व-धर्म का पालन कर सकता है। परन्तु भेदविज्ञान के तत्त्व से अनभिज्ञ लोग स्व-धर्म का पालन करने के बजाय शरीरादि के माध्यम से पर-धर्म में पड़ जाते हैं। जबकि शरीर और आत्मा गुणों की दृष्टि से पृथक्-पृथक् हैं। इन्हें एक मानकर ही अधिकांश व्यक्ति शरीर के मोह, आसक्ति, ममत्व और अहंत्व में पड़कर आत्मा को बिलकुल भूल जाते हैं। नतीजा यह होता है कि शरीर और उसके निमित्त से ममत्वपूर्वक जुटाये हुये, संग्रह

---

१. 'दिव्यदर्शन, दि. २९-१२-९० ' के अंक में उद्धृत घटना से, पृ. १२७

किये हुए धन-सम्पत्ति, मकान, वस्त्राभूषण आदि साधन यहीं रह जाते हैं; आत्मा; जो शरीर का तथाकथित कल्पित मालिक है, वह इन सबको छोड़कर अगले लोक में चला जाता है। शुभ-अशुभ कर्म, जो शरीर के निमित्त से उस आत्मा (जीव) ने बाँधे थे, उसके साथ परलोक में जाते हैं।

शरीर और आत्मा के गुणधर्म में अन्तर है

शरीर तथा उससे सम्बन्धित मन, वाणी, इन्द्रियाँ, अंगोपांग आदि सब जड़ हैं, चेतनारहित हैं, जबकि चेतन है, ज्ञानवान् है, शुद्ध आत्मा ज्ञान-दर्शन-सुख-शक्ति-सम्पन्न है। इसलिए शरीर और आत्मा दोनों के गुणधर्म पृथक्-पृथक् हैं, इनमें तादात्म्य-सम्बन्ध या अभेद-सम्बन्ध नहीं है। पूर्वबद्ध कर्मों के कारण आत्मा का शरीर के साथ मात्र संयोग-सम्बन्ध है।

वीतराग प्रभु से भेदविज्ञान की प्रार्थना

इसीलिए अयोग-संवर (त्रिविधयोग निरोधरूप संवर) के साधक की ओर से शरीर और आत्मा के भेदविज्ञान के लिए इस प्रकार की प्रार्थना कितनी उपयोगी है?—"हे वीतराग प्रभो ! आपकी स्वभावसिद्ध कृपा से मेरी आत्मा में ऐसी आत्मिक शक्ति प्रकट हो कि मैं अपनी आत्मा को (सभी प्रकार के) शरीर (आदि) से उसी प्रकार पृथक् कर सकूँ, जिस प्रकार म्यान से तलवार अलग की जाती है, क्योंकि वस्तुतः मेरी आत्मा अनन्त शक्ति-सम्पन्न है और समस्त दोषों से रहित वीतराग-स्वरूप है।"

शरीरादि को आत्मा से अभिन्न मानने पर अनेक आपत्तियाँ

प्रश्न होता है, शरीरादि आत्मा के साथ अभिन्न रहे या माना जाए तो क्या हर्ज है? इसका समाधान यह है कि आत्मा को जब शरीरादि के साथ अभिन्न माना या रहने दिया जाता है तो शरीर और शरीर से सम्बन्धित सजीव-निर्जीव पदार्थों को लेकर मोह, ममत्व, मूर्च्छा, आसक्ति, घृणा, द्वेष, द्रोह, वैर-विरोध आदि विकार एक या दूसरे प्रकार से आ धमकते हैं, उन्हीं को लेकर फिर तन-मन-वचन से हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्मचर्य और परिग्रह के पाप-दोषों की वृद्धि होती है। इसके अतिरिक्त परिवार, धन-सम्पत्ति, राज्यसत्ता, जमीन-जायदाद आदि शरीर से सम्बन्धित सजीव-निर्जीव वस्तुओं को लेकर राग, द्वेष, मोह, क्रोध, मान (अहंकार, मद), माया, लोभ आदि विकार बढ़ते रहते हैं। फिर उन्हीं के कारण पापकर्मों का बन्ध होता रहता है। उनके फलस्वरूप नाना दुर्गतियों और अशुभ योनियों में बार-बार जन्म-मरण करना, परिभ्रमण करना, नाना यातनाएँ सहना और दुःख भोगना पड़ता है। इस कारण शरीर ही समस्त झगड़ों और खुराफातों की जड़ है।

शरीर और शरीर-सम्बद्ध पदार्थों को लेकर आए दिन अज्ञानी मनुष्य प्राणातिपात आदि अठारह पापस्थानों में से एक या दूसरे का सेवन करता है। शरीर को लेकर ही मानव जाति, कुल, बल, तप, लाभ, श्रुत, ऐश्वर्य आदि का मद (अहंकार) करके दूसरों का तिरस्कार करता है, अहंकार-ममकार से या हीनभावना से लिप्त हो जाता है। शरीर के रहने पर ही मनुष्य सात प्रकार के भयों से भयभीत होता है, स्वयं भी निर्भयता की स्थिति प्राप्त नहीं कर पाता और दूसरों को भी भयभीत, आतंकित एवं पराभूत करता रहता है। शरीर के कारण ही आहारसंज्ञा, भयसंज्ञा, कामवासनासंज्ञा, परिग्रहसंज्ञा तथा क्रोधादि कुल दस प्रकार की संज्ञाओं, महत्त्वाकांक्षाओं, वृत्तियों और कामनाओं से पीड़ित होता रहता है। शरीर के कारण ही आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान के चक्कर में पड़कर धर्म-शुक्लध्यान से तथा आध्यात्मिक विकास से, आत्म-भावों में रमण से वंचित हो जाता है। शरीर से सम्बन्ध होने के कारण कषायानुरंजित निकृष्ट कृष्णादि लेश्याओं-दुर्वृत्तियों और दुर्भावनाओं से आक्रान्त होता रहता है। शरीर के कारण ही राग-द्वेष तथा कषाय-नोकषायों से बार-बार आत्मा आहत होती रहती है। शरीर और शरीर-सम्बन्धित पदार्थों के लिए ही आरम्भ-समारम्भ करता है, धन और साधनादि येन-केन-प्रकारेण अर्जित करता है और उनकी आवश्यकताओं के लिए नाना झूठ-फरेब, छल-प्रपंच करता है। शरीर से सम्बद्ध मन और इन्द्रियों की आवश्यकताओं की पूर्ति करने में एवं पंचेन्द्रिय विषयों में आसक्तिपूर्वक बार-बार रमण करने में ही प्रायः सारा जीवन पूरा कर देता है। ऐसी स्थिति में न तो वह आत्मा की क्षमता, सामर्थ्य और शक्ति बढ़ा पाता है, न ही आत्मिक आनन्द प्राप्त कर पाता है और न ही विषय-सुखों से हटकर तथा मिथ्यादर्शन और मिथ्याज्ञान से दूर रहकर आत्मिक ज्ञान-दर्शन (सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन) और सम्यक्चारित्र व सम्यक्तप की भलीभाँति साधना-आराधना कर पाता है। साथ ही शरीर और शरीर से सम्बद्ध पदार्थों के प्रति आसक्ति और मोह के कारण भोगविलास, सुखोपभोग एवं सुविधाभोग में डूबकर एवं पेट, प्रजनन और शरीर-शुश्रूषा में ही अपनी पूरी जिंदगी व्यतीत कर देता है। जो मानव-शरीर आध्यात्मिक उत्कर्ष के लिए मिला था, वह लक्ष्य पूर्ण नहीं हो पाता। यही कारण है कि कर्म-विमुक्ति के मार्गदर्शक महर्षियों ने शरीर और शरीर-सम्बद्ध पदार्थों से आत्मा को पृथक् मानने-जानने और अनुभवपूर्वक आचरित करने का विधान किया है।

शरीर से आत्मा को पृथक् करने का तात्पर्य

ऐसी स्थिति में दूसरा प्रश्न यह उपस्थित होता है कि पृथक् कर देने पर व्यक्ति सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र-तप की तथा क्षमा, दया, समता आदि धर्मों की साधना

कैसे कर पाएगा? शरीर के साथ आत्मा का संयोग होने पर ही व्यक्ति धर्म-पालन या धर्माचरण मन-वचन-काया से कर सकेगा। अकेले निर्जीव शरीर से भी धर्म का आचरण या क्षमा, दया, समता आदि गुणों तथा व्रतों-महाव्रतों की साधना हो सकती है और न ही अकेली आत्मा इनकी साधना-आराधना कर सकती है। ऐसी स्थिति में शरीर से आत्मा को पृथक् करने के भेदविज्ञान या सांख्यदर्शन के अनुसार विवेकख्याति का क्या तात्पर्य है? इसका समाधान यह है कि शरीर से आत्मा को अलग कर देने का मतलब शरीर को नष्ट कर देना या शरीर से सम्बद्ध मन, वचन एवं इन्द्रियों तथा अंगोपांगों को छिन्न-भिन्न कर देना नहीं है; किन्तु शरीर और शरीर से सम्बद्ध सजीव-निर्जीव पदार्थों के प्रति जो लगाव है, मोह-ममत्व है, आसक्ति और मूर्च्छा है अथवा घृणा और अरुचि है, राग-द्वेष है, प्रियता-अप्रियता की भावना है और उसके कारण आत्मा के प्रति जो विमुखता, उपेक्षा तथा आत्म-भावों या आत्म-गुणों को अपनाने के प्रति जो अरुचि या उदासीनता है; उसे छोड़ना है, उसे मन-वचन-काया से दूर करना है। एकमात्र शरीर के साथ आत्मा का जो एकत्व या तादात्म्य-सम्बन्ध मान रखा है अथवा अभिन्नता मान रखी है, उसे मन से निकाल देना है। शरीर के साथ अभेद-सम्बन्ध मानकर आत्मा की ज्ञान, दर्शन, चारित्र, आनन्द और बलवीर्य की शक्ति को भुला दिया गया है, उस गलत मान्यता को ठीक करना है। आत्मा ने इसी भ्रान्ति के कारण शरीर को अधिक से अधिक निकट सम्बन्धी, साथी या अपना मित्र मानकर अच्छे से अच्छे पदार्थों का सेवन कराया, शरीर को सर्दी, गर्मी, रोग, व्याधि, आतंक, भय, विपत्ति आदि से रक्षा करके जतन से रखा, शरीर की प्रत्येक अनुचित आवश्यकताओं, आकांक्षाओं एवं इच्छाओं की पूर्ति की; अब उस भ्रान्ति को तोड़ना है। शरीर से सम्बद्ध मन और इन्द्रियों का, अंगोपांगों का जो बाह्य विषयों या पदार्थों से राग-द्वेषादिपूर्वक लगाव या चेष्टा है उसे छुड़ाना है। शरीर के प्रति आत्मा के द्वारा अनिष्ट सम्बन्ध जोड़े जाने से आत्मा की शक्तियों का ह्रास हुआ है, उस अनिष्ट सम्बन्ध को तोड़ना है। यानी शरीर के साथ आत्मा ने मोह-माया का सम्बन्ध जोड़कर अब तक जो शरीर और इससे सम्बद्ध मन, इन्द्रियों आदि की गुलामी की, इनके कहने में लगकर अपनी तप, जप, धर्माचरण, परीषह-सहन की शक्ति कुण्ठित कर डाली, अब उस मोह-ममत्व-प्रेरित सम्बन्ध को तोड़कर शरीरादि की दासता छोड़कर उन पर स्वामित्त्व स्थापित करना है, उन्हें अपने नियंत्रण में रखना है। शरीरादि को तोड़ना-फोड़ना या नष्ट करना भी नहीं है और न ही शरीर को अधिक लाड़-प्यार करके, मोहवश पालना-पोसना है, उन्हें बुराइयों तथा पापचरणों में जाने से रोकना है तथा सम्यग्ज्ञानादि धर्माचरण में अधिक प्रवृत्त करना है।

यों तो कोई साधक शरीर से छूटने के लिए झंपापात कर ले, दम घोंट ले, जल-समाधि ले ले या मिट्टी के नीचे दबकर मर जाए, इस प्रकार आत्महत्या करके शरीर छूटने को शरीर और आत्मा की भिन्नता का ज्ञान या अभ्यास नहीं कहा जा सकता अथवा किसी आवेश, रोष, लड़ाई या युद्ध आदि में शरीर का त्याग कर देने से भी शरीर से छुटकारा (पृथक्त्व) नहीं हो सकता। उससे घोर कर्मबन्ध होकर पुनः-पुनः शरीर धारण करना पड़ेगा। जब तक आयुष्य नामकर्म का कार्मण शरीर है तब तक भी शरीर से छुटकारा नहीं हो सकता। इसलिए शरीरादि से अहंत्व-ममत्व छोड़ देने से ही सच्चे माने में भेदविज्ञान हो सकता है।

सौ बातों की एक बात है कि शरीर आदि जो बहिर्मुखी हो रहे हैं, उन्हें अन्तर्मुखी करना है। शरीर के प्रति अहंत्व-ममत्व की भावना के कारण आत्मा बहिरात्मा बनी हुई है, उसे उस भावना से विरत करके अथवा अन्यत्वभावना से ओतप्रोत करके अन्तरात्मा बनाना है और परमात्मपद-प्राप्ति की साधना में लगाना है। मोह-ममत्व-प्रेरित जो सम्बन्ध है, उसे शरीर और आत्मा के पृथक्-पृथक् धर्म का विचार करके भेदविज्ञान की भावना से तोड़ना है। यही भेदविज्ञान का आशय है।

भेदविज्ञान का स्पष्ट और विशद अर्थ

संक्षेप में–भेदविज्ञान का सीधा-सा अर्थ है–यह शरीर 'मैं' हूँ (तथा शरीर-सम्बद्ध वस्तुएँ मेरी हैं), इस प्रकार का जो जन्म-जन्मान्तर का संस्कार है, उसे तोड़ना और शरीर भिन्न है, मैं (आत्मा) भिन्न हूँ, दोनों का भिन्न-भिन्न धर्म या स्व-भाव है, इस प्रकार की भिन्नता का अनुभव होना, उसका अभ्यास करना और संस्कारों में सुदृढ़ करना ही भेदविज्ञान है। 'प्रवचनसार' में भेदविज्ञान का तात्पर्य समझाते हुए कहा गया है–"मैं न शरीर हूँ, न मन हूँ, न वाणी (वचन) हूँ, न इनका कारण हूँ। मैं इनका कर्त्ता नहीं हूँ, न कराने वाला हूँ और न ही कर्त्ता का अनुमोदक हूँ।"

भेदविज्ञान न होने पर आत्मा की कितनी अधोगति ?

इस प्रकार का भेदविज्ञान न होने पर शरीर, मन, वचन, इन्द्रियाँ आदि सब आत्मा की ऊर्ध्वगति-प्रगति में बाधक बन जाते हैं। सर्वप्रथम शरीर को ही लें। आत्मा तो प्रत्यक्ष नजर नहीं आती, शरीर ही सर्वप्रथम और सर्वाधिक दृष्टिगोचर होता है। ऐसी स्थिति में तत्त्वज्ञान या भेदविज्ञान से अनभिज्ञ व्यक्ति शरीर को ही 'मैं' समझने लगता है, उसकी दृष्टि आत्मा की ओर प्रायः जाती ही नहीं। उसे यह ज्ञान-भान भी प्रायः नहीं रहता कि शरीर मरणधर्मा है, विनाशी है, शरीर में सुषुप्त आत्मा अमरणधर्मा, अविनाशी है। तब वह शरीर को ही सर्वस्व मानकर उसी को पालने-पोसने, सशक्त, पुष्ट बनाने तथा उसे ही सब तरह सुखोपभोग की सुविधा

देने में अहर्निश तत्पर रहेगा। जिसके मन में शरीर ही सर्वस्व या मूलाधार बन जाता है, वह त्याग, तप रत्नत्रयरूप धर्माचरण, परीषह-सहन, कर्मक्षय के लिए समता, क्षमा आदि धर्मों की पगडंडी पर या मोक्षमार्ग पर नहीं चल सकता। न ही वह सम्यग्दृष्टि बनकर जीव-अजीव आदि तत्त्वों पर चिन्तन-मनन करता है, न ही इनमें हेय-उपादेय का विवेक करता है।[1] अशुभ से निवृत्ति और शुभ में प्रवृत्ति अथवा शुद्ध परिणति का ज्ञान, दर्शन और आचरण तो बहुत दूर की बात है, उसके लिए। शरीर ही जिसके लिए सर्वस्व होगा, वह इन्द्रियों और मन का गुलाम बनकर अपना जीवन नष्ट कर देगा। बहुधा भेदविज्ञान के तत्त्व से अनभिज्ञ और अरुचिमान् व्यक्ति शरीर और शरीर-सम्बद्ध पदार्थों के लिए अपना अमूल्य मानव-जीवन नष्ट कर देते हैं। अगर प्रातः उठने से लेकर रात को सोने तक के उनके कार्यकलापों पर दृष्टिपात किया जाए तो पता लगेगा कि शरीर को ही 'मैं' समझने वाले कर्मों के आस्रव, बन्ध, निर्जरा और मोक्ष के तत्त्वज्ञान–तत्त्वश्रद्धान से अनभिज्ञ लोग प्रायः अपना सारा समय, श्रम, मनोयोग शरीर और उसके साथ जुड़े हुए परिकर या पदार्थों के निमित्त खपाते हैं। इन्द्रियों की लिप्साएँ, मन की आकांक्षाएँ तथा उदर आदि अंगों की क्षुधाएँ तरह-तरह की फरमाइशें प्रस्तुत करती हैं और भेदविज्ञान या तत्त्वज्ञान से शून्य व्यक्ति उनकी पूर्ति के लिये येन-केन-प्रकारेण साधन जुटाने की उधेड़बुन में, संकल्प-विकल्पों में, चिन्ता और उद्विग्नता में लगे रहते हैं। दिन में शरीर और उसके परिकर के लिए ही प्रायः सारा श्रम और रात्रि को विश्राम, यही प्रायः उनके जीवन का दैनिक क्रम हो जाता है। इस प्रकार भेदविज्ञान के अभाव में आत्मा की कितनी अधोगति होती है? यह स्वयं समझा जा सकता है।

शरीर से आत्मा के पृथक्त्व का भेदविज्ञान हृदयंगम न होने से बहिरात्मा बना हुआ मानव-शरीर और शरीर से सम्बन्धित वस्तुओं के प्रति मोह, ममत्व, मूर्च्छा, आसक्ति, लालसा और तृष्णा के भँवरजाल में पड़कर संवर-निर्जरारूप धर्म का अथवा सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रयरूप धर्म का पालन करना तो दूर रहा, मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और अशुभ योग के द्वारा अशुभ कर्मों का आस्रव और बन्ध करता रहेगा।

भेदविज्ञान का दीपक जले बिना आत्मा को कर्मबन्धक विकार घेर लेंगे

भेदविज्ञान का दीप जले बिना उसके जीवन में कर्मबन्धक राग, द्वेष, मोह, कषाय आदि विकारों का अन्धकार दूर नहीं होगा, वह आत्म-गुणों की या

---

१. णाहं देहो, ण मणो, ण चेव वाणी, ण कारणं तेसिं।
कत्ता ण कारयिदा, अणुमंता णेव कत्तीणं॥ —प्रवचनसार, गा. १६०

आत्म-स्वरूप की ज्योति को बुझा देगा। आत्म-स्वरूप एवं आत्मा के अनन्तचतुष्टय गुणों की ज्योति को प्रज्वलित रखने के लिए अहर्निश भेदविज्ञान की मशाल जलाए रखना आवश्यक है।

शरीरदृष्टि बहिरात्मा कर्मलिप्त एवं दुर्लभबोधि बन जाएँगे

दूसरी बात–भेदविज्ञान नहीं होगा, वहाँ तक शरीर और आत्मा इन दोनों में से व्यक्ति की दृष्टि में शरीर ही प्रधान रहेगा, वही उसे प्रत्यक्ष दृश्यमान होने के कारण महत्त्वपूर्ण लगेगा। बल, बुद्धि, इन्द्रिय, मन, वचन आदि शक्तिशाली अवयवों से सम्पन्न शरीर ही साक्षात् दृष्टिगोचर होने से वह अहर्निश इसी की तुष्टि, पुष्टि, फरमाइशों की पूर्ति और तृप्ति में लगा रहेगा। आत्मा गौण हो जाने से उसकी उन्नति, विकास, गुणवृद्धि आदि की चिन्ता बिलकुल नहीं रहेगी। इस प्रकार बहिरात्मा बने हुए शरीरदृष्टि मानव मिथ्यात्वी बनकर अनेकविध अशुभ कर्मों से लिप्त होता जाएगा, फिर उन मानवों को बोधि (सद्बोध-सम्यग्दृष्टि) मिलनी भी अतिदुर्लभ हो जायेगी।[1]

भेदविज्ञान से रहित और युक्त के आचरण में कितना अन्तर ?

भेदविज्ञान अन्तरात्मा बना हुआ आत्म-दृष्टि जीव किस प्रकार शरीरादि में आसक्त नहीं होता और बहिरात्मा बना हुआ शरीरदृष्टि जीव किस प्रकार अतिभोग-परायण हो जाता है? इसे वैदिक पुराण के एक उदाहरण से समझना ठीक होगा–

प्रजापति (ब्रह्मा जी) ने एक बार घोषणा की–"तुम्हें सर्वांगपूर्ण शरीर मिला है, लेकिन तुम शरीर नहीं हो; तुम्हें बुद्धि मिली है, लेकिन तुम बुद्धि नहीं हो; तुम जो हो–उस आत्म-तत्त्व के ज्ञान के बिना सुखी नहीं रह सकोगे; क्योंकि आत्मा अजर, अमर और अविनाशी है। वही सत्य एवं सनातन है। प्राणी का लक्ष्य भी वही (आत्मोपलब्धि) है। अतः विपुल साधनों के स्वामी होकर भी आत्म-विमुख न होना। समस्त समस्याओं का हल आत्मा ही कर सकेगी।"

इस घोषणा को सुनकर देव और असुर दोनों आत्मा को जानने के लिए आतुर हो उठे। देवों ने इन्द्र को और असुरों ने विरोचन को अपना प्रतिनिधि बनाकर प्रजापति के पास भेजा। प्रजापति ने स्वागत के अनन्तर उनके आगमन का

---

१. (क) मिच्छादंसणरत्ता सनियाणा उ हिंसगा (कण्हलेसमोगाढा)॥२५५॥
इअ जे मरंति जीवा, तेसिं पुण दुल्लहा बोही॥२५७॥
–उत्तराध्ययन, अ. ३६, गा. २५५, २५७

(ख) बहुकम्मलेव लित्ताणं, बोही होइ सुदुल्लहा तेसिं। –वही, अ. ८, गा. १५

प्रयोजन जानकर उन्हें यम-नियम का पालन करते हुए रहने को कहा। अवधि पूर्ण होने पर एक दिन प्रजापति ने दोनों को बुलाकर कहा–"दर्पण में या जल में अपनी छवि देखो; फिर छवि देखने वाले नेत्रों को देखो, नेत्रों की पुतलियों के बिन्दु के भीतर प्रविष्ट होकर यह पहचान करो कि यह भीतर कौन, क्यों और कैसे देखता है? तत्पश्चात् यह निर्णय करो कि यह जो देखता है, वही आत्मा है, जो सर्वत्र व्याप्त है, तुम्हारे इस शरीर में भी।" यह सुनकर दोनों अपने-अपने ढंग से साधना करने लगे। विरोचन ने तरह-तरह से दर्पण देखा। उसने अपनी वेशभूषा, केशविन्यास तथा सौन्दर्य प्रसाधनों से साज-सज्जा में परिवर्तन करके कई बार दर्पण में देखा। उसे अपनी सुडौल देहयष्टि, मनोहर मुखमण्डल एवं सुन्दर चेहरा ही ध्यान में आया। अतः उसने यही मान लिया कि यह शरीर ही आत्मा है। इसे ही तरह-तरह से सजाना, इसी की तुष्टि-पुष्टि में लगे रहना, स्वादिष्ट खानपान से इसे ही तृप्त करना, विविध सुख-साधनों का उपभोग करना ही इसे सुखी करना ही आत्म-ज्ञान है।" विरोचन शरीर ही आत्मा है, इस मान्यता को ही पूर्ण मानकर, सन्तुष्ट होकर चल पड़ा अपने दल में मिलने के लिए। वहाँ दल के सभी असुरगण विरोचन से आत्मा का ज्ञान जानने को उत्सुक थे। विरोचन ने उनसे कहा–"यह शरीर ही आत्मा है। बस, इसे ही खिलाओ, पिलाओ, पुष्ट बनाओ, खूब सजाओ, वस्त्राभूषण से मण्डित करो, सुखोपभोग करो, मौज उड़ाओ। इसी की प्रशंसा करो और इसी की आराधना करो।"

बस, उसी दिन से असुरगण शरीर को आत्मा समझकर उसे ही खिलाने-पिलाने, तुष्ट-पुष्ट करने, सजाने-सँवारने और सुखोपभोग करने में लग गये। वे अहर्निश शरीर की तथा शरीर से सम्बन्धित परिवार, धन, सुख-साधन आदि सजीव-निर्जीव वस्तुओं के प्रति चिन्ता, आसक्ति और लालसा करने लगे। फलतः आज तक आसुरीवृत्ति वाले लोग भौतिकता, शरीर-सुखभोगाकांक्षा, इन्द्रिय-विषय-सुखलिप्सा, तुच्छ स्वार्थसिद्धि तथा हिंसादि पापों में संलग्न हैं। वे अपने और अपनों के लिए सर्वत्र कलह, क्लेश करते हैं, असहिष्णु और निकृष्ट अहंत्व-ममत्वयुक्त जीवन जीते हैं। किन्तु देवों के प्रतिनिधि इन्द्र को प्रजापति के उक्त समाधान से सन्तोष न हुआ। इन्द्र ने कई बार दृष्टि जमाई, परन्तु पुतलियों में उसे कुछ नहीं दीखा। वह पुनः आत्मा से सम्बन्धित जिज्ञासा लेकर प्रजापति के समक्ष उपस्थित हुआ। प्रजापति ने उसे विशिष्ट तप करने का आदेश दिया। अवधि पूरी होने पर कहा–"इन्द्र ! यह ज्ञान करो कि स्वप्नावस्था में यह जो तुम्हारी तरह क्रियाएँ करता है, वह कौन है? इन्द्र ने तुलनात्मक अध्ययन के बाद पाया कि जाग्रतावस्था और स्वप्नावस्था में एक ही सचेतन आत्मा कर्त्ता है। किन्तु कई बार प्रगाढ़ निद्रा में चेतन अबोध (ज्ञात नहीं) होता है, उसे आत्मा कैसे माना जाए?"

अतः इन्द्र फिर इस जिज्ञासा को लेकर प्रजापति के पास आया और मनःसमाधान चाहा। तपश्चरण के आदेश के पालन करने के बाद प्रजापति ने उसका पुनः यथातथ्य समाधान किया। फिर भी पूरा समाधान न होने से इन्द्र चौथी बार श्रद्धा, भक्ति एवं विनय सहित जिज्ञासुभाव से उपस्थित हुआ। उसकी प्रबल जिज्ञासा, श्रद्धा और उत्सुकता देखकर प्रजापति ने प्रसन्नतापूर्वक कहा–"इन्द्र ! यह शरीर आत्मा नहीं है। शरीर तो आत्मा का क्षणिक् निवास-स्थान है। जब तक आत्मा शरीर से आबद्ध है, तब तक इसका सम्बन्ध वांछनीय सुख-दुःख या अच्छाई-बुराई से जुड़ा हुआ प्रतीत होता है। किन्तु यह सम्बन्ध शाश्वत नहीं है। जैसे दर्पण के आगे से मुख फेर लेने पर शरीरगत मुख का प्रतिबिम्ब नहीं रहता, वैसे ही मृत्यु के बाद शरीर नहीं रहता। विभिन्न शरीर कुछ काल (आयुष्यकर्म की अवधि) तक आत्मा को धारण करते हैं और चले जाते हैं। शरीर तो आत्मा की अभिव्यक्ति के लिये दर्पणमात्र है। शरीर से (जन्म-मरण) से सदा के लिये मुक्त होने पर आत्मा ज्यों का त्यों रहता है। वह परम ज्योति में–अनन्त आत्मा में विलीन हो जाता है। वहाँ वह अपना नाम, रूप, आकार आदि सब खो देता है। इस सृष्टि का अन्तिम सत्य यह आत्मा ही है।"

इन्द्र को आत्मा से सम्बन्धित ज्ञान पाकर पूरा समाधान हो गया। वह स्वयं आत्मा के विकास में लग गया और देवों को भी उसने उसी का उपदेश दिया। तब से इन्द्र और देवगण असुरगण की तरह शरीरादि में आसक्त नहीं हुए। इसी कारण वे उच्च पदस्थ हुए और अमर कहलाए।

निष्कर्ष यह है कि जो शरीर को ही आत्मा समझकर इसे ही प्रधानता देता रहता है, वह शारीरिक सुखभोगों में निरंकुश होकर बेखटके अमर्यादितरूप से रचा-पचा रहकर अनेक पापकर्मों को न्यौता देता रहेगा। वह आत्मा को उपलब्ध न कर पाने के कारण, शरीरादि पर मोह-ममत्व रखेगा। फलतः आत्मा के निजी गुणों से कोसों दूर हो जाएगा, आत्म-स्वरूप में, स्व-भाव में रमण करने के बदले पर-भावों–विभावों में रमण करने लगेगा। परन्तु जो इन्द्र की तरह भेदविज्ञान को यथार्थरूप से जान-समझ लेता है, वह आत्म-स्वरूप में, स्वभाव में, आत्मा के निजी गुणों में रमण कर पाता है।

मन और वचन भी शरीर के ही अन्तर्गत हैं : क्यों और कैसे ?

यों देखा जाए तो शरीर का क्षेत्र काफी विस्तृत है। मन और वचन भी तो शरीर के ही भाग हैं। मन के अन्तर्गत बुद्धि, हृदय, चित्त, मानस और अन्तःकरण का समावेश हो जाता है। मन और शरीर ऊपर से तो अलग-अलग दिखाई देते हैं, किन्तु वास्तव में इन दोनों में विशेष अन्तर नहीं है। दोनों का अस्तित्त्व एक-दूसरे

के आधार पर टिका हुआ है। इन दोनों में केवल इतना-सा अन्तर अवश्य है कि शरीर दृश्य है, मन अदृश्य है। शरीर स्थूल है, मन सूक्ष्म। शरीर के अन्तर्गत जो तैजस् और कार्मण शरीर हैं, वे भी तो सूक्ष्म-सूक्ष्मतर हैं। स्थूल शरीर और मन में सिर्फ स्थूल और सूक्ष्म की जल और भाप के समान भिन्नता है। गुण में दोनों समान हैं। मन में विचार उत्पन्न होते हैं, शरीर उन्हें क्रियान्वित करता है। मन प्रसन्न और अप्रसन्न–सुखी और दुःखी होता है तो उसका प्रभाव शरीर पर भी पड़ता है और वचन तो मन की ही छाया है। वचन काया में छिपी हुई मन की सघन परत है अथवा विचार, संस्कार और धारणाओं की स्थूल परत वचन है। उसकी सूक्ष्म परत मन है–मन में उठे हुए विचार हैं। जो मन में होता है, वही देर-सवेर वचन में होता है। इसलिए यों कहा जा सकता है–प्रच्छन्न या मौन रहा हुआ विचार मन है और अभिव्यक्ति पाया हुआ प्रकट विचार वचन है।

इसलिए 'शरीर' कहते ही शरीर के अन्तर्गत इन सबको समझ लेना चाहिए। एक दृष्टि से देखा जाए तो मन, बुद्धि, चित्त, हृदय, वाणी, अंगोपांग या इन्द्रियाँ जो भी अच्छा या बुरा, पापकर्म या पुण्यकर्म करते हैं, उनका शुभ-अशुभ फल तो शरीर को ही भोगना पड़ता है। मन आदि सूक्ष्म और अदृश्य भाग तो केवल विचार करके या राग-द्वेषादि या कषायादि विकारों का अनुभव करके ही रह जाता है, उसका शुभाशुभ कर्मफल के रूप में परिणाम तो शरीर को ही वेदन करना (भोगना) पड़ता है।

उदाहरणार्थ–मन में जब बड़प्पन की अहंता या महत्त्वाकांक्षा उठती है, तब उसके साथ ईर्ष्या, द्वेष, रोष, छल, मोह, मद, अभिमान, दर्प, वैर-विरोध आदि की हुँकारें (लहरें) भी उठती रहती हैं, जिन्हें व्यक्ति वचन के द्वारा यदा-कदा प्रकट भी करता है और काया के द्वारा दूसरों का तिरस्कार, उन पर प्रहार, संहार आदि करने की चेष्टा करता है। वैभव तथा अमीरी की महत्त्वाकांक्षा को टिकाये रखने के लिए मन-वचन-काया के द्वारा व्यक्ति भ्रष्टाचार, रिश्वतखोरी, तिकड़मबाजी, ठगी, बेईमानी, कूटलेख, चोरी, डकैती, गबन आदि के प्लान बनाकर उन्हें कार्यरूप में परिणत करता, अपने लोगों को वाणी द्वारा प्लान समझाता है, झूठे परामर्श या उपदेश-निर्देश देता है, पापकर्मों को करने के लिए प्रोत्साहन देता है। इन्द्रियों की विषय-सुखलिप्सा का विचार मन में उदित होता है, शरीर उसे मूर्तरूप देता है। जिसका दुष्परिणाम आखिरकार शरीर को ही भोगना पड़ता है।

भेदविज्ञान से अनभिज्ञ, शरीर के लिये ही सारी कमाई खर्च डालता है

इसलिए आत्मा से शरीर की पृथक्ता का अभ्यास करने वाले को शरीर से सम्बद्ध इन सब परिकरों से भिन्नता का ध्यान रखना चाहिए। भेदविज्ञान में जिसकी

रुचि और अभ्यास नहीं है, वह बहिरात्मा बनकर शरीर को ही 'मैं' समझकर जिंदगी के अथ से लेकर इति तक व्यवहार करता है। उसके जीवन की गाड़ी अपने पूर्वोक्त सभी अवयवों को साथ लेकर शरीर ही धकेलता है। ऐसे शरीरमोही व्यक्ति की सारी पुण्योपार्जित कमाई अथवा स्थूल धनादि पदार्थों के रूप में अर्जित कमाई, शरीर ही अपने लिये खर्च करा डालता है। ऐसे शरीरमोही या शरीरभाव से ग्रस्त लोग देहाध्यास या शरीरासक्ति से ऊपर नहीं उठ पाते।

शरीरासक्त मानव का सारा जीवन शरीर-चिन्तन में

फिर वह शरीरासक्त मानव शरीर की ही सेवा-शुश्रूषा में, उसे ही पोसते रहने में अपना सारा जीवन व्यतीत कर देता है। वह आत्मा के विषय में शास्त्रों और ग्रन्थों में लिखी लम्बी-चौड़ी बातें करता है, आत्मा की नित्यता, अनश्वरता एवं शरीर की अनित्यता, विनश्वरता की बातें खूब बघारता है; किन्तु रहेगा वहीं का वहीं शरीरासक्ति एवं देहाध्यास के घेरे में ही। शरीर को जरा-सा कुछ हुआ तो वह अत्यन्त चिन्तित, व्यथित होकर उसका हर सम्भव निवारण करने के लिए तत्पर रहेगा, शरीर पर किसी ने जरा-सा प्रहार कर दिया या उपहार दे दिया या इस शरीर की किसी ने निंदा या प्रशंसा कर दी, सम्मान या अपमान कर दिया तो शरीर को 'मैं' समझने में अभ्यस्त व्यक्ति या वाणी विलास करने वाले व्यक्ति के मन पर शीघ्र ही उसकी प्रतिक्रिया खिन्नता या प्रसन्नता के रूप में, हर्ष-शोक के रूप में या प्रिय-अप्रिय के रूप में अथवा आसक्ति या घृणा के रूप में होती है।

शरीरवादी की मनोवृत्ति

फिर अपने माने हुए परिवार, जाति, गोत्र, वर्ण, धर्म-सम्प्रदाय, पंथ, मत, प्रान्त, राष्ट्र या भाषा आदि परिकर भी शरीर-यात्रा की परिधि में आ जाते हैं। इसलिए शरीर को आत्मा से अभिन्न मानने वाले या शरीर को 'मैं' समझने वाले शरीरासक्त, देहाध्यासी मानव अथवा अध्यात्म का केवल वाग्विलास करने वाले लोग अपने माने हुए परिवार, सम्प्रदाय, मत, पंथ, भाषा, प्रान्त, राष्ट्र या राजनैतिक पक्ष, दल आदि के लिए लड़ने-मरने और एक-दूसरे पर शस्त्र-प्रहार करने तक या बदनाम करने तक तैयार हो जाते हैं। इतना ही नहीं, एक ही धर्म-सम्प्रदाय में विभिन्न फिरकों में एक-दूसरे के प्रति इसी शरीर से सम्बन्धित परिकरों के प्रति 'मैं' पन तथा 'मेरा' पन के कारण मनोमालिन्य, आक्षेप-प्रत्याक्षेप, मुकदमेबाजी, लड़ाई-झगड़ा आदि करते रहते हैं, दिगम्बर-श्वेताम्बर, सिया-सुन्नी, हीनयान-महायान, शैव-वैष्णव आदि के झगड़े इसी के परिणाम हैं। इसी 'अहं' के पोषण के लिए हैं, न्यायसंगत बात के लिए नहीं, किन्तु अन्यायसंगत—अन्याय अनीतियुक्त बात या तुच्छ अहं पोषण की बात के लिए अथवा अपनी झूठी

शान-शौकत, प्रतिष्ठा आदि के लिए अथवा अपनी मूँछ ऊँची रखने के लिए भी शरीरवादी देह और आत्मा को अभिन्न मानने, समझने और पूर्वाग्रह वाले लोग लड़ने-मरने के लिए तैयार हो जाते हैं। अपने माने हुए सम्प्रदाय, पंथ आदि पर आक्षेप करने वाले या कुछ कहने वाले के प्राण लेने पर उतारू हो जाते हैं, दूसरे की कही हुई सच्ची और हितकारी बात को भी वे स्वीकारने को तैयार नहीं होते। हिन्दू-सिक्ख, हिन्दू-मुसलिम या विभिन्न राजनैतिक पक्षों का इतिहास इस बात का साक्षी है कि वे लोग आत्मा की ओर से आँखें मूँदकर केवल शरीरासक्ति की या शरीरवादी की दृष्टि से ही विचार एवं कार्य करते हैं। ये सब खुराफात शरीर से सम्बन्धित परिकरों के प्रति अहंकार-ममकार के कारण होते हैं। पंथ, सम्प्रदाय, जाति, परिवार, प्रान्त, राष्ट्र, विभिन्न पक्ष आदि सब आत्मा से सम्बन्धित नहीं हैं, वे शरीर से ही सम्बन्धित हैं।

शरीर को आत्मा से अभिन्न मानने वाले लोगों का चिन्तन और कर्तृत्व

जो व्यक्ति शरीर को आत्मा से अभिन्न मानते हैं, उनका एक लक्षण 'स्वयम्भू स्तोत्र' की टीका में बताया गया है–"इन्द्रिय और मन के विषय-सुखों में अथवा बालक, कुमार, युवक, वृद्ध आदि अवस्थाओं में 'यही मैं हूँ' (या यह मेरे हैं) इस प्रकार की आत्म-द्रव्य के साथ अभेद-प्रतीति होना अभेदज्ञान है।"[1] 'ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य' आदि दर्शनों में भी इसी प्रकार का निरूपण है। शरीर मोटा या दुबला होने पर कहना कि मैं मोटा हूँ, मैं दुबला हूँ। शरीर की बालक, युवक, वृद्ध आदि अवस्थाओं को मैं बालक हूँ, युवक हूँ, वृद्ध हूँ, इस प्रकार जानना-मानना-कहना भी शरीरभाव को मजबूत करना है। शरीर के नाम, रूप आदि को लेकर अहंत्व-ममत्व करना, अहंकारभाव या हीनभाव प्रदर्शित करना भी देहभाव को सुदृढ़ करना है। शरीर को भूख, प्यास, रोग, पीड़ा आदि होने पर व्यवहार भाषा के अनुसार भले ही कहना पड़ता है, परन्तु अन्तर से ऐसा मानना-जानना कि मुझे भूख, प्यास, रोग, पीड़ा आदि हैं, यह भी शरीर और आत्मा की अभिन्नता का द्योतक भाव है। बार-बार अहंत्व-ममत्वयुक्त इन्हीं शब्दों को दुहराकर व्यक्ति शरीरभाव या देहाध्यास को सुदृढ़ करता जाता है। इसी भ्रान्ति, माया, अविद्या या अविवेक के कारण व्यक्ति आत्मा के वास्तविक स्वरूप, कर्तव्य और लक्ष्य को भूलकर शरीर की मोहमाया, वासना और तृष्णा के आकर्षणों में फँस जाता है। फिर वह शरीरादि के निमित्त से काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि विकारों के प्रवाहों में बह जाता है। शरीर और आत्मा को अभिन्न समझने वाले व्यक्ति का चिन्तन और कर्तृत्व प्रायः तन,

---

१. सुखादौ बाल-कुमारादौ च स एवाहमिति आत्मद्रव्यस्याभेदप्रतीतिरभेदज्ञानम्।

—बृहत्स्वयम्भू स्तोत्र टीका

मन, वचन आदि की आकांक्षाओं की पूर्ति करने में लगा रहता है। इनके साथ एकाकार होकर शरीरादि को मैं और मेरा कहने-समझने वाला अन्ततोगत्वा उनके साथ तादात्म्य स्थापित कर लेता है, गहरा सम्बन्ध भी जोड़ लेता है। इसी तादात्म्य सम्बन्ध के कारण वह पुनः-पुनः कर्मबन्ध करके जन्म-मरण की शृंखला को बढ़ाता जाता है, बार-बार नये-नये शरीर धारण करता रहता है। कितना भयंकर दुष्परिणाम है भेदविज्ञान से विरत एवं अनभ्यस्त होने का?

अयोग-संवर और कषायमन्दता के लिए भेदविज्ञान

अतः भेदविज्ञान के अभाव में आत्म-शक्ति एवं आत्म-विश्वास का भान न होने से व्यक्ति परीषहों, उपसर्गों, विपदाओं, कष्टों और संकटों के झंझावात आने पर एकदम डगमगा जाएगा, समभाव से शान्ति और धैर्यपूर्वक स्थिर नहीं रह पाएगा। वह शरीर का बचपन से लेकर बुढ़ापे तक का क्रमशः ह्रास, परिवर्तन एवं क्षीणत्व देखकर तथा विपदाओं के घोर बादल देखकर लड़खड़ा जाएगा। फलतः आर्त्त-रौद्रध्यान के वशीभूत होकर वह नाना पापकर्मों का बन्ध कर लेगा, जिनसे छुटकारा पाना उसके लिए बहुत ही कठिन होगा। अतः आत्म-शक्ति प्राप्त करने, कर्मों के आने वाले प्रवाह को रोकने एवं समभाव एवं शान्तिपूर्वक संकट को सहने के लिए भेदविज्ञान का अभ्यास परम आवश्यक है।

भेदविज्ञानी बड़े से बड़े संकट पर समभावपूर्वक विजय पा सकता है

भेदविज्ञानी आत्मा को सर्वस्व मानकर उसकी अजर-अमरता एवं अविनाशिता पर दृढ़-विश्वासपूर्वक बड़े से बड़े संकट, दुःख, विपत्ति और कष्ट को समभाव से सहकर कर्मनिर्जरा कर सकता है। कैसी भी विषम परिस्थिति हो, विपरीत संयोग हो, भेदविज्ञानी समभावपूर्वक सामना कर सकता है, वह अनन्त तक समभाव पर दृढ़ रह सकता है। उसका भेदविज्ञानमूलक सूत्र यही होगा–

"देह भले मरे, मैं नहीं मरता। अजरामर पद मेरा।"

"देह विनाशी, मैं अविनाशी, देह जाए तो क्यों उदासी?"

भेदविज्ञानी का चिन्तन और आचरण

इस प्रकार के चिन्तन-सूत्रों से आत्मा को भावित करता है तथा शरीर और शरीर से सम्बन्धित सजीव-निर्जीव पदार्थों तथा मन, वाणी, इन्द्रियों आदि के साथ जो पूर्व संस्कारवश तादात्म्य-सम्बन्ध या मैं और मेरे का सम्बन्ध बाँध या मान रखा है, उसे शिथिल करना तथा जहाँ-जहाँ अवसर मिले, यथाशक्ति सम्भव हो, वहाँ-वहाँ इस ममत्व-अहंत्व सम्बन्ध में जाने से मन को सहसा रोकना और यथाशक्य मुक्त करना, कम से कम सावद्य एवं अशुभ योगों से विरत करना ही भेदविज्ञान का

आचरण है। यों कभी मत सोचो कि मेरी आत्मा कमजोर है, अशक्त है, दुर्बल है, दूषित है, कर्ममल से मलिन है, वह शरीर और मन, बुद्धि, इन्द्रिय आदि शरीर के सैन्यदल के चंगुल से कैसे मुक्त या शिथिलबन्ध हो सकेगी? 'सामायिक पाठ' में आत्मा को अनन्त शक्तिमान् और अपने आप में निर्दोष, निर्मल बताया है, उसके समक्ष शरीरादि जड़ पदार्थों की कोई शक्ति नहीं है। शरीरादि में जो कुछ भी शक्ति है, वह आत्मा की ही है। शरीर, मन आदि जड़ पदार्थों में अपनी कोई शक्ति नहीं है। शरीरादि में अपनी कोई शक्ति होती तो मुर्दा शरीर में, आत्मा के निकल जाने के बाद भी होती। अतः आत्मा अपनी अनन्त शक्ति-सम्पन्नता और दोषरहितता (शुद्धता) को भूलकर जो देहाध्यास में फँसी है, उसे शरीरादि से भिन्न = पृथक् करना है, भेदविज्ञान के पूर्वोक्त चिन्तन से उसे शरीरादि के मोह-ममत्व से निकालना है। ऐसा करने के लिए देहभाव से ऊपर उठना है, आत्म-भाव में स्थित होना है।

मन से पर-भावों से आत्म-द्रव्य का सम्बन्ध तोड़ना ही भेदविज्ञान है

स्पष्ट शब्दों में कहें तो भेदविज्ञान में समस्त पर-भावों के प्रतीक इस शरीर से अपना तादात्म्य-सम्बन्ध या मोह-ममत्व-सम्बन्ध छोड़ना है। एक आचार्य ने शरीरादि समस्त पर-द्रव्य और आत्मा को हृदय की गहराई से पृथक्-पृथक् समझकर भेदविज्ञान के विषय में 'समयसार' की आत्म-ख्याति टीका में कहा गया है– (शरीरादि) पर-द्रव्य और आत्म-तत्त्व का कोई भी सम्बन्ध नहीं है, फिर उनमें कर्त्ता-कर्म-सम्बन्ध कैसे हो सकता है?[1] अतः शरीरादि पर-भावों से आत्मा के तादात्म्य या एकत्व-सम्बन्ध की भ्रान्ति, माया, अविद्या या अध्यास को अथवा शरीरभाव को उपर्युक्त चिन्तन की रोशनी में तोड़ना ही भेदविज्ञान का आचार है।

ऐसे भेदविज्ञान का दीपक अन्तरात्मा में जल जाने पर उसके प्रकाश में आत्मा स्वयं शरीरादि से अपने पार्थक्य, तटस्थ या सम्बन्धरहित भाव में स्थिर हो जाएगी।

भेदविज्ञान-साधक पर-भावों से बचकर संवर लाभ करता है

जब शरीरभाव से या देहाध्यास से ऊपर उठने की वृत्ति-प्रवृत्ति सहज हो जाएगी, तब किसी सुन्दर स्त्री को देखकर कामुकता का, मनोहर दृश्य को देखकर मोह का, किसी मनोज्ञ कर्णप्रिय संगीत को सुनकर आसक्ति का, किसी मनोज्ञ स्वादिष्ट खाद्य-पेय वस्तु को देखकर खाने-पीने के लोभ का, किसी भीनी-भीनी सुगन्ध को पाकर सूँघ लेने की लिप्सा का अथवा मन में लालसा, तृष्णा, आकांक्षा, भय, अहंकार, मद, माया, लोभ आदि का या फिर वचन से इस प्रकार के विकारों

---

१. नास्ति सर्वोऽपि सम्बन्धः परद्रव्यात्मद्रव्ययोः।
कर्मकर्तृत्व-सम्बन्धाभावे, तत्कर्तृता कुतः॥ —समयसार आत्मख्याति टीका

से युक्त उद्‌गार निकालने का विचार आए तो भेदविज्ञानी साधक तत्काल सँभल जाए और तत्त्वज्ञानपूर्वक सोचे कि क्या ये आत्मा के निजी गुण हैं, स्व-भाव हैं, आत्मस्वरूपमय चिन्तन हैं? यदि नहीं हैं तो ये मेरी आत्मा को स्व-भाव से, सद्‌गुणों से या स्वरूप से दूर ठेलने वाले पर-भाव हैं, विभाव हैं, पर-पदार्थ हैं। मुझे इनसे बचकर रहना है, अन्तर से इनसे दूर ही रहना है। ये मेरे नहीं हैं, मैं इनका नहीं हूँ। इस प्रकार का भाव-विश्लेषण करके भेदविज्ञान को क्रियान्वित कर ले। इससे अयोग-संवर की दिशा में आगे कदम बढ़ाने का अवसर मिलेगा। उत्कृष्ट भाव-रसायन आने से कर्मनिर्जरा भी हो सकती है।

भेदविज्ञान की एक प्रक्रिया

भेदविज्ञान के लिए प्राचीन प्रक्रिया यह है कि साधक देहभाव या देहाध्यास मिटाने के लिए देहभाव आने के अवसर पर चिन्तन करता है–"मैं देह नहीं हूँ, मैं मन नहीं हूँ, मैं आँख, नाक, कान, जीभ, हाथ, पैर आदि भी नहीं हूँ, न ही बुद्धि, चित्त, अहंकार, कामभोग या काम-क्रोधादि हूँ। मैं तो सच्चिदानन्दस्वरूप परमात्मा हूँ।" जैसा कि शंकराचार्य ने कहा–"चिदानन्दरूपः शिवोऽहम् शिवोऽहम्।" जैनदृष्टि से भेदविज्ञान-साधक ऐसा विचार करे कि तन, मन, इन्द्रियाँ, अंगोपांग, चित्त, बुद्धि, अहंकार, ममकार, काम, क्रोध आदि पर-भाव हैं, ये आत्मा के स्वभाव नहीं हैं। ये आत्मा से भिन्न हैं।[1] किन्तु आत्मा इन्हें अभिन्न मानकर अनादिकाल से विभिन्न योनियों और गतियों में भटकती रही है। 'मैं शरीर नहीं हूँ', मेरा स्वभाव शरीर से भिन्न है। स्वभावभेद के कारण ही शरीरादि पर-भाव व्यक्ति को बाहर की ओर खींचते हैं। अगर तादात्म्य-सम्बन्ध शरीर के साथ न माना या जोड़ा जाए तो आत्म-भावों की प्रबलता या शरीरादि से भिन्नता के भावों की सघनता होगी और तब वह व्यक्ति को अन्दर से जोड़ेगी।

साबरमती आश्रम में प्रार्थना-स्थल पर महात्मा गांधी जी प्रार्थना करने बैठे थे। उस समय न मालूम कहाँ से एक सर्प आकर महात्मी गांधी जी की पीठ पर चढ़कर ओढ़ी हुई चादर के नीचे घुसने लगा। प्रार्थना-सभा में बैठे हुए रावजीभाई पटेल आदि ने गांधी जी को हाथ से इशारा किया कि "बापू ! यह साँप आपको काट खाएगा। हम इसे पकड़ने का साधन लाते हैं।" गांधी जी निर्भय और निश्चल होकर बैठे रहे। सोचने लगे–"यह काटेगा तो भले ही काटे, शरीर को ही काटेगा न? आत्मा को तो नहीं काट सकेगा।" संयोगवश वह साँप थोड़ी देर में अपने आप

---

१. अन्नो जीवो, अन्नं इमं सरीरं।
अन्ने खलु कामभोगा, अन्नो अहमंसि॥ —सूत्रकृतांग २/१/९, १३

सरसराता हुआ चला गया। प्रार्थना समाप्त होने के बाद रावजीभाई ने गांधी जी से पूछा–"बापू ! साँप जिस समय आपकी पीठ पर चढ़कर चादर के नीचे घुस रहा था, उस समय आपके मन में घबराहट या भीति नहीं हुई?" गांधी जी ने कहा-"मुझे उस साँप को देखकर रंचमात्र भी घबराहट नहीं हुई। न ही मौत का डर हुआ। क्योंकि गीता में आत्मा को अजर-अमर, अविनाशी कहा है। मैं तो उस समय देहाध्यास छोड़कर भगवद्भाव में डूब गया था।"

जब काशी-नरेश देहभाव से ऊपर उठ गए थे

काशी-नरेश के शरीर में कोई फोड़ा हो गया था। डॉक्टरों ने ऑपरेशन कराने की सलाह दी। वे इसके लिए तैयार हो गए, परन्तु शर्त यह रखी कि मुझे क्लोरोफॉर्म न सुँघाया जाय, मैं उस समय भगवद्गीता में तल्लीन हो जाऊँगा, ऐसा ही हुआ। ऑपरेशन के समय वे गीता में इतने तन्मय हो गए कि उन्हें पता भी न लगा कि शरीर में क्या हो रहा है? सचमुच, वे देहभाव से ऊपर उठ चुके थे।

भेदविज्ञान का आसान तरीका : अन्य विचारों में मग्न हो जाना

इससे भेदविज्ञान का एक तरीका स्पष्ट सूचित होता है कि जब शरीरभाव आए या देहाध्यास मन में जगने लगे, तब दूसरे किसी सुविचार में तल्लीन हो जाए, तो शरीर पर होने वाली पीड़ा, भूख-प्यास आदि के विचारों से तुरंत हटकर अन्य किसी आवश्यक कृत्य के विचार में निमग्न हो जाए तो शरीर-सम्बन्धित विचार शीघ्र ही रफूचक्कर हो जाएँगे।

आत्म-भावों में निमग्न होने से शरीर की आवश्यकताओं से मन हट जाता है

प्रश्न होता है–धन्ना अनगार, भगवान महावीर स्वामी, शालिभद्र मुनि आदि महान् तपोमूर्ति श्रमणों ने लम्बी-लम्बी तपस्याएँ कीं, क्या उन्हें भूख नहीं सताती थी? आचार्य समाधान करते हैं कि वे शरीरभाव से ऊपर उठकर आत्म-भावों-आत्म-गुणों के चिन्तन में इतने तल्लीन हो जाते थे कि उन्हें शरीर की भूख-प्यास या अन्य आवश्यकताओं का कुछ भान या अनुभव भी नहीं होता था। बड़े-बड़े भौतिकविज्ञान के आविष्कारकों को भी भूख-प्यास, सर्दी-गर्मी आदि की भी कोई अनुभूति नहीं होती थी। वे अपने प्रयोग में इतने तल्लीन हो जाते थे कि उन्हें भी शरीर की आवश्यकताओं को पूरी करने की इच्छा या तलब ही नहीं उठती थी।

रोग, आतंक या पीड़ा की स्थिति में भेदविज्ञानी का चिन्तन

शरीर में पीड़ा होने पर, रोगादि आतंक होने पर या किसी दूसरे के द्वारा दोषारोपण करने, बदनाम करने अथवा कालाकलूटा, टेढ़ा-मेढ़ा शरीर देखकर

उपहास करने पर या दुर्घटनाग्रस्त होने पर भेदविज्ञानी मानव सर्वप्रथम आत्म-भावों का या आत्म-गुणों का ही ध्यान या चिन्तन करेगा। गाली, अपशब्द, अपमान, बदनामी या उपहास करने से मेरे आत्म-गुणों का, आत्म-भावों का या आत्मा के स्वभाव का नाश नहीं हो जाएगा। उन्हें समभाव से सहने पर आत्मा कर्ममल से रहित होकर चमकेगी। रोगादि आतंक या पीड़ा भी शरीर को हो रही है, आत्मा तो निरोग है, पीड़ारहित है, वह तो अछेद्य, अभेद्य, अदाह्य, अशोष्य है, वह अविनाशी है। ये पीड़ा या रोगादि आतंक शरीरादि के साथ अभिन्न सम्बन्ध मानकर मेरी आत्मा ने ही अशुभ कर्मबंध कर पैदा किये हैं। यह पीड़ा दूसरा कोई नहीं दे रहा है, न भगवान दे रहा है, न कोई शत्रु ही; अपितु मेरे ही पूर्व-जन्म के या इस जन्म के किसी कर्म का फल है।

भेदविज्ञान से सर्वकर्ममुक्ति-सिद्धि कैसे प्राप्त होती है ?

किसी के द्वारा अपने पर प्रहार, संहार, अपहार, ताड़न-तर्जन आदि किये जाने पर भी भेदविज्ञानी यही सोचता है-"ये सब तो मेरे शरीर से सम्बद्ध भले ही हों, मेरी आत्मा तो ऐसे प्रहार, संहार आदि से कभी नष्ट होने वाली नहीं है। मेरी आत्मा का ये प्रहारादि क्या बिगाड़ सकते हैं? भले ही ये प्रहार मेरे शरीर को नष्ट कर दें। शरीर तो एक दिन नष्ट होने वाला ही है। स्कन्दक मुनि (श्रावस्ती के खंधककुमार मुनि) के ५०० शिष्यों को जब पालक मंत्री द्वेषवश क्रमशः कोल्हू में पिरवाने लगा, तब स्कन्दक मुनि प्रत्येक शिष्य को आत्म-समाधि में लीन रहने और भेदविज्ञान का चिन्तन करने का प्रतिबोध देते थे। प्रत्येक शिष्य कोल्हू में पीले जाते समय भेदविज्ञान का चिन्तन करते-करते देहादि के जन्म-मरण से मुक्त होकर सर्वकर्ममुक्त सिद्ध-बुद्ध बन गए थे। इसी प्रकार उसे स्कन्दक मुनि के ५०० शिष्यों का, गजसुकुमाल मुनि का एवं अर्जुन मुनि, चिलातीपुत्र आदि भेदविज्ञानी साधकों के चरित्र का अनुप्रेक्षण करना चाहिए। इसीलिए एक जैनाचार्य ने कहा है-

"भेदविज्ञानतः सिद्धाः, ये सिद्धाः किल केचन।"

-जो कोई भी सिद्ध-बुद्ध-मुक्त परमात्मा (परम विशुद्ध आत्मा) हुए हैं, वे सभी भेदविज्ञान से ही हुए हैं। अर्थात् भेदविज्ञान को छोड़कर कोई भी सर्वकर्ममुक्त सिद्ध नहीं हो सका।

भेदविज्ञान 'अ स्व' को 'स्व' से पृथक् करने या होने से दुःखी नहीं होता

भेदविज्ञान 'अ स्व'-जो अपना स्वरूप = स्व-भाव नहीं है, उसे पृथक् करता है। क्योंकि वह (अ स्व) अनित्य है, नाशवान् है। अनित्य कभी टिकता नहीं, फिर

दुःख क्यों होता है, व्यक्ति को? दुःख इसलिए होता है कि व्यक्ति ने 'अ स्व' को पहले तो भ्रान्तिवश 'स्व' माना, फिर 'अस्व' को 'स्व' मानकर जो भी आत्म-बाह्य सजीव-निर्जीव पदार्थ संगृहीत किया, उससे ममत्व-अहत्वपूर्वक प्रतिबद्ध हुआ, तदनन्तर वह अनित्य होने के कारण छूट गया।

भेदविज्ञानी का कर्म और कर्मपर्याय से पृथक्ता का स्पष्ट अनुभव

भेदविज्ञान के साधक के समक्ष यह स्पष्ट चिन्तन होता है कि पदार्थ के परिणमन में आत्मा (चेतना) का कर्तृत्व नहीं होता, किन्तु चेतना के परिणमन में पदार्थ का कर्तृत्व निमित्तमात्र होता है, वहाँ केवल निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध होता है, अभेद-सम्बन्ध नहीं। इसलिए भेदविज्ञान का साधक कर्म से तथा कर्मफल से (कर्म से प्राप्त होने वाली विविध पर्यायों से) स्वयं को पृथक्-स्वतंत्र अनुभव करता है, संसार के सम्बन्धों से भी स्वयं (आत्मा) को स्वतंत्र अनुभव करता है, शरीरगत सुख-दुःखों से भी स्वयं को भिन्न अनुभव करता है, मानसिक, बौद्धिक, चित्तगत तथा इन्द्रियगत सुख-दुःखों से भी स्वयं (आत्मा) को स्वतंत्र अनुभव करता है। वह "एगोऽहं न मे कोइ।"—मैं अकेला (आत्मा) हूँ, मेरा कोई नहीं है, न मैं किसी का हूँ। इस प्रकार एकमात्र एकाकी आत्म-भाव में ही रमण करता है, वही भेदविज्ञान की अन्तिम परिणति है। भेदविज्ञान के सहारे से जैसे-जैसे साधक में एकाकीपन का भाव प्रकट होता है, वैसे-वैसे उसकी चेतना अनावृत और परम शुद्ध होती जाती है।

भेदविज्ञान जीवन में परिपक्व हो जाने पर

जब तक भेदविज्ञान जीवन में परिपक्व नहीं होता, तब तक व्यक्ति शरीर को ही सब कुछ समझता है, आत्मा के गुण, स्वभाव, कार्य आदि अदृश्य होने के कारण वह उसे मानने से सर्वथा इन्कार कर देता है। फलतः सत्ता आदि के अहंकार से गर्वित व्यक्ति नास्तिक होकर हत्या, चोरी, आतंक, डकैती, भ्रष्टाचार आदि भयंकर से भयंकर कुकर्मों को करने से नहीं हिचकता। पर जब उसे किसी सत्संग से, सद्ग्रन्थ से, किसी घटना से अन्तर्बोध मिल जाता है, आत्म-ज्योति का परिचय गाढ़ हो जाता है, तब वही व्यक्ति भेदविज्ञान की लौ में आत्मा की नित्यता हृदयंगम करके शरीर को नष्ट होते देख हँसते-हँसते शरीर का त्याग कर देता है। संलेखना-संथारापूर्वक समाधिमरण के साधक इसी भेदविज्ञान के आश्रय से अपने पूर्वकृत कर्मों को नष्ट कर देते हैं, संवर और निर्जरा का महालाभ प्राप्त कर लेते हैं।

प्रदेशी राजा ने भेदविज्ञान के प्रकाश में समाधिमरण प्राप्त किया

केशीकुमार श्रमण का सत्संग पाकर श्वेताम्बिका-नरेश प्रदेशी राजा का जीवन-परिवर्तन हो चुका और भेदविज्ञान के प्रकाश में शरीर और आत्मा की

भिन्नता को भलीभाँति समझकर अपनी धर्माराधना में लग गया था। परन्तु एक बार वह पौषधशाला में पौषधव्रत में लीन था, तब उसके भेदविज्ञान की कसौटी हुई। प्रदेशी राजा की रानी सूरिकान्ता ने उन्हें धर्म-साधना से विचलित करने का भरसक प्रयत्न किया। जब वह अपने प्रयत्न में सफल न हुई तो भोजन में विष मिलाकर मारने का षड्यंत्र रचा। राजा के पौषधव्रत के पारणे के दिन रानी स्वयं विष-मिश्रित भोजन लेकर उन्हें पारणा कराने आई। भोजन का कौर लेते ही प्रदेशी राजा को ज्ञात हो गया कि इस भोजन में विष मिलाया गया है। अतः प्रदेशी राजा ने न तो रानी पर किसी प्रकार द्वेष-रोषभाव किया और न ही अपने शरीर पर किसी प्रकार का ममत्व या रागभाव किया। उनके अन्तर में चिन्तन स्फुरित हुआ। –"रानी मुझे नहीं, मेरे कर्मों को विष देकर, उदय में आए हुए मेरे पूर्वकृत पापकर्मों को काटने–नष्ट करने में सहायक हो रही है और फिर मैंने केशीश्रमण गुरुदेव से शरीर की अनित्यता और आत्मा की नित्यता का भेदविज्ञान भलीभाँति समझ लिया है। अतः मुझे शरीर के नष्ट होने पर अपना (आत्मा का) नाश नहीं समझना है, शरीर के नाश से दुःखी भी नहीं होना चाहिए।" इस प्रकार भेदविज्ञान के उज्ज्वल प्रकाश में प्रदेशी नृप ने उस मरणान्त कष्ट को समभावपूर्वक सहन किया और एकमात्र आत्म-समाधि में लीन होकर मृत्यु का वरण किया। इस समाधिमरण के फलस्वरूप वे मरकर सूर्याभ नामक देव बने।

भेदविज्ञान के अभ्यास से संवर, निर्जरा और मोक्ष की प्राप्ति

इस प्रकार भेदविज्ञान की प्रक्रिया एवं अभ्यास के दौरान आने वाले साधक-बाधक तत्त्वों को भलीभाँति समझकर जीवन के दैनन्दिन कार्यकलापों में व्यक्ति उसका अभ्यास करे तो वह आते हुए कर्मों (आस्रवों) का निरोध (संवर) भी कर सकता है, अशुभ योगों–सावद्य योग प्रवृत्तियों से निवृत्त होकर शुभ योग-संवर भी अर्जित कर सकता है, अयोग-संवर की दिशा में भी आगे बढ़ सकता है तथा आने वाले कष्टों, परीषहों और उपसर्गों को भेदविज्ञानपूर्वक समभाव से सहन करके कर्मों से आंशिक मुक्ति और कदाचित् सर्वकर्ममुक्ति भी प्राप्त कर सकता है।

● ●

१६

शीघ्र मुक्ति का सर्वोत्तम उपाय : अविपाक निर्जरा

संसार बंधनों से बद्ध आत्मा क्या कभी मुक्त हो सकता है ?

कर्मशास्त्र इस तथ्य को बार-बार दुहराता है कि जब तक व्यक्ति कर्म से बद्ध है, तब तक वह संसार के बन्धनों से बद्ध है। क्या कभी आपने यह सोचने का प्रयत्न किया है कि जीवन-यात्रा में कदम-कदम पर आपको दुःख की अनुभूति क्यों होती है? यह दुःख कहाँ से और क्यों आता है? क्रोध आने पर आप शान्त क्यों नहीं रह पाते? अभिमान आने पर विनम्र क्यों नहीं रह पाते? लोभ आने पर संतोष को धारण क्यों नहीं कर पाते? मन में कुटिलता और वक्रता आने पर सरलता को क्यों नहीं अपना पाते? यह भी सत्य है कि इष्ट संयोगों और पदार्थों पर हमने राग किया और अनिष्ट और प्रतिकूल संयोगों और पदार्थों पर हमने द्वेष किया। राग, द्वेष के तथा काम, क्रोध, लोभ, मोह, कपट और अहंकार के तूफानी झंझावातों में हम अध्यात्मभावों की रक्षा क्यों नहीं कर पाते?

इसीलिए अध्यात्मवादियों के सामने यह ज्वलन्त प्रश्न है कि इस अनन्त संसार में क्या आत्मा काम, क्रोध, लोभ, मद, मत्सर, मोह, राग, द्वेष आदि विकारों से कभी मुक्त नहीं हो सकेगा? क्या यह आत्मा संसार के सुख-दुःख की अँधेरी गलियों में ही भटकता रहेगा? क्या वह जन्म-मरण के इस अनन्त संसार-सागर के प्रवाह में डूबता-उतराता ही रहेगा; कभी सदा के लिए पार नहीं हो सकेगा? क्या संसार के इस भवबन्धन में ही आत्मा सदा चक्कर खाता रहेगा, इस चक्र को तोड़कर कभी सदा के लिए मुक्त नहीं हो सकेगा?

कुछ दार्शनिकों का मत : जन्म-मरण चक्र से आत्मा कभी मुक्त नहीं हो सकेगा

कुछ दार्शनिक ऐसे रहे हैं, जिनका यह विश्वास था कि यह आत्मा अनन्तकाल से संसार में ही रहता आया है और भविष्य में भी संसार में ही रहेगा। जन्म-मरण का यह चक्र कभी नहीं टूटेगा। आत्मा अपने अशुभ कर्मों के कारण कभी नरक में जाता है, तो शुभ कर्मों के कारण कभी स्वर्ग में जाता है। अपने पुण्य और पाप की न्यूनाधिकता के कारण कभी स्वर्गलोक में, कभी मनुष्यलोक में तो कभी

तिर्यञ्चलोक में और कभी नरकलोक में जाता-आता रहता है। पुण्य-पाप की हानि-वृद्धि के कारण कभी देवयोनि में तो कभी मनुष्ययोनि में अथवा कभी पशु-पक्षी और कीट-पतंगों की योनि में तथा कभी नरकयोनि में जन्म-मरण करता रहता है। इस प्रकार कुछ दार्शनिकों ने आत्मा को सदैव संसार में परिभ्रमण करते रहने के विविध स्थान अवश्य बताये, किन्तु उन्होंने इनसे ऊपर उठकर, संसार से मुक्त होकर सर्वकर्ममुक्तिरूप मोक्ष, अपवर्ग एवं निर्वाण की प्ररूपणा या परिभावना नहीं की। वे पुण्य-पाप से परे, सर्वथा शुद्ध आत्म-स्वरूप में अवस्थिति की प्ररूपणा नहीं कर सके। उन्होंने आत्मा के ऊपर विविध कर्मों के आवरणों का तो विचार किया, किन्तु इन आवरणों से मुक्त आत्मा के शुद्ध, निर्विकल्प, निराकार, निरुपाधिक सर्वकर्ममुक्त स्वभाव स्वरूप और स्वगुण का विचार नहीं कर पाये।[1]

केवल नरक में जाना ही बन्धन नहीं, स्वर्ग में जाना भी बन्धन है

ऐसे दार्शनिकों का लक्ष्य स्वर्ग है। उनकी प्रत्येक प्रवृत्ति कामनामूलक है। भले ही वह अशुभ कामनामूलक न हो, पापजनक न हो, परन्तु शुभ कामनामूलक पुण्यजनक तो है ही। पुण्य से प्राप्त होने वाला स्वर्ग भी, पाप से प्राप्त होने वाले नरक, तिर्यञ्च की तरह अन्ततः संसार ही है। अध्यात्मशास्त्र यह कहता है कि केवल नरक में जाना ही बन्धन नहीं है, स्वर्ग में जाना भी बन्धन ही है। किसी अपराधी के पैरों में लोहे की बेड़ी के बदले सोने की बेड़ी डाल दी जाये तो, दोनों में विवेकदृष्टि से कोई अन्तर नहीं है। दोनों ही जगह बन्धन है, आत्मा की स्वतन्त्रता दोनों ही अवस्थाओं में नहीं रह पाती। स्वर्ग और नरक दोनों प्रकार के (शुभाशुभ कर्मों के) बन्धनों को तोड़ना ही मोक्ष है, जो आत्मा का सहज स्वभाव है। उपनिषद्काल के दौरान तथा उसके पश्चात् वैदिक तत्त्वचिन्तकों का ध्यान भी इस ओर गया कि जिस प्रकार (पापकर्मजनित) दुःख और क्लेश त्याज्य है, उसी प्रकार (पुण्यकर्मजनित) सुख (सांसारिक अथवा वैषयिक सुख) और भोगविलास भी त्याज्य है।

मोक्ष के लिए पाप की तरह पुण्य भी, तज्जनित सुख भी त्याज्य है

मान लो, किसी व्यक्ति के पैर में काँटा लग गया और वह पीड़ा के मारे छटपटाता है, उस समय दूसरे व्यक्ति ने किसी शूल (तीखे काँटे, पिन या सुई की नोंक) से उसके पैर में लगे हुए काँटे को निकाल दिया। काँटा निकलने पर वह यदि यह कहे कि इस शूल ने मेरे पैर में चुभकर काँटे को निकाला है और मेरी पीड़ा दूर कर दी है, इसलिए मैं तो शूल को पैर में ही चुभाए रखूँगा, तो यह उसकी मूढ़ता ही कही जायेगी। मुमुक्षु और आत्मार्थी विवेकशील आत्मा की दृष्टि में काँटा निकालने वाला शूल भी उसी प्रकार त्याज्य है, जिस प्रकार पैर में चुभने

---

१. अध्यात्म प्रवचन (उपाध्याय अमर मुनि जी) के आधार पर, पृ. ८६-८७

वाला काँटा। संसार के शुभाशुभ कर्मजनित पुण्य-पाप तथा तज्जन्य सुख-दुःख को भी इसी प्रकार त्याज्य समझना चाहिए, क्योंकि अध्यात्मदृष्टि से पुण्य और पाप दोनों ही काँटे हैं, दोनों ही प्रकार के कर्म त्याज्य हैं, दोनों का क्षय करके ही व्यक्ति मोक्ष प्राप्त कर सकता है। जैसे कि 'उत्तराध्ययनसूत्र' के समुद्रपालीय अध्ययन में कहा गया है–"समुद्रपाल मुनि पुण्य और पाप (शुभ और अशुभ) दोनों ही प्रकार के कर्मों का क्षय करके (संयम में) निरंगन (निश्चल) तथा सब प्रकार से विमुक्त होकर समुद्र के समान विशाल संसार-प्रवाह को तैरकर अपुनरागमन स्थान (मोक्ष) में गए।" अतः अध्यात्मवादी मुमुक्षु साधक की दृष्टि में पापकर्मजनित संसार के दुःख ही त्याज्य नहीं हैं, अपितु पुण्यकर्मजनित संसार के क्षणिक एवं विनश्वर सुख भी अन्ततः त्याज्य हैं। कोई व्यक्ति एक ओर से संसार के दुःखों को तो छोड़ता रहे, किन्तु दूसरी ओर सांसारिक सुखों को बटोरता रहे तो वह संसार के दुःखों के बीजरूप सुखों को लेकर कर्मबन्ध तोड़ने के बजाय नये-नये अधिकाधिक बन्धनों से अपने आपको जकड़ता जाता है। वह मोहमूढ़ आत्मा जिन स्वर्ग-सुखों की रंगीन कल्पनाएँ करता है, उनका भी अन्ततः एक दिन अन्त अवश्य होता है।[1] क्या अनन्त अतीत में चक्रवर्तियों और सम्राटों का, धनपतियों और नरपतियों का, देवेन्द्रों और नागेन्द्रों का सुख कभी स्थायी रहा है और अनन्त भविष्य में क्या वह स्थायी रह सकेगा? सांसारिक कामभोग तथा तज्जन्य सुख ज्ञानियों की दृष्टि में विष के समान है, वे कदापि अमृत-तुल्य नहीं हो सकते।

सांसारिक सुख और दुःख दोनों ही बन्धन रूप हैं, अहितकर हैं

निष्कर्ष यह है कि सांसारिक सुख की इच्छा और दुःख की अनिच्छा दोनों बन्धनरूप हैं। संसार में जितना भी दुःख और क्लेश है, वह सब पूर्वबद्ध बन्धन का ही है। बन्धन कैसा भी क्यों न हो, वह यहाँ भी और परलोक में भी हितकर और सुखकर नहीं हो सकता।

साधारण आत्मा कभी परमात्मा या बन्धनमुक्त हो नहीं सकता : एक भ्रान्ति

परन्तु आश्चर्य तो वहाँ होता है, जो लोग बन्धन को बन्धन ही नहीं समझते; अथवा बन्धन को बन्धन समझकर निराश होकर बैठ जाते हैं कि हमारे भाग्य में आजीवन या अनन्तकाल तक बन्धन ही लिखा है, हम कदापि मुक्त नहीं हो सकते।

---

१. (क) 'अध्यात्म प्रवचन' के आधार पर, पृ. ८८-८९

(ख) दुविहं खवेऊण य पुण्णपावं, निरंगणे सव्वओ विप्पमुक्के।
तरित्ता समुद्दं व महाभवोघं, समुद्दपाले अपुणागमं गए॥

–उत्तराध्ययनसूत्र, अ. २१, गा. २४

उनकी दौड़ अधिक से अधिक स्वर्ग तक है, वे बन्धन से सर्वथा मुक्ति की कल्पना भी नहीं कर पाते। ऐसे लोग यह प्रतिपादन करते रहते हैं कि साधारण आत्मा, जो बन्धनों में जकड़ा हुआ है, कभी उन बन्धनों को सर्वथा तोड़कर परमात्मा नहीं बन सकता। भक्त क्या कभी भगवान बन सकता है ? नौकर या गुलाम क्या कभी सेठ या मालिक बन सकता है ? जो दीन है, हीन है; वह अनन्त भविष्य में दीन और हीन ही रहेगा। पतित है, वह भविष्य में भी पतित ही रहेगा, कभी पावन नहीं बन सकता ! जो दर्शन, मत, पंथ और धर्म आत्मा के उत्थान और विकास के विषय में, भक्त से भगवान, आत्मा से परमात्मा बनने की प्रेरणा नहीं दे सकता, भव-बन्धन से छूटने का, कर्मों से सर्वथा मुक्त होने का कोई स्पष्ट सन्देश नहीं दे सकता, वह एक प्रकार से अक्रियावादी है। आत्मा के मूल गुण और स्वभाव से अनभिज्ञ तथा तप, संयम, व्रत-प्रत्याख्यान के सुपरिणाम-कर्मक्षय के कारणभूत या दूसरे शब्दों में सर्वकर्ममुक्तिरूप मोक्ष के उपायरूप सम्यग्ज्ञान-दर्शन-चारित्र-तप के फल के प्रति स्वयं संदिग्ध और दूसरों को सन्देह में डालना है। उनके निष्प्राण, निराशाजनक और नास्तिकवादी विचारों को स्वीकार करने में कथापि लक्ष्यसिद्धि नहीं हो सकती।

भयंकर बन्धन में जकड़ा हुआ आत्मा एक दिन सर्वथा बन्धनमुक्त हो सकता है

जैनदर्शन का आदर्श उक्त विचारकों से भिन्न है। जैनदर्शन की स्पष्ट मान्यता है कि यह आत्मा अनन्त बार नरक के भयंकर दुःखों की आग में प्रज्वलित हो चुका है, तथैव अनन्त बार स्वर्ग के सुखों की बहार भी लूट चुका है, अनन्त-अनन्त बार मनुष्य, तिर्यंच, त्रस और स्थावर भी बन चुका है; यह सत्य है, किन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि अभव्य आत्मा के सिवाय जो भव्य आत्मा अनन्तकाल से संसार में रहता आया है, जन्म-मरण करता आया है, वह अनन्त भविष्य में भी संसार में ही रहेगा, उसके जन्म-मरण का चक्र कभी समाप्त नहीं होगा। जैनदर्शन का स्पष्ट मन्तव्य है कि अभव्य आत्मा के सिवाय अन्य भव्य आत्माएँ अध्यात्म साधना के द्वारा सब प्रकार के बन्धनों से सदा के लिए मुक्त-सर्वकर्ममुक्त हो सकती हैं, जन्म-मरण के चक्र को एक दिन तोड़ सकती हैं।[1]

बद्ध कर्म-बन्धन से मुक्त होना आत्मा का सहज स्वभाव है

इसका कारण यह है कि अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त अव्याबाध सुख (आनन्द) और अनन्त शक्ति आत्मा का सहज स्वभाव है, उस पर कषायादि विभावों तथा कर्म-पुद्गल आदि पर-भावों का आवरण आया हुआ है। आत्मा अपने ज्ञानस्वभाव के द्वारा चिन्तन और अनुभव कर सकता है। बुरे चिन्तन का जब बुरा

१. 'अध्यात्म प्रवचन' के आधार पर, पृष्ठ ८६-८७

अनुभव हो सकता है तो अच्छे चिन्तन का अच्छा अनुभव भी हो सकता है। अनन्त शक्ति आत्मा का सहज स्वभाव है। वह शक्ति जब काम, क्रोध, लोभ, मद, मोह, मत्सर, वासना, आसक्ति और घृणा आदि में लग सकती है, तब वह इनसे निकलकर शान्ति, क्षमा, सन्तोष, सरलता, नम्रता, मैत्री आदि में तथा अहिंसा, सत्य आदि के पालन में एवं बाह्याभ्यन्तर तप और त्याग में भी लग सकती है। आनन्द (अव्याबाध आत्मिक-सुख) आत्मा का निजी स्वभाव है। जब वह विषयसुखों में, पर-पदार्थों में, इष्ट संयोग-अनिष्ट वियोग में आनन्द मानता है, तब इनसे बचकर त्याग, तप, क्षमादि गुणों की आराधना-साधना में तथा आत्म-स्वभाव में रमण करने में आनन्द क्यों नहीं मना सकता? आत्मा की शक्ति जब काम, क्रोध, राग, द्वेष, कषाय आदि में फँस सकती है, तब एक दिन वह उनसे निकल भी सकती है, उनके बन्धन से मुक्त भी हो सकती है।

प्रत्येक प्राणी बन्धन-मुक्त होना पसन्द करता है

वस्तुतः संसार का प्रत्येक प्राणी बन्धन से मुक्त होना पसन्द करता है। चींटी जैसी साधारण प्राणी भी बन्धन में नहीं रहना चाहती। तोते को आप चाहे सोने के पिंजरे में डाल दें, चाहे जैसी सुख-सुविधा जुटा दें या खाने की उत्तम वस्तुएँ दे दें, फिर भी अवसर मिलते ही वह पिंजरे का मोह छोड़कर उन्मुक्त आकाश में उड़ जाता है। बन्धन की स्थिति में चाहे जितने भौतिक सुख-साधन मिलें, मन में सदा यही कल्पना बनी रहती है कि मैं बन्धन में हूँ, कब बन्धन से छूटूँ? भौतिक विषयभोग उपलब्ध होने पर भी वह स्वयं को पराधीन समझता है। पशु-पक्षी जैसे अल्प-विकसित चेतनाशील प्राणी भी जब बन्धन को स्वीकार नहीं कर सकते, तब मनुष्य जैसा अधिक विकसित चेतनाशील प्राणी को बन्धन कैसे रुचिकर हो सकता है? निष्कर्ष यह है कि किसी आत्मा का चाहे जितना पतन क्यों न हो गया हो, वह कितना ही पापाचार के गर्त्त में पड़ गया हो, किन्तु बन्धन से मुक्त होने की एक सहज अभिलाषा उसके मन में भी रहती है।

सम्यग्दृष्टि मुमुक्ष साधक के समक्ष शुभ कर्मों को क्षय करने की समस्या नहीं

सम्यग्दृष्टि मुमुक्षु साधक यह तो जानता है कि आत्मा स्वयं ही कर्म बाँधता है और स्वयं ही कर्म को काट सकता है। बन्ध और मोक्ष दोनों ही उसके हाथ में हैं। 'आचारांगसूत्र' में कहा गया है–"मैंने सुना है, मेरी आत्मा में ऊहापोह, चिन्तन या गुणन द्वारा यह अनुभूत (स्थिर) हो गया है कि बन्ध और मोक्ष तुम्हारी आत्मा में ही स्थित हैं।"[1] जो कर्म स्वयं ने बाँधा है, उसे स्वयं क्षय भी कर सकता है। यह ठीक है

---

१. से सुयं च मे अज्झत्थियं च मे, बंध-पमोक्खो अज्झत्थमेव।

—आचारांग, श्रु. १, अ. ५, उ. ३

कि स्वर्ग-नरक आदि के या परिवार, समाज आदि के भी बन्धन हैं। यह सत्य है। किन्तु जो कर्मबन्धन बाँधा है, उसे तोड़ने की, सर्वथा क्षय करने की, उसे आते हुए रोकने (संवर करने) की क्षमता भी उसी व्यक्ति में है। कोई भगवान, देवी-देव या शक्तिमान उसके कर्मों को नहीं काट सकता, स्वयं पुरुषार्थ द्वारा कर्मबन्ध को तोड़ने की क्षमता भी उसी में है। अतः सम्यग्दृष्टि मुमुक्षु साधक के सामने यह सवाल नहीं है कि बद्ध कर्मबन्ध से छुटकारा हो सकता है या नहीं? बद्ध कर्मों को क्षय करने की समस्या उन तत्त्व-चिन्तकों के समक्ष कभी प्रस्तुत नहीं होती, जो स्वर्ग-नरक से आगे बढ़कर मोक्ष, मुक्ति, अपवर्ग या आत्मा के निर्वाण में विश्वास रखते हैं।[1]

जैन-कर्मविज्ञान बद्ध दशा और मुक्त दशा दोनों को मानता है

यह सवाल तो उन विचारकों के समक्ष पैदा होता है, जिन्होंने मोक्ष, मुक्ति या अपवर्ग की सत्ता को स्वीकार नहीं किया। उन्होंने आत्मा के द्वारा बन्धन से सर्वथा मुक्त होने का सिद्धान्त स्वीकार ही नहीं किया। उन्होंने आत्मा के जन्म-मरण का एक ऐसा चक्र स्वीकार कर लिया है, जिसे कभी मिटाया नहीं जा सकता। जैन-कर्मविज्ञान-पारंगत तो आत्मा की परम्परागत बद्ध दशा भी मानते हैं और उतनी ही तीव्रता के साथ आत्मा की मुक्त दशा को भी मानते हैं। केवल मानते ही नहीं, आत्मा के साथ बद्ध कर्मों के बन्ध को काटने के लिए सत्पुरुषार्थ करने में भी विश्वास रखते हैं, क्योंकि बन्ध और मोक्ष दोनों सापेक्ष शब्द हैं। बन्ध है इसलिए मोक्ष की उपयोगिता या मुक्त दशा भी है। बन्ध है तो मोक्ष भी अवश्य है।

निर्जरा के प्रकार : सविपाक और अविपाक

ऐसी स्थिति में सहज ही प्रश्न उपस्थित होता है—आत्मा पर लगे हुए कर्मों के बन्धन किस पुरुषार्थ से मिटें? कर्मबन्ध से सर्वथा मुक्ति कैसे मिले? इस प्रश्न के समाधान में जैन-कर्मवैज्ञानिकों ने दो उपाय बतलाए हैं—सविपाक निर्जरा और अविपाक निर्जरा। इन दोनों प्रकार की निर्जराओं के अलावा बन्धन से मुक्त होने का कोई अन्य उपाय नहीं है। सविपाक और अविपाक, ये दो मार्ग ही ऐसे हैं, जिनके द्वारा आत्मा कर्मबन्धन से मुक्त हो सकता है। सविपाक निर्जरा वह है, जिसमें पूर्वबद्ध कर्मों के उदय में आने पर उनका फल भोगकर उन कर्मों का क्षय कर देना। विपाक सहित को सविपाक कहा जाता है।

सविपाक निर्जरा का लक्षण, स्वरूप और कार्य

विपाक का अर्थ है—कर्मफल-भोग, कर्म की स्थिति का परिपाक या रस, फल एवं कर्म का उदयकाल। पूर्वबद्ध कर्म, जो संचित थे, उनके उदयकाल में, उन कर्मों

---

१. 'अध्यात्म प्रवचन' के आधार पर, पृ. ८९

के शुभ या अशुभ फल के वेदन = भोगने को विपाक कहा जाता है। उक्त विपाक = फल-भोग के द्वारा जो कर्मक्षय होता है, उसे सविपाक निर्जरा कहते हैं। सविपाक निर्जरा की क्रिया नारक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव सभी गतियों में, पृथ्वीकायिक आदि पाँच स्थावर (एकेन्द्रिय) जीवों से लेकर द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, तिर्यञ्च पञ्चेन्द्रियों, मनुष्यों, नारकों और देवों आदि सभी योनियों में सर्वत्र सदैव प्रतिक्षण चालू रहती है।[1] 'भगवती आराधना' में कहा गया है–"सविपाक निर्जरा तो केवल सर्व-उदयगत कर्मों की होती है।" 'बारस अणुवेक्खा' के अनुसार–"चारों गतियों के सभी जीवों को पहली अर्थात् सविपाक निर्जरा होती है।" 'सर्वार्थसिद्धि' में सविपाक को विपाकजा निर्जरा कहकर उसकी परिभाषा दी गई है–क्रम से परिपाककाल को प्राप्त हुए और अनुभव (फल-भोग) रूपी उदयावली के स्रोत में प्रविष्ट हुए, ऐसे शुभ-अशुभ कर्म की फल देकर जो निवृत्ति होती है, वह विपाकजा निर्जरा है।[2]

अविपाक निर्जरा का लक्षण, स्वरूप और कार्य

दूसरी है–अविपाक निर्जरा। इसके द्वारा पूर्वबद्ध कर्म को बिना भोगे ही उसे समाप्त कर दिया जाता है। अविपाक निर्जरा का लक्षण 'सर्वार्थसिद्धि' में इस प्रकार दिया गया है–

अविपाक निर्जरा का लक्षण और स्वरूप

"आम और कटहल (पनस) को जैसे औपक्रमिक क्रियाविशेष द्वारा अकाल में ही पका लेते हैं, उसी प्रकार जिस (पूर्वबद्ध) कर्म का विपाककाल (उदयकाल) अभी प्राप्त नहीं हुआ है तथा जो कर्म उदयावली से बाहर स्थित है, ऐसे कर्म को (तप आदि औपक्रमिक क्रियाविशेष के सामर्थ्य से) उदयावली में प्रविष्ट कराके अनुभव किया (समभावपूर्वक भोगा) जाता है, वह अविपाकजा निर्जरा है।" 'भगवती आराधना' के अनुसार–"अविपाक निर्जरा तप के द्वारा सर्वकर्मों की होती है।" 'बारस अणुवेक्खा' के अनुसार–"अविपाक निर्जरा सम्यग्दृष्टि व्रतधारकों को होती है।"[3]

---

१. 'अध्यात्म प्रवचन' के आधार पर, पृ. ९०, ९२-९३

२. (क) सव्वेसिं उदय-समागदस्स कम्मस्स णिज्जरा होइ। –भगवती आराधना १८४९
(ख) चादुगदीणं पढमा, वयजुत्ताणं हवे विदिया। –बारस अणुवेक्खा ६७
(ग) क्रमेण परिपाक-काल-प्राप्तस्यानुभवोदयावलि-स्रोतोऽनुप्रविष्टस्यारब्धफलस्य या निवृत्तिः सा विपाकजा निर्जरा। –सर्वार्थसिद्धि ८/२३/३९९/९

३. (क) यत्कर्मौपक्रमिकक्रियाविशेषसामर्थ्यानुदीर्णं बलादुदीर्णोदयावलिं प्रवेश्य वेद्यते, आम्र-पनसादिपाकवत् सा अविपाकजा निर्जरा। –सर्वार्थसिद्धि ८/२३/३९९/९
(ख) कम्मस्स तवेण पुणो सव्वस्स विणिज्जरा होइ। –भगवती आराधना १८४९
(ग) वयजुत्ताणं हवे विदिया। –बारस अणुवेक्खा ६७

संवर के साथ निर्जरा हो, तभी उभयविध निर्जरा कृतकार्य

अब यह प्रश्न होता है कि सर्वकर्मक्षयरूप मोक्ष के लिए इन दोनों (सविपाक और अविपाक) में से किस निर्जरा को चुना जाये, जिससे कि आत्मा शीघ्र ही कर्मबन्ध से सर्वथा मुक्त हो सके?

कुछ विचारक इस तथ्य पर जोर डालते हैं कि जब तक पूर्वबद्ध कर्मों का पूर्ण रूप से फल नहीं भोग लिया जायेगा, तब तक आत्मा का मोक्ष, सर्वकर्ममुक्ति या अपवर्ग नहीं हो सकता। सर्वकर्मक्षयरूप मोक्ष की साधना में दो तत्त्वों को मुख्यता दी गई है—संवर और निर्जरा को। नवीन कर्मों के आस्रव (आगमन) को रोकना संवर है और पुराने संचित कर्मों को उदय में आने पर या तप, व्रत, परीषह-उपसर्ग-सहन आदि के द्वारा कर्मों का क्षय करना अथवा कर्मों का अंशतः क्षय होना निर्जरा है। जैसे किसी तालाब में नाली के द्वारा जल आता रहता है और वह पुराने जल के साथ मिलकर एकमेक हो जाता है, बढ़ता जाता है। यदि नाली के मुख को बन्द कर दिया जाता है तब तालाब में नया जल किसी भी प्रकार से आता हुआ रुक जायेगा और पुराना संचित जल क्रमशः सूर्य के आतप से तथा पवन के स्पर्श से सूखता चला जायेगा और एक दिन वह तालाब जल से सर्वथा रिक्त (खाली) हो जायेगा। यही सिद्धान्त आत्मा को कर्म से सर्वथा रिक्त करने के सम्बन्ध में है। आत्मा (जीव) रूपी तालाब में शुभ-अशुभ कर्मास्रव द्वारा नये कर्म आकर पुराने संचित कर्मों के साथ मिलते और बढ़ते चले जाते हैं। अगर नये आते हुए कर्मों को रोकना हो तो उसके लिए संवर की साधना आवश्यक है। सम्यग्दृष्टि साधक जब आत्मा में नये आते हुए कर्मों (कर्मास्रवों) को रोक देता है, तब उसके सामने केवल पुराने कर्मों के क्षय करने की साधना रह जाती है, पुराने संचित उभयविध कर्मों को—जो उदय में आ गये हों या अभी उदय में न आये हों क्षय करना निर्जरा का कार्य है।[1]

अतः जब साधक पूर्वबद्ध कर्म के फल भोगे बिना (अर्थात् उसमें राग-द्वेष का संवेदन किये बिना) एवं उसके उदयकाल से पहले ही उसका क्षय कर डालता है, उसे ही शास्त्रीय भाषा में अविपाक निर्जरा कहा जाता है। तप, व्रताचरण, ध्यान, स्वाध्याय, परीषह-सहन, उपसर्ग-सहन आदि की (सम्यग्दृष्टि द्वारा संवरपूर्वक) इस साधना से कर्म को उसके विपाककाल से पूर्व ही नष्ट कर दिया जाता है।[2]

---

१. (क) 'अध्यात्म प्रवचन' के आधार पर, पृ. १३
(ख) जहा महातलायस्स सन्निरुद्धे जलागमे।
उस्सिंचणाए तवणाए, कमेण सोसणा भवे॥५॥
एवं तु संजयस्सावि पावकम्म निरासवे।
भवकोडि संचियं कम्मं तवसा निज्जरिज्जइ॥६॥ —उत्तराध्ययन, अ. ३०, गा. ५-६

२. 'अध्यात्म प्रवचन' के आधार पर, पृ. २६-२७।

मोक्ष की कारणभूत निर्जरा कौन-सी और कौन-सी नहीं ?

एक बात निश्चित समझ लेनी चाहिए–मोक्ष की कारणभूत निर्जरा वही हो सकती है, जो सम्यग्दृष्टि व्यक्ति की संवरपूर्वक निर्जरा हो। उसी को सर्वकर्ममुक्तिरूप मोक्ष की कारण माननी चाहिए। इसके विपरीत मिथ्यादृष्टि अज्ञानी जीवों के जो निर्जरा होती है, वह सविपाक हो या अविपाक, मोक्ष का कारण नहीं मानना चाहिए। क्योंकि मिथ्यादृष्टि अज्ञानी के जो निर्जरा होती है, वह तो गजस्नान की तरह निष्फल है। क्योंकि अज्ञानी मिथ्यादृष्टि जीव थोथे-से कर्मों की निर्जरा करता है, किन्तु बहुत-से नये कर्मों को बाँध लेता है। इस कारण यहाँ मिथ्यादृष्टि अज्ञानी जीवों की निर्जरा सविपाक हो या अविपाक, दोनों ही मोक्ष-प्राप्ति की कारण न होने से ग्राह्य नहीं है।

'द्रव्यसंग्रह टीका' में बताया गया है कि जो सविपाक निर्जरा है, वह नरकादि गतियों में मिथ्यादृष्टि अज्ञानी जीवों के भी होती हुई देखी जाती है। (सम्यग्दृष्टि ज्ञानी जीवों में भी) जो सराग सम्यग्दृष्टियों की निर्जरा है, वह यद्यपि अशुभ कर्मों को नष्ट करती है, नियमतः शुभ कर्मों का नाश नहीं करती, तथापि वह संसार की स्थिति को कम करती है और उसी भव में तीर्थंकर नामकर्म प्रकृति आदि विशिष्ट पुण्यबन्ध का कारण भी कदाचित् हो सकती है। इसलिए सराग सम्यग्दृष्टि की ऐसी सविपाक निर्जरा परम्परा से मोक्ष का कारण है। जबकि वीतराग सम्यग्दृष्टि के पुण्य तथा पाप दोनों का नाश होने पर उसी भव में वह अविपाक निर्जरा मोक्ष का कारण हो जाती है।[1]

इस पर से यह स्पष्ट हो जाता है कि सम्यग्दृष्टि की संवरपूर्वक जो निर्जरा है, वही मोक्ष की कारण हो सकती है, मिथ्यादृष्टि की भले ही दीर्घ बाह्यतप से युक्त अविपाक निर्जरा हो अथवा प्रतिक्षण होने वाली सविपाक, वह परम्परा से या अनन्तररूप से मोक्ष की कारण नहीं हो सकती।

---

१. (क) जेण हवे संवरणं, तेण तु णिज्जरणं जाणे। –*बारस अणुवेक्खा*

–जिन परिणामों से संवर होता है, उन्हीं परिणामों से निर्जरा होती है। सम्यग्दृष्टि की संवरपूर्वक निर्जरा ही मोक्ष की कारण है।

(ख) अत्राहशिष्यः–सविपाकनिर्जरा नरकादिष्वज्ञानिनामपि दृश्यते, संज्ञानिनामेवेति नियमो नास्ति। तन्नोत्तरम्–अत्रैव मोक्षकारणं या संवरपूर्विका निर्जरा सैव ग्राह्या। या पुनरज्ञानिनां निर्जरा, सा गजस्नानवन्निष्फला। यतः स्तोकं कर्म निर्जरयति, बहुतरं बध्नाति, तेन कारणेन सा न ग्राह्या। या तु सराग-सद्दृष्टीनां निर्जरा, सा यद्यप्यशुभकर्मविनाशं करोति, तथापि संसार-स्थितिस्तोकं कुरुते। तद्भवे तीर्थंकरप्रकृत्यादि-विशिष्ट-पुण्यबन्धकारणं भवति। पारम्पर्येणमुक्तिकारणं चेति। वीतरागसद्दृष्टीनां पुनः पुण्य-पापद्वयविनाशे तद्भवेऽपि मुक्तिकारणमिति।

–*द्रव्यसंग्रह टीका ३६/३५२/१*

सम्यग्दृष्टि द्वारा संवरपूर्वक अविपाक निर्जरा ही शीघ्र मोक्ष की कारण

अतएव यह स्पष्ट है कि सम्यग्दृष्टि द्वारा ज्ञानपूर्वक एवं संवरपूर्वक की जाने वाली अविपाक निर्जरा शीघ्र मोक्ष की कारण है, सविपाक निर्जरा, फिर भले ही वह सम्यग्दृष्टि द्वारा संवरपूर्वक की गई हो, परम्परा से कदाचित् मोक्ष की कारण हो सकती हो, परन्तु शीघ्र मोक्ष की कारण नहीं हो सकती, जब भी वह शीघ्र मोक्ष की कारण होगी, तप, संयम और चारित्रपूर्वक होगी और ऐसी स्थिति में वह सविपाक न रहकर अविपाक निर्जरा में परिणत हो जाएगी। यही कारण है कि दिगम्बर परम्परा के मूर्धन्य ग्रन्थों में संवरयुक्त अविपाक निर्जरा को ही शीघ्र मोक्ष-प्राप्ति में अभीष्ट माना गया है, अतः मोक्ष का शुद्ध और प्राप्ति का अनन्तर मार्ग अविपाक निर्जरा है।

सकामनिर्जरा और मोक्ष में कार्य-कारणभाव सम्बन्ध

शीघ्र मोक्ष-प्राप्ति का मार्ग संवरपूर्वक अविपाक निर्जरा है, सविपाक निर्जरा नहीं, इसे यथार्थरूप से समझने के लिये हमें निर्जरा (सकामनिर्जरा) और मोक्ष के सम्बन्ध को समझ लेना चाहिए। (सकाम) निर्जरा और मोक्ष में कार्य-कारणभाव सम्बन्ध माना गया है। निर्जरा कारण है और मोक्ष उसका कार्य है। कारण के अभाव में कार्य नहीं हो सकता। जब भी मोक्षरूप कार्य होगा, तब पहले सकामनिर्जरारूप कारण होना अनिवार्य है। अतः सकामनिर्जरारूप कारण के बिना मोक्षरूप कार्य भी नहीं हो सकता। निर्जरा है—आत्मसम्बद्ध कर्मों का एक देश से (अंशतः) दूर होते जाना और मोक्ष है—कर्मों का सर्वतोभावेन सर्वथा आत्मा से दूर हो जाना। अतः धीरे-धीरे (सकाम) निर्जरा ही, मोक्षरूप में परिवर्तित हो जाती है। दूसरे शब्दों में कहें तो—एक-एक आत्म-प्रदेश के अंश-अंश रूप से क्रमिक कर्मक्षय होना निर्जरा है और जब सभी आत्म-प्रदेशों के समस्त कर्मों का क्षय हो जाता है, तब वही मोक्ष है। निर्जरा (सकामनिर्जरा = शुद्ध निर्जरा) और (सर्वकर्मक्षयरूप) मोक्ष में कोई विशेष अन्तर नहीं है। उक्त निर्जरा का अन्तिम परिपाक ही मोक्ष है और मोक्ष का प्रारम्भ ही निर्जरा है। मुमुक्षु आत्मार्थी साधक के लिए जितना महत्त्व मोक्ष का है, उतना ही सम्यग्दर्शन एवं तप-संवर से युक्त निर्जरा का है। पूर्वोक्त निर्जरा के अभाव में मोक्ष नहीं और मोक्ष के अभाव में उक्त निर्जरा नहीं। जहाँ एक का अस्तित्व है, वहाँ दूसरे का अस्तित्व स्वतः सिद्ध है।[1]

पूर्वोक्त अविपाक निर्जरा द्वारा शीघ्र ही कदाचित् उसी भव में मोक्ष संभव

अतः इस सन्दर्भ में सबसे बड़ा प्रश्न यह है कि कौन-सी निर्जरा शीघ्र मोक्ष प्राप्ति की कारण है ? या मोक्ष का अंग है ? पहले हम बता चुके हैं कि सम्यक्संवर

१. 'अध्यात्म प्रवचन' के आधार पर, पृ. ९८

और तप से रहित सम्यग्दृष्टि के सविपाक निर्जरा द्वारा उसी भव में, शीघ्र और सीधा मोक्ष नहीं हो सकता, जबकि पूर्वोक्त सम्यक्संवर और सम्यक्तप से युक्त सम्यक्दृष्टि के अविपाक निर्जरा द्वारा शीघ्र ही तथा कदाचित् उसी भव में मोक्ष हो सकता है।

यही कारण है दिगम्बर परम्परा में सविपाक निर्जरा को मोक्ष का अंग नहीं माना। उसका आशय यह है कि सम्यग्दृष्टि के द्वारा आंशिक मोक्ष, परम्परागत मोक्ष होगा, तब संवर तथा सम्यक्चारित्र या तप से युक्त निर्जरा होने से वह निर्जरा सविपाक न होकर अविपाक हो जाएगी।

निष्कर्ष यह है कि सम्यक्तप, संवर या सम्यक्चारित्र से रहित केवल सविपाक निर्जरा मोक्ष का अंग नहीं हो सकती। साधना के द्वारा सम्यक्त्व का भाव जगने पर मिथ्यात्व मोहनीय कर्म (भले ही आंशिक रूप से टूटता हो) टूटता है, साथ ही अनन्तानुबन्धी कषाय चतुष्क (चारित्र मोहनीय) का क्षयोपशम, उपशम या क्षय हो जाने की स्थिति में चारित्र मोहनीय कर्म (भले ही आंशिक रूप से टूटता हो) टूटता है, ऐसी स्थिति में (आंशिक) चारित्र की उपलब्धि होने से अविपाक निर्जरा ही मोक्ष का अंग हो सकती है। सम्यक्त्वचारित्ररहित केवल सविपाक निर्जरा के द्वारा कर्मों को भोग-भोगकर पूरा किया जाना मोक्ष का अंग नहीं हो सकता, क्योंकि भोग-भोगकर निर्जरा तो अनन्त-अनन्तकाल से होती आ रही है। यदि कोरी सविपाक निर्जरा से मोक्ष होता तो कभी हो गया होता। कोरी सविपाक निर्जरा से केवल फल भोग-भोगकर कर्मों को तोड़ने से कर्मों का कभी अन्त नहीं हो सकेगा। मूल कर्म आठ हैं, उनके उत्तर भेद भी परिगणनीय हैं, किन्तु उनके उत्तरोत्तर भेद असंख्य हैं। असंख्यात योजनात्मक समग्र लोक को बार-बार खाली किया जाए और फिर बार-बार भरा जाए। असंख्य बार भरा जाए, इतना विस्तार एवं प्रसार है–एक-एक कर्म का। प्रत्येक कर्म की उत्कृष्ट स्थिति इतनी लम्बी है कि जिसे कल्पना के माध्यम से समझना भी आसान नहीं है।

आठ कर्मों में मोहनीय कर्म सबसे प्रबल है, उसकी उत्कृष्ट स्थिति ७० क्रोड़ाक्रोड़ सागरोपम की है। इसके अतिरिक्त ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, आयुष्य, नाम, गोत्र और अन्तराय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति भी बहुत लम्बी है। इन सबको कोरी सविपाक निर्जरा के द्वारा एक जन्म में तो क्या अनन्त-अनन्त जन्मों में भी भोगा नहीं जा सकेगा। अकेले मोहनीय कर्म को ही लीजिए। जिस आत्मा ने मोहनीय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति का बन्ध किया है, वह इसे केवल भोग-भोगकर कब तक भोगेगा? कल्पना कीजिए, यदि वह लाखों-करोड़ों जन्मों में भोग भी ले, तो भी उन जन्मों में नवीन कर्मों का बन्ध भी तो वह करता रहेगा। जितना

कर्मफल भोगेगा, उससे कहीं अधिक नवीन कर्म बाँध लेगा। ऐसी स्थिति में बन्ध और भोग की कभी समाप्ति नहीं हो सकेगी।[1]

कर्मविज्ञान का यह सिद्धान्त है कि सांसारिक छद्मस्थ जीव से सामान्यतया प्रतिसमय सात या आठ कर्मों का बन्ध होता रहता है। साधारणतया भोगासक्त आत्मा एक जीवन में जितना कर्मफल भोगता है, दूसरी ओर (भोगते समय समभावयुक्त संवर या चारित्र न होने से) नये कर्मों का बन्ध भी करता रहता है। मतलब यह कि एक ओर कर्मों को भोगने से उनकी अकामनिर्जरा होती रहे, किन्तु दूसरी ओर तीव्र गति से नये कर्मों का आगमन (आस्रव) और बन्ध चलता रहे, तब उन कर्मों का अन्त कब और कैसे आ सकेगा कोरी सविपाक निर्जरा से? एक सम्यग्दृष्टिविहीन व्यक्ति के समग्र जीवन की बात जाने दीजिए। प्रातःकाल से लेकर सायंकाल तक एक दिन के जीवन में भी वैसी एक आत्मा कितने अधिक नये कर्मों का उपार्जन कर लेती है? इसकी परिकल्पना करना भी छद्मस्थ के लिए बहुधा शक्य नहीं होता। कभी एक क्षण में इतने अधिक कर्मदलिकों का संचय एवं उपार्जन हो जाता है कि समग्र जीवन में भी सविपाक निर्जरा द्वारा उन्हें भोगा जाना और समग्र जीवन के कर्मों को भोगकर सर्वथा क्षय कर देना कथमपि संभव नहीं होता। अतः मिथ्यादृष्टि द्वारा कोरी सविपाक निर्जरा से कर्मों को भोग-भोगकर तोड़ना और उनके अन्त की आशा करना, क्या दुराशामात्र नहीं है? जहाँ कर्मों का निर्गमन कम हो और आगमन अधिक हो, वहाँ उनके अन्त की कल्पना कैसे की जा सकती है?

अतएव समस्त कर्मों का अन्त जहाँ कहीं भी और जिस किसी भी आत्मा ने किया है, तब उसने अविपाक निर्जरा से ही किया है, कोरी सविपाक निर्जरा से नहीं। अतः कर्मों का शीघ्र तथा कदाचित् उसी भव में, सर्वथा अन्त करने का सर्वश्रेष्ठ उपाय अविपाक निर्जरा ही है। अविपाक निर्जरा ही मोक्ष या सर्वकर्ममुक्ति का अचूक साधन है। जब तक अविपाक निर्जरा करने की क्षमता और योग्यता प्राप्त नहीं होती, तब तक मोक्ष दूर ही है। सर्वकर्ममुक्तिरूप मोक्ष की साधना के लिए अन्यान्य उपाय किये जाएँ या किये जाने का समय कदाचित् न हो, किन्तु अविपाक निर्जरा की साधना उसके लिए परमावश्यक है। अविपाक निर्जरा में सम्यग्दृष्टि जीव समिति, गुप्ति, परीषहजय, उपसर्ग-सहन, सम्यक्चारित्र एवं बाह्याभ्यन्तर सम्यक्तप, भेदविज्ञान, ज्ञाता-द्रष्टाभाव आदि के द्वारा जो पूर्वबद्ध कर्म संचित (सत्ता में) पड़े हैं, अभी उदय में नहीं आए हैं, अर्थात् अभी उनका विपाककाल नहीं आया है, उन्हें क्षणभर में नष्ट कर डालता है। यानी सम्यग्दृष्टि ज्ञाता-द्रष्टा आत्मा आध्यात्मिक तप, संवर, ध्यान, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग आदि की साधना से बद्ध कर्मों को उनके उदयकाल से पूर्व ही क्षय कर डालता है। जिस

---

१. 'अध्यात्म प्रवचन' से भावांश ग्रहण, पृ. ९१

प्रकार पर्वतीय गुफा में असंख्य वर्षों से रहे हुए घने अंधकार को प्रकाश की एक ज्योति क्षणभर में ही नष्ट कर देती है, उसी प्रकार सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक्तप की निर्मल ज्योति से असंख्य जन्मों के पूर्व संचित कर्म भी अविपाक निर्जरा द्वारा क्षणभर में नष्ट किये जा सकते हैं। इसी तथ्य का समर्थन 'प्रवचनसार' में किया गया है–"अज्ञानी साधक (बालतप, विषमभावपूर्वक भयंकर कष्ट-सहन आदि के द्वारा) लाखों-करोड़ों जन्मों में जितने कर्मों का क्षय करता है, उतने ही कर्म मन-वचन-काया को संयत (गुप्त) रखने वाला (सम्यग्दृष्टियुक्त) सम्यग्ज्ञानी साधक एक श्वासमात्र में क्षय कर डालता है।"[1] आशय यह है कि हजारों, लाखों, करोड़ों के संचित कर्मदलिकों को सम्यग्दृष्टियुक्त ज्ञानी तपोधनी साधक अविपाक निर्जरा के द्वारा एक क्षण में समाप्त कर देता है। अविपाक निर्जरा एक महान् दिव्य प्रकाशमयी साधना है, जिसकी आत्मा में यह समभावपूर्वक अधिष्ठित हो जाती है, वह अनादिकाल से या लाखों-करोड़ों वर्षों से बँधे हुए कर्मों के अन्धकार को क्षणभर में नष्ट कर सकता है।[2]

अविपाक निर्जरा के द्वारा शीघ्रतर मोक्ष-प्राप्ति के ज्वलन्त उदाहरण

यद्यपि अविपाक निर्जरा की परिभाषा के अनुसार वह उदयावलिका में अप्रविष्ट कर्मों की होती है, किन्तु 'भगवती आराधना' में कहा गया—"तप आदि के द्वारा होने वाली अर्थात् अविपाक निर्जरा सर्वकर्मों (पक्व = उदय में आए हुए और अपक्व = उदय में नहीं आए हुए सभी कर्मों) की होती है।"[3] इस दृष्टि से गजसुकुमाल मुनि के ९९ लाख भवों पूर्व बँधे हुए कर्म, यद्यपि उन्होंने जब बारहवीं भिक्षुप्रतिमा अंगीकार की थी और महाकाल श्मशान में कायोत्सर्ग में स्थित हो गये थे, तब तक उदय में नहीं आए थे, किन्तु जब उनके गृहस्थाश्रमपक्षीय श्वसुर सोमल विप्र ने उन्हें देखा और पूर्वभवजन्य वैर का स्मरण हो आया। अतः सोमल विप्र के निमित्त से वह ९९ लाख भवों पूर्व में बद्ध कर्म उदय में आ गया और उसके तीव्र दारुण दुःख को उन्होंने समभावपूर्वक भेदविज्ञान की स्थिति में भोगा। उक्त निर्जरा को हम अविपाक निर्जरा कह सकते हैं, जिसके प्रभाव से गजसुकुमाल मुनि बहुत ही शीघ्र सर्वकर्मों को क्षय करके सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हो गए। इसी प्रकार अर्जुन मुनि को भी छह महीने में सर्वकर्मक्षयरूप मोक्ष की प्राप्ति भी अविपाक निर्जरा का ज्वलन्त उदाहरण है। अर्जुन मुनि ने श्रमण भगवान महावीर से भागवती दीक्षा ग्रहण करते

---

१. (क) 'अध्यात्म प्रवचन' के आधार पर, पृ. ९२, ९८-९९
   (ख) जं अण्णाणी कम्मं, खवेदि भव-सयसहस्स-कोडीहिं।
   तं णाणी तिहि गुत्तो, खवेदि उस्सासमित्तेण॥ —प्रवचनसार ३/३८

२. 'अध्यात्म प्रवचन' से भाव ग्रहण, पृ. ९९

३. कम्मस्स तवेण पुणो सव्वस्स वि णिज्जरा होइ। —भगवती आराधना, गा. १८४९

ही पूर्वबद्ध घोर कर्मों को उदय में आने से पहले ही काटने हेतु यावज्जीवन छठ-छठ (दो-दो उपवास) के अनन्तर पारणा करने का प्रत्याख्यान (संकल्प) ग्रहण किया था। उसके पश्चात् जब वे राजगृही नगरी में पारणे के दिन भिक्षा के लिये गए तो छह महीनों में यक्षाविष्ट आतंकवादी के रूप में उन्होंने जो १,१४१ स्त्री-पुरुषों की हत्या की थी, उसके कारण जो अल्पस्थितिक घोर कर्म बँधे थे, वे उदय में आ गए और राजगृही के नागरिकों द्वारा ताड़न-तर्जन-आक्रोश आदि के रूप में दिये हुए उपसर्ग को उन्होंने समभावपूर्वक अदीन मन से सहन किया तथा सम्यग्दृष्टिपूर्वक तप-संवर की आराधना की। फलतः इस प्रकार की अविपाक निर्जरा के फलस्वरूप छह महीनों में ही सर्वकर्मक्षय करके वे सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हो गए।

इसी प्रकार श्रावस्ती नगरी के राजा कनककेतु के पुत्र राजकुमार खन्धक ने विरक्तभाव से मुनि-दीक्षा अंगीकार की। संयम-पालन तथा तपश्चर्या में दक्ष एवं परिपक्व होने पर अपने गुरुदेव से स्वतंत्र विहार की आज्ञा प्राप्त करके वह विचरण करने लगे। उनके गृहस्थपक्षीय पिता ने उनकी किसी प्रकार की अपेक्षा न होते हुए भी वात्सल्यभाव से अंगरक्षक के रूप में ५०० सुभटों को उनके साथ भेजा। विचरण करते हुए वे अपनी गृहस्थपक्षीया बहन सुनन्दा रानी की राजधानी कुन्तीनगर में पधारे। मासखमण तप के पारणे के दिन वे (खन्धक मुनि) भिक्षा के लिये राजमहल के पास से होकर जा रहे थे। उन्हें देखकर रानी सुनन्दा को अपने भाई की स्मृति हो आई। राजा के साथ चौपड़ खेल रही रानी को अन्यमनस्क देखकर उसके पति राजा पुरुषसिंह को उसके चरित्र पर सन्देह हुआ। राजा ने जल्लाद को बुलाकर खन्धक मुनि के सारे शरीर की चमड़ी उतारने का आदेश दे दिया। मुनि ने पूर्व-भव में काचर का छिलका ज्यों का त्यों उतारकर प्रसन्नता प्रकट की थी। उसके कारण बँधे हुए गाढ़ कर्म अब इस भव में उदय में आ गए। मुनि को श्मशान में ले जाकर जल्लादों ने उनके सारे शरीर की चमड़ी उतार दी। घोर वेदना के समय खंधक मुनि समाधिस्थ रहे। इस अद्भुत तितिक्षा के कारण हुई अविपाक निर्जरा से सर्वकर्मक्षय करके शीघ्र ही उन्होंने मोक्ष प्राप्त किया।

ध्यानस्थ प्रसन्नचन्द्र राजर्षि ने कुछ ही देर पहले भाव (मानसिक) हिंसा के कारण अल्प-स्थितिक घोर कर्म बाँधे थे, किन्तु उन कर्मों के उदय में आने से पहले ही उन्होंने तीव्रतर पश्चात्तापरूप प्रायश्चित्त तप के फलस्वरूप पहले चार घातिकर्मों का क्षय करके केवलज्ञान और तत्पश्चात् शीघ्र ही सर्वकर्मक्षयरूप मोक्ष प्राप्त किया।

ये हैं अविपाक निर्जरा के द्वारा शीघ्रतर मोक्ष-प्राप्ति के ज्वलन्त उदाहरण।[1]

---

१. (क) देखें–अन्तकृद्दशा में गजसुकुमाल मुनि की मोक्ष-प्राप्ति का वर्णन
(ख) देखें–अन्तकृद्दशा में अर्जुन मुनि का वर्णन

अविपाक निर्जरा कब और कैसे-कैसे ?

अविपाक निर्जरा का साधक कैसा होना चाहिए? इस विषय में अवश्य विचार करना चाहिए। उस साधक के हृदय में वैराग्य की दिव्य ज्योति जगमगा उठती है। 'आचारांगसूत्र' की भाषा में–"जो साधक (संयम में) उत्थित (उद्यत), स्थितात्मा (आत्म-भावों में स्थित), अस्नेह, अनासक्त और अविचल (परीषहों और उपसर्गों, कष्टों, रोगों आदि से अप्रकम्पित) हो, चल (विहारचर्या करने वाला) हो, अपने अध्यवसाय (लेश्या) को संयम से बाहर न ले जाने वाला हो तथा अप्रतिबद्ध होकर परिव्रजन (विहरण) करता हो। अविपाक निर्जरा के साधक में शरीर और शरीर से सम्बद्ध व्यक्तियों या वस्तुओं के प्रति ममत्वभाव नहीं होता। वह आत्मा को इनसे अलग एकाकी समझता है। भेदविज्ञान उसके रग-रग में जाग्रत हो जाता है। वह विभावभावों से विरक्त होकर स्व-स्वभाव में लीन हो जाता है। जब साधक के हृदय में संसार की आशा-तृष्णा का अन्त हो जाता है और उसका चित्त सविकल्प समाधि में से निकलकर निर्विकल्प समाधि में पहुँच जाता है, तब वह अपने पूर्व-संचित कर्मों को निर्जरा की साधना से सर्वथा क्षय कर डालता है।

इसके विपरीत यदि चित्त में निर्विकल्प समाधिभाव नहीं आया अथवा स्व-स्वभाव में रमण नहीं हुआ, तो कदापि संसार की आशा-तृष्णा का अन्त नहीं हो सकेगा। ऐसा न होने से निर्विकल्प समाधि कैसे प्राप्त हो सकती है? निर्विकल्प समाधि दशा प्राप्त न होने पर सर्वकर्मक्षयरूप मोक्ष की प्राप्ति के लिये अविपाक निर्जरा का साहस वह कथमपि नहीं कर सकेगा। यद्यपि निर्विकल्प समाधिदशा प्राप्त होने पर भी उक्त सदेह वीतराग केवलज्ञानी पुरुष का आयुष्य लम्बा हो तो आयुष्यपूर्ण होने तक सर्वकर्ममुक्ति (विदेहमुक्ति) नहीं मिल सकती। हाँ, सदेहमुक्ति तो निर्विकल्प दशा प्राप्त होते ही मिल जाती है।

अतः निर्विकल्प समाधिभाव या स्व-स्वभावरमणत्व प्राप्त नहीं हुआ तो वह साधक चाहे जितना तप करे, क्रियाकाण्डों का पालन करे, कितना भी जप, स्वाध्याय या ध्यान करे अथवा उत्कृष्ट आचार का पालन करे। कदापि मोक्षरूप साध्य को सिद्ध नहीं कर सकेगा। अतः अविपाक निर्जरा के द्वारा शीघ्र मोक्ष-प्राप्ति के लिए भेदविज्ञान, स्व-स्वभावरमणता एवं अन्त में निर्विकल्प समाधिभाव आना अत्यावश्यक है।[9] ● ●

पिछले पृष्ठ का शेष–

(ग) देखें–आवश्यक कथा में खन्धक मुनि का वृत्तान्त

(घ) देखें–आवश्यक कथा में प्रसन्नचन्द राजर्षि का वृत्तान्त

१. (क) एवं से उट्ठिए ठियप्पा अणिहे अचले चले अवहिलेस्सं परिव्वए।

–आचारांग, श्रु. १, अ. ७, उ. ५

(ख) *'अध्यात्म प्रवचन' से भाव ग्रहण, पृ. ९४*

स्मरणिका

(कर्म-विज्ञान के स्वाध्याय से जागृत जिज्ञासाएँ)